ए॰ ए॰ मैकडोनेल

वैदिक माइथोलोजी

वैदिक पुराकथाशास्त्र

रामकुमार राय

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

४०

ए० ए० मैकडौनेल कृत

वैदिक माइथौलोजी

(वैदिक पुराकथाशास्त्र)

अनुवादक

रामकुमार राय
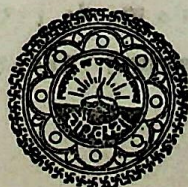
चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी २२१००१

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
40
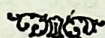
VEDIC MYTHOLOGY

(VEDIC PURĀKATHĀŚĀSTRA)

OF

A. A. MACDONELL

HINDI TRANSLATION

By

Ramkumar Rai
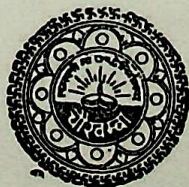
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI
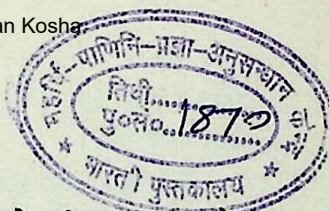
प्राक्कथन

हिन्दी भाषा में जितनी मौलिक ग्रन्थों के लिखने की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक दूसरी भाषाओं में लिखे उच्चकोटि के मौलिक तथा प्रख्यात ग्रन्थों के अनुवाद की। अनुवाद बहुत-सी पुस्तकों के हो भी रहे हैं, परन्तु आवश्यकता है श्रेष्ठ अनुवादों की। श्रेष्ठ अनुवाद उच्चकोटि के विद्वान् ही कर सकते हैं। साधारण हिन्दी पढ़ा-लिखा व्यक्ति, जो केवल कोश देखकर दूसरी भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद करता है, सन्तोषजनक अनुवाद नहीं कर सकता। इसलिये भारतवर्ष को आवश्यकता इस बात की है कि उच्चकोटि के विद्वान्, जिनका विषय और भाषा दोनों पर अधिकार हो, पाश्चात्य विद्वानों के लिखे हुये प्रख्यात ग्रन्थों का अनुवाद करें।

मैकडौनेल का लिखा हुआ ग्रन्थ, वैदिक माइथौलोजी, एक अत्यन्त प्रसिद्ध, शोध-पूर्ण और ऐसा ज्ञान-वर्धक ग्रन्थ है जिसका महत्त्व किसी भी काल में कम नहीं हो सकता। वेदों के देवी-देवताओं, सृष्टिक्रम तथा यज्ञ-उपासना प्रणाली का वह ज्ञान जिसकी स्थापना पाश्चात्य शोधकों ने की है, इस ग्रन्थ में अत्यन्त उत्कृष्ट, सुसम्बद्ध, और तर्क-संगतरूप से प्रस्तुत किया गया है। फिर भी इसकी शैली प्राचीन है, जिसमें लम्बे-लम्बे जटिल वाक्यों और क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है। साथ ही एक गूढ़ विषय का ग्रन्थ होने के कारण इसमें पारिभाषिक शब्दों की भी बहुलता है। अतः इसका अनुवाद साधारण कार्य नहीं। फिर भी यह अत्यन्त कठिन कार्य मेरे शिष्य और मित्र श्री रामकुमार राय ने अत्यन्त उत्तम रीति से सम्पन्न किया है। इनके अनुवाद की भाषा सरल और सुन्दर होते हुये प्रौढ़ और उपयुक्त भी है। अनुवाद को पढ़ने से पाठक उसी प्रकार नहीं ऊबता जिस प्रकार मैकडौनेल की मूल पुस्तक के पढ़ने से। मूल ग्रन्थ के प्रायः सभी गुण इस अनुवाद में हैं ही, साथ ही हिन्दी भाषा में होने के नाते जो अपनी एक विशिष्टता होनी चाहिये वह भी इसमें पायी जाती है। अतः अनुवादक महोदय प्रशंसा, बधाई और धन्यवाद, तीनों के पात्र हैं। इनके इस हिन्दी अनुवाद से एक ओर जहाँ वैदिक वाङ्मय पर हिन्दी में उपलब्ध साहित्य समृद्ध हुआ है, वहीं दूसरी ओर, केवल हिन्दी जाननेवाले जिज्ञासुओं के लिये पाश्चात्य वैदिक विद्वानों का ज्ञान भी सुलभ हो सका है। अनुवादक महोदय पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखित कुछ अन्य प्रसिद्ध और उच्चकोटि के ग्रन्थों का भी अनुवाद कर रहे हैं जिनका प्रकाशन आरम्भ हो चुका है। मुझे आशा है कि आप अपना रिक्त

समय ऐसे ही शुभ कार्यों में लगाते हुये हिन्दी भाषा तथा देश की सांस्कृतिक सेवा करते रहेंगे।

मैकडौनेल रचित इस ग्रन्थ के पाठकों के प्रति मेरा यह नम्र निवेदन है कि वे इसे पढ़ कर ऐसा न समझ बैठें कि वैदिक धर्म और दर्शन का वास्तविक स्वरूप इतना और यही है जो इस पुस्तक में व्यक्त किया गया है। वेद के सम्बन्ध में आज का आलोचनात्मक ज्ञान बहुमुखी और अत्यन्त विस्तृत है। वेदों का अध्ययन करनेवाले विद्वानों के अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें से दो-तीन भारतीय विद्वानों के सम्प्रदाय ऐसे हैं जो प्रस्तुत ग्रन्थ की स्थापनाओं के सर्वथा विरुद्ध हैं और जिनका अध्ययन तथा मनन भारतीयों के लिये, जो कि सदा से वेदों को अपने धर्म और दर्शन के चरम और पूर्ण ज्ञान का भण्डार मानते आ रहे हैं, अत्यन्त आवश्यक है। इन मतों का प्रतिपादन आधुनिक काल में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री मधुसूदन ओझा, तथा अरविन्द घोष ने अपने उत्कृष्ट ग्रन्थों में किया है। सच्चे जिज्ञासुओं को सभी मतों को जान कर उनका तुलनात्मक अध्ययन करना और उसके बाद ही अपना निर्णय करना चाहिये। प्रस्तुत ग्रन्थ का मत, आधुनिक वैज्ञानिक रीति द्वारा वेदों का अध्ययन करने पर बना है और इसमें दिये गये दृष्टिकोण पाश्चात्य देशों में अत्यन्त प्रचलित हैं। साथ ही पाश्चात्य परम्परा में दीक्षित भारतीय विद्वानों को भी यही मान्य हैं। अतएव इस पुस्तक का पठन वैदिक वाङ्मय के अध्ययन के लिये परम आवश्यक है क्योंकि यह एक ऐसा प्रबल पूर्व-पक्ष है जिसकी आलोचना और खण्डन परम्परागत भारतीय सिद्धान्त—वेद अपौरुषेय और सब विद्याओं के भाडार हैं और इनमें देश तथा काल के अन्तर्गत ऐतिहासिक और भौगोलिक घटनाओं मात्र का ही वर्णन नहीं वरन् सनातन तथा नित्य तत्त्वों का उपदेश है—का प्रतिपादन तथा समर्थन करने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण, जिसके अनुसार वेद अपौरुषेय और ऐसे परम ज्ञान के भाण्डार हैं जिसका परिपक्व प्रज्ञासम्पन्न ऋषियों ने अलौकिक अनुभव द्वारा दर्शन किया था, और पाश्चात्य विद्वानों का वह मत जिसके अनुसार वेद आदिकालीन मनुष्यों द्वारा सभ्यता के शैशवकाल में शैशवी भाषा में समय समय पर रची हुई कवितायें हैं—इन दोनों मतों में आकाश-पाताल का अन्तर है। आधुनिक भारतीयों का कर्त्तव्य है कि वे इस वैज्ञानिक और दार्शनिक युग में इन दोनों मतों का निष्पक्ष अध्ययन करके सन्तोषजनक निर्णय करें। इस कार्य में प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त सहायक होगा।

भीखनलाल आत्रेय

अनुवादक की भूमिका

मैकडौनेल की इस प्रसिद्ध पुस्तक का अनुवाद प्रस्तुत है। यहाँ मैं पुस्तक के आधार-भूत दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कुछ निवेदन कर देना चाहता हूँ। मैकडौनेल, तथा अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् वेदों को प्राचीन और सभ्यता के शैशवकाल में सृजित पुराकथात्मक रचनाओं का संग्रह मानते हैं। एक बार ऐसी धारणा बना लेने के पश्चात् जो कुछ भी अध्ययन अथवा विवेचन किया गया है वह सभी दार्शनिक की अपेक्षा पुराकथाशास्त्रीय हो गया है और पुराकथाओं की विवेचना के लिये जिस वैज्ञानिकता की अपेक्षा है उसका ही यथोचित व्यवहार किया गया है। अतः अध्ययन की वैज्ञानिकता तथा देवी-देवताओं के प्रकृति की पुराकथाशास्त्रीय स्थापनाओं की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक में जो मत प्रतिपादित किये गये हैं वह बहुत कुछ उपयुक्त प्रतीत हो सकते हैं। किन्तु यहाँ जो आधार-भूत प्रश्न है वह यह कि क्या वेद पुराकथाओं के ऐसे संग्रह हैं जिनका पुराकथाशास्त्रीय अध्ययन उपयुक्त है, अथवा यह दिव्य दृष्टि-सम्पन्न ऋषियों की ऐसी परिपक्व कृतियाँ हैं जो चिरन्तन ज्ञान-राशि से ओत-प्रोत और गम्भीरतम दार्शनिक मनन तथा विवेचन की सामग्री हैं? स्पष्ट है कि प्रत्येक भारतीय वेदों को इस द्वितीय दृष्टिकोण से ही देखता है। प्राचीन भाष्यकारों के अतिरिक्त अनेक आधुनिकतम भारतीय विद्वानों ने वेदों की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि वेद-विज्ञान गूढ़तम रहस्यों का विज्ञान है जिसे किसी भी दशा में असभ्य और आदिम मनुष्यों की शैशविक रचनायें नहीं कहा जा सकता। परन्तु इन भारतीय व्याख्याओं में पाश्चात्य विद्वानों को केवल आधुनिक भारतीयों के पाण्डित्य-प्रदर्शन की झलक मिलती है स्वयं वेदों की

गूढ़ता की नहीं। ऐसा इसीलिये है कि पाश्चात्यों ने एक यह पूर्वनिश्चित धारणा बना ली है कि वेदों के विषयवस्तु का पुराकथाशास्त्रीय अध्ययन तथा उनके काल-निर्णय में बहुत कुछ तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण ही अधिक उपयुक्त है। अतः पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोण के बीच विवाद का अन्त तभी हो सकता है जब पाश्चात्य विद्वान् अपनी इन पूर्वधारणाओं का परित्याग करके वेदों की परम्परा को सुरक्षित और प्रतिपादित करने वाले अन्य साहित्य की सामग्री तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में निहित व्याख्याओं को ध्यान में रखकर वैज्ञानिक अध्ययन करें।

परन्तु इसी प्रसंग में एक निवेदन यह भी है कि वेदों को सम्पूर्ण रूप से चिरन्तन ज्ञान का भण्डार मान लेने में केवल पाश्चात्यों को ही नहीं वरन् वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करनेवाले भारतीयों को भी कठिनाई हो सकती है। वेदों में अनेक स्थलों पर ऐसी धारणायें, विचार, और उक्तियाँ मिलती हैं जिनका दार्शनिक की अपेक्षा पुराकथाशास्त्रीय समाधान ही अधिक तर्क-संगत और उपयुक्त होगा। अतः प्रस्तुत पुस्तक की अधिकांश स्थापनाओं से असहमत होते हुये भी इसके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पुराकथाशास्त्रीय अध्ययन भी वैज्ञानिक अध्ययन का एक पक्ष है और आधुनिक मनोविज्ञान ने इसके जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उससे वेद के अनेक रहस्यों का उद्घाटन सम्भव है।

प्रस्तुत अनुवाद के सम्बन्ध में भी दो एक बातों का निवेदन आवश्यक है। मूल पुस्तक की भाषा कठिन और शैली प्राचीन है। लम्बे वाक्यों और सन्दर्भोल्लेखों की प्रचुरता के कारण इसकी दुरूहता और भी बढ़ गई है। अतः अनुवाद का कार्य मुझ जैसे साधारण व्यक्ति के लिये अत्यन्त कठिन था। फिर भी जो कुछ मैं कर सका पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। अनुवाद में मैंने यथा साध्य मूल ग्रन्थकार के विचारों और भावों को ही सुरक्षित रखने का प्रयास किया है उसमें कहीं भी संशोधन करने का नहीं। वेदों के उद्धरणों का भी मूल लेखक ने अन्यान्य स्थानों पर अपनी दृष्टि से ही अंग्रेजी में अनुवाद किया है। वेदों के ऐसे अंग्रेजी में अनूदित स्थलों का पुनः हिन्दी रूपान्तर

करने के लिये मैंने लेखक के अंग्रेजी अनुवाद को ही आधार माना है वेद के मूल पाठ को नहीं, क्योंकि मेरा कार्य मूल लेखक का अनुवाद करना था मूल स्रोत का नहीं। अतः ग्रन्थ में उद्धृत प्रत्येक वैदिक स्थल के हिन्दी रूपान्तर में मैकडौनेल महोदय की ही भावना सुरक्षित रक्खी गई है।

पारिभाषिक शब्दों आदि के अनुवाद के लिये मैंने मॉनियर विलियम्स, आप्टे, मुलगावकर, और डा० रघुवीर के प्रसिद्ध कोषों की सहायता ली है। फिर भी एक शब्द जिसका अर्थ मुझे अब भी विवादास्पद प्रतीत होता है वह है 'eagle'। सम्भवतः वेदों के 'श्येन' नामक पक्षी के लिये ही मैकडौनेल ने इस शब्द का प्रयोग किया है; किन्तु 'श्येन' का अनुवाद 'eagle' करना उपयुक्त है अथवा नहीं और स्वयं 'श्येन' शब्द से वास्तव में किस पक्षी का तात्पर्य है यह मैं निश्चित नहीं कर सका। उक्त कोषों के अनुसार यद्यपि प्रस्तुत अनुवाद के पूर्वार्ध में मैंने 'eagle' के लिये 'उत्क्रोश' पक्षी शब्द का प्रयोग किया है, तथापि उत्तरार्ध में 'श्येन' शब्द का ही प्रयोग अधिक उपयुक्त समझा। अतः पाठकों से निवेदन है कि अनुवाद के पूर्वाध में भी 'उत्क्रोश' पक्षी के स्थान पर 'श्येन' पक्षी ही पढ़ें।

मूल ग्रन्थ के सभी सन्दर्भ-संकेतों को अनुवाद में भी उसी क्रम में सुरक्षित रक्खा गया है। जिन स्थलों में कोष्ठों में लिखी सन्दर्भ-संख्याओं के पहले किसी ग्रन्थ के नाम का उल्लेख नहीं है वहाँ उनसे सर्वत्र ऋग्वेद का ही सन्दर्भ है। अन्यथा ग्रन्थ नाम भी दिये गये हैं। जर्मन तथा अन्य पाश्चात्य भाषाओं के उद्धृत ग्रन्थों का भी अनुवाद में निर्देश मिलेगा किन्तु उनके पूरे नामों को हिन्दी में लिखने की अपेक्षा उनके संक्षिप्त रूपों का व्यवहार किया गया है और इन संक्षिप्त रूपों से उद्दिष्ट ग्रन्थों के नाम संकेत-सारिणी में दे दिये गये हैं।

इस कार्य के आरम्भिक चरण में ही मेरे पूज्य पिता श्री महताब राय जी का सहसा स्वर्गवास हो जाने के कारण मुझ पर नियति का जो कठोरतम वज्रपात हुआ उसने मेरी मानसिक स्थिति को अत्यन्त अस्तव्यस्त कर दिया था फलस्वरूप न तो मैं अनुवाद की पाण्डुलिपि को ही संतोषजनक रीति से दुहरा-

सका और न प्रूफ संशोधन में ही उतनी सावधानी रख सका जितनी आवश्यक थी। इधर पुस्तक के प्रकाशक महोदय का आग्रह था कि कार्य यथा शीघ्र समाप्त हो। इन सब कारणों से कुछ प्रूफ की अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनके लिये इच्छा के विरुद्ध एक शुद्धि पत्र देना पड़ा। अतः मैं पुस्तक के सभी पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ और निवेदन करता हूँ कि पुस्तक में उन्हें जो त्रुटियाँ अथवा अन्य कमियाँ दिखाई पड़े उन्हें सूचित करने की कृपा करें जिससे अगले संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके।

अन्त में मैं अपने श्रद्धेय गुरुवर डा० भीखन लाल आत्रेय के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने प्राक्कथन लिखकर मुझे प्रोत्साहित किया है। चौखम्बा विद्याभवन के संचालक द्वय, श्री मोहनदास जी तथा विट्ठलदास जी को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने, व्यावसायिक दृष्टि से विशेष लाभकर न होते हुये भी, इस दुष्प्राप्य ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशित किया है और इसकी छपाई-सफाई तथा गेट-अप को आकर्षक बनाने में कोई कसर उठा नहीं रक्खी।

अनुवादक—

विषय-सूची

संकेत-सारिणी

अ० फा० = American Journal of Philology.
आ० आ० = Altindischer Ahnencult, Leiden, 1893.
आ० उ० = Allgemeine Geschichte der Philosophie mit besonderer Berucksichtigung der Religionen, Vol. I, Part 1; Philosophie des Veda bis auf die Upanishad's Leipzig, 1894.
आ० बे० = Die Altindischen Todten-und Bestattungsgebränche, Amsterdam, 1896.
इ० आ० = Indische Alterthumskunde.
इ० फौ० = Indogermanische Forschungen.
उ० पु० = Op. cit. (उद्धृत पुस्तक)
उ० स्था० = Loc. cit. (उद्धृत स्थान)
ऊ० ऋ० = Uber Methode bei Interpretation des Rigveda, Prag, 1890.
ऊ० त्रि० = Uber Entwicklungsstufen der Mythenbildung, Berliner Ak. der Wissenschaften.
ऊ० सो० = Uber den somakultus der Arier, Abh. d. Munchner Akad. 1846.
ऋ० इ० = Le Rigveda er le Origines de la Mythologie indo-europeanne, Paris 1892.
ऋ० वे० = Rig-veda Ubersetzt und mit kritischen und erlautemden Armerkungen versehen, 2 Vols. Leipzig, 1876-7.
ए० = Entwicklungsstufen.
ए० आ० = Eranische Alterthumskunde.
ए० फॉ० = Arische Forschungen.
ऐ० फे० = Antika wold und Feldekulte, Berlin, 1871.
ऐ० रि० = Anthropological Religion.
ओ० आ० = *Benfey's* Orient und Occident.
ओ० रि० = Origin and Growth of Religion.
औ० आ० = Ormazd et Ahriman.
औ० वे० = *Oldenburg :* Die Religion des Veda.
कॉ० ऋ० = Cosmology of the Rigveda.
कॉ० स्मी० = Die Kosmogonie der Inder, Allgemeine Zeitung, 1873.

कु० त्सी० = *Kuhn :* Zeitschrift.

के० ऋ० = *Kægi :* Der Rig-veda (quoted from Arrowsmith's translation).

गी० कु० फा० = *Geiger* and *Kuhn's* Grundriss der iranischen philologie.

ग्रो० के० रौ० = *Geldner, Kaegi, Roth,*. Siebenzig Lieder des Rigveda.

गे० रि० = Geschichte der indeschen Religion, Basel, 1874.

गौ० ऐ० = Göttinger Gelehrte Anzeigen.

गौ० ना० = Göttinger Nachrichten.

ग्री० हे० = Griechische Götter und Heron.

ग्रु० वो० = Die Grundbegriffe in den kosmogonien der alten Völker, Leipzig, 1893.

ज० अ० ओ० सो० = Journal of the American Oriental Society.

ज० ए० = Journal Asiatique.

ज० ए० सो० = Journal of the Royal Asiatic Society.

ट्रा० का० (८) = Transactions of the 8th Oriental Congress.

ट्रा० का० (९) = Transactions of the 9th Oriental Congress.

ट्रा० का० (१०) = Transactions of the 10th Oriental Congress.

ड० ऋ० = Der Rigveda oder die heiligen Hymnen der Brahmana. Zum ersten Male vollstandig ins Deutsche Ubersetzt. Mit commentar und Einleitung. Prg, Wien, Leipzig, 1876–88.

ड० मा० = Der Uroprung der Mythologie.

ड० मि० = Der Arische Gott Mitra, Dorpat, 1894. (Dissertation).

ड० य० = Der Vedische Mythus des Yama, Strassburg, 1890.

ड० व० = Der altindische Gott Varuna, Tübingen, 1893.

डी० आ० = Die Sonnvendfeste in Altindien (1889).

डी० इ० = Die Vedesch-brahmanische Periode der Religion des alten Indiens, Munster; W. 1893.

डी० गे० = Die Konigliche Gewalt, Leipzig, 1895. (Die Späher Varuna's).

डी० डि० = Die Asvins oder Arischen Dioskuren, Munchen, 1876.

डी० पी० = Die Arische Periode.
डी० मा० = Die Griechischen Culte und Mythen.
डी० य० = Die Ursprüngliche Gottheit des vedischen Yama, Leipzig, 1896.
डी० वे० = Die philosophischen und religiosen Anschauungen des Veda.
त्सी० आ० = Zeitschrift für deutsches Altertum.
त्सी० गे० = Zeitschrift der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft.
त्सी० मा० = Zft. f. deutsche Mythologie.
त्सी० वो० = Zeitschrift für Volkerpsychologie.
दा० टी० = Das Altindische Tieropfer.
द्या० = Dyaus Asura.
ना० जि० = Nachrichten des Rv. und Av. Uber Geographie etc. Prg. 1875–6.
पी० रि० = P. D. Chantepie De La Saussaye, Lehrbuch der Religions–geschichte, Freiburg, B, 1887.
प्रे० = Prellwitz, Etym. Worterbuch d. gr. Spr.
प्रो० रा० ए० सो० = Proceedings of the Royal Asiatic Society of Bengal.
प्रो० सो० = Proceeding of the American Oriental Society
फि० सं० = Philosophische Hymnen aus der Rig-und Atharva Veda Samhita, München, 1887.
फि० हा० = Philosophische Hymnen.
फे० बौ० = Festgruss an *Bohtlingk.*
फे० रौ० = Festgruss an *Roth.*
फे० वे० = Festschrift an *Weber* (Gurupūjā Kaumudī).
बी० = Beiträge.
बे० रे० = Babylonian and Oriental Record.
मा० फौ० = Mythologische Forschungen, Strassburg, 1884.
मा० स्टू० = Mythologische Studien 1² : Die Herabkunft des Feuers und des Gottertranks, Gutersloh, 1886.
रि० फि० ने० = Religiöse und philosophische Anschauungen des Veda (1875).
रि० वे० = Recherches sur l'histoire de la liturgie Vedique.

रो॰ फौ॰ = Romanische Forschungen.
रौ॰ त्सी॰ गो॰ = *Roth*, R. : Die hochsten Gotter der arischen Volker, *ZDMG*.
ल॰ रि॰ वे॰ = La Religion Vedique.
ल॰ वे॰ = La Religion Vedique d'apres les Hymnes du Rigveda, 3 Volumes, Paris, 1878–83.
लि॰ फि॰ = Liter aturblatt f. Or. Philol. 1884–5.
लु॰ ऋ॰ फौ॰ = *Ludwig :* Uber die neuesten arbeiten auf dem gebiete der Rigveda–forschung (1893).
ले॰ लै॰ = Lectures on the Science of Language (ed. 1891).
व॰ ऋ॰ = *Grassmann* : Wörterbuch (Rigveda Lexicon).
व॰ व॰ = Vergleichendes Worterbuch.
व॰ स्था॰ = (s. v.). वर्णक्रम स्थान पर
वा॰ फे॰ = Wald und Feldkulte.
वॉ॰ ग॰ = Vom Aral bis Zur Ganga.
वि॰ लि॰ = Visionslitteratur.
वी॰ मौ॰ = Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes (Vienna Oriental Journal).
वे॰ पी॰ = *Hardy* : Vedisch–brahmanische Periode.
वे॰ बी॰ = *Weber* : Vedische Beiträge (Sitzungsberichte der Berliner Akademie).
वे॰ व॰ = Vedica und Verwandtes.
ह्वि॰ स्ट॰ = *Whitney's* Oriental and Linguistic Studies.
सं॰ टे॰ = Original Sanskrit Texts.
सा॰ रि॰ = Psychological Religion.
सि॰ अ॰ = Sitzungsberichte der Berliner Akad 1887.
से॰ बु॰ ई॰ = Sacred Books of the East.
हा॰ ए॰ = Haurvatat et Ameretat (Paris 1875).
हा॰ रो॰ = Les Hymnes Rohitas, Paris, 1891.
हॉ॰ इ॰ = Hopkins : Religions of India.
हि॰ लि॰ = History of Ancient Sanskrit Literature.
हि॰ वे॰ मा॰ = *Hillebrandt* : Vedische Mythologie.
ही॰ ऋ॰ = Henotheism in the Rigveda, in classical studies in honour of H. Drisler (New York, 1894).
हे॰ = Herabkunft.
हे॰ गौ॰ = Herabkunft des Feuers und des Göttertranks
हौ॰ = Hochzeitsrituell.

वैदिक माइथौलोजी

(वैदिक पुराकथाशास्त्र)

१—प्रस्तावना

§ १. *धर्म और पुराकथाशास्त्र*:—विस्तृततम आशय में धर्म के अन्तर्गत एक ओर तो दिव्य अथवा अलौकिक शक्तियों के प्रति मनुष्य की धारणायें आती हैं, और दूसरी ओर इन शक्तियों पर निर्भर मानव-कल्याण की वह भावना जो विभिन्न उपासना-पद्धतियों में व्यक्त होती है। पुराकथाशास्त्र, धर्म के उक्त प्रथम पक्ष से ही सम्बद्ध होते हैं और इनके द्वारा ऐसी सभी पुराकथायें अथवा आख्यान प्रस्तुत होते हैं जो देवों और वीर-नायकों के सम्बन्ध में कहे गये होते हैं, तथा जिनमें इन लोगों की उत्पत्ति, इनके क्रिया-कलाप, और चतुर्दिक् वातावरण का वर्णन होता है। ऐसी पुराकथाओं का आरम्भ एक पुरातन और अवैज्ञानिक युग में, मानव-बुद्धि द्वारा प्रकृति की उन विभिन्न शक्तियों और गोचर घटनाओं की व्याख्या के प्रयास में निहित होता है जिनका मनुष्य को साक्षात्कार करना पड़ता है। वास्तव में यह पुराकथायें पुरातन मानसिक अवस्था के एक अनुमानात्मक-विज्ञान का ही प्रतिनिधित्व करती हैं; क्योंकि ऐसे वक्तव्य जिनका अत्यन्त सभ्य मनुष्यों के लिए केवल लक्षणात्मक महत्त्व ही होगा, वही इस आरम्भिक स्थिति में वस्तुतः अवलोकित घटनाओं की व्याख्यायें होते हैं। आकाशीय ग्रह-नक्षत्रों की गति-विधि, झंझावात और बाह्य संसार की उत्पत्ति तथा रचना-विधान-सम्बन्धी विचारों इत्यादि, द्वारा प्रस्तुत बौद्धिक कठिनाइयों का उत्तर पुराकथाओं में आख्यानों अथवा कथाओं के रूप में व्यक्त होता है। इन पुराकथाओं का आधार उस पुरातन मानसिक दृष्टिकोण में निहित होता है जो समस्त प्रकृति को चेतनीकृत सत्ताओं का समूह मानता है। वास्तव में पुराकथा का आरम्भ उस समय होता है जब कल्पना किसी प्राकृतिक घटना की व्याख्या एक ऐसे मूर्त प्राणी के रूप में करती है जो मानवीय सत्ता के समान हो। अतः यह तथ्यावलोकन कि

'चन्द्रमा सूर्य का अनुगमन बिना उससे आगे बढ़े ही निरन्तर करता रहता है', रूपान्तरित होकर एक पुराकथा में इस प्रकार वर्णित होगा कि 'एक रमणी के रूप में चन्द्रमा एक ऐसे पुरुष (सूर्य) का पीछा कर रहा है जिसने उसे अस्वीकृत कर दिया है।' जब इस प्रकार की एक मूल पुराकथा सृजनात्मक-कल्पना-सम्पन्न व्यक्तियों की सामग्री बन जाती है तब उसमें और भी अधिक काव्यात्मक अलङ्करण सम्मिलित हो जाते हैं। इस स्तर पर कथा ज्यों-ज्यों एक मुख से दूसरे में स्थानान्तरित होती है, उसमें कथा कहनेवालों की वैयक्तिक कल्पना के अनुसार विभिन्न वृत्तियाँ संयुक्त होती जाती हैं और उनकी मूल प्राकृतिक घटना पृष्ठभूमि में विलीन हो चलती है, क्योंकि मानवीय आकांक्षाओं का विस्तृत प्रतिनिधित्व उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। जब कथा का मूल प्राकृतिक आधार विस्मृत हो जाता है तब उसके मूल आशय से सर्वथा असम्बद्ध नवीन विषय, अथवा अन्य पुराकथाओं के ही कुछ अंश उसमें स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। जब उनके विकास के बहुत बाद के स्तर पर हम उन्हें देखते हैं तब पुराकथा इन परवर्ती उपचयनों के कारण अपने मूल रूप से इतनी अधिक अलग हट चुकी होती है कि उसका विश्लेषण अत्यन्त कठिन, अथवा असम्भव तक हो सकता है। इस प्रकार वास्तव में, यदि हम केवल यूरिपाइडिस के नाटकों में उपलब्ध अत्यन्त मानवत्वारोपित देवताओं से ही परिचित होते तो हेलेनिक देवताओं के चरित्र, अथवा उनके क्रिया-कलापों में मूल प्राकृतिक तत्त्वों को ढूँढ़ पाना अत्यन्त कठिन होता।

डेलब्रुक : त्सी० वो०, १८६५, पृ० २६६-९९; कुन : ऊ० वि० १८७३, पृ० १२३-५१; मैक्स मूलर : काम्परेटिव माइथौलोजी, आक्सफोर्ड एसेज़ II; फिलॉसफी ऑफ माइथौलोजी, सेलेक्टेड एसेज़ I; चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप iv[2], १५५-२०१ ; फिज़िकल रिलीजन, २७६-८ ; श्वार्ज़ : ड० मा० ; मैनहार्ट : ऐ० फे०, भूमिका ; मैनहार्ट : मा० फौ० पर भूमिका में मुलेनहॉफ ; लैङ्ग : एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में 'माइथौलोजी' ; ग्रुप्पे : डी० मा०, प्रस्तावना ; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, १३५-६ ; जेवन्स : चैम्बर्स एनसाइक्लोपीडिया में 'माइथौलोजी' ; और, इन्ट्रोडक्शन टु दि हिस्ट्री ऑफ रिलीजन, लन्दन, १८९६, पृ० २३, ३२, २९९-६९।

§ २. *वैदिक पुराकथाशास्त्र की विशिष्टतायें* :—धर्मों के इतिहास के अध्ययन में वैदिक पुराकथाशास्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। संसार की किसी भी अन्य साहित्यिक राशि की अपेक्षा इसका प्राचीनतम स्रोत हमारे सम्मुख प्राकृतिक घटनाओं के मूर्तीकरण और उपासना पर आधारित विश्वासों की उत्पत्ति का एक आरम्भिक चरण प्रस्तुत करता है। इसी प्राचीनतम सामग्री

में अधिकांश भारतीयों के धार्मिक विश्वासों के अविच्छिन्न विकास के चिह्न देखे जा सकते हैं। भारोपीय जाति की यह भारतीय ही एक मात्र ऐसी शाखा है जिसमें मूल प्राकृतिक-उपासना का एक विदेशी एकेश्वरवादी धार्मिक विश्वास द्वारा अनेक शताब्दियों पूर्व सर्वथा उन्मूलन नहीं हो सका। यद्यपि वैदिक पुराकथा-शास्त्र का प्राचीनतम स्रोत उतना पुराना नहीं है जितना इसे कभी स्वीकार कर लिया गया था,[1] तथापि यह इतना पुरातन अवश्य है कि हम इसमें मूर्तीकरण की उस पद्धति को स्पष्टतः देख सकें जिससे प्राकृतिक घटनायें देवों के रूप में विकसित हो गई, और जो पद्धति अन्य साहित्यों में लक्षित नहीं होती। प्राकृतिक आधार के साथ देवता तथा उसके नाम, दोनों के ही सम्बन्ध को व्यक्त करने की दिशा में पुराकथाशास्त्र आज भी अधिकांशतः पर्याप्त रूप से पारदर्शी है, और इसका इस दिशा में यह महत्त्व 'भाषा' से किसी भी अंश में कम नहीं। इतना ही नहीं, अनेक अवस्थाओं में मानवत्वारोपण तो केवल औपक्रमिक मात्र ही है। इसीलिये 'उषस्' (उषाकाल) एक ऐसी देवी भी है जो मूर्तीकरण का एक, किन्तु क्षीण सा आवरण पहने हुये है, और जब 'अग्नि' को देवता कहा गया है तो इस देवता के व्यक्तित्व की व्याख्या सर्वथा प्राकृतिक तत्त्वों से ही की गई है।

वह आधार, जिस पर वैदिक साहित्य टिका हुआ है, अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है, और वह यही विश्वास है कि प्रकृति की सभी वस्तुयें तथा घटनायें जिनसे मनुष्य घिरा हुआ है, चेतन और दिव्य हैं। सभी वस्तुयें जो व्यक्ति की अन्तरात्मा को भय से प्रभावित कर सकीं, अथवा जो उस पर प्रिय अथवा अप्रिय प्रभाव उत्पन्न कर सकने की क्षमता से युक्त मानी गईं, वह सभी वैदिक काल में केवल आराधना ही नहीं वरन् पूजा की भी वस्तु बन गईं। आकाश, पृथ्वी, पर्वतों, नदियों, पेड़-पौधों, आदि तक की दिव्य व्यक्तियों के रूप में अभ्यर्थना की गई है, तथा घोड़े, गाय, शकुनसूचक पक्षी और अन्य पशुओं का भी आवाहन किया गया है। यहाँ तक कि मनुष्य के हाथों द्वारा निर्मित वस्तुओं—अस्त्र, युद्ध-रथ, ढोल, हल तथा सांस्कारिक उपकरण जैसे निचोड़ने के पत्थर, और यज्ञ-स्तम्भ, आदि की भी आराधना मिलती है।

फिर भी उपासना के इस अपेक्षाकृत निम्न स्वरूप का वैदिक धर्म में स्थान तो है किन्तु वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। वेदों के वास्तविक देव विशिष्टीकृत मानव हैं जो मानवों जैसी आकांक्षाओं और प्रेरणाओं से ओत प्रोत, मानवों की तरह जन्मे, किन्तु अमर व्यक्ति हैं। यह सभी लोग बिना किसी अपवाद के प्रकृति[2] की गोचर घटनाओं अथवा तत्त्वों के दैवीकृत प्रतिनिधि हैं। फिर भी मानवत्वारोपण की जो अवस्था इन लोगों ने प्राप्त कर ली है उसमें पर्याप्त विभेद

है। जब कभी भी किसी देवता का नाम उसके प्राकृतिक आधार के अनुरूप है तो उस दशा में मूर्तीकरण क्रिया प्राथमिक अवस्था से अधिक अग्रसर नहीं हो सकी है। जैसे द्यौस (आकाश), पृथिवी, सूर्य, उषस्, आदि, जिनका नाम प्राकृतिक घटना और उसके अधिपति व्यक्ति, दोनों का ही प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ स्थिति ऐसी ही है। इसी प्रकार, महान् सांस्कारिक देवता अग्नि और सोम की दशा में भी इनके द्वारा उद्दिष्ट क्रमशः अग्नि और यज्ञ-पेय तत्त्वों की दृश्य और स्पृश्य प्रकृति के कारण मूर्तीकरणात्मक कल्पना अवरुद्ध सी हो गई है और इन्हें उन्हीं तत्त्वों के नाम से सम्बोधित किया गया है जिनके यह मूर्तिमान दिव्य स्वरूप हैं। परन्तु जब किसी देवता का नाम प्राकृतिक तत्त्व से भिन्न है, तो उस दशा में वह प्राकृतिक तत्त्व से असम्बद्ध सा हो चला है। इस स्थिति में मानवत्वारोपण क्रिया भी अपेक्षाकृत अधिक विकसित हो गई है। इसीलिये मरुद्गण 'वायु' की अपेक्षा अपने स्रोत से बहुत दूर हटे हुये हैं, यद्यपि इनके सम्बन्ध के प्रति वैदिक कवि इस अवस्था में भी अभिज्ञ हैं। अन्ततः, जब नाम की भिन्नता के अतिरिक्त किसी देवता की कल्पना भी पूर्ववैदिककालीन है तो उस दशा में उसका मूल स्रोत से यह सम्बन्ध-विच्छेद प्रायः पूर्णरूपेण व्यक्त हुआ है। वरुण के उदाहरण में यही स्थिति है जिनसे केवल अपेक्षाकृत पहले से ही चली आ रही पुराकथाशास्त्रीय प्रवृत्तियों द्वारा ही इस सम्बन्ध का अनुमान लगाया जा सकता है। मूल स्रोत से यह विच्छेद यहाँ इतना अधिक आगे बढ़ चुका है कि वरुण का चरित्र किसी उन्नत प्रकार के एकेश्वरवादी मत के एक दिव्य शासक के समान प्रतीत होता है। फिर भी, वैदिक पुराकथाशास्त्र में मूर्तीकरण पद्धति ने कहीं भी हेलेनिक देवों की भाँति वैयक्तिक मानवत्वारोपण की चारित्रिक विशेषता अर्जित नहीं की है। वैदिक देवताओं में अपने-अपने विभेदात्मक लक्षण तो हैं किन्तु बहुत कम, तथा अनेक गुण और शक्तियाँ सभी में समान रूप से विद्यमान मिलती हैं। ऐसा अंशतः इस तथ्य के कारण हुआ है कि प्रकृति के जिन पक्षों का यह प्रतिनिधित्व करते हैं उनमें अक्सर बहुत सी बातें समान हैं, जब कि उनका मानवत्वारोपण अपेक्षाकृत अविकसित अवस्था में ही है। इसीलिये, (आकाशीय) गर्जन के देवता, विद्युत् (चपला) के रूप में अग्नि देवता, और झंझावात के देवता, की क्रियाओं का सरलतापूर्वक समान भाषा में वर्णन किया जा सकता है, क्योंकि वैदिक कवियों की दृष्टि में इन सभी का प्रमुख कार्य वर्षा कराना है। पुनः इस बात पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि विभिन्न वैदिक देवताओं का आरम्भ एक ही स्रोत से हुआ है, किन्तु विशेष गुणवाचक संज्ञाओं द्वारा इनका इस रूप में विभेदीकरण हो गया है कि उन्होंने धीरे-धीरे एक स्वतन्त्र चारित्रिक स्वरूप ग्रहण कर लिया है।

सौर-देवों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। इसके अतिरिक्त वैदिक कवियों द्वारा किये गये देवताओं के क्रिया-कलापों-सम्बन्धी वर्णनों में अक्सर स्पष्टता का भी अभाव है, क्योंकि साहित्य की प्रकृति के कारण पुराकथाओं को किसी वस्तु से सम्बद्ध नहीं किया जाता वरन् उनमें इस सम्बन्ध का केवल इङ्गित मात्र ही कर दिया जाता है। साथ ही, जब हम यह स्मरण रक्खें कि यह अनेक अलग-अलग कवियों द्वारा सृष्ट और एक दीर्घकालीन साहित्यिक अवधि में फैली हुई कृतियाँ हैं, तब इस प्रकार के पुराकथाशास्त्रात्मक इंगितों के युक्तिसंगत होने की और भी आशा नहीं की जा सकती।

[१] हॉ० इ० xiii, और बाद ; या० २–११ ; त्सी० गे० ४०, ६७० — [२] औ० वे० ५९१–४ — [३] श्रोडर : वीं० मौ० ९, १२५–६ ; ह्रॉ० इ० २५ —

वैदिक पुराकथाशास्त्र-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ : रौ० त्सी० गे० ६, ६७–७७ ; ७, ६०७ ; बौटलिङ्क और रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, सात भाग, १८५२–७५ ; मूईर : सं० टें०, पाँच भाग, मुख्यत : भाग ४[२] (संवर्धित संस्करण १८७३), और ५[३] (१८८४) ; ग्रासमैन : व० ऋ० ; ऋ० व०, दो भाग ; ह्वि० स्टे० २, १४९ और बाद ; ज० अ० ओ० सो० ३, २९१ और बाद, ३३१ और बाद ; वुर्म : गे० रि०, पृ० २१–५४ ; वर्गेन : ल० वे०, तीन भाग, पेरिस १८७८–८३ ; लुडविग : ड० ऋ० ; मैक्स मूलर : ओ० रि० ; केगी : डर ऋग्वेद, द्वितीय संस्करण १८८१, लीपज़िग, अंग्रेजी अनुवाद ऐरोस्मिथ : बोस्टन, १८८६ ; बार्थ : रिलीजन्स ऑफ इन्डिया, लन्दन १८८२ ; कुन : मा० स्टू० ; श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर, लीपज़िग, १८८७, पृ० ४५–१४५ ; पी० रि० १, पृ० ३४६–६९ ; पिशल और गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन, भाग १, स्टुटगर्ट, १८८९, भाग २, खण्ड १, १८९२ ; हिलेब्रान्ट : वेदिशे माइथौलोजी, भाग १, ब्रेसला, १८९१ ; रेग्नॉड : ऋ० इ० (यह लेखक व्याख्या के ऐसे सिद्धान्तों का अनुसरण करते हैं जो कि सामान्यतया मान्य सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत हैं) ; हार्डी : डी० इ० ; औल्डेनबर्ग : रिलीजन देस वेद, बर्लिन, १८९४ ; ब्यूलन : आ० उ० ; हॉपकिन्स : रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, बोस्टन और लन्दन, १८९५।

§ ३. *वैदिक पुराकथाशास्त्र के स्रोत* :—प्रायः निश्चित रूप से वैदिक पुराकथाशास्त्र का स्रोत भारत की प्राचीन साहित्यिक कृति ऋग्वेद ही है। इस ग्रन्थ का पुराकथाशास्त्र विभिन्न महत्त्व के अनेक समवर्गीय प्रकृति-देवताओं का निरूपण करता है। ऋग्वेदिक काल के अन्तिम चरण में पृथक्करण की एक बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रभाव के अन्तर्गत यह अनेक देवतावाद इस ग्रन्थ के सबसे बाद के मण्डल में एक प्रकार के एकेश्वरवाद तथा सर्वदेववाद तक के चिह्न प्रकट करने लगा है। इस संग्रह के सूक्त, जिनका सृजन याज्ञिक संस्कारों और मुख्यतः सोम अर्पण करने के संस्कारों को ध्यान में रख कर किया गया है,

अपने युग के पुराकथाशास्त्रीय विषय का एक अनआनुपातिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ऐसे महान् देवगण जो सोम-यज्ञ और धनिकों की उपासना में महत्त्व-पूर्ण स्थान रखते थे, इसमें प्रमुख हैं; किन्तु प्रेतात्मा, अभिचार, मृत्यूपरान्त जीवन आदि से सम्बन्धित पुराकथाशास्त्र प्रायः शून्य सा है, क्योंकि विश्वास के इन क्षेत्रों का सोम-संस्कार के काव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त जहाँ कि देवताओं का चरित्रचित्रण उन सूक्तों में अत्यधिक पूर्णता के साथ किया गया है जो इनका गुणगान करने के लिये इन्हें ही सम्बोधित किये गये हैं, वहीं प्रमुख पराक्रमों को छोड़ कर इनके क्रिया-कलापों का वर्णन अपेक्षाकृत कहीं कम निश्चितता के साथ किया गया है। एक यज्ञ-सम्बन्धी काव्य-संग्रह के लिये, जिसमें वर्णनात्मक विषय अत्यन्त कम हों, यह स्वाभाविक ही है कि वह पुराकथाशास्त्र के इस पक्ष का अत्यन्त प्रकीर्ण और अपूर्ण विवरण प्रस्तुत करे। प्रेतात्माओं, निम्न दैत्यों, और भावी जीवन से सम्बन्धित ऋग्वेद के शेष भाग द्वारा प्रस्तुत दोषपूर्ण विवरण इसके आधुनिकतम मण्डल द्वारा बहुत कम अंशों में ही पुष्ट होते हैं। इसीलिये मृत्यूपरान्त दुष्टजनों के भाग्य के सम्बन्ध में यहाँ भी कदाचित् ही कोई सन्दर्भ मिलता है। देवताओं की आराधना से भिन्न और उसके अतिरिक्त मृत-पूर्वजों की उपासना, तथा साथ ही साथ कुछ सीमा तक निर्जीव पदार्थों के दैवीकरण को भी ऋग्वेदिक धर्म में स्थान दिया गया है।

सामवेद, जिसमें केवल पचहत्तर मन्त्र ही ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं आते, वैदिक पुराकथाशास्त्र के अध्ययन के लिये कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।

अथर्ववेद का अधिक प्रचलित विषयवस्तु मुख्यतः गृह्य और अभिचारीय संस्कारों का ही निरूपण करता है। कौशिक सूत्र के सांस्कारिक विषयों सहित अथर्ववेद के बाद के अंश प्रेतात्मा और दैत्य-विषयक अत्यन्त प्रचुर विवरण प्रस्तुत करते हैं। धर्म के इस निम्न पक्ष पर ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद अधिक प्राचीन धारणाओं का प्रतिपादन करता है। किन्तु धर्म के उच्चतर पक्ष के सम्बन्ध में यह (अथर्ववेद) अधिक विकसित और अद्यतन रूप का ही प्रतिनिधित्व करता है। अलग-अलग देवता, विकास के एक बाद के पक्ष को व्यक्त करते हैं, साथ ही साथ नवीन विभेदों का भी दैवीकरण कर दिया गया है, जब कि धर्म की सामान्य प्रकृति सर्वदेववादी ही है।[1] अलग-अलग देवताओं की प्रशस्ति के सूक्त अपेक्षतया अत्यन्त कम हैं; जब कि अनेक देवताओं का एक साथ आवाहन, जिसमें इनकी मूलभूत प्रकृति का कदाचित् ही वर्णन है, इसकी विशेषता है। देवों के क्रिया-कलाप यहाँ भी उसी परम्परागत स्थिर-प्रकार से प्रशंसित हैं जिस प्रकार ऋग्वेद में मिलते हैं। अथर्ववेद में ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण पुराकथा-

शास्त्रात्मक प्रवृत्ति कदाचित् ही उपलब्ध है जो ऋग्वेद जैसे अपेक्षाकृत प्राचीन संग्रह में भी न मिलती हो।

यजुर्वेद तो और भी बाद के स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। इसके अधिकांश सूक्त संस्कारों का ही निरूपण करने के लिये निर्मित होने के कारण देवों को प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित नहीं किये गये हैं। इसमें देवगण केवल छायात्मक व्यक्तित्व मात्र हैं जिनका यज्ञ से केवल एक अत्यन्त क्षीण सा सम्बन्ध है। यजुर्वेद के पुराकथाशास्त्र की सर्वप्रमुख विशेषतायें, एक प्रधान देव के रूप में प्रजापति का अस्तित्व, विष्णु का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व, और ऋग्वेद के एक प्राचीन देवता का 'शिव' के नये नाम से प्रकट होना, हैं। फिर भी संस्कार की तुलना में देवों के अपेक्षतया हीन स्थान के कारण यह वेद पुराकथाशास्त्र-सम्बन्धी विषयवस्तु अत्यन्त अल्प मात्रा में ही प्रस्तुत करता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतरेय और शतपथ हैं, तथा यजुर्वेद के बीच कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। इनमें भी यज्ञ ही प्रमुख प्रतिपाद्य विषय होने के कारण देवताओं के व्यक्तिगत गुण प्रायः विलीन और उनके सामान्य चित्र परिमार्जित हो गये हैं। साथ ही कुछ देवताओं का महत्त्व या तो घट या बढ़ गया है। इन बातों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रंथों का देव-समाज बहुत अंशों में ऋग्वेद और अथर्ववेद जैसा ही है, और निर्जीव पदार्थों की उपासना की इस समय भी मान्यता है। ऋग्वेद और ब्राह्मण ग्रंथों के पुराकथाशास्त्र में प्रमुख अन्तर यह है कि ब्राह्मणों में प्रजापति प्रधान देवता माना गया है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों का सर्वदेववाद भी स्पष्ट है। इस प्रकार 'प्रजापति' को 'सर्व' (शतपथ ब्राह्मण १, ३, ५[१०]) अथवा 'सर्व और सभी कुछ' (शतपथ ब्राह्मण १, ६, ४[१]; ४, ५, ७[२]) कहा गया है।

देवों के अपने विशिष्ट गुणों के समाप्त हो जाने के कारण ही उन्हें विभिन्न समूहों में वर्गीकृत करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। इसीलिये 'देवों' और 'असुरों' जैसी दो परस्पर विरोधी दलों की अलौकिक शक्तियाँ इस काल की विशेषता हैं। देवों को पार्थिव (स्थलवासी) वसुओं, वायवीय (अन्तरिक्षवासी) रुद्रों, और अलौकिक आदित्यों (§ ४५), आदि तीन उप-वर्गों में रक्खा गया है। प्रतिनिधि-स्वरूप इनका सर्वप्रमुख समूह अग्नि, वायु और सूर्य की त्रयी है। अलग-अलग देवों के उनके विभिन्न गुणों के मूर्तीकरण के आधार पर किये गये उपविभाजनों में इन कृतियों की औपचारिकता अपेक्षाकृत और भी अधिक स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। इसीलिये इनमें 'भोजन का अधिपति' अग्नि, 'स्तुति का अधिपति' अग्नि, आदि का वर्णन मिलता है।[२]

अपने प्रमुख प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण करने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थ

अनेक पुराकथाओं का वर्णन करते हैं। इनमें से कुछ का तो संहिताओं में उल्लेख ही नहीं मिलता, किन्तु जो प्राचीन साहित्य में उपलब्ध भी हैं वह ब्राह्मण ग्रन्थों में केवल अपने प्राचीन स्वरूप के अत्यन्त विकसित रूप हैं और इनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इनसे इनके मूलस्वरूप पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है या नहीं। यह केवल प्राचीन वैदिक और वैदिककालोपरान्त समय के बीच की पुराकथाशास्त्रीय कृतियों की एक शृंखला मात्र का कार्य करते हैं।

[1]हॉ० इ० १५३ — [2]श्री ४२ ; हॉ० इ० १८२।

§ ४. *अनुसन्धान की विधि* :—वैदिक पुराकथाशास्त्र एक ऐसे देश और काल, तथा सामाजिक और भौगोलिक स्थिति की कृतियाँ हैं जो हम (ब्रिटिश) लोगों से अत्यन्त दूरस्थ और अत्यधिक भिन्न है। इसके अतिरिक्त यहाँ हमें तथ्य से सम्बन्धित प्रत्यक्ष वक्तव्यों का नहीं वरन् ऐसे कवियों के काल्पनिक सृजनों का अध्ययन करना है, जिनका प्रकृति के प्रति मानसिक दृष्टिकोण आज के मनुष्यों से सर्वथा भिन्न था। इतनी जटिल और विचारों के इतने आरम्भिक स्तर का प्रतिनिधित्व करनेवाली इस सामग्री के अध्ययन की कठिनाई उन काव्यों की प्रकृति के कारण और भी बढ़ जाती है जिनमें यह विचार निहित हैं। इस प्रकार यहाँ कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिसका वैज्ञानिक दृष्टि से निरूपण किया जा सके। अतः कुछ अंशों तक काव्यात्मक अन्तर्दृष्टि के अतिरिक्त इसके अध्ययन में सतर्कता और निर्णयों की गम्भीरता की अत्यन्त आवश्यकता है। फिर भी, अध्ययन-विधि में स्पष्टतः आवश्यक इतनी सतर्कता का वैदिक पुराकथाशास्त्र के अनुसन्धान में बहुत अधिक अभाव रहा है। उपलब्ध सामग्री में ही निहित अस्पष्टता के साथ-साथ निःसन्देह बहुत अंशों में यही दोष बहुसंख्यक महत्त्वपूर्ण पुराकथाशास्त्रीय समस्याओं पर वैदिक विद्वानों में व्याप्त अत्यधिक मतभेद का भी कारण है।

वैदिक अध्ययन के आरम्भिक काल में दोषपूर्ण क्षेत्र से ही अनुसन्धान आरम्भ करने की प्रवृत्ति सी थी। उस समय तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र की व्युत्पत्तिमूलक समानताओं से ही अध्ययन आरम्भ किया जाता था। यह समीकरण, जिनमें से आज यद्यपि अधिकांश अस्वीकृत कर दिये गये हैं, वेदों की पुराकथाशास्त्रीय कृतियों की व्याख्या को बहुत दिनों तक अनुचित रूप से प्रभावित करते रहे। इन व्युत्पत्तिमूलक विचारों के अतिरिक्त भी, अक्सर प्रमाणों के सूक्ष्म परीक्षण की अपेक्षा सामान्य अनुभवों पर ही सिद्धान्तों को आधारित किया जाता था और इस प्रकार कभी-कभी तो परवर्ती अथवा एकाकी प्रवृत्तियों को भी प्राथमिक की ही भाँति महत्त्व मिल गया है। साथ ही साथ व्याख्या के किसी

सिद्धान्त-विशेष के लिये ही निश्चित रूप से पक्षपात की भावना भी दिखाई पड़ती है। इस प्रकार अपेक्षाकृत बहुत बड़े परिमाण में पुराकथाशास्त्रीय स्वरूपों की क्रमशः, उषा, विद्युत् (चपला), सूर्य अथवा चन्द्रमा, से निष्पन्न होने के रूप में व्याख्या की गई है। इसी भाँति एक पूर्वनिश्चित पक्षपातपूर्ण धारणा अचेतन रूप से प्रमाणों के केवल आंशिक उपयोग की ओर भी प्रवृत्ति करती रही है।

इस प्रकार की वस्तुस्थिति के कारण विद्यार्थियों को अपेक्षाकृत अधिक सतर्कतामूलक पद्धति का अनुसरण करने के उद्देश्य से कुछ परामर्श देना उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इस सिद्धान्त के आधार पर, कि वैज्ञानिक अनुसन्धान को अधिक सुपरिचित से अपेक्षाकृत कम परिचित की ओर अग्रसर होना चाहिये, ऐसे शोधकार्य को जिनका अभीष्ट वैदिक देवों के चरित्र तथा व्यवहारों का अध्ययन करना है, तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र के अपर्याप्त और अनिश्चित निष्कर्षों से आरम्भ न हो कर भारतीय साहित्य द्वारा प्रस्तुत विवरणों से ही आरम्भ होना चाहिये, क्योंकि इसी साहित्य में भारतीय पुराकथाशास्त्र के सर्वाधिक प्राचीन स्रोत ऋग्वेद से लेकर आधुनिक काल तक का प्रायः एक अविच्छिन्न विवरण निहित है।[२] किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व प्रत्येक देवता अथवा पुराकथा-सम्बन्धी समस्त सामग्री का संग्रह और वर्गीकरण, तथा उनका अन्य समानान्तर स्थलों के साथ तुलना करके सूक्ष्म परीक्षण करना चाहिये।[3] इस कार्य में उन प्राथमिक विशेषताओं को, जो मूर्तीकरण का आधार रही हों, बाद के उप-चयनों से पृथक् कर लेना चाहिये।

कल्पना में ज्योंही किसी प्राकृतिक शक्ति का स्थान कोई व्यक्ति ले लेता है त्योंही काव्यात्मक कल्पना एक परवर्ती पुराकथा का जाल बुनने लगती है जिसमें कालान्तर में ऐसे विषयवस्तु भी सम्मिलित हो जाते हैं जिनका मूल सृजन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा होता और यह केवल दूसरे स्थानों से ही गृहीत होते हैं। जहाँ विषयवस्तु अत्यन्त सीमित नहीं होता वहाँ प्राथमिक और अनिवार्य विशेषतायें निरन्तर आभीक्ष्ण्य द्वारा अपना अस्तित्व बना रखती हैं। इस प्रकार इन्द्र की पुराकथा में वृत्र के साथ उन के युद्ध पर, जो अनिवार्य है, निरन्तर ज़ोर दिया गया है, जब कि यह एकाकी वक्तव्य कि वह अपने वज्र से वृत्र की माता पर प्रहार करते हैं (१,३२[९]) स्पष्टतः एक बाद की उक्ति है जिसे केवल नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से किसी कवि ने जोड़ दिया है। पुनः, 'वृत्र का वध करनेवाला' विशेषण, जो निश्चित रूप से केवल इन्द्र के लिये ही उपयुक्त है, ऋग्वेद में अनेक बार 'सोम' देव के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। किन्तु यह उक्त प्रथम देवता से ही द्वितीय में स्थानान्तरित किया गया है ऐसा इस उक्ति द्वारा स्पष्ट है कि सोम 'वृत्र का वध करनेवाला एक मादक पौधा' है (६,१७[११])

जिसके रस का युद्ध के पूर्व इन्द्र नियमित रूप से पान करते थे। इस प्रकार के गुणों के स्थानान्तरण की प्रकृति ऋग्वेद में विशेष रूप से सरल है, क्योंकि कविगण देवों की युगल रूप से ही प्रशस्ति करते हैं और इस अवस्था में दोनों ही देव एक दूसरे की चारित्रिक विशेषताओं और पराक्रमों को एक साथ ही वहन करते हैं (देखिये § ४४)। अतः अध्ययन करते समय इस प्रकार अर्जित गुणों को निश्चित रूप से अनिवार्य गुणों से पृथक् कर देना चाहिये। ऐसे गुणों और ब्राह्मी शक्तियों के सम्बन्ध में भी, जिनसे अनेक देवों को समान रूप से युक्त बताया गया हैं, यही कथन सत्य है और इनका किसी देवता-विशेष के लिये प्रमाण के रूप में कोई भी महत्त्व नहीं हो सकता।[४] जब ऐसे गुण और शक्तियाँ किसी एक देवता से प्रमुख रूप से संयुक्त की गई हों तभी इन्हें प्रभावशाली ढङ्ग से निर्दिष्ट किया जा सकता है, क्योंकि इस दशा में ही यह सम्भव है कि इनका आरम्भ उसी देवता से हुआ हो और उसके बाद ही क्रमशः अन्य देवताओं से भी संयुक्त हो गई हों। फिर भी इस सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि कुछ देवता अन्य की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्तों में प्रख्यात हैं। अतः किसी देवता से संयुक्त किसी गुण की आवृत्ति का मूल्यांकन सापेक्षिक रूप से ही करना चाहिये। इसीलिये यदि कोई विशेषण उतनी ही बार 'वरुण' से सम्बद्ध किया गया हो जितनी बार इन्द्र से, तो यह सर्वथा सम्भव है कि वह इस द्वितीय की अपेक्षा प्रथम देवता के चरित्र के लिये ही अधिक अनिवार्य है, क्योंकि इन्द्र का आवाहन वरुण को अपेक्षा दस-गुने अधिक सूक्तों में किया गया है। किसी स्थल-विशेष का प्रमाण के रूप में महत्त्व, उस सूक्त की जिसमें वह आता है, सापेक्षिक प्राचीनता द्वारा भी प्रभावित हो सकता है। किसी बाद के स्थल पर सर्वप्रथम आनेवाला एक वक्तव्य किसी पहले की धारणा का तो प्रतिनिधित्व कर सकता है, किन्तु यदि कालक्रम की दृष्टि से यह किसी पहले के सूक्त में उसी विषय के किसी कथन से भिन्न है, तब बहुत सम्भव है कि यह एक बाद के विकास को ही प्रस्तुत करता हो। इस प्रकार ऋग्वेद[५] के दशम और प्रथम मण्डल के अधिकांश भागों में अन्य मण्डलों की अपेक्षा बाद के विचार निहित हैं। इसके अतिरिक्त 'सोम पवमान' के साथ केवल नवम मण्डल का एक मात्र सम्बन्ध किसी अन्य मण्डल में निहित पुराकथाशास्त्रीय सामग्री को दूसरा ही रूप प्रदान कर सकता है। इसी प्रकार 'विवस्वत्' और 'त्रित' को यहाँ 'सोम' तैयार करने से एक विशेष रूप में सम्बद्ध किया गया है (तु० की० §§ १८,२३)। जहाँ तक ब्राह्मण ग्रन्थों का सम्बन्ध है, उनमें ऐतिहासिक दृष्टि से पुरातन धारणायें ढूँढ़ने में अत्यधिक सतर्कता रखनी चाहिये, क्योंकि यह सभी अत्यन्त अयथार्थ कल्पनाओं, अनुमानों और समीकरणों से परिपूर्ण हैं।[६]

समानान्तर स्थलों को प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हुये उनके प्रसङ्ग का भी समुचित ध्यान रखना चाहिये। इनका वास्तविक मूल्य बहुधा केवल इनके चतुर्दिक् वातावरण-सम्बन्धी सूक्ष्म और जटिल विचार तथा उन्हें सम्बद्ध करनेवाले उन विचार-सहचर्यों द्वारा ही समझा जा सकता है जो उन्हें उनके पूर्व तथा पश्चात् आनेवाले विषयों से सम्बद्ध करते हैं। भारतीय साहित्य के बाद के स्वरूप में उपलब्ध पुष्टियों की सहायता से वेदों के अन्तस्साक्ष्य का सतर्कतापूर्वक मूल्यांकन कर लेने के पश्चात् उस पर और अधिक प्रकाश डालने के लिये उससे निकटतः सम्बन्धित ईरानियों के पुराकथाशास्त्र का भी अवलोकन करना चाहिये। इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन भारतीय विषयवस्तु द्वारा निष्कृष्ट परिणामों की पुष्टि कर सकता है; अथवा जब भारतीय प्रमाण अनिर्णायक हों तो क्या प्राचीन है और क्या अर्वाचीन यह निश्चित करने, या वैदिक धारणाओं के सम्बन्ध में अपेक्षतया अधिक निश्चितता प्राप्त करने के लिये भी, यह तुलना सहायक हो सकती है। उदाहरण के लिये, अवेस्ता की सहायता के बिना 'मित्र' देव की मूल प्रकृति के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना प्रायः असम्भव होगा।

तदुपरान्त, अगला चरण तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र से प्राप्त परिणामों का, यदि सम्भव हो तो, यह जानने के लिये परीक्षण करना चाहिये कि भारोपीय काल में भी किस स्थान पर वैदिक परम्परा के चिह्न वर्तमान हैं और उस परम्परा का मूल आशय क्या है। अन्त में, जब यह निश्चित करना भी आवश्यक हो कि मानव-विकास के अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन स्तर के कौन-कौन से तत्त्व अब भी वर्तमान हैं, तब मानव-जातिविज्ञान के सिद्धान्तों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वेदों की परिधि के बाहर के ऐसे सभी प्रमाणों का उपयोग एक तो यह मान लेने की, कि विभिन्न पुराकथाशास्त्रीय तत्त्वों का आरम्भ विशुद्ध रूप से भारतीय ही है, अथवा भारोपीय काल को सभी पुराकथाशास्त्रीय विचारधाराओं का प्रारम्भिक स्रोत मान लेने की धारणा के विरुद्ध स्वयं एक प्रकार का सुरक्षात्मक आधार प्रस्तुत करता है। उक्त बाद का दृष्टिकोण तो सत्य से उतना ही दूर है जितना यह विचार कि आर्य-बोलियों के आरम्भ का प्रतिनिधित्व केवल भारोपीय भाषा ही करती है।[7]

[1]ओल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४९, १७३ — [2]पिशल : वेदिशे स्टूडियन xxvi–viii — [3]ब्लूमफील्ड : त्सी० गे० ४८, ५४२ — [4]हॉ० इ० ५१ — [5]तु० की०, औ० वे० I; आर्नोल्ड : कु० त्सी० ३४, २९७, ३४४; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, २३–९२ — [6]हॉ० इ० १८३, १९४; श्रोडर : वी० मौ० ९, १२० — [7]औ० वे० २६–३३। तु० की० ऊ० ऋ०; हिलेब्रान्ट : वेद-इन्टरप्रिटेशन, ब्रेस्ला, १९४।

§ ५. **अवेस्ता और वैदिक पुराकथाशास्त्र**:—हम यह देख चुके हैं कि वैदिक पुराकथाशास्त्र का विद्यार्थी अवेस्ता के प्रमाणों की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। वाक्य-विन्यास, शब्दावली, भाषा-शैली, छन्दयोजना, और सामान्य काव्यात्मक शैली की दृष्टि से भी वैदिक भाषा तथा अवेस्ता की प्राचीनतम भाषा में इतना अधिक साम्य है कि अवेस्ता के पूरे के पूरे श्लोकों का वैदिक भाषा में इस प्रकार शब्दशः अनुवाद किया जा सकता है कि उसके अनूदित मन्त्र केवल रचना की दृष्टि से ही शुद्ध नहीं होंगे वरन् उनका काव्यात्मक स्वरूप भी समान होगा।[१] परन्तु पुराकथाशास्त्र के क्षेत्र में यह साम्य कहीं भी इतना अधिक नहीं है क्योंकि ज़रथुष्ट्र के धार्मिक सुधारों ने ईरान की पुराकथाशास्त्रीय धारणाओं में पर्याप्त स्थानान्तरण और रूपान्तरण ला दिया है। अतः यदि हमारे पास उतना प्राचीन ही अवेस्ता साहित्य भी होता जितना ऋग्वेद है, तब यह समानता इस दिशा में भी अपेक्षाकृत कहीं अधिक रही होती। फिर भी, यहाँ संस्कृति की अपेक्षा पुराकथाशास्त्र में विवरण-सम्बन्धी समानताओं का आश्चर्यजनक आधिक्य है। संस्कारों से सम्बन्धित इस प्रकार के अनेक समान शब्दों में से यहाँ केवल कुछ का ही उल्लेख पर्याप्त है। वैदिक और अवेस्ता के समान शब्द क्रमशः इस प्रकार हैं: वैदिक 'यज्ञ'=अवेस्तन 'यस्न' (यज्ञ); होतृ=ज़ओतर (पुरोहित); अथर्वन्=आथ्रवन् (अग्नि-पुरोहित); ऋत=अष (रीति, संस्कार); और सर्वोपरि 'सोम'=हओम (सोम-पौधों का मादक रस), जो दोनों ही संस्कृतियों में तर्पण के लिये प्रमुख रूप से अर्पित किया जाता था। सोम निचोड़ कर निकाला और छनने से छान कर परिष्कृत किया जाता था; इसमें दूध मिश्रित किया जाता था, और इसे पर्वतों पर उगनेवाला तथा पौधों का अधिपति कहा जाता था, जिसे एक अथवा अनेक गरुड पक्षी नीचे लाते थे (तु॰ की॰ § ३७)। पुराकथाशास्त्र में उपलब्ध इन्हीं प्रमुख समानताओं से ही यहाँ हमारा प्रयोजन है। दोनों ही धर्मों में 'असुर'='अहुर' शब्द ऐसे सर्वोच्च देवताओं के लिये प्रयुक्त हुआ है जिनकी दोनों ही धर्मों में प्रतापी राजाओं के रूप में कल्पना है, जिनके रथ तीव्रगामी अश्वों द्वारा आकाश मार्ग में खींचे जानेवाले कहे गये हैं, और जिन्हें चरित्र की दृष्टि से उदार तथा छल और अनैतिक प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त कहा गया है। ईरानी और भारतीय दोनों, यद्यपि 'अग्नि' और 'आतर्' जैसे दो भिन्न नामों से किन्तु अग्नि की ही उपासना करते थे। बहुधा तो नहीं, परन्तु फिर भी जल अथवा 'आपः'='आपो' का दोनों ही आवाहन करते थे। वैदिक 'मित्र' ही अवेस्ता का सूर्य-देव 'मिथ्र' है। 'आदित्य भग' और 'बघ' देवताओं मात्र का अर्थ रखने की दृष्टि से समान हैं। वायु ही 'वयु' (वायु का एक प्रतिभाशाली देवता) है। अपां नपात् (जल का पुत्र)=अपाम् नपात्। 'गन्धर्व'='गन्दरेव', और

'कृशानु' = 'केरेशानि', यह दोनों ही सोम = हओम से सम्बद्ध दिव्य प्राणी हैं। 'त्रित आप्त्य' के ही समान 'थ्रित' और 'आथ्व्य' नामक दो पौराणिक व्यक्तित्व हैं, और 'इन्द्र वृत्रहन्' के समान ही दैत्य इन्द्र तथा विजय प्राप्त करने की प्रतिभा से सम्पन्न 'वेरेथ्रघ्न' हैं। 'विवस्वत्' के पुत्र और मृतकों के शासक 'यम', वस्तुतः 'विवएह्वन्त्' के पुत्र और स्वर्ग के शासक 'यिम' के समान हैं। यद्यपि नाम की दृष्टि से नहीं, तथापि चरित्र की दृष्टि से 'वरुण' देव के ही समानान्तर 'अहुरमज़्द' (बुद्धिमान् दिव्यात्मा) आते हैं। दोनों ही धर्मों में दुष्टात्माओं के वाचक शब्द 'द्रुह्' = 'द्रुज्' और 'यातु' में भी समानता है।[3]

[1]गी० कु० फा०, भाग १, पृ० १, में बार्थोलोमाइ — [2]स्पीगेल : डी० पी०, पृ० १५५ — [3]स्पीगेल : उ० पु० २२५–३३ ; ग्रुप्पे : डी० मा० I, ८६–९७ ; औ० वे० २६–३३ ; हॉ० इ० १६७–८।

§ ६. *तुलनात्मक पुराकथाशास्त्र* :—भारोपीय काल के सम्बन्ध में हमारे सम्मुख निश्चित आधार अपेक्षाकृत कहीं कम हैं। अनुसन्धान के प्रथम उत्साह में किये गये और सामान्यतया स्वीकृत नामों के अनेक समीकरण आज अस्वीकृत कर दिये गये हैं और उनमें से बहुत थोड़े से ही ऐसे शेष हैं जो स्थायी आधार पर टिके हुये हैं। द्यौस = ज्यूस (यूनानी Ζεύς) ही केवल एक मात्र ऐसा समीकरण है जिसे सन्देह की सीमा से परे कहा जा सकता है। वरुण = यूरेनस (यूनानी Οὐρανος) भी यद्यपि उच्चारणात्मक कठिनाई प्रस्तुत करता है तथापि सम्भव प्रतीत होता है। वर्षा का देवता 'पर्जन्य', अर्थ की दृष्टि से लिथुआनिया के मेघ-गर्जन के देवता 'पर्कुनस' के बहुत कुछ समान है, किन्तु यहाँ उच्चारणात्मक आपत्तियाँ और भी अधिक हैं। 'भग' का नाम स्लेवोनिक 'बोगु' और पर्शियन 'बघ' के समतुल्य है, परन्तु बाद के इन दोनों शब्दों का अर्थ केवल 'देवता' होने के कारण भारोपीय शब्द किसी एक देवता का द्योतक नहीं रहा हो सकता। यद्यपि उषस्' का नाम मूलतः 'आरोरा और होस' (यूनानी 'Ηώς) का सजातीय है तथापि देवी के रूप में 'उषस्' की उपासना विशेषतः एक भारतीय विकास है। भारोपीय परिवार की विभिन्न शाखाओं के मेघ-गर्जन के देवताओं की पुराकथाशास्त्रीय चारित्रिक विशेषताओं में समानता के कारण यह निष्कर्ष निकाला गया है कि एक समान नाम की अनुपस्थिति में भी भारोपीय काल में किसी गर्जन-देवता का अस्तित्व था। केवल चारित्रिक समानता पर आधारित दो एक अन्य समीकरण भी मिलते हैं जो असम्भव नहीं प्रतीत होते। ऐसे उच्चतर देवताओं की कल्पना भी, जिनकी प्रकृति प्रकाश (√दिव्, चमकना) और स्वर्ग (दिव्) से सम्बद्ध थी, भारोपीय काल में उत्पन्न हो चुकी थी, ऐसा एक समान नाम 'देवोस्' (संस्कृत देव-स, लिथु०

देव-स, लैटिन ग्यूस) अथवा देवता द्वारा व्यक्त होता है। माता के रूप में पृथ्वी (वैदिक तथा यूनानी, दोनों ही पुराकथाशास्त्र में उपलब्ध), और पिता के रूप में आकाश (संस्कृत 'द्यौष्-पितर्'; यूनानी 'ज्यू पातेर' Zεῦ πάτερ; लैटिन 'जुपीटर') की धारणा अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन प्रतीत होती है, क्योंकि सार्वभौमिक माता-पिता के रूप में पृथ्वी और आकाश से चीन तथा न्यूज़ीलैण्ड के पुराकथाशास्त्र परिचित हैं, साथ ही इन्हें मिस्र में भी ढूँढ़ा जा सकता है।[२] अभिचारीय संस्कारों का प्रचलन और निर्जीव पदार्थों की उपासना-प्रणाली की वेदों में भी उपस्थित निःसन्देह, मानव-जाति के मानसिक विकास के आरम्भिक स्तर की भाँति ही, प्राचीन काल से प्राप्त हुई है, यद्यपि आर्य विजेताओं पर भारत के पुरातन आदिवासियों का भी कुछ प्रभाव पड़ा होने की सम्भावना को सर्वथा अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

[१]ग्रुप्पे : उ० पु० I, ९७–१२१ ; औ० वे० ३३–८ ; हॉ० इ० १६८–९ —
[२]टेलर : प्रिमिटिव कल्चर, I, ३२६ ; लैङ्ग : एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ० १५०–१, में 'माइथौलोजी'।

२—जगत् और उसकी सृष्टि-सम्बन्धी वैदिक धारणायें

§ ७. *सृष्टिनियममीमांसा* :—जिस मञ्च पर देवों के क्रिया-कलाप अभिनीत होते हैं उस विश्व को वैदिक कवि तीन भागों[१] में विभक्त मानते हैं, यथा : पृथ्वी, अन्तरिक्ष (या वायुमण्डल) और स्वर्ग।[२] पृथ्वी से ऊपर स्थित समस्त स्थान के रूप में आकाश तथा पृथ्वी मिलकर सम्पूर्ण विश्व का निर्माण करते हैं, जिसके अन्तर्गत आकाश तथा पाताल लोक आते हैं। आकाश के उच्चस्थ भाग ('नाक') को ही वह सीमा माना गया है जो दृष्ट आकाश लोक तथा अदृष्ट या तृतीय स्वर्गलोक को विभाजित करती है। यह स्वर्गलोक प्रकाश का आवास तथा देवों के रहने का स्थान है। स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वी, तीनों ही मिलकर ऋग्वेद में सुपरिचित त्रयी का निर्माण करते हैं जिनकी स्पष्टतः अथवा उपलक्षित रूप में निरन्तर चर्चा मिलती है (८, १०[६]. ९०[६] इत्यादि)। सौर घटनायें जो आकाश के चरम स्थान पर घटित होती हुई प्रतीत होती हैं उन्हें स्वर्ग में होनेवाली कहा गया है, जब कि विद्युत्, वर्षा, और पवन, अन्तरिक्ष में स्थित हैं। किन्तु जब स्वर्ग पृथ्वी से ऊपर के सम्पूर्ण स्थान का द्योतक है तब उक्त दोनों वर्गों की घटनाओं को वहीं (स्वर्ग में) घटित होनेवाली बताया गया है। अथर्ववेद के एक स्थल (४, १४[३] = वाजसनेयि संहिता १७, ६७) पर 'आकाश' का 'नाक', पृथ्वी-अन्तरिक्ष-स्वर्ग की त्रयी और 'प्रकाश लोक' के

बीच में आता है और इस प्रकार यह एक चतुर्थ भाग का द्योतक है।[3] इन तीनों लोकों के उप-विभाजन भी किये गये हैं। इसीलिये तीन पृथ्वी, तीन अन्तरिक्ष और तीन स्वर्ग का अक्सर उल्लेख है; अथवा जब विश्व को दो अर्धकों से निर्मित माना गया है उस दशा में छः संसारों अथवा स्थानों (रजांसि) की चर्चा है। यह उपविभाजन संभवतः 'पृथिवी' (१, १०८[९.१०]; ७, १०४[११])[४] शब्द के बहुवचन में तीन संसारों के वाचक के रूप में (ठीक उसी प्रकार जैसे युगल 'पितरौ' अर्थात 'दो पिता', नियमित रूप से 'पिता' और 'माता' का द्योतक है) एक शिथिल से प्रयोग द्वारा ही आरम्भ हुआ प्रतीत होता है।

पृथ्वी को, 'भूमि', 'क्षम्', 'क्षा', 'ग्मा', 'मही' (महान्), 'पृथिवी अथवा 'उर्वी' (चौड़ी), 'उत्ताना' (विस्तृत), 'अपारा' (असीम), अथवा (ऊर्ध्वलोक के विपरीत यह स्थान) 'इदम' (१, २२[१७]. १५४[१.३]) आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है।

पृथ्वी को महासागर से घिरी हुई मण्डलाकार मानने की धारणा संहिताओं में नहीं मिलती। किन्तु इसे स्वाभाविक रूप से वृत्ताकार माना जाता था जिसकी पहिये से तुलना की गई है (१०, ८९[४])। शतपथ ब्राह्मण[५] में तो इसे स्पष्ट रूप से वृत्ताकार (परिमण्डल) कहा गया है।

चार दिशाओं का ऋग्वेद में एक क्रिया-विशेषणात्मक रूप में (७,७२[५]; १०, ३६[१४]. ४२[११]) और अथर्ववेद में सत्तावाचक के रूप में (अथर्ववेद १५, २[१] और बाद) उल्लेख है। अतः 'चार क्षेत्रों' (प्रादिशः) की भी चर्चा मिलती है (१०, १९[८]) और इस शब्द का सम्पूर्ण पृथ्वी के पर्यायवाची के रूप में भी प्रयोग हुआ है (१, १६४[४२])। इसी प्रसंग में पृथ्वी के 'चतुर्भृष्टि' (१०,५८[३]) अर्थात् 'चार दिक्विन्दुओं वाली होने का वर्णन है। कभी-कभी पाँच दिक्विन्दुओं का भी उल्लेख है (९, ८६[२९]; अथर्ववेद ३, २४[३] इत्यादि), जिस दशा में मध्य का वह भाग जहाँ गायक खड़ा होता है (१०, ४२[११]) पञ्चम विन्दु का द्योतक है। अथर्ववेद छः (इसमें एक शिरोविन्दु भी सम्मिलित कर दिया गया है) और कभी-कभी सात दिक्विन्दुओं तक का उल्लेख करता है।[५] ऋग्वेद (९, ११४[३]; १, २२[१६]) में उल्लिखित पृथ्वी के सात देशों (दिशः) और सात स्थानों (धाम) से भी इन्हीं सात दिक्विन्दुओं का ही अर्थ हो सकता है।

स्वर्ग अथवा 'दिव्' को बहुधा व्योमन् (आकाश) अथवा प्रकाश से परिपूर्ण प्रदीप्त स्थान 'रोचन' ('दिव्' सहित अथवा उसके बिना) भी कहा गया है। 'नाक' (आकाशमण्डल) के अतिरिक्त आकाशीय विभाजन के लिये प्रयुक्त शब्द इस प्रकार हैं : 'सानु' (शीर्ष), विष्टप् (सतह), पृष्ठ (गिरिपृष्ठ),

और साथ ही साथ, यौगिक व्याहृतियाँ 'नाकस्य पृष्ठ' (१, १२५[५], तु० कौ० ३, २[१२]) और "नाक का शीर्ष' (८, ९२[२])[३]। 'स्वर्ग के प्रदीप्त स्थान में एक तीसरे पृष्ठ" तक का भी उल्लेख है (९, ८६[२७])। जब तीन स्वर्गों का विभेद स्पष्ट किया गया है तब उन्हें तीन प्रदीप्त स्थानोंवाला (त्रि-रोचना) कहा गया है, जिसमें से एक उच्चतम (उत्तम), एक मध्य में स्थित, और एक निम्न, का स्पष्ट निर्देश है (५, ६०[६])। उच्चतम को 'उत्तर' और 'पार्य' भी कहा गया है (४, २६[६]; ६, ४०[५])। इस प्रथम अथवा उच्चतम स्वर्ग (अक्सर 'परमे रोचने' अथवा 'व्योमन्') में देवों, पितरों, और सोम के आवास की कल्पना है।

आकाश और पृथ्वी की युगल रूप में मान्यता है, जिन्हें 'रोदसी' 'क्षोणी' 'द्यावापृथिवी', तथा अन्य (§ ४४) नामों से पुकारा गया है और इन्हें दो अर्धक (२, २७[१५]) कहा गया है। अर्ध-गोलाकार आकाश के साथ इस संयोग द्वारा पृथ्वी के आकार-परिवर्त्तन की धारणा का भी सूत्रपात होता है, जिसके अनुसार दोनों (आकाश और पृथ्वी) को एक दूसरे की ओर मुँह किये हुए दो विशाल घट (चम्वा) (३, ५५[२०]) कहा गया है। एक बार धुरों के दोनों किनारों पर लगी पहियों से भी इनकी तुलना की गई है (१०, ८९[४])।

'पक्षी भी विष्णु के आवास की ऊँचाई तक उड़ कर नहीं जा सकते' (१, १५५[५]), इस प्रकार के अस्पष्ट वाक्पदों के अतिरिक्त स्वर्ग और पृथ्वी के बीच की दूरी के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कोई भी सन्दर्भ नहीं मिलता। किन्तु (१०, ८[१८]) यह कहा गया है कि 'पीले पक्षी (सूर्य) के दोनों पंखों को उड़ कर स्वर्ग तक पहुँचने में १००० दिनों की यात्रा करनी पड़ती है।' ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसी प्रकार की एक धारणा मिलती है जहाँ (२, १७[८]) यह कहा गया है कि 'स्वर्ग लोक यहाँ से इतनी दूर है कि एक अश्व को १००० दिनों की यात्रा करनी पड़ेगी। एक अन्य ब्राह्मण यह कहता है कि स्वर्ग लोक यहाँ से उतनी ही दूर है जितना कि एक के ऊपर दूसरी खड़ी १००० गायें (पञ्चविंश ब्राह्मण १६,८[६]; २१,१[९])।

वायुमण्डल अथवा अन्तरिक्ष कदाचित् ही मूर्तीकरण के योग्य हैं। मेघ और कुहरे के देश के रूप में इसे 'रजस्' भी कहा गया है जिसके जलमय होने का उल्लेख है (१, १२४[५]; तु० कौ० ५, ८५[२])। कभी-कभी इसे अन्धकारपूर्ण माना गया है, जिस दशा में इसे 'काला' (१,३५[२.४.९]; ८,४३[६]) कहा गया है। इसके त्रि-स्तरीय उपविभाजन का तीन अन्तरिक्षों अथवा 'त्रि-रजांसि' (४, ५३[५]; ५, ६९[१]) के रूप में उल्लेख है। फिर, इन तीनों में से उच्चतम को 'उत्तम' (९, २२[५]), 'परम' (३, ३०[२]) अथवा 'तृतीय' (९, ७४[६]; १०, ४५[३]. १२३[८]) कहा गया है, जहाँ जल और सोम रहते हैं तथा अलौकिक 'अग्नि'

उत्पन्न होती है। इन उपविभाजनों में से दो निचले अन्तरिक्ष तो हम लोगों के प्रत्यक्षीकरण की सीमा के अन्तर्गत हैं किन्तु तृतीय स्वयं विष्णु का क्षेत्र है (७,९९[१]; तु० की० १,१५५[५])। यह अन्तिम, सम्भवतः वही 'रहस्यमय' अन्तरिक्ष प्रतीत होता है जिसका अन्यत्र (१०,१०५[७]) भी उल्लेख है। अन्तरिक्ष का द्विस्तरीय उप-विभाजन अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। इस दशा में निचले ('उपर' अथवा 'पार्थिव') का, स्वर्गरूपी ('दिव्यम्' अथवा 'दिव',) अन्तरिक्ष से, विभेद किया गया है (१, ६२[५]; ४, ५३[३])। चाहे द्विस्तरीय अथवा त्रिस्तरीय, दोनों ही विभाजनों में द्युलोक (दिव्) के साथ संलग्न होने के रूप में, उच्चतम स्तर का अक्सर आकाश के ही विशिष्ट आशय के पर्याय के रूप में एक शिथिल-सा प्रयोग हुआ है। ऐसे विषयों के सम्बन्ध में विभिन्न कवियों, अथवा एक ही कवि की विभिन्न उक्तियों में सर्वथा निश्चितता अथवा संगति की आशा करना बहुत तर्क संगत नहीं है।

विश्व के त्रि-स्तरीय विभाजन में अन्तरिक्ष के पृथ्वी के ऊपर स्थित होने के कारण उसके उपविभाजन भी, चाहे दो हों अथवा तीन, स्वाभाविक रूप से पृथ्वी से ऊपर ही स्थित माने गये हैं; कम से कम एक मन्त्र (१, ८१[५], तु० की० ९०[७]) तो स्पष्टतः यह व्यक्त करता है कि पार्थिव क्षेत्र की ऐसी ही स्थिति है। फिर भी ऋग्वेद के तीन स्थल (६, ९[१]; ७, ८०[१]; ५, ८१[४]) इस विचार की पुष्टि करते हुये माने गये हैं कि रात्रि के समय सूर्य के पथ का औचित्य सिद्ध करने के लिये निचले अन्तरिक्ष की स्थिति पृथ्वी के नीचे मानी गई है। इन तीनों में से सबसे कम अनिश्चित स्थल (५, ८१[४]) इस आशय का है कि 'सवितृ' (सूर्य) रात्रि को दोनों ही ओर (उभयतः) व्याप्त करता है। फिर भी यहाँ इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थ नहीं हो सकता कि रात्रि वस्तुतः सूर्यास्त और सूर्योदय की सीमाओं से आबद्ध है। अस्तु, ऐतरेय ब्राह्मण (३, ४४[४]) में रात्रि के समय सूर्य के पथ के सम्बन्ध में ऐसा दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है कि यह प्रकाशमय ग्रह रात्रि में ऊर्ध्वमुख होकर चमकता है, जब कि दिन में चमकने के लिये यह घूम कर अधोमुख हो जाता है। इसी प्रकार की धारणा ऋग्वेद के इन वक्तव्यों का भी औचित्य सिद्ध कर सकती है कि 'सूर्य के अश्व जिस प्रकाश को खींचते हैं वह कभी उज्ज्वल और कभी अन्धकारमय (१, ११५[५]) होता है', अथवा 'पूर्व दिशा की ओर सूर्य के साथ जो 'रजस्' रहता है वह उस प्रकाश से भिन्न होता है जिसके साथ सूर्य का उदय होता है (१०, ३७[३])।

सूर्य द्वारा पृथ्वी के नीचे से गमन करने का कोई प्रत्यक्ष सन्दर्भ न होने के कारण सम्भावनायें इसी दृष्टिकोण का समर्थन करती प्रतीत होती हैं कि यह

प्रकाशमान ग्रह पूर्व की ओर उसी मार्ग से लौट आता है जिस मार्ग से वह गया था, और अपनी इस लौटती यात्रा में वह सर्वथा अन्धकारमय हो जाता है। तारे दिन के समय क्या हो जाते हैं इस सम्बन्ध में सन्देह तो व्यक्त किया गया है (१, २४[१०]) किन्तु कोई अनुमान करने का प्रयास नहीं किया गया है।

दिव्य जल के आवास के रूप में अन्तरिक्ष को अक्सर एक 'समुद्र' भी कहा गया है। यह विचार पृथ्वी के साथ इस दृष्टिकोण से समान्वित हो जाता है कि इसमें (अन्तरिक्ष में) भी पर्वत (१, ३२[२] इत्यादि) और 'सात धारायें' है जो अकाल के दैत्य के साथ संघर्ष हो जाने की दशा में वहाँ बहती हैं (१, ३२[१२] इत्यादि)। इसीलिये स्पष्टरूप से इस समानता के कारण ऋग्वेद में 'पर्वत' शब्द मेघों[८] का वाचक है, और इस लाक्षणिक आशय में सामान्यतया पर्याप्त स्पष्टता भी है। इसके अतिरिक्त 'अद्रि' (चट्टान) शब्द का भी पुराकथाशास्त्रीय आशय में इन्द्र तथा अन्य देवों[९] द्वारा मुक्त की गई गायों को परिवेष्टित रखने के रूप में नित्य ही 'मेघ' के लिये प्रयोग हुआ है।

जल से परिपूर्ण होने के रूप में, शनैः-शनैः चलते और गर्जन करते हुये वर्षा के मेघों का एक विचित्र प्रकार से ऐसी गायों[१०] के रूप पशुत्वारोपण किया गया है जिसका दूध वर्षा का जल है।

प्रकृति में व्याप्त जगद्विषयक रीति अथवा नियम को 'ऋत'[११] के नाम से स्वीकार किया गया है और इसे उच्चतम देवताओं के अभिभावकत्व या संरक्षकत्व में संचालित माना गया है। नैतिक क्षेत्र में यही शब्द 'सत्य' और 'उचित' का व्यंजक है और धार्मिक में 'यज्ञ' अथवा 'संस्कार' का।

[१]रौथ : त्सी० गे० ६, ६८ — [२]तु० की० स्पीगेल : डी० पी० ११२ ; के० ऋ० ३४, नोट ११८ — [३]हॉपकिन्स : अ० फा० ४, १८९ — [४]बौलेनसेन : त्सी० गे० ४१, ४९४ — [५]ब्लूमफील्ड : अ० फा० १२, ४३२ — [६]तु० की० वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १०, ३५८–६४ — [७]त्सिमरः आल्टिण्डिशे लेबेन ३५७–९ — [८]कुन : हे० गौ० १७८; डेल्ब्रुक : त्सी० वो० १८६५, पृ० २८५–५ — [९]कुन : हे० गौ० १८७; त्सी० मा० ३, ३७८ — [१०]ग्रासमैन : व० ऋ०, व० स्था० पर 'गो'; वेबर : वे० वी० १८९४, पृ० १३ — [११]लुडविग : रि० फि० वे०, पृ० १५ ; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, २८४–५ ; हारलेज़ : ज० ए० (१८७८), ११, १०५–६ ; डर्मेस्टेटर : औ० आ० १३–४ ; मैक्स मूलर : ओ० रि० १९८, २४३ ; के० ऋ० २८ ; वर्गेन : ल० रि० वे० ३, २२० ; वालिस : कॉ० ऋ० ९१–७. १०० ; स्पीगेल : डी० पी० १३९ ; औ० वे० १९६–२०१ ; जैक्सन : ट्रा० का० २, ७४।

ब्रूस : ज० ए० सो १८६२, पृ० ३२१ और बाद, में 'वैदिक कन्सेपशन्स ऑफ़ दि अर्थ ; वर्गेन : ल० रि० वे० I, १–३ ; वालिस : कॉ० ऋ० १११–१७।

§ ८. *जगत्सृष्टिमीमांसा* :—जगत्सृष्टिमीमांसा विषयक ऋग्वैदिक पुराकथा-शास्त्र ऐसे दो सिद्धान्तों के बीच परिवर्तित होता रहता है जो एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र नहीं, वरन् कभी-कभी तो दोनों एक ही मंत्र में साथ-साथ सम्मिलित रूप से मिलते हैं। इनमें से एक सिद्धान्त विश्व की उत्पत्ति को यान्त्रिक प्रक्रिया का परिणाम मानता है, अर्थात् इसे किसी बढ़ई या यंत्र-नियोजक की कृति मानता है; और दूसरा जगत को प्राकृतिक उद्भव का परिणाम समझता है।

जगत् के निर्माण का वर्णन करते समय ऋग्वेद के कविगण इसके लिये अक्सर विभिन्न विवरणों सहित भवन के रूपकों का प्रयोग करते हैं। मापन-क्रिया का नित्य ही उल्लेख है। उदाहरण के लिये, इन्द्र नें छः प्रदेशों को मापा और पृथ्वी के विस्तृत भूभाग तथा स्वर्ग के उच्च शिखर का निर्माण किया (६, ४७[३.४])। विष्णु ने पार्थिव स्थानों को मापा और ऊँचाई पर आवास को दृढ़ किया (१, १५४[१])। मापने का यन्त्र, जिसका कभी-कभी उल्लेख है (२, १५[३]; ३, ३८[३]), सूर्य है, और इसी (सूर्य रूपी) यंत्र से वरुण मापने का कार्य करते हैं (५, ८५[५])। पितरों ने दोनों लोकों को, मापने के उपकरण से मापा और उन्हें विस्तृत किया (३, ३८[३]; तु० की० १, १९०[२])। स्वभावतः, यह मापना सामने अथवा पूर्व से आरम्भ होता था। इस प्रकार इन्द्र ने मानों एक गृह को सामने से मापा (२, १५[३], तु० की० ७, ९९[२])। पृथ्वी के विस्तारण का विचार भी इसी धारणा से सम्बद्ध है, और अग्नि, इन्द्र, मरुद्गण, तथा अन्य लोगों को भी, यह कार्य, करने का श्रेय दिया गया है। यतः वैदिककालीन गृह लकड़ी के बने होते थे, अतः एक या दो बार 'साखू' की लकड़ी को इसके निर्माण का उपादान बताया गया है। इस प्रकार कवि यह पूछता है कि : 'वह कौन सी लकड़ी थी—कौन सा वृक्ष, जिसके उपादान से इन लोगों ने आकाश-पृथ्वी का निर्माण किया था ?' (१०, ३१[७] = १०, ८१[४])। एक ब्राह्मण ग्रन्थ में इस प्रश्न का यह उत्तर दिया गया है कि ब्रह्मा ही वह लकड़ी और वृक्ष था (तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ८, ९[६])। स्वर्ग और पृथ्वी को बहुधा स्तम्भों ('स्कम्भ' अथवा 'स्कम्भन') पर टिका ('स्कम्' अथवा 'स्तभ्') बताया गया है, किन्तु आकाश को स्थूण-विहीन कहा गया है (२, १५[२]; ४, ५६[३]; १०, १४९[१]) और इस स्थिति में भी इसका कभी न गिरना आश्चर्य है का विषय (५, २९[४]; ६, १७[७]; ८, ४५[६])। द्वारा के चौखट-बाजू को 'आता' कहा गया है; और आकाश रूपी इसी प्रकार के चौकठे में इन्द्र ने वायु को स्थापित किया (१, ५६[५])। विश्व-गृह का द्वार पूर्व दिशारूपी तोरण माना गया है जिसमें से होकर प्रातःकालीन प्रकाश प्रवेश करता है (१, ११३[४]; ४, ५१[२]; ५, ४५[१])। कभी-कभी नींव की स्थापना का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार

यह कहा गया है कि पृथ्वी को सवितृ ने बन्धनों से दृढ़ किया (१०, १४९[१]); विष्णु ने इसे खूँटों से दृढ़ किया (७, ९९[३]); और बृहस्पति इसके किनारों को आश्रय देकर स्तम्भित किये हुये हैं (४, ५०[१], तु० की० १०, ८९[१])। जगत का सृजन करनेवाले लोग या तो सामान्यतः समस्त देव-जाति अथवा अलग अलग विभिन्न देव ही हैं; किन्तु जहाँ निर्माण कें किसी स्थल पर किसी प्रकार की विशेषज्ञता की आवश्यकता प्रतीत हुई है, वहाँ दिव्य काष्ठ-तक्षक 'त्वष्टृ' अथवा 'ऋभुस' के कार्यकुशल हाथों का उल्लेख है। इन लोगों को सृष्टि के लिये प्रेरित करनेवाले उद्देश्यों के सम्बन्ध में कदाचित ही कुछ कहा गया है; किन्तु जिस प्रकार मनुष्य रहने के लिये गृह-निर्माण करता है, उसी प्रकार कम से कम विष्णु के लिये इतना उल्लेख है कि उन्होंने मनुष्यों के आवास के लिये ही लोकों को मापा और उनका प्रसार किया था (६, ४९[१३]. ६९[५], तु० की० १, १५५[४])।

पितृत्व भाव को विश्व सृष्टि का माध्यम मानने की धारणा का, जो मुख्यतः उषाकाल में सूर्य के जन्म लेने, और अवर्षण के पश्चात वर्षा होनें से सम्बन्धित है, ऋग्वेद में तीन प्रधान प्रयोग मिलता है। प्रथम प्रयोग तो कालवाचक है, जिसमें कालगत प्राथमिकता का विचार निहित है; अर्थात किसी घटना के पहले की घटना को ही उसका पूर्वज (माता-पिता) मान लिया गया है। इस प्रकार, उषा ही सूर्य और प्रातःकालीन यज्ञ की जनक (जन्) है (७,७८[३]), जब कि स्वयं उषा रात्रि द्वारा जनित बताई गई है (१,१२३[९])। कालान्तर में दृष्टिकोण-परिवर्त्तन हो जाने के कारण इस प्रकार के सम्बन्धों में स्वभावतः कुछ विरोधाभास भी उत्पन्न हो गया है (तु० की०, पृ० ४८)। इसीलिये, जब 'उषा' के उदय का कारण पितरों का यज्ञ बताया गया है, तब भी इस प्राथमिकता की धारणा के आधार पर ही इस उक्ति की व्याख्या हो सकती है। दूसरे प्रयोग में अक्सर एक स्थानीयकरण की धारणा मिलती है। अर्थात् ऐसे स्थान को, जिसमें कोई वस्तु रक्खी हो अथवा जिसमें से वह उत्पन्न हुई हो, उसे ही उस वस्तु का पिता या माता कहा गया है। इस प्रयोग के उदाहरण सर्वथा लक्षणात्मक वक्तव्यों में ही प्रस्तुत हुये हैं। इस प्रकार, तरकस को बाणों का पिता कहा गया है (६,७५[५]); अथवा सूर्य के श्वेत अश्वों को उनके (सूर्य के) रथ की पुत्रियाँ बताया गया है (१,५०[९])। पितृत्व सम्बन्धी यह स्थानीय विचार विशेषतः आकाश और पृथ्वी से सम्बन्धित है। 'द्यौस्' के मूर्तीकरण में पितृत्व की धारणा एक प्रमुख विशेषता है (देखिये § ११), और उषा को नित्य ही 'आकाश की पुत्री' कहा गया है। इसी प्रकार पृथ्वी, जो अपने विस्तृत वक्षस्थल पर वनस्पतियाँ उत्पन्न करती है (५,८४[३]), एक माता है (१.८९[४],

इत्यादि)। फिर भी आकाश और पृथ्वी दोनों ही अपेक्षाकृत अधिकतर 'विश्व-माता-पिता' के युगल जोड़े के रूप में ही प्रस्तुत किये गये हैं। यह धारणा मुख्यतः इस प्रत्यक्ष तथ्य से ही विकसित हूई प्रतीत होती है कि जल और प्रकाश द्वारा आकाश पृथ्वी को उर्वर बनाता है। साथ ही इस बात से इस धारणा का और भी विकास हुआ है कि दोनो ही क्रमशः वर्षा और वनस्पतियों द्वारा जीवित प्राणियों को खाद्यपदार्थ प्रदान करते हैं। यह दोनों एक विशेष रूप में देवों के भी पिता-माता कहे गये हैं (§ ४४)। यतः अक्सर देवों को आकाश और पृथ्वी का निर्माता कहा गया है, अतः इस प्रकार हमें वैदिक कवियों का यह द्विधात्मक विचार मिलता है कि पुत्रों ने स्वयं अपने माता-पिता को ही उत्पन्न किया। उदाहरण के लिये यह कहा गया है कि इन्द्र ने अपने शरीर से ही अपने माता और पिता को उत्पन्न किया था (१,१५९[२]; १०,५४[३])। पुनः वर्षा का मेघ गाय के रूप में विद्युत रूपी बछड़े की माता है; अथवा आकाशीय जल को अन्तरिक्षीय-अग्नि का भ्रूण धारण किये हुये इसकी (अग्नि की) माता कहा गया है, क्योंकि अग्नि देव का एक रूप 'जल का पुत्र' भी है (§ २४)। अथर्ववेद (१,१३[२,३], तु० की० २६[३] और ऋग्वेद १०,१४२[२]) में विद्युत के एक नाम के लिये 'उच्चता से नीचे झुके हुये का पुत्र' भी आता है। तीसरे प्रयोग में पितृत्व की धारणा एक जातिगत दृष्टिकोण द्वारा उत्पन्न होती है। अर्थात् जो किसी समूह का प्रधान अथवा सर्वप्रमुख सदस्य है वही उस समूह का पिता बना दिया गया हैं। इस प्रकार, वायु ही झंझावात-देवों का पिता है (१,१३४[४]); रुद्र ही मरुतों अथवा रुद्रों का पिता है ; सोम ही पौधों का पिता है ; जब कि सरस्वती ही नदियों की माता है।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में पितृत्वात्मक धारणा सम्बन्धी दो अन्य अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण प्रयोग भी मिलते हैं। जैसा कि सेमेटिक भाषा में है, किसी अमूर्त गुण का अक्सर ही, ऐसे पुत्रों के पितरों के रूप में एक लाक्षणिक प्रयोग (जिसे कभी-कभी पुराकथाशास्त्रीय आधार पर विकसित भी किया गया है) मिलता है, जिनमें वह गुण प्रचुर मात्रा में वर्तमान हों, अथवा जो इन गुणों को दूसरों को प्रमुखतः प्रदत्त कर सकते हों। इसीलिये कभी तो देव जाति मात्र को अमरता[१] का पुत्र (सूनवः अथवा पुत्राः), और कभी दक्षता (दक्ष', ८, २५[५], तु० की० § १९) का पुत्र कहा गया है। अग्नि को 'बल' अथवा 'शक्ति' का पुत्र (८, ५८[४]), 'गाय प्राप्त करने का पुत्र' (४, ३२[२२]), और 'पराक्रम का पुत्र (शवसः, ४, २४[१]; ८, ८१[१४]; इनकी माता को दो बार 'शवसी' बताया गया है, ८, ४५[५] . ६६[२]) कहा गया है। मित्र-वरुण 'महान पराक्रम के पुत्र' हैं। इस प्रकार का द्वितीय प्रयोग अपेक्षाकृत कम मिलता

है। यत; एक पिता अपने गुणों को अपने पुत्र में प्रेषित करता है, अतः उसका नाम भी अक्सर पुत्र में स्थानान्तरित कर दिया गया है, जो पद्धति बहुत कुछ आज के कुल-नाम की भाँति ही है। इस प्रकार 'त्वष्टृ' की एक उपाधि 'विश्वरूप' को उसके पुत्र का व्यक्तिवाचक नाम बना दिया गया है। इसी प्रकार 'विवस्वत्' (वैवस्वत, पैतृक नाम के आशय में) उसके पुत्र 'मनु' के लिये प्रयुक्त हुआ है (वालखिल्य ४[१])।

विश्व की उत्पत्ति का एक पुराकथाशास्त्रीय विवरण, जिसमें न तो उत्पादन है और न निर्माण, ऋग्वेद के सुविख्यात 'पुरुष-सूक्त' (१०, ९०) में मिलता है। यद्यपि इस पुराकथा के अनेक विवरण ऋग्वेद के सर्वाधिक अर्वाचीन काल का संकेत करते हैं, तथापि इसका प्रमुख विचार अत्यन्त पुरातन है क्योंकि यह एक विराट पुरुष के शरीर से जगत की उत्पत्ति का विवरण प्रस्तुत करता है। उस पुरुष के साथ देवों ने यज्ञ किया, जब कि उसका सर आकाश, उसकी नाभि वायु, और उसके पैर पृथ्वी बन गये। उसके मनस् से चन्द्रमा, उसके नेत्र से सूर्य, उसके मुख से इन्द्र और अग्नि, तथा उसके श्वास से वायु की उत्पत्ति हुई। चारो वर्ण भी उसी से उत्पन्न हुये। उसके मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य अथवा योद्धागण, जाँघ से वैश्य, और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। स्वयं इस सूक्त में जो व्याख्या है वह सर्वदेववादी है; क्योंकि ऐसा कहा गया है कि 'जो कुछ है और जो कुछ भी होगा, वह सर्वस्व यही पुरुष है' (१०, ९०[२])। अथर्ववेद (१०, १७) और उपनिषदों (मुण्डक उपनिषद् २, १०[१०]) में 'पुरुष' की विश्व के समतुल्य होने के रूप में सर्वदेववादी आधार पर व्याख्या की गई है। 'पुरुष' का ब्रह्म से भी समीकरण किया गया है (छान्दोग्य उपनिषद् १, ७[५])। शतपथ ब्राह्मण (११, १, ६[१]) में 'पुरुष' ही प्रजापति है।

ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जो विश्व की उत्पत्ति के विषय को पुराकथाशास्त्रीय की अपेक्षा दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं। अनेक स्थल यह व्यक्त करते हैं कि ऋग्वेद की सृष्टिनियममीमांसात्मक कल्पनाओं में सूर्य को उत्पादन का एक प्रमुख माध्यम माना जाता था। इसीलिये सूर्य को सभी स्थावर-जङ्गम की आत्मा कहा गया है (१, ११५[२])। ऐसी उक्तियाँ कि, सूर्य को एकाधिक नामों से पुकारा जाता था (१, १६४[४६]; १०, ११४[५], तु० की० वालखिल्य १०[२]), इस बात की द्योतक हैं कि इसकी प्रकृति एक ऐसे सर्वोच्च देवता का रूप धारण करने लगी थी जो बहुत कुछ बाद के 'ब्रह्मा' की धारणा के ही समान थीं। इसी आशय में ऋग्वेद १०,१२१[३] में एक बार 'हिरण्य-गर्भ' नाम से सूर्य की विश्व की एक महान् शक्ति के रूप में भी,

प्रख्याति है। सूर्य ही अन्तरिक्ष के शून्य स्थान को मापते हैं और उस स्थान पर प्रकाशमान होते हैं जहाँ सूर्योदय होता है (१०,१२१[५-६])। इसी सूक्त के अन्तिम मन्त्र में सूर्य को 'प्रजापति'[४] (सृजित प्राणियों का अधिपति) नाम से पुकारा गया है, जो बाद में ब्राह्मण ग्रन्थों के सर्वप्रमुख देवता का नाम है। यह ध्यान देने की बात है कि ऋग्वेद के एक मात्र प्राचीन स्थल पर, जहाँ यह नाम आता है (४,५३[२]), 'प्रजापति' केवल सौरदेव 'सवितृ' की ही एक उपाधि है। और उसी सूक्त (४,५३[६]) में सवितृ को सभी स्थावर-जङ्गम पर शासन करनेवाला कहा गया है।

इनके अतिरिक्त जगत्सृष्टिमीमांसा सम्बन्धी दो अन्य सूक्त भी हैं और यह दोनों ही 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति के रूप में विश्व-सृष्टि की व्याख्या करते हैं। १०, ७२[६] में यह कहा गया है कि 'ब्रह्मणस्पति' ने एक शिल्पिक की भाँति इस जगत् को गढ़ा था। असत् (अस्तित्वरहित) से सत् (अस्तित्वयुक्त) की उत्पत्ति हुई। इसके बाद क्रमानुसार पृथ्वी, दिशायें, और 'दक्ष' सहित अदिति की उत्पत्ति हुई। अदिति के बाद देवों का जन्म हुआ। तब, इन देवों ने सूर्य को उत्पन्न किया। अदिति के आठ पुत्र हुये, किन्तु इनमें से उसने 'मार्तंड' नामक आठवें पुत्र का परित्याग कर दिया था और इस प्रकार उसने इसे जन्म भी दिया और मृत्यु भी, अर्थात् इसका उदय भी किया और अस्त भी। इस सूक्त में स्पष्टतः तीन स्तर देखे जा सकते हैं, यथाः प्रथम तो जगत् की उत्पत्ति हुई, तदुपरान्त देवों की, और अन्ततः सूर्य की।

ऋग्वेद के एक अत्यन्त उदात्त और अपेक्षाकृत अधिक अमूर्त सूक्त (१०,१२९) में यह कहा गया है कि आरम्भ में सर्वत्र शून्य था और किसी का भी अस्तित्व नहीं था। अन्धकार और महाशून्य ने अविभेद्य जल को आवृत्त कर रक्खा था (तु० की० १०,८२[६]. १२१[७], अथर्ववेद २,८)। उसी समय तप' द्वारा एक आद्य तत्व (एकम्) की उत्पत्ति हुई। उसके पश्चात् मनस् का सर्वप्रथम बीज 'काम' उत्पन्न हुआ। यही असत् और सत् के बीच की शृंखला बना। इसके उद्भव के फलस्वरूप देवगण उत्पन्न हुये। किन्तु अपने सन्देहों से वशीभूत होकर कवि सृष्टि की समस्या को असमाधान्य मानकर उसकी विवेचना यहीं छोड़ देता है। इस अपेक्षाकृत अधिक सामान्य सृष्टिवाद के परिपूरक के रूप में तीन पदों का एक अन्य सूक्त (१०,१९०) भी उपलब्ध है, जिसमें यह कहा गया है कि तपस् से 'ऋत' की उत्पत्ति हुई; तदुपरान्त रात्रि, सागर, और वर्ष की; विधाता (धाता) ने इसके बाद क्रमानुसार सूर्य, चन्द्रमा, आकाश और पृथ्वी, वायु और अन्तरिक्ष, आदि को उत्पन्न किया।

ऋग्वेद (१०,१२९) की छाया से प्रतिभासित ब्राह्मण ग्रन्थ का एक स्थल यह

विचार व्यक्त करता है कि 'आरम्भ में कुछ भी नहीं था; न तो आकाश था, न पृथ्वी और न वायुमण्डल ही। उसी समय अस्तित्वरहित ने अस्तित्व धारण करने का निश्चय किया (तैत्तिरीय ब्राह्मण २,२,९[१] और बाद)। ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध जगत्सृष्टि विषयक दृष्टिकोण में प्रायः एक विधाता की अनिवार्यता का अनुभव किया गया है, किन्तु यह सदैव ही सृष्टि के आरम्भ का केन्द्र विन्दु नहीं है। इन ग्रन्थों में प्रजापति अथवा व्यक्तिगत ब्रह्मा ही विधाता है, जो केवल देवों, मनुष्यों, असुरों, आदि का पिता ही नहीं वरन 'सर्वस्व' है। इनमें प्रजापति उस 'काम' का मानवत्वारोपित प्रतिनिधि है जिसे ऋग्वेद १०,१२९ में मनस् का प्रथम बीज कहा गया है। इन ग्रन्थों के सभी विवरणों में आरम्भिक केन्द्रविन्दु या तो सृष्टि और सन्तान की कामना से युक्त प्रजापति है, अथवा वह आद्य-जल जिस पर तैरता हुआ विश्वरूपी स्वर्ण-अण्ड 'हिरण्यगर्भ' प्रकट होता है, और इसी हिरण्यगर्भ से वह आत्मा प्रकट होती है जो सृष्टि की कामना से युक्त होकर सृष्टि करती है। प्रजापति अथवा जल का प्राथमिकता सम्बन्धी यह आधारभूत विरोधाभास सम्भवतः विकासवाद और सृष्टि के सिद्धान्तों के संयुक्त कर दिये जाने का ही परिणाम प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य अपेक्षाकृत गौण कथन भी हैं जिनमें इसी प्रकार का विरोधाभास मिलता है। उदाहरण के लिये ऐसा कहा गया है कि देवगण प्रजापति की सृष्टि करते हैं, और प्रजापति देवों की सृष्टि करता है।[७] छान्दोग्य ब्राह्मण (५,१९) में उपलब्ध एक विवरण यह व्यक्त करता है कि 'अस्तित्वरहित ही अस्तित्वयुक्त हो गया। इस अस्तित्वयुक्त ने एक अण्डे का रूप धारण किया, जो एक बर्ष के पश्चात दो टुकड़ों में विभक्त हो कर पृथ्वी और आकाश बन गया। जो कुछ भी उत्पन्न हुआ वह सूर्य था, जो कि ब्रह्म है'[८] (तु० की० छान्दोग्य उपनिषद् ३,१९[१-४])। पुनः बृहदारण्यक उपनिषद् (५,६[१]) में सृष्टि का विकास-क्रम इस प्रकार वर्णित है: आरम्भ में यह सब (विश्व) जलमय था; इससे सत्य (सत्यम्) की उत्पत्ति हुई; फिर इससे ब्रह्मा उत्पन्न हुये; ब्रह्मा से प्रजापति, और प्रजापति से देवगण उत्पन्न हुये।

विधाता के रूप में 'सर्वदेव' की कल्पना अथर्ववेद में विभिन्न नये नामों से मिलती है, जो इस प्रकार है: स्कम्भ, मूर्तिमान प्राणवायु के रूप में 'प्राण'[९], (अथर्ववेद ११,४), सूर्य के नाम के रूप में 'रोहित', काम, तथा अनेक अन्य[१०]। ब्राह्मण ग्रन्थों की जगत्सृष्टि-विषयक सबसे अधिक ध्यान देने योग्य पुराकथा, सागर में डूबी हुई पृथ्वी को एक वाराह द्वारा ऊपर लाये जाने का वर्णन करती है, और यह वाराह वैदिकोत्तर पुराकथाशास्त्र में विष्णु के एक अवतार[११] के रूप में विकसित हो गया है।

[1]मूइर : सं० टे० ५,५२ — [2]मूइर : सं० टे० ५,१७५, नोट २७१; वर्गेन : ल० रि० वे० २,४२२ और वाद; डर्मेस्टेटर : ह्रा० ए० ८३; औ० वे० २३२, नोट २ — [3]शर्मन : फि० ह्रा० २७-८; हॉ० इ० २०८ — [4]शर्मन : फि० ह्रा० २९ — [5]मैक्समूलर : ओ० रि० २९५; वालिस : कॉ० ऋ० ५०-१ — [6]मूइर : सं० टे० ५,४८ — [7]मूइर : सं० टे० ४,२० और वाद; ह्रॉ० इ० २०८-९ — [8]वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १, २६१ — [9]शर्मन : फि० ह्रा० ६९-७२ — [10]हॉ० इ० २०९ — [11]मैकडौनेल : ज० ए० सो० १८९५, पृ० १७८-८९।

हॉग : कॉ० त्सी०, पृ० २३७३ और वाद; वेवर : इन्डिशे स्टूडियन ९,७४; लुडविग : ड्री० वे० ; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २१७; ग्री० ३०-१; शर्मन; फि० सं०; लूकस : ग्रु० वो०, पृ० ६५-९९।

§ ६. *देवों और मनुष्यों की उत्पत्ति* :—यतः देवों की उत्पत्ति से सम्बन्धित वेदों में उपलब्ध अधिकांश वक्तव्यों का ऊपर उल्लेख कर दिया गया है, अतः यहाँ अव केवल थोडा सा संक्षिप्त विवरण मात्र ही और जोड़ देने की आवश्यकता है। दार्शनिक सूक्तों में देवों की उत्पत्ति को अधिकतर जलतत्त्व[1] से सम्बद्ध किया गया है। अथर्ववेद (१०, ७[२५]) में ऐसा कहा गया है कि देव लोग असत् से उत्पन्न हुये। सृष्टि सम्वन्धी एक सूक्त (१०, १२९[६]) के अनुसार इन लोगों की उत्पत्ति जगत् की सृष्टि के बाद हुई। इसके अतिरिक्त इन लोगों को सामान्यतया आकाश और पृथ्वी की सन्तान भी कहा गया है। एक स्थल (१०, ६३[२]) पर प्रत्यक्षतः विश्व के तीन स्तरों के अनुरूप ही देवों की त्रिस्तरीय उत्पत्ति का भी वर्णन है, जहाँ इन लोगों को 'अदिति से उत्पन्न', 'जल से उत्पन्न', और 'पृथ्वी से उत्पन्न', आदि, कहा गया है (तु० की० १, १३९[११])। अन्य धारणाओं को किसी प्रकार की सन्दिग्धता न प्रदान करते हुये, व्यक्तिगतरूप से विभिन्न देवों द्वारा ही कुछ दूसरे देवों की उत्पत्ति का वर्णन भी मिलता है। इसी के अनुसार, 'उषस्' को देवों की माता (१, ११३[१९]) और ब्रह्मणस्पति (२, २६[३]) तथा सोम (९, ८७[२]) को देवों का पिता कहा गया है। सात या आठ देवों के समूह 'आदित्यों', को 'अदिति' का पुत्र माना गया है। अथर्ववेद में भी कुछ देवों को पिता और कुछ को 'पुत्र'[2] बताया गया है (अथर्ववेद १, ३०[२])।

मनुष्य की उत्पत्ति सम्वन्धी धारणायें भी कुछ अस्थिर और परिवर्त्तनशील हैं, किन्तु मानव जाति को सामान्यतया एक आदि पुरुष से ही उत्पन्न माना गया है। इस आदि पुरुष को या तो विवस्वत् का पुत्र 'मनु' कहा गया है, जो प्रथम यज्ञकर्त्ता (१०, ६३[७]) था और इसे ही 'मनुओं' का पिता भी कहा गया है (१, ८०[१६]); अथवा उसे (आदि पुरुष को) विवस्वत् का पुत्र 'यम वैवस्वत' माना गया है जिसने अपनी यमज भगिनी 'यमी' के साथ मानव जाति को

उत्पन्न किया था। जहाँ कहीं मनुष्य की उत्पत्ति इस आदि पूर्वज से भी पहले हुई मानी गई है, वहाँ इस उत्पत्ति को दिव्य माना गया प्रतीत होता है। विवस्वत् (§ १८) ही आदि यमजों का पिता है, जब कि एक बार दिव्य गन्धर्व, और जल में रहनेवाली अप्सरा को मनुष्य का आदि पूर्वज कहा गया है (१०, १०[४])। कभी-कभी देवों से मनुष्य के सम्बन्ध की भी चर्चा है,[३] और निश्चित रूप से यह विश्वास भी रहा प्रतीत होता है कि सभी चराचर के पिता-माता के रूप में आकाश और पृथ्वी की सन्तानों के अन्तर्गत मनुष्य भी थे। पुनः, अग्नि को मनुष्य रूपी सन्तान वाला कहा गया है (१, ९६[२-४]), तथा एक पुरोहित परिवार के अर्ध-दिव्य पूर्वज 'अङ्गिरसों' को अग्नि का ही पुत्र बताया गया है। विभिन्न अन्य मानवीय परिवारों को भी अलग अलग और स्वतंत्ररूप से 'अत्रि', 'कएव', अथवा कुछ अन्य पूर्वजों के माध्यम द्वारा देवों से ही अवतरित कहा गया है (१,१३९[९])। वसिष्ठ (७, ३३[११]) एक अद्भुत रूप से मित्र और वरुण द्वारा उत्पन्न हुये थे, तथा दिव्य अप्सरा 'उर्वशी' को इनकी माता बताया गया है। विराट् पुरुष[४] (§ ८) से मनुष्य के विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति की भी चर्चा है जो एक सर्वथा भिन्न विचार-पद्धति के अन्तर्गत आती है।

[१]शर्मन : फि० हा० ३२ — [२]मूइर : सं० टे० ५,१३ और बाद, २३ और बाद, ३८ और बाद — [३]बर्गेन : ल० रि० वे० १, ३६ — [४]औ० वे० २७५-७,१२५-८।

३—वैदिक देव

§ १०. *सामान्य चारित्रिक विशेषतायें और वर्गीकरण* :—देवों सम्बन्धी वैदिक धारणा में रूपरेखा की अनिश्चितता तथा वैयक्तिकता का अभाव प्रायः सर्वत्र लक्षित होता है। ऐसा मुख्यतः इसी कारण हुआ है कि वैदिक देवगण किसी भी अन्य भारोपीय जाति के देवों की अपेक्षा उन भौतिक घटनाओं के ही अधिक निकट हैं जिनका यह प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी कारण देवो के प्रकृति की चर्चा करते हुये प्राचीन वैदिक व्याख्याकार यास्क[१] (निरुक्त ७, ४) ने यह मत व्यक्त किया है कि इन देवों का जो रूप दिखाई पड़ता है उसमें मानव-त्वारोपण का लेशमात्र भी नहीं है, जैसा कि सूर्य, पृथ्वी, तथा अन्य उदाहरणों द्वारा स्पष्ट भी है। अतः एक आरम्भिक वक्तव्य के रूप में हम यहाँ यह कह सकते हैं कि वैदिक देवों के प्राकृतिक आधार में विशिष्ट चारित्रिक गुणों का तो अत्यन्त अल्पमात्रा में ही समावेश है, जब कि उनके समान क्षेत्र की कुछ घटनाओं के गुण उनमें आ गये हैं। इसीलिये उषा, सूर्य, और अग्नि, इनमें, प्रकाशमान होने, अन्धकार भगाने, और प्रातःकाल उदय होने जैसे कुछ समान

गुण वर्तमान हैं। जहाँ अनेक देवता किसी एक ही घटना के विभिन्न पक्षों द्वारा उत्पन्न बताये गये हैं, वहाँ स्पष्टता का और भी अधिक अभाव है। इन्हीं कारणों से, देदीप्यमानता, शक्ति. उपकारशीलता, और वैदग्धता आदि जैसे सभी देवो में समानरूप से उपलब्ध गुणों के अतिरिक्त, प्रत्येक वैदिक देव का अपना अलग-अलग चरित्र केवल कुछ ही अनिवार्य चारित्रिक लक्षणों द्वारा निर्मित हुआ है। विश्व सम्बन्धी कुछ महान कार्य व्यक्तिगत रूप से प्रायः सभी प्रमुख देवो से संयुक्त किये गये हैं। आकाश और पृथ्वी की स्थापना करने अथवा इन्हें उपस्तम्भित करने का कार्य इतना सामान्यरूप से सभी देवों के साथ संयुक्त कर दिया गया है कि अथर्ववेद (१९, ३२) में 'दर्भ' नामक एक घास के अभिचारीय गुच्छे तक को यह कार्य करनेवाला बताया गया है। लगभग एक दर्जन देवों के सम्बन्ध में यह वर्णन है कि उन्होंने दोनों लोकों की सृष्टि की; और साथ ही कदाचित इससे कहीं अधिक देवों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उन्होंने सूर्य को उत्पन्न किया और उसे या तो आकाश में अवस्थित किया अथवा उसके वहाँ जाने के मार्ग का निर्माण किया। चार या पाँच देवों के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि उन्होंने पृथ्वी, आकाश अथवा दोनों लोकों का विस्तार किया। अनेक देवताओं (सूर्य, सवितृ, पूषन्, इन्द्र, पर्जन्य, और आदित्यों) को सभी स्थावर-जङ्गम का अधिपति कहा गया है।

ऐसे सार्वजनीन गुण उन तत्त्वों को अस्पष्ट बना देते हैं जो अनिवार्य हैं, क्योंकि स्तुति अथवा प्रशस्ति के सूक्तों में स्वभावतः वही विशेष स्थानग्रहण कर लेते हैं। पुनः, अलग-अलग क्षेत्रों के अन्तर्गत आनेवाले, किन्तु प्रमुख कार्यों की दृष्टि से समान देवों के वर्णन में सन्निकृष्टता आ जाती है। इसीलिये, मुख्य रूप से पार्थिव-अग्नि के देवता 'अग्नि', अन्धकार रूपी असुरों को अपने प्रकाश द्वारा नष्ट करते हैं, जब कि झंझावात के अन्तरिक्ष देवता इन्द्र, अपने विद्युत से उनका वध करते हैं। इसी प्रकार अग्नि-देव की धारणा में उनका एक अन्तरिक्षीय विद्युत-रूपी पक्ष भी सम्मिलित हो गया है। ऐसे देवों में, जिनका युगल रूप से स्तवन किया गया है, गुणों के इस सम्मिश्रण में और अधिक वृद्धि हो गई है। इस प्रकार गुणों के इस सम्मिश्रण का परिणाम यह हुआ कि किसी एक देवता की विशिष्टता उस दशा में भी दूसरे देवता के साथ संयुक्त मिलती है जब कि वह देवता अकेले ही आता है। इसीलिये, अग्नि को भी सोम-पान करनेवाला, वृत्र का वध करनेवाला, तथा गायों और जल को, तथा सूर्य और उषा को, विजित करनेवाला कहा गया है, जब कि यह सभी प्रमुखतः इन्द्र के गुण हैं।

इतने अधिक सार्वजनीन गुणों की उपस्थिति द्वारा उत्पन्न रूपरेखा की अनिश्चितता, और प्रत्येक शक्ति से प्रत्येक देव को युक्त बताकर जो थोड़े बहुत विभेदात्मक गुण हो सकते थे उन्हें भी समाप्त कर देने की प्रवृत्ति के कारण एक देव का दूसरे के साथ समीकरण कर देना अत्यन्त सरल हो गया है। वास्तव में ऐसे समीकरण ऋग्वेद[१] मे बहुधा मिलते हैं। उदाहरण के लिये अग्निदेव को सम्बोधित करते हुये एक कवि कहता है: "हे अग्ने! तुम प्रकट होते ही वरुण के समान, और समृद्ध होकर मित्र के समान होते हो। हे बल के पुत्र अग्निदेव! सब देवता तुममें ही केन्द्रित हैं और तुम हविदाता यजमान के लिये इन्द्र के समान ही पूज्यनीय हो" (५, ३[१])। अग्नि की उपासना करनेवाले एक पुरोहित वर्ग की दृष्टि में अत्याधिक महत्त्वपूर्ण देव अग्नि की प्रकृति पर विचार करते हुये, पृथ्वी पर प्रकट होनेवाले उनके विभिन्न अग्नि-रूपों, तथा अन्तरिक्षीय विद्युत की अग्नि, और सूर्य में प्रकट दिव्य अग्नि, आदि के रूप में उनके विभिन्न पक्ष, जिनका वैदिक कवियों को पहेलियों में ही वर्णन करना अधिक प्रिय है, यह व्यक्त करते है कि अलग-अलग देवता केवल एक दिव्यात्मा के ही विभिन्न स्वरूप हैं। यह विचार ऋग्वेद के एकाधिक स्थलों पर मिलता है। उदाहरण के लिये, "मेधावीजन उस एक दिव्यात्मा का ही अनेक रूपों में वर्णन करते हैं: वे उसे अग्नि, यम, और मातरिश्वन् कहते हैं" (१, १६४[४६]; तु० की० अथर्ववेद १०, ८[२८]. १३, ४[५५]); अथवा, "वह पक्षी (=सूर्य) एक ही है किन्तु मेधावीजन उसे अपने-अपने दृष्टिकोण से विभिन्न रूपोंवाला बताते हैं" (१०, ११४[५])। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेदिककाल की समाप्ति के समय तक एक प्रकार का अनेक देवतावादी एकेश्वरवाद विकसित हो चला था। इसीलिये इस समय हमें किसी एक देवता की ही औपक्रमिक रूप से सर्वदेववादी धारणा मिलती है, और ऐसा देव केवल सभी देव समाज का ही नहीं वरन् प्रकृति तक प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरण के लिये देवी 'अदिति' का न केवल सभी देवों से, वरन् मनुष्यों, 'जो उत्पन्न हुआ है और जो होगा', वायु, तथा आकाश तक से समीकरण किया गया है (१, ८९[१०])। इसी प्रकार प्रजापति केवल एक ऐसे ही देव नहीं हैं जो अन्य देवों के ऊपर हों, वरन् सर्वस्व हैं (१०, १२१[८.१०])। यह सर्वदेववादी दृष्टिकोण अथर्ववेद (१०, ७[१४.२५]) में पूर्णरूप से विकसित हो गया है, और बाद के वैदिक रूप में तो इसे स्पष्टतः स्वीकार ही कर लिया गया है।[२]

ऋग्वेद के अपेक्षाकृत प्राचीन अंशों में अलग-अलग देवों का, उनके सर्वश्रेष्ठ होने के रूप में आवाहन किया गया है, किन्तु इस धारणा को तार्किक पूर्णता की सीमा तक नहीं पहुंचाया जा सका है। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि वैदिक

कवि जिस देवता का स्तवन कर रहे होते हैं, उसी की प्रशस्ति में इतने विभोर हो जाते हैं कि उसके गुणों को असंगति की सीमा तक अतिरंजित कर देते हैं। इस तथ्य ने ही मैक्स मूलर के उस अत्यन्त विवादास्पद सिद्धान्त को जन्म दिया है जिसे उन्होंने 'हीनोथीजम'[3] नाम दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार 'अलग-अलग देवों को वारी-वारी से सर्वश्रेष्ठ मानने के विश्वास' द्वारा वैदिक कविगण उस देवता को, जिसे वह सम्बोधित कर रहे हैं, इस रूप में ग्रहण करके देवत्व के सभी श्रेष्ठतम गुणों को उसी पर आरोपित कर देते हैं, मानों उस समय उनके मन में उपस्थित वही देवता सर्वथा स्वतंत्र और सर्वश्रेष्ठ है। वैदिक देवों के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह मत व्यक्त किया गया है[4] कि वैदिक देवों को 'अन्य सभी देवों से पृथक करके' नहीं प्रस्तुत किया गया है, वरन् वस्तुस्थिति यह है कि कोई भी अन्य धर्म अपने देवों का इतना सन्निकट और सम्मिश्रित रूप इतनी अधिक बार नहीं प्रस्तुत करता जितना वैदिक धर्म, और यहाँ तक कि वेदों के सर्वशक्तिमान देवों को भी अन्य देवों पर निर्भर बताया गया है। इस प्रकार वरुण और सूर्य, इन्द्र के अधीनस्थ हैं (१,१०१^{३}); वरुण और अश्विन, विष्णु की शक्ति के सम्मुख नत हैं (१,१५६^{४}); तथा इन्द्र, मित्र-वरुण, अर्यमन, रुद्र, आदि, सवितृ के अध्यादेशों का उलंघन नहीं कर सकते (२,३८^{९})। इसके अतिरिक्त इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया है कि बहुधा 'विश्वेदेवाः' को सम्बोधित सूक्तों में सभी देवों, और यहाँ तक कि लघु देवों तक की क्रमानुसार प्रशस्ति है। साथ ही, अधिकांश वैदिक सूक्तों का निर्माण सोम-संस्कार के लिये, जिसके अन्तर्गत प्रायः समस्त देव समाज आ जाता है, किया गया होने के कारण यज्ञ कराने वाला पुरोहित इन अलग देवों से नहीं वरन् संस्कार के अन्तर्गत केवल इनके सापेक्षिक महत्त्व से ही परिचित हो सकता था। जहाँ किसी देवता को प्रमुख अथवा एकमात्र (एक) कहा गया है, जो कि प्रशस्तियों में स्वाभाविक है, वहाँ भी इसी प्रकार के वक्तव्यों ने इन देवों की अस्थायी एकेश्वरवादी शक्ति को, सन्दर्भ अथवा उसी मन्त्र द्वारा प्रस्तुत परिमार्जनों द्वारा, और भी ऊपर उठा दिया है। इस प्रकार एक कवि कहता है कि : 'वरुण की भाँति, केवल अग्नि ही धन के देवता हैं।' यह भी स्मरण रखना चाहिये कि देवों का दो या तीन, या और अधिक बड़ी संख्या के समूहों में, आवाहन किया गया है। यहाँ तक कि एक महान देवता वरुण तक को भी अधिकतर किसी न किसी अन्य देवता (जैसा कि ६,६७ में है), अथवा और अधिक देवों के साथ ही (जैसा कि २,२८ में है) स्तवन किया गया है। अतः वेदों में होनोथीज्म (अलग-अलग देवों को बारी-बारी सर्वशक्तिमान बताना) का वास्तविक

अस्तित्व नही वरन् उसका केवल आभास मात्र ही है और यह मुख्यतः अविकसित मानवत्वरोपणजन्य अनिश्चितता, किसी एक वैदिक देवता का यूनानी ज्यूस की भाँति देव समाज के अधिपति के रूप में उपस्थिति का अभाव, गायकों अथवा पुरोहितों द्वारा किसी देवता का स्तवन करते समय अन्य देवों की सर्वथा उपेक्षा करते हुये केवल उसी की महानता का अतिरञ्जित वर्णन करने की प्रवृत्ति, और प्रत्येक देवता को एक ही दिव्यात्मा का स्वरूप स्वीकार करते हुये देवों के एकत्त्व में बढ़ते हुये विश्वास, आदि के कारण ही मिलता है। फिर भी एकेश्वरवाद की ओर विकसित होती हुई ऋग्वेद की प्रवृत्ति को व्यक्त करने के लिये कुछ सीमा तक 'हीनोथीज़्म' शब्द का प्रयोग उपयुक्त हो सकता है।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, वैदिक कवियों की दृष्टि में देवों का भी आरम्भ ही हुआ माना गया है; क्योंकि इन्हें अक्सर ही आकाश और पृथ्वी, अथवा अन्य देवों की सन्तान कहा गया है। यद्यपि स्वयं यही तथ्य यह व्यक्त करता है कि देवों की अनेक पीढ़ियाँ रही होंगी, तथापि 'पूर्वे' देवों का अनेक स्थलों (७, २१^{७}, इत्यादि) पर स्पष्ट रूप से उल्लेख भी है। एक स्थान पर आरम्भिक अथवा पूर्वयुगीन देवों की भी चर्चा है (१०, ७२$^{२.३}$)। अथर्ववेद (११, ८^{१०}) दस ऐसे देवों का उल्लेख करता है जिनका अन्य देवों की अपेक्षा पहले से ही अस्तित्व था। मूलतः देवों को भी मरणशील ही माना जाता था।[५] इसका अथर्ववेद (११, ५^{१९}; ४, ११^{६}) में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ब्राह्मणों में तो यह दोनों ही बातें सभी देवों (शतपथ ब्राह्मण १०, ४, ३^{३}) और अलग अलग देवों, जैसे इन्द्र (ऐतरेय ब्राह्मण ८, १४^{४}), अग्नि (ऐतरेय ब्राह्मण ३, ४) और प्रजापति (शतपथ ब्राह्मण १०, १, ३^{१})[६], के सम्बन्ध में भी कही गई हैं। देवगण मूलतः अमर नहीं थे, ऐसा विचार स्वयं ऋग्वेद में भी मिलता है, क्योंकि इसमें देवों को सवितृ (४, ५४^{२} = वाजसनेयि संहिता ३३, ५४), अथवा अग्नि (६, ७^{४}; अथर्ववेद ४, २३^{६}), द्वारा अमरत्व प्रदान करने का उल्लेख है। देवों को सोमपान करने से भी अमरत्व प्राप्त हुआ था (९, १०६^{८}, तु० की० १०९$^{२.३}$), क्योंकि सोम को अमरत्व प्रदान करनेवाला पेय कहा गया है (शतपथ ब्राह्मण ९, ५, १^{८})। ऋग्वेद के एक अन्य स्थल (१०, ५३^{१०}) पर यह भी कहा गया है कि देवों ने अमरत्व अर्जित किया था, किन्तु किस विधि से, यह स्पष्ट नहीं है। बाद की एक धारणा के अनुसार इन्द्र के लिये यह कहा गया है कि उन्होंने तप (तपस्) द्वारा स्वर्ग पर विजय प्राप्त की थी (१०, १६७^{१})। देवों ने भी इसी विधि से दिव्य पद प्राप्त किया था (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३,१२,३^{१}); अथवा तप द्वारा मृत्यु पर विजय (हथर्दवेद ११,५^{१९})

तथा रोहित द्वारा अमरत्व (अथर्ववेद १३,१[७]) प्राप्त किया था। अन्यत्र यह कहा गया है कि देवों ने एक सांस्कारिक यज्ञ द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी (तैत्तिरीय संहिता ७,४,२[१])। इन्द्र और अनेक अन्य देवों को कभी न वृद्ध होनेवाला कहा गया है (३,४६[१] इत्यादि)। किन्तु देवों के अमरत्व को वैदिक कवि मूलभूत समझते थे अथवा नहीं यह सिद्ध करने के लिये कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वैदिकोत्तरकालीन कवियों के अनुसार इनका अमरत्व केवल सापेक्षिक और एक दिव्य वय तक ही सीमित था।

देवों का भौतिक स्वरूप मानवत्वारोपित तो है किन्तु यहाँ मानवत्वारोपण अत्यन्त क्षीण है, क्योंकि यह केवल देवों के क्रिया कलापों का वर्णन करने के लिये ही उनके प्राकृतिक आधार का लक्षणात्मक प्रतिनिधित्व करता है।[७] इसीलिये सर, आकृति, मुख, गाल, नेत्र, केश, कन्धे वक्षस्थल, पेट, भुजायें और हाथों इत्यादि का मुख्यतया इन्द्र और मरुतों के युद्ध उपकरण के सन्दर्भ में ही वर्णन किया गया है। सूर्य की भुजायें उनकी किरणें हैं और उनके नेत्रों की कल्पना भी उनके भौतिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करने के लिये ही की गई है। अग्नि की जिह्वा और हाथ-पैर केवल उनकी ज्वालायें ही हैं। सोम तैयार करने वाले के रूप में उनके चरित्र की व्याख्या करने के लिये त्रित की उँगलियों का, और सोम पान करने की अपार शक्ति पर बल देने के लिये ही इन्द्र के पेट का, वर्णन किया गया है।[८] दो या तीन देवों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उनका स्वरूप 'विश्वरूप' है। ऐसे देवों के सम्बन्ध में, जिनके स्वरूप की कल्पना इतनी अस्पष्ट, और जिनका अनेक दशाओं में तत्सम्बन्धी प्रकृतिक घटना से सम्बन्ध अब भी स्पष्ट है, यह समझ लेना अत्यन्त सरल है कि ऋग्वेद में उनकी मूर्तियों (§ ६६, ग) अथवा मन्दिरों का उल्लेख क्यों नहीं मिलता।

कुछ देवों को वेशभूषा से युक्त कहा गया है। इसीलिये, उषा को उज्वल-वसना और कुछ देवों को कवच तथा शिरस्त्राण से युक्त बताया गया है। इन्द्र नियमित रूप से एक वज्र रखते हैं। अन्य देवों को भी, तोमर, युद्ध-कुठार, तथा धनुष-वाण, आदि शस्त्रों से युक्त बताया गया है। सामान्य रूप से देव जाति मात्र का देदीप्यमान रथ हाँकनेवालों के रूप में वर्णन है, साथ ही प्राय सभी देवों को अलग अलग एक एक रथ का स्वामी कहा गया हे। यह रथ सामान्यतया अश्वों द्वारा खींचे जाते थे, किन्तु पूषन् का रथ बकरों द्वारा, मरुतों का चितकबरे मृगों और साथ ही अश्वों द्वारा, तथा उषस् का गायों और साथ ही अश्वों द्वारा, खींचा जानेवाला कहा गया है।

देवों के सम्बन्ध में बहुधा यह उल्लेख है कि वह अपने रथों में बैठ कर ही

यज्ञ के समय बिछी घास पर बैठने के लिये आते थे; फिर भी, यह भी समझा जाता था कि प्रकारान्तर से यह घास अग्नि (§ ३५) द्वारा देवों के पास स्वर्ग में ही पहुँचा दी जाती थी। देवों का प्रमुख पेय सोम है। देवगण वह सभी कुछ खाते हैं जो यज्ञ के समय अर्पित किया जाता है। इन पदार्थों में विभिन्न रूपों में दूध, मक्खन, जौ, और (यद्यपि प्राचीनतम वैदिक काल में नहीं) चावल आते हैं। मवेशी, बकरियाँ और भेड़ें आदि पशु भी अर्पित किये जाते थे किन्तु किसी देवता के लिये उसी प्रकार का पशु चुना जाता था जिसका उस देवता के गुणों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। इस प्रकार भैंसा, जिससे इन्द्र की अनेक बार तुलना की गई है, इन्द्र को अर्पित किया जाता था जिसे यह (इन्द्र) कभी कभी तो असाधारण संख्या में खा जाते थे (§ २२)। इसी प्रकार इन्द्र के अश्वों को अन्न खानेवाला[९] माना गया है। देवों का आवास-स्थान तृतीय स्वर्गलोक अथवा विष्णु के उच्चतम पग का स्थल बताया गया है जहाँ यह लोग सोमपान से उल्लसित और आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसी मान्यता है कि सम्पूर्ण रूप से समस्त देव जाति एक साथ और मित्रतापूर्वक रहती थी।[१०] इनमें से केवल एक ही देवता ऐसा है जो कभी कभी विभेद का सूत्रपात करता है, और वह महत्त्वाकांक्षी तथा युद्ध-प्रवृत्त इन्द्र है। एक बार तो इन्द्र सम्पूर्ण देव समाज से ही युद्ध करता हुआ प्रतीत होता है (४, ३०³·⁵)[११], और इस युद्ध में इसने अपने पिता का वध (§ २२), और उषा का रथ भग्न (§ २०) कर दिया था। एक अवसर पर इसने अपने विश्वसनीय मित्र 'मरुतों' का ही वध कर देने की धमकी दी है (§ २९)।

सफल और इसी लिये आशावादी वैदिक भारतीयों को प्रकृति की प्रमुख शक्तियों, जैसे अग्नि, सूर्य, झंझावात, आदि का प्रतिनिधित्व करनेवाले प्रायः सभी देव विशेषरूप से उपकारी और समृद्धिदायक ही प्रतीत हुये हैं। केवल रुद्र ही एक ऐसा देवता है जिसमें कुछ हानिकर प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं। मानव जीवन से घनिष्ठरूप में सम्बद्ध विपत्तियाँ, जैसे व्याधियाँ आदि, तो अपेक्षाकृत लघु असुरों द्वारा उत्पन्न बताई गई हैं, जब कि प्रकृति में निहित महान विपत्तियाँ जैसे अवर्षण और अन्धकार आदि को वृत्र आदि जैसे शक्तिशाली असुरों द्वारा उत्पन्न कहा गया है। इन असुरों पर विजय ही देवों की उपकारशीलता को और भी प्रखर कर देती है। देवों की उपकारशीलता वस्तुतः मनुष्यों के ही समान होती है। यह लोग मुख्यतः ऐसे यज्ञ में समर्पित आहुतियों को स्वीकार करनेवाले होते हैं, जिनमें इनकी प्रशस्ति में मन्त्रों का उच्चारण और सोम अर्पित किया जाता है। इन यज्ञों में आहुतियों को अग्नि में छोड़ा जाता है, तथा पुरोहितों द्वारा ही इस समस्त कृत्य का संचालन होता है।[१२] इसीलिये यह देवगण यज्ञकर्त्ताओं

के मित्र होते हैं और कृपण से क्रुद्ध तथा उन्हें दण्ड देते हैं। इन्द्र के लिये यह कथन विशेष रूप से सत्य है क्योंकि यह देव दया दिखाने में पक्षपात से सर्वथा मुक्त नहीं कहा गया है।[१३]

वैदिक देवों का चरित्र नैतिक दृष्टि से भी समृद्ध माना गया है। सभी देवता[१४] 'सत्यवादी' और 'कपटरहित' हैं। यह लोग सदैव सत्यता और धार्मिकता के रक्षक तथा मित्र हैं। फिर भी आदित्यगण, और मुख्यतः वरुण, नैतिक नियमों के प्रमुख प्रतिपालक हैं। देवगण दुष्कर्मियों से रुष्ट रहते हैं, किन्तु वास्तव में वरुण के क्रोध को ही पाप तथा अपराध से अत्यधिक घनिष्ठरूप से सम्बन्धित किया गया है। अपराध से मुक्ति दिलाने के लिये अग्नि का भी स्तवन किया गया है, किन्तु यह उनको अर्पित अनेक स्तुतियों में से केवल एक है, जिसका आशय यह है कि इन्हें इस दिशा में उतनी प्रमुखता नहीं दी गई है जितनी वरुण को। इन्द्र भी पाप को दण्डित करने वाले देव हैं, किन्तु इस गुण को इनके चरित्र से केवल एक क्षीण रूप से ही सम्बन्धित किया गया है। जो कुछ भी हो, यह निश्चित है कि इस दिव्य नैतिकता में सभ्यता का एक आरम्भिक स्तर ही व्यक्त होता है। यही कारण है कि, धर्म के साथ वरुण का सम्बन्ध इस सीमा तक नहीं पहुँच सका है कि उन्हें बर्बर और कपटी व्यक्तियों के विरुद्ध छल-छद्म की विधियों के व्यवहार से रोक सके। किन्तु पवित्रता और श्रेष्ठता के प्रति वरुण की स्थिति असन्दिग्ध है। इनके विपरीत, इन्द्र कपटपूर्ण उपायों के उपयोग से सर्वथा मुक्त नहीं हैं, और कभी-कभी तो इन्होंने किसी श्रेष्ठ अभीष्ट की सिद्धि के बिना भी इस प्रकार के उपायों का प्रयोग किया है।[१५]

फिर भी वैदिक देवों के गुणों में नैतिक धरातल का उतना ऊँचा स्थान नहीं है जितना शक्ति का। यही कारण है कि 'महान' और 'शक्ति शाली' आदि विशेषणों की तुलना में 'सत्यवादी' और 'कपट रहित' आदि को कहीं कम प्रमुखता प्रदान की गई है। इच्छाओं की पूर्ति देवों की कृपा पर ही निर्भर मानी गई है। सभी जीवों पर इन्हीं का साम्राज्य है, और न तो इनके विधानों का कोई उलङ्घन कर सकता है और न इनके द्वारा निर्धारित अवधि से अधिक कोई जीवित ही रह सकता है।[१६]

ऋग्वेद और अथर्ववेद, दोनों ही देवों की संख्या तैंतीस बताते हैं (३, ६[९] इत्यादि; अथर्ववेद १०, ७[१३]), और इसी संख्या को अनेक स्थलों पर 'ग्यारह का तीन गुना' के रूप में व्यक्त किया गया है (८, ३५[३] इत्यादि)। एक स्थल (१, १३९[११]) पर ग्यारह को स्वर्ग में, ग्यारह को पृथ्वी पर और ग्यारह को जल (= वायु) में रहने वालों के रूप में सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार अथर्व-

वेद (१०, ९[१२]) भी देवों का स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर रहने वालों के रूप में वर्गीकरण करता है, किन्तु इनकी संख्या का कोई निर्देश नहीं करता । तैंतीस की संख्या के इस योग को सदैव पर्याप्त नहीं माना जा सका है, क्योंकि कुछ स्थलों (१, ३४[११]. ४५[२]; ८, ३५[३]. ३९[९]) पर तैंतीस के अतिरिक्त भी अनेक अन्य देवों का उल्लेख है । एक मन्त्र (३, ९[९] = १०, ५२[६] = वाजसनेयि संहिता ३३, ७) में अकस्मात् ही देवों की संख्या को ३३३९ बताया गया है । एक अधिक सामान्य आशय में इन्हें तीन समूहों में विभक्त कहा गया है (६, ५१[२]) । जहाँ देवों को स्वर्ग, पृथ्वी और जल से सम्बद्ध बताया गया है (७, ३५[११]; १०, ४९[२]. ६५[९]) वहाँ भी इनके त्रिपदीय विभाजन का ही आशय निहित है । ब्राह्मण ग्रन्थ भी देवों की संख्या तैंतीस ही बताते हैं । शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण इन्हें तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित करने पर तो सहमत हैं और इन वर्गों को ८ वसुगण, ११ रुद्रगण, तथा १२ आदित्य गण के रूप में प्रस्तुत भी करते हैं; किन्तु इनकी सम्पूर्ण संख्या के योग को तैंतीस बनाने के लिये जहाँ शतपथ ब्राह्मण उक्त तालिका में या तो द्यौस और पृथ्वी (४, ५, ७[२]; यहाँ प्रजापति चौंतीसवाँ देवता है) अथवा इन्द्र और प्रजापति (११, ६, ३[५]) को सम्मिलित करता है, वहीं ऐतरेय ब्राह्मण (२, १८[८]) वाषट्कार और प्रजापति को ।

ऋग्वेद १, १३९[११] के त्रिपदीय वर्गीकरण का अनुसरण करते हुये यास्क (निरुक्त ७, ५) विभिन्न देवों, अथवा नैघण्टुक के पञ्चम अध्याय में वर्णित एक ही देव के विभिन्न रूपों को, तीन लोकों के अन्तर्गत रखते हैं, जो इस प्रकार है : पृथिवीस्थान अथवा पार्थिव (निरुक्त ७, १४–९.४३); अन्तरिक्षस्थान अथवा मध्यमस्थान (१०, १–११. ५०); और द्युस्थान अथवा दिव्य (१२, १–४६) । यास्क यह भी कहते हैं कि वेदों की व्याख्या करने वाले (नैरुक्ताः) उनके पूर्व गामियों के मतानुसार वास्तव में केवल तीन ही देवों[१७] का अस्तित्व है, यथा : पृथ्वी पर 'अग्नि' का, अन्तरिक्ष[१८] में 'वायु' अथवा 'इन्द्र' का, और स्वर्ग लोक[१९] में 'सूर्य' का (यह विचार ऋग्वेद १०, १५८[१] पर आधारित हो सकता है जहाँ यह कहा गया है : 'द्युलोक के उपद्रव से सूर्य, अन्तरिक्ष के उपद्रव से वायु, और पृथ्वी पर के उपद्रव से अग्नि हमारी रक्षा करें') । आगे, यास्क यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही व्यक्ति होतृ, अध्वर्यु, ब्रह्मन्, उद्गातृ, आदि के रूप में कार्य कर सकता है, उसी प्रकार इन तीनों में से प्रत्येक देवता का उसके कार्यानुसार विभिन्न नाम रख दिया गया है । यद्यपि स्वयं यास्क भी इस बात को स्वीकार नहीं करते कि अनेक प्रकार के विभिन्न देव केवल इन तीन प्रतिनिधि देवों के ही स्वरूप हैं, तथापि वह यह मान लेते हैं कि इन तीनों वर्गों में से प्रत्येक के अन्तर्गत आने वाले देवों को कार्य अथवा क्षेत्र की दृष्टि से एक साथ रक्खा जा

सकता है। नैघण्टुक का पञ्चम अध्याय, जिस पर यास्क ने भाष्य लिखा है, देवों की गणना कराते समय अनेक अमहत्त्वपूर्ण देवों और दैवीकृत पदार्थों तक को देवों के अन्तर्गत रखता है जिसके कारण प्रत्येक वर्ग के देवों की संख्या ग्यारह से कहीं अधिक बढ़ गई है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि देवों की इस तालिका में त्वष्टृ' और 'पृथिवी' का नाम तीनों वर्गों के अन्तर्गत, अग्नि और उषस् का पार्थिव तथा अन्तरिक्षीय के अन्तर्गत, और वरुण, यम और सवितृ का अन्तरिक्षीय तथा दिव्य के अन्तर्गत रक्खा गया है।

वैदिक देवों का उनकी सापेक्षिक महानता के अनुसार भी वर्गीकरण करने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार का एक सामान्य विभाजन ऋग्वेद के उस स्थल पर उद्दिष्ट है जहाँ देवों को महान और लघु, तथा युवा और वृद्ध (१, २७[१३]) कहा गया है। यह विभाजन, सम्भव है वैदिक कवियों के उस मत का प्रतिनिधित्व करता हो जिसके अनुसार देवों की कोटि में भी विभिन्न पदों और वर्गों की उपस्थिति स्वीकृत की गई है। फिर भी, जब कि एक स्थल (८, ३०[१]) पर देवों के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि 'तुममें से कोई भी लघु या युवा नहीं है, वरन् तुम सभी महान हो', तो यह प्रत्यक्षतः केवल एक विरोधाभास ही है क्योंकि किसी देवता को प्रत्यक्षतः सम्बोधित करते हुये कोई भी कवि कदाचित ही किसी अन्य प्रकार से अपने भावों को व्यक्त करेगा। यह प्रायः निश्चित है कि दो देवता, जो शक्ति की दृष्टि से प्रायः समान हैं, अन्य की अपेक्षा प्रमुख रूप से आते हैं, और इन दोनों में से एक पराक्रमी योद्धा के रूप में इन्द्र है, तथा दूसरा नैतिकता के सर्वोच्च अधिपति के रूप में वरुण। अपने नैतिक गुणों की प्रधानता के कारण वरुण का ही प्राचीन रूप जोरोआस्ट्रियानिज्म में सर्वोच्च देवता 'अहुर मज्द' बन गया, जब कि भारत में विजय अभियानों में रत आर्यों के देवता के रूप में इन्द्र का विकास हुआ। वरुण उन्हीं स्थलों पर प्रमुख रूप से आते हैं जहाँ नैतिक और भौतिक जगत के सर्वोच्च विधानों की कल्पना की गई है। अतः यह प्रचलित अथवा बहुत लोक प्रिय देवता नहीं हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि अपेक्षाकृत पहले के समय में वरुण और आदित्य गण ही सर्वोच्च देवता थे, किन्तु बाद में इन्द्र ने इनका स्थान ग्रहण कर लिया (§ १२)। फिर भी, यह सिद्ध करने के लिये कोई भी प्रमाण नहीं है कि प्राचीनतम ऋग्वेदिक काल में इन्द्र का स्थान किसी प्रकार हीन था। यह सत्य है कि अवेस्ता में अहुर मज्दही सर्वोच्च देवता है, और वहाँ इन्द्र एक असुर है; किन्तु यदि भारतीय-ईरानी काल में इन्द्र मूलतः वरुण के समान शक्तिसे युक्त रहा भी हो तो भी अवेस्तन धर्म के परिमार्जन ने जब अहुर मज्द को सर्वोच्च देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया तो इन्द्र निश्चित रूप से पृष्ठभूमि में चला गया[१८] (तु० की० § १२)।

इन्द्र और वरुण के बाद महत्त्व की दृष्टि से दो अन्य सांस्कारिक देवता, अग्नि और सोम, आते हैं। इन्द्र और साथ ही साथ इन दोनों को सम्बोधित सूक्तों की संख्या, तथा इनके नाम की आवृत्ति के आधार पर यही तीनों ऋग्वेद के सर्वाधिक लोकप्रिय देवता माने जा सकते हैं; क्योंकि मोटे रूप से ऋग्वेद के समस्त सूक्तों का लगभग त्रि-पंचांश इन्हीं तीनों को समर्पित किया गया है। यह तथ्य भी, कि गृह-मण्डलों में अग्नि और इन्द्र सम्बन्धी सूक्त ही सर्वप्रथम आते हैं, तथा नवम मण्डल के अधिकांश सूक्त सोम को सम्बोधित किये गये हैं, उक्त निष्कर्ष की पुष्टि करता है[२१]। शेष अन्य देवों में से प्रत्येक को समर्पित सूक्तों की संख्या तथा ऋग्वेद में उनके नामों की आवृत्ति के आधार पर उनके पाँच वर्ग निश्चित किये जा सकते हैं, यथा : १) इन्द्र, अग्नि, सोम; २) अश्विनगण, मरुद्गण, वरुण; ३) उषस्, सवितृ, बृहस्पति, सूर्य, पूषन्; ४) वायु, द्यावा-पृथिवी, विष्णु, रुद्र; और, ५) यम, पर्जन्य।[२२] यह सांख्यिक आधार केवल एक आंशिक दिग्दर्शक मात्र हो सकता है; क्योंकि जहाँ वरुण की प्रख्याति (अधिकतर मित्र के साथ) केवल तीस सूक्तों में ही की गई है और इनके नाम का लगभग २५० बार उल्लेख है, वहीं अश्विनों के लिये लगभग पचास सूक्त मिलते हैं और इनके नाम भी लगभग ४०० बार आते हैं। फिर भी अश्विनगण महानता में वरुण की समता नहीं कर सकते। अश्विनों की इस सापेक्षिक प्रमुखता का कारण निश्चित रूप से प्रातःकालीन प्रकाश के देवों के रूप में इनका यज्ञ से घनिष्ठ सम्बन्ध ही है। इसी प्रकार इन्द्र के साथ घनिष्ठ साहचर्य ही मरुतों के महत्त्व का प्रमुख कारण है। उपरोक्त तालिका के अन्य देवों की सापेक्षिक महानता का मूल्यांकन करने के लिये भी इसी प्रकार के आधार का आश्रय लेना होगा। यहाँ यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के मूल्यांकन में अनेक कठिनाइयाँ और सन्दिग्धतायें निहित हैं। अतः हम कह सकते हैं कि पदों और स्तरों के अनुसार किया गया वर्गीकरण भी वैदिक देवों के अध्ययन के लिये सन्तोषजनक आधार नहीं प्रस्तुत कर सकता।

एक अन्य, किन्तु अपेक्षाकृत और भी कम सन्तोषजनक वर्गीकरण का आधार पुराकथाशास्त्रीय धारणाओं की कालगत सापेक्षिकता हो सकती है। इसके अन्तर्गत देवों का वर्गीकरण इस आधार पर किया जा सकता है कि उनका अस्तित्व सर्वथा भारतीय, भारतीय-ईरानी, अथवा भारोपीय, कालों में से किसके अन्तर्गत आता है। इस प्रकार यदि हम देखें तो बृहस्पति, रुद्र, और विष्णु को सर्वथा भारतीय पुराकथाशास्त्र का ही सृजन कहा जा सकता है क्योंकि इनके सम्बन्ध में कम से कम यह दिखाने का कोई भी उपयुक्त प्रमाण नहीं है कि इस काल के पूर्व भी इनका अस्तित्व था। इनके अतिरिक्त इस बात का पहले ही संकेत किया जा चुका है कि अनेक पुराकथाशास्त्रीय व्यक्तित्व भारतीय-

ईरानी काल से ही चले आ रहे हैं (§ ५)। परन्तु 'द्यौस्' के अतिरिक्त किसी अन्य देवता को भारोपीय काल में भी ढूँढ़ा जा सकता है इस पर सन्देह करना प्रायः उचित ही है। इस प्रकार पुराकथाशास्त्रीय सृजनों के कालगत आधार पर किया गया वर्गीकरण भी अनिश्चित सा ही है।

मूर्तीकरण का वह स्तर, जिसका विभिन्न देव प्रतिनिधित्व करते हैं, वर्गीकरण का एक सम्भव आधार प्रस्तुत कर सकता है। किन्तु इसके अनुसार भी स्पष्ट विभाजन रेखा खींचने का कार्य अनेक कठिनाइयों से युक्त है।

सम्पूर्ण रूप से देखने पर वैदिक देवों के उसी वर्गीकरण में न्यूनतम आपत्ति हो सकती है जो उन्हीं प्राकृतिक आधारों पर किया गया हो जिनका यह देव प्रतिनिधित्व करते हैं। क्योंकि, यद्यपि कुछ दशाओं में इस बात पर थोड़ा बहुत सन्देह हो सकता है कि किसी देवता की आधारभूत प्राकृतिक वास्तविकता क्या है, और इस कारण उस देव का एक दोषपूर्ण स्थान पर वर्णन कर दिये जाने की भी आशंका हो सकती है, तथापि यह विधि सजातीय चारित्रिक विशेषताओंवाले देवों को एक साथ एकत्रित रख कर उनका तुलनात्मक अध्ययन सरल बना देती है। स्वयं ऋग्वेद द्वारा प्रस्तुत त्रिपदीय विभाजन के अनुसार विभिन्न घटनाओं को तीन अलग-अलग समूहों में रक्खा गया है और ऋग्वेद के प्रानीचतम भाष्यकार ने भी इसी का अनुसरण किया है।

[1]मूईर : सं० टे० ५, २१९; ब्राड्के : द्या० १२–१४; औ० पे० १०० — [2]हॉ० इ० १३८–४० — [3]मैक्स मूलर : हि० लि० ५२६, ५३२, ५४६; मैक्स मूलर : चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप १, २८; मैक्स मूलर : ओ० रि० २६६, २८५, २९८ और बाद, ३१२ और बाद; मैक्स मूलर : साइन्स ऑफ रिलीजन ५२; मैक्स मूलर : फिज़िकल रिलीजन १८० और बाद; मूईर : सं० टे० ५, ६ और बाद, १२ और बाद, १२५; बेनफे : ओ० अ० ३, ४४९; बूहलर : ओ० आ० १, २२७; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, xxvii और बाद; के० ऋ० ३३, नोट ११३; त्सिमर : त्सी० आ० १९ (७), १७५; हिलेब्रान्ट : वरुण उन्ट मित्र, १०५; — [4]व्हिट्ने : प्रो० सो०; अक्तूबर १८८१; औ० वे० १०१; हॉपकिन्स : ही० ऋ०, ७५–८३; हॉ० इ० १३९, इत्यादि — [5]शर्मन : वि० १३४; तु० की० त्सी० गे० ३२, ३०० — [6]मूईर : ज० ए० सो० २०, ४१–५; मूईर : सं० टे० ४, ५४–८; ५, १४–१७; तु० की० अथर्ववेद ३, २२[3] ४, १४[7]; शतपथ ब्राह्मण १, ७, ३[1]; ऐतरेय ब्राह्मण ६, २०[8]; तैत्तिरीय संहिता १,७,१[3]; ६,५,३[1]; हॉ० इ० १८७ — [7]निरुक्त ७, ६. ७ — [8]वालिस : कॉ० ऋ० ९ — [9]औ० वे० ३४७, ३५३, ३५५, ३५७–८ — [10]औ० वे० ९३ — [11]मूईर : सं० टे० ५, १८ — [12]औ० वे० २३८ — [13]बर्गेन : ल० रि० वे० ३, २०३–४ — [14]बर्गेन : ल० रि० वे० ३, १९९ — [15]औ० वे० २८२ —

[१६]मूइर : सं० टे० ५, १८–२०; औ० वे० ९७–१०१; २८१–७, २९२–३०१ — [१७]कात्यायन : सर्वानुक्रमणी, प्रस्तावन § २, ८; ऋग्वेद १, १३९^{११} पर सायण — [१८]'इन्द्र और वायु में निकट सम्बन्ध है' (तैत्तिरीय संहिता ६, ६, ८^{3}); तु० कीं० हॉ० इ० ८९ — [१९]'अग्नि, वायु, सूर्य, तीनों प्रजापति के पुत्र हैं, (मैत्रायणी संहिता ४, २^{१२}) — [२०]औ० वे० ९४–८ — [२१]हॉ० इ० ९० — [२२]यह वर्ग, तथा अलग-अलग देवों के सम्बन्ध में नीचे दी हुई संख्यायें इन ग्रन्थों के प्रदत्तों पर आधारित हैं : लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद; ग्रासमैन : व० ऋ०; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद (२, ४२१–३); और ऑफ़रेख्त : ऋग्वेद II^{2}, ६६८–७१।

(क) दिव्य देवता

§ ११. द्यौस् :—प्राय निश्चित रूप से 'द्यौस्' शब्द बहुधा 'अकाश' तत्त्व की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है, और इस आशय में यह ऋग्वेद में कम से कम ५०० बार आता है। लगभग ५० बार इसका अर्थ 'दिन' भी है। जहाँ द्युलोकवासी देवता के रूप में मूर्तीकरण किया गया है, वहाँ 'द्यौस्' को सामान्यतया पृथिवी के साथ यौगिक शब्द 'द्यावापृथिवी' के रूप में संयुक्त कर दिया गया है जो विश्व-पितरों का द्योतक है। ऋग्वेद का कोई भी एक सूक्त अकेले केवल द्यौस् को सम्बोधित नहीं किया गया है। जहाँ भी इसका अकेले उल्लेख है, वहाँ मूर्तीकरण की भावना को केवल पितृत्व तक ही सीमित रक्खा गया है। इस प्रकार यह शब्द प्रायः सदैव प्रथमा अथवा षष्ठी विभक्तियों में ही प्रयुक्त हुआ है। उक्त द्वितीय रूप, जो प्रायः ५० बार मिलता है, अपेक्षाकृत अन्य सभी रूपों की संयुक्त आवृत्ति से भी अधिक बार आया है। षष्ठी विभक्ति में इसके प्रयोग को नियमित रूप से किसी न किसी अन्य ऐसे देवता के नाम के साथ संयुक्त कर दिया गया है जिसे द्यौस् का पुत्र या पुत्री माना गया है। इस प्रकार, लगभग तीन चौथाई दशाओं में उषस् ही इसकी पुत्री है, और शेष में अश्विन् इसकी सन्तान (नपाता), अग्नि इसके पुत्र (सूनु) अथवा 'शिशु', और पर्जन्य, सूर्य, आदित्यगण, मरुद्गण, तथा अङ्गिरसादि इसके 'पुत्र' हैं। प्रथमा विभक्ति में आने वाले तीस प्रयोगों में से यह नाम (द्यौस्) केवल आठ ही अवसरों पर अकेले आता है; अन्यथा साधारणतया इसे या तो पृथ्वी के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है, अथवा इसका उन अन्य सभी देवों के साथ उल्लेख है जिनके अन्तर्गत अधिकांश दशाओं में पृथ्वी भी सम्मिलित है। इन आठों स्थलों में से इसे तीन पर सामान्य रूप से 'पिता' (१, ९०^{७} १६४^{३३}; ४, १^{१०}), एक बार इन्द्र का पिता (४, ७२^{३}), एक बार 'सुरेताः' और अग्नि (४, १७^{४}) को उत्पन्न करने वाला कहा गया है, तथा शेष तीन स्थलों पर यह एक वृषभ (५, ३६^{५}) अथवा लाल वृषभ है जो

नीचे की ओर मुँह करके गर्जन करता है (५, ५८[६]) और जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वृत्र का वध कर दिये जाने पर इसने इस कार्य पर अपनी स्वीकृति प्रदान की थी (६, ७२[३])। चतुर्थ विभक्ति में यह शब्द (द्यौस्) आठ स्थलों पर मिलता है। इन स्थलों में से तीन बार तो इसका अकेले उल्लेख है जिसमें एक बार इसे महान् पिता (१, ७१[५]), एक बार 'उच्च' (१, ५४[३]), और एक बार 'उच्च आवास' (५, ४७[७]) कहा गया है। द्वितीया विभक्ति में मिलने वाले अवसरों में से दो बार द्यौस् का पृथ्वी के साथ उल्लेख है, जहाँ एक बार तो बिना किसी विभेदात्मक उक्ति के यह अकेले ही आता है (१, १७४[६]) और एक बार (१, ३१[४]) ऐसा कहा गया है कि अग्नि देव ही इससे गर्जन कराते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'द्यौस्' का स्वतन्त्र रूप से कदाचित् ही कभी उल्लेख है, और लगभग ९० से कुछ अधिक स्थलों का, जिन पर यह मिलता है, केवल षष्ठांश ही ऐसा है जहाँ पृथ्वी के साथ संयुक्त रूप से इसमें पितृत्व के आशय का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इस प्रकार, वास्तव में ऋग्वेद में इसके मूर्तीकरण की एकमात्र अनिवार्य विशेषता इससे संयुक्त पितृत्व भावना ही है। कुछ स्थलों पर 'द्यौस्' को एक ऐसा वृषभ (१, १६०[३]; ५, ३६[५]) कहा गया है जो गर्जन (५, ५८[६]) करता है। यहाँ हमें एक प्रकार से पशुत्वारोपण का आभास मिलता है, क्योंकि इस प्रकार इसे गर्जन करने वाला ऐसा पशु माना गया है जो गर्भित भी करता है। एक बार मोतियों से अलंकृत कृष्णवर्ण अश्व के साथ भी द्यौस् की तुलना की गई है (१०, ६८[११]) जिससे स्पष्टतः रात्रि के समय के आकाश का ही आशय प्रतीत होता है। इस उक्ति से, कि द्यौस् एक 'अशनि से युक्त' (अशनिमत्) है, कुछ कुछ मानवत्वारोपण का आभास मिलता है। इसे मेघों के बीच से मुस्कराने वाला भी कहा गया है (२, ४[६]) जिससे निश्चित रूप से मेघों के बीच से प्रकाश प्रदान करने वाले आकाश का तात्पर्य है।[२] फिर भी, इस प्रकार के स्थल बहुत थोड़े हैं, और द्यौस् सम्बन्धी धारणा पितृत्व के आशय के अतिरिक्त पशुत्वारोपण और मानवत्वारोपण से प्रायः मुक्त है। पिता के रूप में अधिकांशतः इसके माता रूपी पृथ्वी से संयुक्त होने की कल्पना की गई है।[३] यह इस तथ्य द्वारा प्रकट होता है कि इसका नाम एकवचन में अकेले आने की अपेक्षा पृथ्वी के साथ युगुल रूप में कहीं अधिक बार आता है (§ ४४) तथा एक वचन रूप में मिलने वाले स्थलों में से भी अधिकांश पर इसका पृथ्वी के साथ ही उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इसे जहाँ कहीं भी अलग समझा गया है वहाँ इसका वैयक्तीकरण इतना महत्व नहीं प्राप्त कर सका है कि कोई एक सूक्त सम्पूर्ण रूप से इसे ही अर्पित किया जा सके, जब कि पृथ्वी के साथ साथ इसकी ६ सूक्तों में प्रख्याति है। प्रायः सभी महान् देवों[४] की भाँति द्यौस्

को भी कभी कभी 'असुर'[५] (१, १२२[१]·१३१[१]; ८, २०[१७]) कहा गया है, तथा एक बार (६, ५१[५]) 'सम्बोधन' के रूप में इसका 'पृथ्वी-माता' के साथ साथ 'द्यौष्-पितर्' सम्बोधन सहित आवाहन किया गया है। लगभग २० स्थलों पर जहाँ कहीं भी इसका मूर्तीकरण किया गया है, द्यौस् शब्द स्त्रीलिङ्ग रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है (§ ६) 'द्यौस्' भारोपीय काल से चला आ रहा है, और यह मानने के लिये भी कोई युक्तिसगत आधार नहीं कि इस काल में इसके मूर्तीकरण का स्वरूप अधिक विकसित तथा ऋग्वेद में अपेक्षाकृत अधिक पुरातन रूप में व्यक्त हुआ है। दूसरी ओर वस्तु स्थिति को इसके विपरीत मानने के लिये पर्याप्त आधार उपलब्ध हैं। इतने प्राचीन (भारोपीय) काल में जो भी श्रेष्ठ देव रहे होंगे उन सभी का विकास भी अपेक्षाकृत कहीं अधिक प्राथमिक अवस्था में रहा होगा और कदाचित ही किसी दशा में मूर्तीकृत प्राकृतिक पदार्थ से पृथक् उनकी कल्पना की गई होगी।[७] ऐसे विश्व-पिता के रूप में, जो माता पृथ्वी के साथ सभी मूर्तीकृत पदार्थों और घटनाओं को अपने अन्तर्गत समाविष्ट कर लेता है, द्यौस् ऋग्वेदिक अस्पष्ट सी अनेकदेवतावादी धारणा के अन्तर्गत सभी देवों में सर्वोच्च रहा हो सकता है। किन्तु इसे भारोपीय काल का सर्वोच्च देव मानना भ्रामक है, क्योंकि इस दशा में इससे ज्यूस के समान एक शासक, और अत्यंन्त प्राचीनकाल में भी एक औपक्रमिक एकेश्वरवादी भावना का आशय निष्पन्न होगा, जबकि ऋग्वेदिक काल तक में इसके लिये इन दोनों में से कोई भी धारणा स्पष्ट रूप में विकसित नहीं हो सकी है।

यह शब्द 'दिव' (चमकना) धातु से व्युत्पन्न हुआ है और इस प्रकार इसका अर्थ 'दिव्य' है, तथा यह भी देवों (देव) के ही समान है।[८]

[१]फॉन श्रोडर : वी० मौ० ८, १२६-७ — [२]पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, १११; से० बु० ई० ४६, २०५ — [३]हॉ० इ० १७१ — [४]ग्राड्के : द्या० ११९·२३ — [५]ग्राड्के : द्या० ८६ — [६]ग्राड्के : द्या० ११४; तु० की० ग्रासमै. : व० ऋ०, व० स्था० पर 'दिव्'; ऑस्थॉफ : इ० फौ० ५, २८६, नोट — [७]ग्राड्के : द्या० १११ — [८]तु० की० त्सी० २७, १८७; बेज़ेनबर्गर : बी० १५, १७; इ० फौ० ३, ३०१।

मूईर : सं० टे० ५, २१-३; मैक्स मूलर : ओ० रि० २०९; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३१२-३; बर्गेन : ल० रि० वे० १, ४-५; स्पीगेल : डी० पी० १६०; ज० अ० ओ० सो० १६, cxlv।

§ *१२. वरुण:*—यह स्पष्ट किया जा चुका है (§ १०) कि इन्द्र के साथ साथ वरुण भी ऋग्वेद के महानतम देवों में से एक हैं। वरुण की प्रशस्ति में अर्पित सूक्तों की संख्या इनके चरित्र की महानता का मूल्यांकन करने का पर्याप्त आधार नहीं है, क्योंकि केवल एक दर्जन सूक्त ही ऐसे हैं जिनमें केवल इन्हीं की एक मात्र प्रशस्ति है। अतः सांख्यिक आधार पर मूल्यांकन करने पर यह केवल एक तृतीय श्रेणी के देव सिद्ध होंगे। यदि उन और दो दर्जन सूक्तों को भी, जिनमें इनका 'मित्र' के साथ आवाहन है, ध्यान में रक्खा जाय तो भी प्राथमिकता की दृष्टि से देवों में इनका स्थान पञ्चम होगा, जो अश्विनों से भी नीचे तथा मरुतों के प्रायः समकक्ष है।

वरुण के व्यक्तित्व में मानवत्वारोपण का भौतिक की अपेक्षा नैतिक क्षेत्र में अधिक पूर्ण विकास हुआ है। इनके शरीर और उपकरणों का वर्णन बहुत विस्तृत नहीं है क्योंकि इनके कार्यों पर ही विशेष बल दिया गया है। इनके शरीर में मुख, नेत्र, भुजायें, हाथ, और पैर की कल्पना है। यह अपनी भुजाओं को हिला-डुला सकते हैं, तथा स्वयं चल-फिर और बैठ सकते हैं। यह भोजन और पान कर सकते हैं, और रथ भी हाँकते हैं। वरुण के मुख (अनीकम्) को कवि अग्नि के समान मानता है (७, ८८^{२}, तु० की० ८७^{६})। मित्र और वरुण के नेत्र सूर्य हैं (१, ११५^{१}; ६, ५१^{१}; ७, ६१^{१}·६३^{१}; १०, ३७^{१}), और यह तथ्य कि इस बात का सूक्तों के प्रथम मन्त्र में ही उल्लेख मिलता है, यह व्यक्त करता है कि मित्र और वरुण के सम्बन्ध में विचार करते समय सर्वप्रथम इसी धारणा का उदय होता है। सूर्य को अर्पित एक सूक्त (१, ५०^{६}) में वरुण जिस नेत्र द्वारा समस्त मानव जाति का अवलोकन करते हैं वह निःसन्देह सूर्य ही है। अर्यमन् सहित मित्र और वरुण के लिये 'सूर्य-नेत्री' (७, ६६^{१०}) शब्द का प्रयोग हुआ है, साथ ही यह शब्द अन्य देवों के लिये भी आता है। वरुण दूरदर्शी (१, २५$^{५-६}$; ८, ९०^{२}) तथा सहस्र नेत्रों वाले (७, ३४^{१०}) हैं। मित्र और वरुण अपनी भुजाओं को फैलाते हैं (५, ६४^{२}; ७, ६२^{५})। यह लोग रथ को उसी प्रकार सूर्य की किरणों द्वारा हाँकते हैं जैसे हाँथो से (८, ९०^{२})। सवितृ और त्वष्टृ की भाँति यह सुन्दर हाथों वाले (सुपाणि) हैं। मित्र और वरुण अपने पैरों से शीघ्रतापूर्वक विचरण करते हैं (५, ६४^{७}), और वरुण अपने द्युतिमान पैरों से कपट को दलित करते हैं (८, ४१^{८})। यज्ञ के समय वरुण फैलाई हुई घास पर बैठते हैं (१, २६^{४}; ५, ७२^{२}) तथा अन्य देवों की भाँति यह और मित्र सोमपान भी करते हैं (४, ४१^{३} इत्यादि)। वरुण एक स्वर्ण-द्रापि और द्युतिमान परिधान धारण करते हैं (१, २५^{१३})। किन्तु इन्हें और मित्र को जो घृत का परिधान पहनाया गया है (५, ६२^{४}; ७, ६४^{१}) उससे केवल यज्ञ के समय

अर्पित घृत-हवि का लाक्षरिएक आशय ही उद्दिष्ट प्रतीत होता है। द्युतिमान परिधान का भी, जिसे यह धाररए करते हैं (१, १५२^{1}) कदाचित यही अर्थ है। शतपथ ब्राह्मरए (१३, ३, ६^{5}) में वरुरए को श्वेत-वर्रए, गंजा और पीले नेत्रोंवाला एक वृद्ध पुरुष[1] कहा गया है। वरुरए के उपकररएों के अन्तर्गत जिस एक वस्तु को प्रमुखता दी गई है वह उनका रथ है। इस रथ को सूर्य के समान द्युतिमान (१, १२२^{15}) कहा गया है, जिसमें स्तम्भों के स्थान पर नध्रियाँ लगी हैं (वही)। इसमें एक बैठने का स्थान है (५, ६२^{7}) और यह भली प्रकार सन्नद्ध अश्वों द्वारा खींचा जाता है (५, ६२^{4})। मित्र और वरुरए अपने रथ में बैठ कर उच्चतम द्युलोक में भ्रमरए करते हैं (५, ६३^{1})। कवि वरुरए के रथ का पृथ्वी पर दर्शन प्राप्त करने के लिये स्तुति करता है (१, २५^{18})।

मित्र और वरुरए का गृह स्वर्रा-निर्मित तथा द्युलोक में स्थित है (५, ६७^{1}; १, १३६^{2})। वरुरए अपने इस भवन (पस्त्यासु) में बैठ कर सभी कृत्यों का अवलोकन करते हैं (१, २५$^{10-11}$)। इनका और मित्र का आसन (सदस) महान, अत्यन्त उच्च, दृढ़ और सहस्र स्तम्भों वाला है (५, ६८^{5}; २, ४१^{5})। इनके गृह में सहस्र द्वार हैं (७, ८८^{5})। सर्वदर्शी सूर्य अपने गृह से उदित हो कर मनुष्यों के कृत्यों की सूचना देने मित्र और वरुरए के आवास स्थान पर जाता है (७, ६०$^{1.3}$) तथा इनके प्रिय गृह में प्रवेश करता है (१, १५२^{4})। उच्चतम द्युलोक में ही पितृगरए वरुरए के दर्शन प्राप्त करते हैं (१०, १४^{8})। शतपथ ब्राह्मरए (११, ६, १) के अनुसार वरुरए को विश्व का अधिपति माना गया है जो द्युलोक के मध्य में बैठा हुआ वहीं से अपने चतुर्दिक स्थित दराडनीय स्थानों का पर्यवेक्षरए करता रहता है।[1]

कभी कभी वरुरए के गुप्तचरों (स्पशः) का भी उल्लेख है। यह गुप्तचर इनके चतुर्दिक बैठे (१, २४^{13}) तथा दोनों लोकों का अवलोकन करते रहते हैं। यज्ञ से परिचित होने के काररए यह स्तुतियों को प्रेरित करते हैं (७, ८७^{3})। मित्र और वरुरए के गुप्तचर, जिन्हें यह देवगरए पृथक्-पृथक् रूप से लोगों के घरों में भेजते हैं (७, ६१^{3}), अभ्रमित और बुद्धिमान होते हैं (६, ६७^{5})। अथर्व वेद (४, १६^{4}) में यह कहा गया है कि द्युलोक से उतर कर वरुरए के दूत संसार में भ्रमरए करते हैं और सहस्र नेत्रों से युक्त होने के काररए सम्पूर्रए संसार को एक छोर से दूसरे छोर तक देखते रहते हैं। सम्भवतः तारों को ही इन दूतों का प्राकृतिक आधार माना गया है, किन्तु ऋग्वेद में इस मान्यता के लिये कोई प्रमारए नहीं है क्योंकि इस ग्रन्थ में कहीं भी तारों को निरीक्षरए करनेवाला नहीं कहा गया है, और न इन गुप्तचरों को ही कहीं रात्रि से सम्बद्ध किया गया है। बहुत सम्भव है इस धाररएा का आरम्भ उन गुप्तचरों द्वारा ही हुआ हो

जिनसे पृथ्वी का एक दृढ़ शासक नित्यप्रति घिरा रहता है।[2] साथ ही गुप्तचर केवल वरुण और मित्र से ही सम्बद्ध नहीं हैं, वरन् इन्हें अग्नि (४, ४[3]), सोम (९, ७३[४.७], यहाँ सम्भवतः वरुण के पूर्वोल्लेख द्वारा ही इसका आरम्भ हुआ है), इन्द्र से युद्ध करनेवाले असुरों (१, ३३[८]), और सामान्य रूप से समस्त देव जाति (१०, १०[८]) तक से भी सम्बद्ध किया गया है। एक स्थल पर आदित्यों को गुप्तचरों की भाँति उच्चस्थान से नीचे देखनेवाला कहा गया है (८, ४७[११])। इन गुप्तचरों को प्रमुखतः मित्र और वरुण से हीं सम्बद्ध किया गया होने का कारण इस तथ्य द्वारा उत्पन्न प्रतीत होता है कि ईरान के 'मिथ्र' के पास भी गुप्तचर हैं जिन्हें उसी नाम (स्पश्) से पुकारा गया है जो वेदों में मिलता है।[3] ऋग्वेद (१०, १२३[६]) में वरुण के जिस स्वर्ण-पङ्खोंवाले दूत का उल्लेख है वह निश्चित रूप से सूर्य ही है।

अकेले अथवा मित्र के साथ, वरुण को अक्सर अन्य प्रमुख देवों, तथा यम की भाँति, एक 'राजा' कहा गया है (१, २४[७.८] इत्यादि)[४]। वरुण सबके राजा हैं : देवों और मनुष्यों के (१, १३२[४]; २, २७[१०]), समस्त संसार के (५,८५[३]) और उन सबके जिनका अस्तित्व है (७, ८७[६])। वरुण को एक आत्मनिर्भर राजा भी कहा गया है (२, २८[१]), यद्यपि यह शब्द सामान्यतः इन्द्र के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। अपेक्षाकृत अनेक बार वरुण को अकेले, अथवा अधिकांशतः मित्र के साथ साथ ही 'सम्राज्' कहा गया है। इसी शब्द का कुछ बार अग्नि के लिये, तथा बहुधा इन्द्र के लिये भी प्रयोग किया गया है। किन्तु जिन स्थलों पर वरुण और मित्र को इस प्रकार सम्बोधित किया गया है उनकी गणना करने पर यह स्पष्ट होता है इसे इन्द्र की अपेक्षा लगभग दूने बार वरुण से ही सम्बद्ध किया गया है। यदि यह मान लिया जाय कि ऋग्वेद में इन्द्र की प्रख्याति करने वाले प्रत्येक आठ या दस सूक्तों में से केवल एक ही वरुण को अर्पित किया गया है, तो इस अनुपात के कारण उक्त उपाधि (सम्राज्) विशेषतः वरुण के लिये ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होगी।

सार्वभौम सत्ता (क्षत्र) के गुण का प्रमुख रूप से वरुण के लिये, सामान्यतया मित्र के साथ, और दो वार अर्यमन् के साथ भी, प्रयोग किया गया है। अन्यथा यह केवल एक बार ही क्रमशः अग्नि, बृहस्पति, और अश्विनों के लिये व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकार शासक (क्षत्रिय) शब्द पाँच बार आनेवाले स्थानों में से चार बार वरुण अथवा आदित्यों के लिये, तथा केवल एक बार ही सामान्य रूप से समस्त देव जाति के लिये प्रयुक्त हुआ है। अकेले अथवा मित्र के साथ, वरुण के लिये 'असुर' (§ ६७) उपाधि का प्रयोग इन्द्र और अग्नि की

अपेक्षा अधिक बार हुआ है। यहाँ भी यदि सूक्तों के अनुपात पर ध्यान दिया जाय तो हमें यह प्रतीत होगा कि यह उपाधि विशेषत: वरुण के लिये ही व्यवहृत हुई है।[५] मित्र और वरुण को देवों में रहस्यमय और उदात्त (असुरा अर्या) कहा गया है (७, ६५[२])।

वरुण और मित्र के दिव्य प्रदेश को बहुधा 'माया'[६] शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। यह शब्द एक गुह्यशक्ति का द्योतक है जिसका श्रेष्ठ आशय में तो देवों के लिये, तथा बुरे आशय में दैत्यों के लिये प्रयोग हुआ है। अंग्रेज़ी भाषा में इसका प्राय: बिल्कुल समानार्थी शब्द 'क्राफ्ट' है, जिसका, प्राचीन आशय के अनुसार 'गुह्यशक्ति' या 'अभिचार' अर्थ था, किन्तु बाद में एक ओर 'योग्यता या कला' और दूसरी ओर 'छद्म क्रियायें' अर्थ विकसित हो गया। 'असुर' (जिसका 'रहस्यमय व्यक्ति' अर्थ किया जा सकता है) की भाँति 'माया' का श्रेष्ठ आशय प्रमुखत: वरुण और मित्र से संयुक्त है, जब कि बुरा आशय दैत्यों के लिये सुरक्षित किया गया है। वायु में अवस्थित होकर अपनी गुह्यशक्ति द्वारा वरुण मानों सूर्यरूपी मापने के उपकरण द्वारा पृथ्वी को मापते हैं (५, ८५[५])। वरुण और मित्र ही 'उषा' को उत्पन्न करते हैं (३, ६१[७]), सूर्य को आकाश में आर-पार जाने के लिये प्रेरित करते हैं और उसे उस समय मेघ तथा वर्षा से अवरुद्ध कर रखते हैं जब मधुमय बूँदों की वर्षा होती है (५, ६३[४])। अथवा (वही [३.७]) वरुण और मित्र आकाश से वर्षा कराते हैं, तथा असुर (यहाँ = द्यौस् अथवा पर्जन्य) रूपी गुह्यशक्ति द्वारा विभिन्न विधानों का पालन कराते हैं।[७] इसीलिये 'मायिन्' उपाधि भी देवों में मुख्यत: वरुण के लिये व्यवहृत हुई है (६, ४८[१४]; ७, २८[४]; १०, ९९[१०].१४७[५])।

स्पष्टत: इन्द्र के विपरीत, वरुण के साथ कोई भी पुराकथा सम्बद्ध नहीं की गई है, जब कि इनके (और मित्र के) लिये भौतिक तथा नैतिक विधानों का उद्घोषक होने के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। वरुण प्रकृति के नियमों के महान् अधिपति हैं। इन्होंने द्युलोक और पृथ्वी की स्थापना की है और सभी लोकों में इन्हीं का वास है (८, ४२[१])। तीनों द्युलोक और तीनों पृथ्वी इन्हीं में निहित हैं (७, ८७[५])। यह और मित्र समस्त संसार पर शासन करते हैं (५, ६३[७]), अथवा दोनों लोकों को धारण करते हैं (७, ६१[४])। यह समस्त संसार के अभिभावक हैं (२, २७[४] इत्यादि)। वरुण के विधान के कारण ही द्युलोक और पृथ्वी अलग अलग स्थित हैं (६, ७०[१]; ७, ८६[१]; ८, ४१[१०])। मित्र के साथ यही पृथ्वी और आकाश को (५, ६२[३]), अथवा द्युलोक, पृथ्वी और वायु को (५, ६९[१.४]) धारण करते हैं। इन्होंने ही आकाश में प्रकाशमान होने के लिये स्वर्ण झूले (सूर्य) का निर्माण किया (७, ८७[५])। इन्होंने ही

अग्नि की जल में, सूर्य की आकाश में, और सोम की पर्वतों पर स्थापना की (५, ८५[२])। इन्होंने ही सूर्य के लिये एक विस्तृत पथ का निर्माण किया (१, २४[८]; ७, ८७[१])। वरुण, मित्र और अर्यमन्, सूर्य के लिये पथ प्रशस्त करते हैं (७, ६०[४])। मित्र और वरुण के विधान (ऋत) सुदृढ़ रूप से स्थापित हैं जब कि सूर्य के अश्व खुले हुए हैं (५, ६२[१])। वह वायु जो वायुमण्डल में गतिशील रहता है, वरुण का श्वास ही है (७, ८७[२])।

वरुण के विधानों (व्रतानि) द्वारा ही उज्ज्वल प्रकाश से युक्त होकर चन्द्रमा रात्रि में भ्रमण करता है, और इसी से उन्नत स्थान में स्थित तारे रात्रि में तो दिखाई पड़ते हैं किन्तु दिन के समय दृष्टि से ओझल हो जाते हैं (१, २४[१०])। एक अन्य स्थल पर यह कहा गया है कि वरुण ने रात्रियों का आलिंगन (परि षस्वजे) कर रक्खा है, और अपनी गुप्त शक्ति द्वारा इन्होंने ही प्रातःकाल अथवा दिनों (उस्रः) की स्थापना की है। फिर भी इस उक्ति की अपेक्षा, कि वरुण रात और दिन का नियमन या विभाजन करते हैं (तु० की० ७, ६६[११]), उक्त बात रात्रि के साथ इनके सम्बन्ध की घनिष्ठता को कदाचित् अधिक मात्रा में व्यक्त करती है। वास्तव में इनके साथ सूर्य का ही बहुधा उल्लेख मिलता है, रात्रि अथवा चन्द्रमा का नहीं। इसीलिये प्राचीनतम वेद में वरुण, रात और दिन दोनों ही समय प्रकाश के अधिपति माने गये हैं, जब कि जहाँ तक अनुमान किया जा सकता है, मित्र केवल दिन के दिव्य प्रकाश के ही अधिपति के रूप में आते हैं।

ब्राह्मणों द्वारा व्यक्त बाद के वैदिक काल में वरुण को विशेषतः रात्रि के आकाश से सम्बद्ध किया गया है।[८] इस प्रकार, यह कहा गया है कि मित्र ने दिन बनाया और वरुण ने रात्रि (तैत्तिरीय संहिता ६, ४, ८[३]); और दिन मित्र के अन्तर्गत तथा रात्रि वरुण के अन्तर्गत है (तैत्तिरीय संहिता २, १, ७[४])[९]। इस दृष्टिकोण का आरम्भ सम्भवतः मित्र को एक स्वतंत्र देव सिद्ध करने के प्रयास में निहित प्रतीत होता है। मित्र को अब भी सूर्य से ही सम्बन्ध होने का अनुभव किया गया है, जब कि वरुण का प्राकृतिक आधार अपेक्षाकृत अधिक अस्पष्ट है। इन दोनों का ही विभेद एक भिन्न प्रकार से शतपथ ब्राह्मण (१२, ९, २[१२]) में भी व्यक्त हुआ है, जहाँ यह कहा गया है कि 'यह संसार मित्र है, और वह (दिव्य) संसार वरुण।

वरुण को कभी-कभी ऋतुओं के नियमन का श्रेय भी दिया गया है। 'वरुण बारह मासों से परिचित हैं' (१, २५[८])[१०]। यह भी कहा गया है कि शरद् ऋतु, मास, दिवस, और रात्रि को मित्र, वरुण, तथा अर्यमन् आदि राजाओं ने बनाया है (७, ६६[११])।

ऋग्वेद तक में, वरुण को अक्सर जल का नियामक बताया गया है। इन्होंने ही नदियों को प्रवाहित किया; यह नदियाँ इन्हीं के विधानों के अनुसार निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं (२, २८^{४})। इन्हीं की गुह्यशक्ति के कारण सागर में अपना जल इतनी द्रुत गति से मिलाते रहने पर भी नदियाँ उसे जल से परिपूर्ण करने में समर्थ नहीं हो पातीं (५, ८५^{६}) वरुण और मित्र नदियों के अधिपति हैं (७, ६४^{२})। ऋग्वेद में वरुण को सागर से सम्बद्ध तो किया गया है किन्तु बहुत कम, और ऐसा सम्भवतः इनके इस दिशा में अमहत्त्वपूर्ण होने के कारण ही हुआ है। समुद्रमार्ग से आनेवाले वरुण का, आकाश-मार्ग से आनेवाले मरुद्गण, पृथ्वी से आनेवाले अग्नि और अन्तरिक्ष से आनेवाले वायु आदि से विभेद स्पष्ट किया गया है (१, १६१^{१४})[११]। इस उक्ति का कि 'सात नदियाँ वरुण के मुख में उसी प्रकार गिरती हैं मानो वह एक बृहत् गह्वर में गिर रही हों (८, ५८^{१२}), समुद्र से ही तात्पर्य हो सकता है।[१२] यह भी कहा गया है कि वरुण सागर (सिन्धुम्) में उसी प्रकार उतरते हैं जिस प्रकार द्यौस् (७, ८७^{६})[१३]। ऐसा प्रतीत होता है कि वरुण को साधारणतया अन्तरिक्षीय जल से सम्बद्ध किया गया है। एक गुप्त समुद्र के रूप में वरुण ऊपर द्युलोक को जाते हैं (८, ४१^{८})। मनुष्यों के पाप-पुण्य का अवलोकन करते हुये वरुण उस स्वच्छ और मधुर जल के मध्य विचरण करते हैं जिसकी वर्षा होती है (७, ४९^{३})। वरुण जल में अपने वस्त्र धारण करते हैं (९, ९०^{२}, तु० की० ८, ६९$^{११, १२}$)। वर्षा करानेवाले देवों के रूप में वरुण और मित्र की अन्य देवों की अपेक्षा अक्सर स्तुति की गई है। वरुण देव, स्वर्ग, पृथ्वी, और अन्तरिक्ष के हितार्थ, मेघ के निम्न भाग से वर्षा कराते हैं और पृथ्वी को गीली कर देते हैं, फिर मेघों द्वारा पर्वत-शिखरों को आच्छादित कर देते हैं (५, ८५$^{३-४}$)। मित्र और वरुण की कृपा से ही मेघ शुद्ध जल की वर्षा करते हैं जिससे जलधारायें मधु से प्रवाहित होती हैं (५, ६९^{२})। इनके पास वर्षा करानेवाले आकाश तथा प्रवाहित होनेवाले जल हैं (५, ६८^{५}) यह चरागाहों पर घृत (=वर्षा) रूपी ओस विन्दु गिराते हैं और अन्य स्थानों पर मधु की वर्षा कराते हैं (३, ६२^{१६})। यह आकाश से आह्लाद और जल की वर्षा कराते हैं (७, ६४^{२})। इन्हीं के द्वारा दिव्य जल से परिपूर्ण वर्षा होती है (८, २५^{६})। वास्तव में एक सम्पूर्ण सूक्त (५, ६३) ही इनकी वर्षा कराने की शक्ति की चर्चा करता है। जल और वर्षा से इनके सम्बन्ध के कारण ही सम्भवतः नैघण्टुक के पञ्चम अध्याय में अन्तरिक्षीय और दिव्य, दोनों ही लोकों के देवों में वरुण की गणना कराई गई है। ब्राह्मणों में मित्र और वरुण वर्षा के भी देव माने गये हैं।[१४] अथर्ववेद में वरुण एक सार्वभौमिक शासक होने की अपनी शक्ति से हीन और

केवल जल के नियन्त्रक के रूप में ही व्यक्त किये गये हैं। इन्हें जल से उसी भाँति सम्बद्ध किया गया है जिस भाँति सोम को पर्वतों से (अथर्ववेद ३, ३[२])। दिव्य पिता के रूप यह जल का वर्षण कराते हैं। (अथर्ववेद ४, १५[१२])। इनका स्वर्ण-आवास जल में ही स्थित है (अथर्ववेद ७, ८३[१])। यह जल के सर्वाधिपति हैं, और यह तथा मित्र वर्षा के अधिपति हैं (अथर्ववेद ५, २४[४.५])। यजुर्वेद में वरुण की जल के एक ऐसे 'शिशु' के रूप में चर्चा है जिसने अत्यन्त मातृत्व भावना से युक्त जल को अपना आवास बनाया है (वाजसनेयि संहिता १०, ७)। वरुण की पत्नियाँ जल हैं (तैत्तिरीय संहिता ५, ५, ४[१])। मित्र और वरुण जल के नायक हैं (तैत्तिरीय संहिता ६, ४, ३[२])।

वरुण के विधानों को नित्य ही सुदृढ़ कहा गया है और मुख्यतः इनके लिये अकेले अथवा कभी-कभी मित्र के साथ भी 'धृतव्रत' उपाधि का प्रयोग किया गया है। स्वयं देवगण भी वरुण के (८, ४१[७]), अथवा वरुण, मित्र, और सवितृ (१०, ३६[१३]) के विधानों का अनुसरण करते हैं। यहाँ तक की अमर देवगण भी मित्र और वरुण के दृढ़ विधानों को अवरुद्ध नहीं कर सकते (५, ६९[४] तु० की० ५, ६३[७])। मित्र और वरुण 'ऋत' तथा प्रकाश के अधिपति हैं और यह लोग नियमानुसार नियमों के प्रतिपालक हैं (१, २३[५])। यह वाद का विशेषण अधिकतर इनके लिये ही, और कभी-कभी आदित्यों अथवा देव जाति के लिये भी व्यवहृत हुआ है। मित्र और वरुण नियम और सत्य से वृद्धि को प्राप्त करनेवाले हैं (१, २[८])। वरुण अथवा आदित्यों को कभी-कभी विधानों का अभिभावक (ऋतस्य गोपा) कहा गया है, साथ ही अग्नि और सोम के लिये भी 'मही' शब्द व्यवहृत हुआ है। 'नियमों का पालक' (ऋतावन्) विशेषण को, जो कि मुख्यतः अग्नि के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, अनेक बार वरुण और मित्र से भी सम्बद्ध किया गया है।

वरुण की शक्ति इतनी महान है कि न तो उड़ते हुये पक्षी और न प्रवाहित होती हुई नदियाँ ही इनके क्षेत्र, पराक्रम तथा क्रोध की सीमा तक पहुँच सकती हैं (१, २४[६])। न तो आकाश और न नदियाँ ही मित्र तथा वरुण की देवशक्ति की सीमा तक पहुँच सकी हैं (१, १५१[९])। सभी कुछ, और सभी प्राणी, वरुण में ही अवस्थित हैं (८, ४१[३.७])। तीनों द्युलोक और तीनों पृथ्वी इनमें ही निहित हैं (७, ८७[५])। वरुण सर्वज्ञ हैं। यह आकाश में पक्षियों की गति-विधि, सागर में जलयानों के पथ, और दूर-दूर तक की यात्रा करनेवाले वायु की दिशा से परिचित हैं; साथ ही यह उन सभी गुप्त बातों को देख सकते हैं जो हो चुकी है अथवा होनेवाली हैं (१, २५[७.९.११])। यह मनुष्यों

के पाप और पुण्य को देखते हैं (७, ४९[३])। इनकी इच्छा के विना कोई भी प्राणी हिल-डुल तक नहीं सकता (२, २८[६])। मनुष्य के पलकों के झपने की संख्या वरुण द्वारा निर्धारित है और मनुष्य जो कुछ भी करता, विचारता और सृजन करता है, उस सबसे वरुण परिचित हैं (अथर्ववेद ४, १६[२-५])। यह आकाश और पृथ्वीपर तथा उसके बाहर भी जो कुछ भी है, उसे देखते हैं; अतः आकाश के उस पार भाग कर भी कोई व्यक्ति वरुण से बच नहीं सकता (अथर्ववेद ४, १६[४-५])। सर्वज्ञता वरुण की ही विशेषता है, ऐसा इस बात से सिद्ध होता है कि इस विषय में अग्नि की इन्हीं से तुलना की गई है (१०, ११[१])।

नैतिक नियन्त्रक के रूप में वरुण का अन्य देवों की अपेक्षा कहीं ऊँचा स्थान है। पाप कर्म करने तथा इनके विधानों का उलंघन करने से इनका क्रोध उद्दीप्त होता है और यह इन कार्यों के लिये कठोर दण्ड देते हैं (७, ८६[२-४])। उन पाशों (पाशाः) का भी अक्सर उल्लेख है जिनसे वरुण पापियों को बाँधते हैं (१, २४[१५]-२५[२१]; ६, ७४[४]; १०, ८५[२४])। मिथ्याभाषियों को यह इन्हीं पाशों के सात या तीन फन्दों से बाँधते हैं, और सत्यवादियों पर कृपा रखते हैं (अथर्ववेद ४, १६[६])। मिथ्यावादिता के विरुद्ध मित्र और वरुण के अनेक पाश अत्यन्त सुदृढ़ हैं (७, ६५[३])। एक बार इन्द्र के साथ वरुण के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह लोग ऐसे पाशों से बाँधते हैं जो रस्सियों से निर्मित नहीं होते (७, ८४[२])। एक अन्य देव, अग्नि, के लिये भी 'पाश' शब्द का प्रयोग हुआ है, जहाँ उपासक अग्नि से यह स्तुति करता है कि वह उसे पाशमुक्त करें (५, २[७])। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि पाश का प्रयोग मुख्यतः वरुण की ही विशेषता है। बर्गेन के अनुसार वरुण के पाश की धारणा जल को बाँधने पर आधारित है, और हिलेब्रान्ट के अनुसार रात्रि के पाशों पर[१५]। किन्तु नैतिक अपराधियों के पाशों द्वारा ही इसके लाक्षणिक प्रयोग का पर्याप्त समाधान हो जाता है। मित्र के साथ वरुण को भी मिथ्यावादिता दूर भगाने वाला, घृणा करनेवाला तथा दण्डित करनेवाला कहा गया है (१,१५२[१]; ७,६०[५]-६६[१३])। जो लोग इनकी उपासना की उपेक्षा करते हैं उन्हें यह विभिन्न व्याधियों[१६] से पीड़ित करते हैं (१, १२२[९])। इसके विपरीत पश्चात्ताप करने वालों पर यह दयालु रहते हैं। यह रस्सी की भाँति संयुक्त करने वाले और पाप को दूर करने वाले हैं (२, २८[५]; ५, ८५[७-८])। यह मनुष्यों को केवल स्वयं किये पापों से ही मुक्त नहीं करते वरन् उन पापों से भी मुक्त करते हैं जो पितरों ने किये हैं (७, ८६[५])। यह ऐसे अभ्यर्थकों को भी क्षमा कर देते हैं जो नित्य ही इनके नियमों का उलंघन करते हैं (१, २५[१]), और उन लोगों पर कृपा रखते हैं जो इनके नियमों का अनजान में उल्लंघन कर देते हैं (७, ८९[५])। जिस प्रकार अन्य देवों को

अर्पित सूक्तों में उनसे सांसारिक समृद्धि प्रदान करने की स्तुति की गई है, उसी प्रकार वास्तव में वरुण (और आदित्यों) को अर्पित सूक्तों में से कोई भी ऐसा नहीं है जिसमें अपराधों के लिये क्षमा करने की स्तुति न की गई हो।

वरुण के पास सैकड़ों, हजारों उपचार हैं, और यह पापों से तो मुक्त करते ही हैं, मृत्यु को भी दूर भगाते हैं (१, २४[९])। यह किसी का जीवन समाप्त, अथवा उसकी वृद्धि, कर सकते हैं (१, २४[११]. २५[१२]; ७, ८८[४].८९[१])। यह अमरत्व के एक मेधावी अभिभावक हैं (८, ४२[२]), तथा पुण्यात्मा लोग, आनन्द-मय लोक के इस राजा वरुण तथा यम का दर्शन प्राप्त करने की कामना करते हैं (१०, १४[७])।

वरुण अपने उपासकों के साथ मित्रवत् सम्बन्ध रखते हैं (७, ८८[४-६])। यह उपासकगण दिव्य आवास भ स्थित वरुण के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं और अपने मानसिक चक्षुओं द्वारा उन्हें देख भी सकते हैं (१, २५[१८]; ७, ८८[२])।

वैदिक प्रमाणों द्वारा वरुण के प्राकृतिक आधार के सम्बन्ध में क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है ? इन प्रमाणों से इतना तो स्पष्ट है कि, मित्र के सम्बन्ध में नीचे (§ १३) जो कुछ कहा गया है, उसे भी दृष्टि में रखने पर वरुण तथा मित्र दोनों का ही सूर्य से सम्बन्ध स्थापित किया गया है, किन्तु फिर भी, वरुण अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण देव माने गये हैं। वास्तव में मित्र को अन्य महान् देवों के साथ इतना अधिक समन्वित कर दिया गया है कि उनकी अपनी कोई विशेषता कदाचित ही शेष रह सकी है। मित्र ने उन देवों के चरित्र की प्रमुखता के कारण ही अपनी वैयक्तिकता खो दीहै जिनके साथ उन्हें सदैव सम्बद्ध किया गया है। मुख्यत: अवेस्ता के प्रमाणों के अनुसार 'मित्र' को प्राय: सर्वसम्मत रूप से एक सौर देव ही माना गया है (§ १३)। अत: ऐसी दशा में वरुण मूलत: किसी अन्य तत्त्व के ही प्रतिनिधि रहे होंगे और समान्यतया स्वीकृत मत के अनुसार यह तत्त्व सर्वत्र व्याप्त 'आकाश' ही हो सकता है। देखने वाले के नेत्रों के लिये सूर्य की अपेक्षा आकाश का 'नाक' कहीं अधिक विस्तृत प्रभाव प्रस्तुत करता है क्योंकि आकाश में अपनी दैनिक प्रदक्षिणा के समय सूर्य उसके एक बहुत थोड़े से भाग को ही घेरता है। अत: कल्पना के लिये आकाश अपेक्षा-कृत एक अधिक महान् देव प्रतीत हो सकता है। ऐसी दशा में स्वभावत: सूर्य उस स्थान के रूप में आकाश से सम्बद्ध हो गया हो सकता है जिससे होकर वह प्रतिदिन अपनी प्रदक्षिणा करता है, और साथ ही उस स्थान के रूप में भी जिसे उसने कभी भी नहीं देखा। आकाश के नेत्र के रूप में सूर्य की धारणा पर्याप्त रूप से स्पष्ट है। सूर्य को उस समय तक मित्र का नेत्र नहीं माना जा सका है जबतक

मित्र का चरित्र अवरुद्ध होकर वरुण के चरित्र में विलीन नहीं हो गया। फिर भी ऋग्वेद (§ १४) तक में भी अनेक बार स्वयं सूर्य के नेत्र की भी चर्चा है। सूर्य में लिये उपयुक्त दूर-दूर तक देखने के गुण को आकाश का गुण भी माना गया है, और इस आकाश को स्वभावतः केवल दिन में ही नहीं वरन् चन्द्रमा और तारों की सहायता से रात्रि के समय देखनेवाला भी माना गया है। अपने प्राकृतिक आधार से सर्वथा पृथक हो जाने पर भी[१७] मित्र के साथ आकाश की ऊँचाई पर अपने रथ में आरूढ़ होने की वरुण सम्बन्धी धारणा द्वारा कोई वास्तविक कठिनाई उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि ऐसी धारणा की, एक सौरदेव के साथ वरुण के सम्बन्ध के कारण, सरलता से व्याख्या हो जाती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में प्रायः सभी प्रमुख देव रथों पर चलते हैं। दूसरी ओर, उच्चतम द्युलोक में स्थित वरुण का भवन, और वर्षा के साथ इनका सम्बन्ध, इनके समान एक ऐसे देव के लिये सर्वथा उपयुक्त ही है जो मूलतः आकाश के नाक' का प्रतिनिधि रहा है। अन्ततः किसी भी अन्य प्राकृतिक घटना या तत्त्व के लिये एक सार्वभौम शासक के रूप में विकसित हो जाने की उतनी अधिक सम्भावना नहीं हो सकती जितनी आकाश की, क्योंकि समस्त पृथ्वी को घेरे हुये और उसके इतने ऊपर इसकी स्थिति, तथा नियमित रूप से घटित होने वाले आकाशीय ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधि के क्रीड़ा-स्थल के रूप में इसके विस्तृत प्रसार का मूर्तीकरण स्वभावतः इस रूप में व्यक्त होगा कि यह रात और दिन, दोनों ही समय, मनुष्यों के कृत्यों को देखने वाला तथा अशिथिल नियमों का रक्षक है। हेलेनिक पुराकथाशास्त्र में भी वास्तव में ज़्यूस (=द्यौस्) के सम्बन्ध में इसी प्रकार की धारणाओं का विकास हुआ है। जो पहले केवल आकाश का ही एक स्वरूप था, वही यहाँ (हेलेनिक पुराकथा-शास्त्र में) देवों का सर्वोच्च शासक बन गया है, जिसका आवास स्वर्ग की श्रेष्ठ ऊँचाई पर स्थित है, जो मेघों को एकत्र करता तथा वज्र धारण करता है, और जिसकी इच्छा ही विधान है।

ऋग्वेद के यह दो महानतम देव जिस घटना के साथ मूलतः सम्बद्ध किये गये थे वही बहुत अंशों में इन दोनों के व्यक्तित्व के अन्तर का भी समाधान कर देती है। नियमित रूप से घटित होने वाले दिव्य प्रकाश से सम्बद्ध होने के रूप में वरुण नैतिक और भौतिक दोनों ही क्षेत्रों में नियमों के सर्वोच्च प्रतिपालक हैं। इस प्रकार के चरित्र के कारण ही इनके सम्बन्ध में पुराकथाओं के विकास के लिये विशेष सम्भावना नहीं रह सकी। इसके विपरीत विभिन्न तत्त्वों के विरुद्ध युद्ध करते हुये इन्द्र के स्वरूप की, युयुत्सु वैदिक भारतीयों ने, एक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न योद्धा के रूप में कल्पना की है। आवृत्ति और प्रकृति की दृष्टि से

अत्यन्त अनियमित और अस्थिर झंझावात जैसी वायवीय घटनाओं के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के कारण इन्द्र के चरित्र में एक ओर तो चञ्चलता का गुण दिखाई पड़ता है और दूसरी ओर यह ऋग्वेद में अन्य देवों की अपेक्षा कहीं अधिक पुराकथाओं का केन्द्र बन गया है। रौथ के इस सिद्धान्त को, कि ऋग्वेदिक काल में इन्द्र ने वरुण को दबा दिया था, नीचे विवेचना की गई है (§ २२)।

एक सर्वोच्च देव के रूप में प्रजापति (§ ३९) की धारणा के विकास के कारण बाद में सार्वभौम देव के रूप में वरुण की चारित्रिक विशेषता धीरे-धीरे स्वतः विलीन हो गई, तथा इनके मौलिक क्षेत्र का एक अंश, जल पर ही अब इनका प्रभुत्त्व रह गया। इस प्रकार अन्ततोगत्वा, वैदिकोत्तरकालीन पुराकथा-शास्त्र में वरुण एक भारतीय 'नेपच्यून' अथवा समुद्र के देवता मात्र ही रह गये।

अभी हाल में औल्डेनबर्ग[१८] द्वारा प्रस्तुत इस मान्यता की, कि वरुण मूलतः चन्द्रमा का प्रतिनिधित्व करते थे, यहाँ उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस कथन से आरम्भ करते हुये कि आदित्यों की संख्या विशेषरूप से सात थी और अवेस्ता के 'अमेषस्पेन्तस्' के साथ इनका समीकरण एक स्वीकृत सत्य है, औल्डेनबर्ग यह विश्वास करते हैं कि वरुण और मित्र क्रमशः चन्द्रमा और और सूर्य थे, लघु आदित्यगण पाँच ग्रहों का प्रधिनिधित्व करते थे, और यह सभी लोग भारोपीय देव नहीं थे, वरन् भारतीय-ईरानी काल में इन्हें आर्यों की अपेक्षा जोतिष-विज्ञान में अधिक प्रवीण सेमेटिक लोगों से ग्रहण कर लिया गया था। इस प्रकार गृहीत होने के वाद वरुण के चरित्र का मौलिक महत्त्व क्रमशः घट गया होगा, जब कि इसमें एक अत्यधिक नैतिक पक्ष पहले से ही वर्तमान रहा होगा। क्योंकि, अन्यथा स्पष्टतः एक चन्द्रदेव के लिये, मित्र के चरित्र को, जिसे स्पष्टतः सूर्य समझा जाता था, भारतीय-ईरानी काल में ही आच्छादित कर लेना, अथवा इतना अधिक अमूर्त्त चरित्र विकसित कर लेना कि एक नैतिक शासक के रूप में अवेस्ता में 'अहुर मज्द' और वेदों में वरुण जैसे सर्वोच्च देवों का स्वरूप ग्रहण कर लेना प्रायः कठिन होता। फिर भी औल्डेनबर्ग की यह मान्यता ऋग्वेद में उपलब्ध वरुण की वास्तविक चारित्रिक विशेषताओं का भली-भाँति समाधान नहीं कर पाती। साथ ही इसके अनुसार वरुण और 'यूरेनस'(οὐρανός) के बीच किसी प्रकार के भी सम्बन्ध को सर्वथा अस्वीकृत कर देना भी आवश्यक होगा।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वरुण भारतीय-ईरानी काल से ही चला आ रहा देव है (§ ५), क्योंकि अवेस्ता के 'अहुर मज्द' और इसमें नामगत तो नहीं किन्तु चरित्रगत समानता अवश्य है।[१०] यहाँ तक कि 'वरुण' नाम

भारोपीय भी हो सकता है। कम से कम इस शब्द तथा यूनानी 'यूरेनस' (οὐρανός) में बहुत दिनों से स्वीकृत समानता को, जो यद्यपि ध्वन्यात्मक कठिनाइयाँ अवश्य प्रस्तुत करती है, हाल के तुलनात्मक भाषाविज्ञान के कुछ अधिकारी विद्वानों द्वारा सर्वथा अस्वीकृत नहीं किया गया है।[२१]

किन्तु चाहे यह शब्द वास्तव में भारोपीय हो अथवा एक बाद के काल का निर्माण,[२२] यह सम्भवतः 'वर्' (ढकना)[२३] धातु से व्युत्पन्न हुआ है और इस प्रकार इसका अर्थ 'परिवृत्त करने वाला' है। सायण ऋग्वेद १, ८९[३] पर भाष्य करते हुये 'बन्धनों से पापियों को परिवेष्टित करने या आबद्ध करने'[२४], अथवा तैत्तिरीय संहिता १, ८, १६[१] पर भाष्य करते हुये 'अन्धकार की भाँति आच्छादित करने' (तु० की० तैत्तिरीय संहिता २, १, ७[४]) के आशय में ही इसे उक्त धातु के साथ सम्बद्ध करते हैं। यदि यह शब्द भारोपीय है, तो यह यूनान में 'आकाश' के एक नियमित नाम के रूप में, किन्तु भारत में आकाश के एक उच्च देवता के रूप में, 'द्यौस्' का ही एक गुणमात्र रहा होगा।[२५]

[१]वेबर : त्सी० गे० ९, २४२; १८, २६८ — [२]औ० वे० २८६, नोट २ — [३]तु० की० रौथः त्सी० गे० ६, ७२; एग्गर्स : मित्र, ५४–७; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५०, ४८ — [४]मूईर : सं० टे० ५, ६० — [५]ब्राड्के : द्या० १२०–१; औ० वे० १६३ — [६]बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ८१; फॉन ब्राड्के : त्सी० गे० ४८, ४९९–५०१; औ० वे० १६३, २९४ — [७]तु० की० ब्राड्के : द्या० ५५. ६० — [८]मूईर : सं० टे० ५, ७०; रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० पर 'वरुण; बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ११६ और बाद; फॉन श्रोडर : वी० मौ० ९, ११९ — [९]तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ७, १०[१]; ऋग्वेद १, ८९;[३] २, २८;[८] ७, ८७[१]; आदि पर सायण; तैत्तिरीय संहिता १, ८, १६[१] — [१०]तु० की० वेबर : वे० बी० १८९४, पृ० ३८ — [११]बॉलेनसेन : ओ० आ० २, ४६७ — [१२]रौथ : निरुक्त, ७०–१ — [१३]तु० की० रौथ : त्सी० गे० ६, ७३ — [१४]हिलेब्रान्ट : वरुण उन्ट मित्र ६७, नोट — [१५]तु० की० हॉ० इ० ६८ — [१६]हिलेब्रान्ट ने, पृ० ६३ और बाद में, तथा औ० वे० २०३, में जलोदर तथा वरुण के बाद के सम्बन्ध को ऋग्वेद तक में ढूँढा गया है, किन्तु बर्गेन : ल० रि० वे० ३, १५५ ने इस मत का विरोध किया है। — [१७]तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५०, ६१ — [१८]औ० वे० २८५–९८ — [१९]तु० की० फॉन श्रोडर : वी० मौ० ९, ११६–२८; मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, ९४७–९ — [२०]रौथ : त्सी० गे० ६, ६९ और बाद (तु० की० मूईर : सं० टे० ५, ७२); ह्विटने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३२७; किन्तु विन्डिशमैन (ज़ोरोआस्ट्रिशे स्टूडियन, पृ० १२२) में यह मानते हैं कि 'अहुर मज़्द' विशुद्ध ईरानी है, और स्पीगेल : अथर्ववेद अनुवाद, ३, प्रस्तावना iii, में 'अहुर मज़्द' और 'वरुण' में कोई समानता नहीं देखते; तु० की० स्पीगेल : डी० पी० १८१ — [२१]ब्रुगमैन :

ग्रन्ड्रिस २, १५४; प्रे० । —[22] तु० की० फ़ॉन श्रोडर : वी० मौ० ९, १२७ — [23] हिलेब्रान्ट ९–१४; फॉन श्रोडर : वी० मौ० ९, ११८, नोट १; ह्यॉ० इ० ६६, नोट; ७०; तु० की० सोन्ने : कु० त्सी० १२, ३६४–६ भी; त्सी० गे० ३२, ७१६ और बाद; वॉलेनसेन : त्सी० गे० ४१, ५०४ और बाद; गेल्डनर : वी० ११, ३२९; मैक्स मूलर ; चिप्स, ४[2], xxiii और बाद। — [24] तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, २२, नोट; औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ५०, ६० — [25] मैक-डौनेल : ज० ए० सो० २६, ६२८।

रौथ : त्सी० गे० ६; ७०–४; ७, ६०७; ज० अ० ओ० सो० २, ३४१–२; वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १७, २१२ और बाद; मूईर : सं० टे० ५, ५८–७५; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३१४–६; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद १, ३४; हिलेब्रान्ट : वरुण उन्ट मित्र, ब्रेस्ला १८७७; बर्गैन : ल० रिं वे० ३, ११०–४९; मैक्स मूलर : इण्डिया, १९७–२००; श्री० १६–९; वालिस : कॉ० ऋ० ९८–१०३; बौहनेनबर्गर : उ० व०; औ० वे० १८९–९५, २०२–३, २९३–८, ३३६, नोट १; त्सी० गे० ५०, ४३, ६८; हॉ० ई० ६१–७२; ज० ए० सो० १६, cxlviii और बाद; १७, ८१, नोट; फॉय : डी० गे० पृ० ८०–६।

§ १३. *मित्र* :– मित्र और वरुण का सम्बन्ध इतना अधिक प्रमुख है कि ऋग्वेद (३, ५९) में केवल एकमात्र मंत्र ही ऐसा है जो अकेले मित्र को सम्बोधित किया गया है। इस स्थल पर इस देव की स्तुति कदाचित अनिश्चित सी ही है, किन्तु कम से कम प्रथम मन्त्र में इसकी विशिष्टता सम्बन्धी कुछ बातें दी हुई हैं। अपनी वाणी के उच्चारण (ब्रुवानः) मात्र द्वारा यह मनुष्यों को एक साथ ला देते हैं (यातयति) और कृषकों को निर्निमेष नेत्रों ('अनमिषा', जो ७, ६०[6] में मित्र-वरुण के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त हुआ है) द्वारा देखते रहते हैं।

एक दूसरे स्थल (७, ३६[2]) पर प्रायः यही शब्द मित्र के लिये व्यवहृत हुये हैं, जो अपनी वाणी के उच्चारण द्वारा मनुष्यों में एकता ला देते हैं; जब कि यहीं वरुण को 'शक्तिशाली और विश्वसनीय पथ-प्रप्रर्थक' कहा गया है। इससे मित्र की सौर-प्रकृति का कदाचित उस दशा में स्पष्ट सन्दर्भ मिल सकता है जब हम इस स्थल की एक अन्य मन्त्र (५, ८२[9]) से तुलना करें, जहाँ यह कहा गया है कि सौर-देव सवितृ 'सभी प्राणियों को अपनी वाणी से अवगत करता है और उन्हें प्रेरणा देता है।' मित्र को सम्बोधित सूक्त के पञ्चम मंत्र में इस देवता को महान् 'आदित्य' कहा गया है जो 'मनुष्यों में एकता लाता है'। यह विशेषण (यातयज्-जन) ऋग्वेद के केवल तीन ही अन्य स्थलों पर मिलता है। इनमें से प्रथम स्थल पर (५, ७२[2]) यह युगल रूप से मित्र-वरुण दोनों के लिये व्यहृत हुआ है; द्वितीय पर (१, १३६[3]) मित्र, वरुण, और अर्यमन् के लिये, और तृतीय

(८, ९१[१२]) पर अग्नि के लिये जिसके सम्बन्ध में यह कहा है कि यह भी 'मित्र की भाँति ही मनुष्यों में एकता लाता है।' अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह गुण मित्र की ही विशेषता है। मित्र को सम्बोधित सूक्त इनके सम्बन्ध में यह भी कहता है कि यह आकाश और पृथ्वी को पोषित करते हैं, मनुष्यों की पाँच जातियाँ इनकी आज्ञा का पालन करती हैं, और यह सभी देवों को आश्रय देते हैं। सवितृ को एक बार (५, ८१[४]) अपने नियमों के कारण मित्र के साथ समीकृत किया गया है, और अन्यत्र (वालखिल्य, ४[३]) यह कहा गया है कि विष्णु अपने तीन पग मित्र के नियमों के अनुसार ही रखते हैं। यह दोनों ही स्थल ऐसा व्यक्त करते हुए प्रतीत होते हैं कि मित्र ही सूर्य के पथ का नियमन करते हैं। उषा के समय शीर्ष-स्थान पर जाने वाले अग्नि अपने लिये मित्र को उत्पन्न करते हैं (१०, ८[४]); प्रज्वलित होने पर अग्नि ही मित्र होते हैं (३, ५[४]); अग्नि जब जन्म लेते हैं तब वरुण होते हैं और जब प्रज्वलित होते हैं तब मित्र[१] (५, ३[१])। अथर्ववेद (१३, ३[१३]) में सूर्योदय के समय के मित्र का सन्ध्या समय के वरुण से विभेद किया गया है, और अथर्ववेद (९, ३[१८]) में मित्र से यह निवेदन किया गया है कि प्रातःकाल के समय वह उन सभी वस्तुओं को अनाच्छादित कर दें, जिन्हें वरुण ने आच्छादित कर दिया था।[२] यह सभी स्थल ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रचलित इस विश्वास के आरम्भ का संकेत करते हैं कि मित्र दिन के साथ, तथा वरुण रात्रि के साथ सम्बद्ध हैं। निश्चित रूप से इस दृष्टिकोण का आरम्भ मित्र के प्रमुख-रूप से सूर्य के साथ सम्बद्ध होने की धारणा द्वारा ही हुआ होगा, और इसके विपरीत ही वरुण रात्रि के देवता बन गये होंगे।[३] दिन के देवता के रूप में मित्र तथा रात्रि के देवता के रूप में वरुण का यही अन्तर सांस्कारिक साहित्य में भी निहित है, जहाँ यह निर्देश है कि यज्ञ-वेदी पर मित्र एक श्वेत, तथा वरुण कृष्ण-वर्ण, बलिप्राणी को ग्रहण करते हैं (तैत्तिरीय संहिता २, १, ७[४]·९[१]; मैत्रायणी संहिता २, ५[७])[४]। वेद में उपलब्ध जो थोड़ा बहुत प्रमाण मित्र को एक सौर-देव सिद्ध करता है, उसकी अवेस्ता तथा सामान्य रूप से पर्शियन धर्म द्वारा भी परिपुष्टि होती है। इनमें मित्र निःसन्देह ही एक सूर्य-देवता, अथवा विशेषतः सूर्य से सम्बद्ध प्रकाश का देवता है।[५]

इस नाम की व्युत्पत्ति अनिश्चित है।[६] फिर भी, यतः ऋग्वेद में अक्सर इस शब्द का अर्थ 'मित्र' या 'साथी' भी है और इस वेद में ही इस देव के दयालु स्वभाव का अक्सर ही उल्लेख है, यहाँ तक कि मित्र शान्ति के देवता के रूप में भी आता है (तैत्तिरीय संहिता २, १, ८[४])[७], जब कि अवेस्ता में 'मिथ्र' अपने चरित्र के नैतिक पक्ष से सम्बन्धित तथा विश्वसनीयता का रक्षक है;[८] अतः

यह (मित्र-देव) मूलतः 'साथी' या 'मित्र' का ही वाचक और प्रकृति की एक हितकर शक्ति के रूप में सूर्य-देव के लिये ही व्यवहृत हुआ होगा।

[1]एग्गर्स : १६-१९ — [2]हिलेब्रान्ट : ६७ — [3]औल्डेनवर्ग का विचार है कि रात्रि के साथ वरुण के विशेष सम्बन्ध की धारणा प्राचीन है : त्सी० गे० ५०, ६४-५ — [4]हिलेब्रान्ट : ६७. ९०; औ० वे० १९२, नोट — [5]स्पीगेल : डी० पी० १८३; औ० वे० ४८, १९०; एग्गर्स ६-१३ — [6]हिलेब्रान्ट : ११३-४; एग्गर्स ७० — [7]एग्गर्स : ४२-३ — [8]एग्गर्स ५३-६।

कुन : हे० गौ० १३; रौथ : त्सी० गे० ६, ७० और वाद; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; मूईर : सं० टे० ५, ६९-७१; विन्डिशमैन : मिथ्र, लीपज़िग, १८५९; ग्रासमैन : व० ऋ०, व० स्था० पर मित्र; हिलेब्रान्ट : वरुण उन्ट मित्र, १११-३६; वर्गेन : ल० रि० वे० ३, ११०-२९; बॉलेनसेन : त्सी० गे० ४१, ५०३-४; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १७, २१२; ब्री० १७; औ० वे० १९०-२ — बौनेनबर्गर, ८५; ए० एग्गर्स : ड० मि०; श्रोडर : वी० मौ० ९, ११८; हॉ० इ० ७१; औल्डेनवर्ग। से० बु० ई० ४६, २४१. २८७।

§ १४. *सूर्य* :—ऋग्वेद में दस सम्पूर्ण सूक्त ऐसे हैं जिनमें अकेले सूर्य की ही प्रख्याति है। परन्तु यह कह सकना प्रायः असम्भव है कि इस देव का नाम कितनी बार आता है, क्योंकि अनेक दशाओं में यह सन्दिग्ध है कि इससे केवल एक प्राकृतिक शक्ति-तत्त्व का अर्थ है, अथवा उसके मूर्तीकरण का। इसका नाम भौतिक सूर्य के गोलाकार मण्डल का भी द्योतक होने के कारण सौर-देवों में सूर्य ही सर्वाधिक स्थूल देवता है, और आकाश के प्रकाशमान पिण्ड से इस देव के सम्बन्ध को कहीं भी विस्मृत नहीं किया गया है। आकाश में सूर्य का पूज्य प्रकाश महान् अग्नि के मुख (अनीक) की भाँति है (१०, ७[3])। सूर्य के नेत्र का अनेक बार उल्लेख है (५, ४०[8] इत्यादि), किन्तु अक्सर स्वयं सूर्य को भी मित्र और वरुण का नेत्र (§ १२), अथवा अग्नि का ही नेत्र (१, ११५[1]) कहा गया है, और एक बार उषा को देवों का नेत्र प्रकट करने वाली कहा गया है (७, ७७[3])। एक स्थल पर नेत्र और सूर्य के सम्बन्ध का संकेत है, जहाँ मृतकों के नेत्र को सूर्य के पास चले जाने की धारणा मिलती है (१०, १६[3], तु० की० ९०[3]. १५८[3.4])। अथर्ववेद में इसे 'नेत्रों का अधिपति' (अथर्ववेद ५, २४[9]) कहा गया है। इस बात का भी उल्लेख है कि यह सृजित प्राणियों का नेत्र है, और आकाशीय सीमा के बाहर भी पृथ्वी और जल तक का अवलोकन करने वाला है (अथर्ववेद १३, १[45])। यह दूर-दूर तक देखने वाला (७, ३५[8]; १०, ३७[1]), सर्वदर्शी (१, ५०[2]), संसार का गुप्तचर (स्पश्) (४, १३[3]), और सभी प्राणियों तथा मनुष्यों के पाप-पुण्य का अवलोकन

करने वाला है (१, ५०[७]; ६, ५१[२]; ७, ६०[२]·६१[१]·६३[१·४])। सूर्य द्वारा जागृत कर दिये जाने पर मनुष्य अपने अभीष्टों की सिद्धि तथा कर्मों के पालन में प्रवृत्त हो जाता है (७, ६३[४])। सभी व्यक्तियों के लिये सामान्य रूप से यह जागृत करने वाले के रूप में उदित होता है (७, ६३[२·३])। यह सभी स्थावर-जङ्गम की आत्मा अथवा उनका रक्षक (१, ११५[१]; ७, ६०[२]) है। इसके पास एक रथ है जो 'एतश' नामक एक अश्व द्वारा (७, ६३[२]), अथवा असंख्य अश्वों द्वारा (१, ११५[३]; १०, ३७[३]·४९[७]), अथवा अश्वियों द्वारा (५, २९[५]), सात अश्वों (५, ४५[९]) अथवा अश्वियों द्वारा जिन्हें 'हारितः' कहा गया है (१, ५०[८·९]; ७, ६०[३]), अथवा सात द्रुतगामी अश्वियों द्वारा (४, १३[३]) खींचा जाने वाला कहा गया है।

सूर्य के लिये उसके पथ का निर्माण वरुण द्वारा (१·२४[८]; ७, ८७[१]), अथवा आदित्यगण, मित्र, वरुण, अर्यमन् (७, ६०[४]) द्वारा किया गया है। पूषन् इसका दूत है (६, ५८[३])। उषा अथवा उषायें सूर्य, और साथ ही साथ अग्नि तथा यज्ञ को प्रकट अथवा उत्पन्न करती हैं (७, ८०[२]·७८[३])। यह उषा की गोद से प्रकाशित होता है (७, ६३[३])। किन्तु एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार उषा को सूर्य की पत्नी कहा गया है (७, ७५[५])।

इसका 'अदिति' के पुत्र के रूप में 'आदित्य' (१, ५०[१२] १९१[९]; ८, ९०[११]) अथवा 'आदितेय' (१०, ८८[११]) मातृनामोद्गत नाम भी है; किन्तु अन्यत्र 'आदित्यों' से इसका विभेद स्पष्ट किया गया है (८, ३५[१३-१५])। द्यौस् इसका पिता है (१०, ३७[१])। देवों से ही इसका जन्म हुआ (वही)। देवों ने इसे ऊपर स्थित किया, जो पहले सागर में छिपा हुआ था (१०, ७२[७])। अग्नि के रूप में देवों ने इसे आकाश में स्थित किया (१०, ८८[११])। एक अन्य विचार के अनुसार विराट विश्व-पुरुष के नेत्रों से इसकी उत्पत्ति कही गई है (१०, ९०[३])। अथर्ववेद (४, १०[५]) में वृत्र से सूर्य (दिवाकर) के उत्पन्न होने का वर्णन है।

विभिन्न देवों को अलग-अलग भी सूर्य को उत्पन्न करने वाला कहा गया है। इन्द्र ने इसको उत्पन्न किया (२, १२[४] इत्यादि) और इसे प्रकाशमान बनाया, अथवा इसे आकाश में उठाया (३, ४४[२]; ८, ७८[७])। इन्द्र-विष्णु ने इसे उत्पन्न किया (७, ९९[४])। इन्द्र-सोम ने प्रकाश से सूर्य का पोषण किया (६, ७२[२]); इन्द्र-वरुण ने इसे आकाश में उठाया (७, ८२[३])। मित्र-वरुण ने इसे आकाश में उठाया या स्थित किया (४, १३[२]; ५, ६३[४·७])। सोम ने सूर्य में प्रकाश को स्थित किया (६, ४४[२३]; ९, ९७[४१]), सूर्य को उत्पन्न किया (९, ९६[५]·११०[५]), इसे प्रकाशित किया (९, ६३[७]), अथवा इसे

आकाश में उठाया (९, १०७[७]) । अग्नि उच्च-स्थान पर सूर्य की चमक स्थापित करते हैं (१०, ३[२]), और इससे आकाश में आरोहण कराते हैं (१०, १५६[४]) । विधाता 'धातृ' ने सूर्य और चन्द्रमा का निर्माण किया (१०, १९०[३]) । अपने संस्कारों द्वारा अङ्गिरसों ने सूर्य को आकाश में उठाया (१०, ६२[३]) । सूर्य को उत्पन्न करने से सम्बन्धित इन सभी स्थलों पर साधारणतया एक प्रकाशमान पिण्ड की धारणा सर्वत्र प्रधान है ।

अनेक स्थलों पर शून्य में भ्रमण करने वाले पक्षी के रूप में भी सूर्य की कल्पना है। यह एक पक्षी (१०, १७७[१,२]), अथवा एक लाल पक्षी (५, ४७[३]) है । इसे उड़ने वाले के रूप में प्रस्तुत किया गया है (१, १९१[९]); उत्क्रोश से इसकी तुलना की गई है (७, ६३[५]), और एक स्थल पर इसे प्रत्यक्ष उत्क्रोश पक्षी ही कहा गया है (५, ४५[९])[१] । एक स्थल पर इसे वृषभ, तथा साथ ही साथ पक्षी भी कहा गया है (५, ४७[३]); और अन्यत्र यह एक शबलीकृत वृषभ[२] है (१०; १८९[१], तु० की० ५, ४७[३]) एक बार इसे उषस् द्वारा लाया गया एक श्वेत और उज्वल अश्व[३] कहा गया है (७, ७७[३]) । सूर्य के अश्व (जिनकी संख्या सात है : ८, ६१[१६]) इसकी किरणों का प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि इसकी रश्मियाँ (केतवः) ही इसको वहन (वहन्ति) करती हैं । इसके सात अश्वियों को इसके रथ की पुत्रियाँ कहा गया है (१, ५०[९]) ।

अन्यत्र, कभी-कभी सूर्य को एक निर्जीव पदार्थ माना गया है । यह आकाश का एक रत्न है (७, ६३[४], तु० की० ६, ५१[१]) । इसे आकाश के मध्य में स्थित विभिन्न रंगों वाला एक रत्न भी कहा गया है (५, ४७[३], तु० की० शतपथ ब्राह्मण ६, १, २[३]) । यह एक उज्वल अस्त्र (आयुध) भी है जिसे मित्र-वरुण मेघ तथा वर्षा से ढँक देते हैं (५, ६३[४]) । यह मित्र-वरुण का 'पवि' है (५, ६२[२]) अथवा एक उज्वल रथ, जिसे मित्र-वरुण ने आकाश में स्थित कर दिया है (५, ६३[७]) । सूर्य को एक पहिया भी कहा गया है (१, १७५[४]; ४, ३०[४]), अथवा 'सूर्य की पहिया' का वर्णन है (४, २८[२]; ५, २९[१०]) ।

सूर्य समस्त संसार (७, ६३[१]) तथा मनुष्यों और देवों (१, ५०[५]) के लिये प्रकाशित होता है । अपने प्रकाश से यह अन्धकार का विनाश कर देता है (१०, ३७[४]) । यह अन्धकार को एक चर्म-पट की भाँति लपेट देता है (७, ६३[१]) । इसकी किरणें अन्धकार को उसी प्रकार फेंक देती हैं जिस प्रकार एक चर्म जल में फेंक दिया जाता है (४, १३[४]) । यह अन्धकार के प्राणियों और अभिचारिणीयों पर विजय प्राप्त करने वाला है (१, १९१[८,९], तु० की० ७

१०४[२४])। सूर्य की तप्त ऊष्णता के केवल दो या तीन ही सन्दर्भ मिलते हैं (७, ३४[१९]; ९, १०७[२०]); क्योकि ऋग्वेद में सूर्य एक अपकारी शक्ति[४] नहीं है। इस प्रकाशमान ग्रह के इस पक्ष के लिये केवल अथर्ववेद और ब्राह्मण साहित्य के ही कुछ स्थल उद्धृत किये जा सकते हैं।[५]

सूर्य दिन को नापते हैं (१, ५०[७]), और जीवन के दिनों की वृद्धि करते हैं (८, ४८[७])। यह बीमारियों, व्याधियों और प्रत्येक दुःस्वप्नों को भगाते हैं (१०, ३७[४])। जीवित रहना सूर्य को उदित होता हुआ देखना है (४, २५[४]; ६, ५२[५])। सभी प्राणी सूर्य पर निर्भर हैं (१, १६४[१४])। आकाश को यही रोक रखता है (१०, ८५[१])। इसके लिये 'विश्वकर्मन्' उपाधि का भी व्यवहार हुआ है (१०, १७०[४]; तु० की० § ३९)। अपनी महानता के कारण यह देवों का दिव्य पुरोहित (आसुर्य पुरोहितः) है (८, ९०[१२])। उदय होने के समय इसकी इसीलिये स्तुति की जाती है कि यह मित्र-वरुण तथा अन्य देवों के प्रति मनुष्य को पाप-रहित घोषित करे (७, ६०[१]·६२[२])। ऐसा कहा गया है कि उदय होने के समय यह वृत्र-हन् इन्द्र के पास जाता है; और जहाँ इसका इन्द्र के साथ आवाहन किया गया है वहाँ स्वयं इसे भी वृत्र-हन् कहा गया है (८, ८२[१.२.४])।

सूर्य के सम्बन्ध में केवल एक ही पुराकथा मिलती है, और वह यह कि इन्द्र ने इसको पराभूत किया था (१०, ४३[५]), तथा इसकी पहियें चुरा लिया था (१, १७५[४]; ४, ३०[४])। इससे झंझावात द्वारा सूर्य के आच्छादित हो जाने का लक्षणात्मक आशय उद्दिष्ट हो सकता है।

अवेस्ता में सूर्य या ह्वरे (=वैदिक 'स्वर्', जिससे सूर्य व्युत्पन्न हुआ है, और जिससे ही यूनानी 'इलियोस' 'ηέλιος[७]' भी सन्बद्ध है) को भी वैदिक सूर्य की भाँति ही द्रुतगामी अश्वों वाला तथा 'अहुर मज़्द' का नेत्र कहा गया है।[८]

[१]तु० की० त्सी० गे० ७, ४७५-६ — [२]अन्यथा, हि० वे० मा० १, ३४५, नोट ३ — [३]तु० की० त्सी० गे० २, २२३; ७, ८२ — [४]बर्गेन : ल० रि० वे० १, ६; २, २ — [५]एह्री : यम १३४ — [६]कुन : त्सी० १२, ३५८; श्मिट, कुन : त्सी० २६, ९ — [७]ब्रुगमैन : ग्रुन्ड्रिस, १, २१८ — [८]स्पीगल : डी० पी० १, १९०-१; तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५०, ४९।

निरुक्त १२, १४-१६; मूईर : सं० टे० ५, १५१-६१; गे० के० रौ० ५५-६; ब्री० २०; के० ऋ० ५४-५, १४५; बर्गेन : ल० रि० वे०, १, ७; हि० वे० मा० १, ४५; हार्डी : वे० पी० २९-३०; औ० वे० २४०-१; हॉ० इ० ४०-६।

§ १५. *सवितृ* :—ऋग्वेद के ग्यारह सम्पूर्ण, तथा अंशतः अनेक अन्य सूक्तों में सवितृ की प्रख्याति है। इनके नाम का प्रायः १७० बार उल्लेख मिलता है। इनमें से आठ या नौ बार तो गृह मण्डलों में मिलता है, जब कि तीन सूर्य

को अर्पित स्थलों के अतिरिक्त शेष सभी प्रथम और दशम मण्डल में हैं। सवितृ प्रमुखतः एक स्वर्ण-देव है, और इसके प्रायः सभी अवयवों तथा उपकरणों का इसी विशेषण के साथ वर्णन किया गया है। यह स्वर्ण-नेत्र हैं (१, ३५[८]); स्वर्ण-हस्त हैं (१, ३५[९.१०]); स्वर्ण-जिह्वा वाले हैं (६, ७१[३])। इस प्रकार की सभी उपाधियाँ इन्हीं की विशेषतायें हैं। इनकी भुजायें स्वर्णिम हैं (६, ७१[१.५]; ७, ४५[२]), और यह विस्तृत हाथों वाले (२, ३८[२]) अथवा सुन्दर हाथों वाले हैं (३, ३६[६])। यह आनन्द-दायक जिह्वा वाले (६, ७१[४]) अथवा सुन्दर जिह्वा वाले (३, ५४[११]) भी हैं। इन्हें एक बार लौह-जबड़ो वाला कहा गया है (६, ७१[४])। यह पीले केशों वाले (१०, १३९[१]) हैं; जो अग्नि तथा इन्द्र का भी गुण है। यह पिशङ्ग वेशधारी हैं (४, ५३[२])। इनके पास एक स्वर्ण स्तम्भ वाला स्वर्ण रथ है (१, ३५[२.५]), जो उसी प्रकार सर्वरूप (१, ३५[३]) है जिस प्रकार यह स्वयं सभी रूप धारण करने वाले हैं (५, ८१[२])। इनका रथ दो प्रकाशमान अश्वों, अथवा दो या अधिक श्वेत-पाद भूरे अश्वों द्वारा खींचा जाता है (१, ३५[२.५]; ७, ४५[१])

महान् वैभव (अमति) से सवितृ को ही प्रमुखतः युक्त बताया गया है, और महान् स्वर्ण-वैभव से तो केवल यही सम्पन्न हैं (३, ३८[८]; ७, ३८[१])। इस वैभव को यह विस्तारित अथवा प्रसृत करते हैं। यह वायु, आकाश और पृथ्वी, संसार, पृथ्वी के शून्य स्थान, आकाश के नाक, आदि को प्रकाशमय कर देते हैं (१, ३५[७.८]; ४, १४[२].५३[४]; ५, ८१[२])। यह अपनी स्वर्ण-भुजाओं को ऊँचा उठाते हैं जिससे यह सभी प्राणियों को जागृत कर देते हैं, तथा उन्हें आशीर्वाद देते हैं; इनकी यह भुजायें पृथ्वी के छोरों तक पहुँच जाती हैं (२, ३८[२]; ४, ५३[३.४]; ६, ७१[१.५]; ७, ४५[२])। भुजाओं को ऊपर उठाना इनकी एक विशेषता है, क्योंकि अन्य देवों के इस क्रिया की इनसे ही तुलना की गई है। अग्नि के सम्बन्ध में यह कथन है कि वह सवितृ की भाँति अपनी भुजायें ऊपर उठाते हैं (१, ९५[७]); उषायें उसी प्रकार प्रकाश फैलाती हैं जिस प्रकार सवितृ अपनी भुजायें (७, ७९[२]); और बृहस्पति को यह श्रेय दिया गया है कि वह प्रशस्ति सूक्तों को उसी प्रकार उन्नत करते हैं जिस प्रकार सवितृ अपनी भुजाओं को (१, १९०[३])। सभी प्राणियों को देखते हुये, सवितृ अपने स्वर्ण-रथ में बैठ कर आरोहक और अवरोहक पथों पर भ्रमण करते हैं (१, ३५[२.३])। यह उषा-काल के पूर्व ही अश्विनों के रथ को प्रेरणा देते हैं (१, ३४[१०])। यह उषा के पथ का अनुगमन करते हुये प्रकाशित होते हैं (५, ८१[२])। इन्होंने पार्थिव स्थानों को नापा है। यह द्युलोक के तीन उज्वल क्षेत्रों को जाते हैं, और सूर्य की रश्मियों से सम्बद्ध हैं (५, ८१[३.४])। ऋग्वेद में केवल एक ही बार प्रयुक्त उपाधि, 'सूर्य-

रश्मि' सवितृ के लिये व्यवहृत हुई है : 'सूर्य की रश्मियों से प्रकाशित, पीत-केश सवितृ, निरन्तर पूर्व दिशा से अपना प्रकाश प्रकट करते रहते हैं, (१०, १३९[१])। यह तीनों अन्तरिक्ष, लोक-त्रय, और द्युलोक के तीन उज्ज्वल क्षेत्रों को व्याप्त करते हैं (४; ५३[४]; तु० की० विष्णु, § १७)। अन्तरिक्ष में स्थित इनके प्राचीन पथ धूल रहित और सुनिर्मित हैं; जिनसे आकर अपने उपासकों की रक्षा करने के लिये इनकी स्तुति की गई है (१, ३५[११])। मृतक-आत्मा को पवित्रात्माओं के रहने के लोक में पहुँचा देने के लिये भी इनका स्तवन किया गया है (१०,१७[४])। यह देवों को अमरत्व, तथा मनुष्यों को जीवन अवधि प्रदान करते हैं (४,५४[२])। जो अपने कार्यों की महानता के कारण इनके गृह तक गये थे, उन ऋभुओं को भी इन्होंने ही अमरत्व प्रदान किया था (१, ११०[२.३])। सूर्य की भाँति इनसे भी दुःष्वप्नो को भगाने (५, ८२[४]) तथा मनुष्यों को पाप रहित करने (४, ५४[३]) की स्तुति की गई है। यह दुष्टात्माओं और अभिचारियों को भी भगा देते हैं (१, ३५[१०]; ७, ३८[७])।

अनेक अन्य देवों की भाँति सवितृ को भी 'असुर' कहा गया है (४, ५३[१])। यह दृढ़ नियमों का पालन करते हैं (४, ५३[४]; १०, ३४[८]·१३९[३])। वायु और जल इनके विधानों के ही अधीनस्थ हैं (२, ३८[२])। यह जल का नेतृत्व करते हैं और इन्हीं के प्रवर्त्तन द्वारा जल विस्तृत रूप से प्रवाहित होता रहता है (३, ३३[६] तु० की० निरुक्त २, २६)। अन्य देव इन्हीं के नेतृत्व का अनुसरण करते हैं (५, ८१[३])। कोई भी प्राणी, यहाँ तक कि इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमन्, रुद्र, तक भी इनके व्रत तथा स्वतन्त्र उपनिवेश को रोक नहीं सकते (२, ३८[७.९]; ५, ८२[२])। वसुगण, अदिति, वरुण, मित्र और अर्यमन् भी इनकी स्तुति करते हैं (७, ३८[३.४])। पूषन् और सूर्य की भाँति यह भी सभी स्थावर-जङ्गम के अधिपति हैं (४, ५३[६])। यह सभी वाञ्छनीय पदार्थों के अधिपति हैं, और आकाश, अन्तरिक्ष, तथा पृथ्वी से अपना आशीर्वाद देते हैं (१, २४[३]; २, ३८[११])। इन्हें दो बार (१, १२३[३]; ६, ७१[४]) 'कौटुम्बिक' (दमूनस्) तक कहा गया है; अन्यथा यह उपाधि केवल अग्नि तक ही सीमित है। अन्य देवों की भाँति यह आकाश को धारण करते हैं (४, ५३[२]; १०, १४९[४])। यह समस्त संसार को धारण करते हैं (४, ५४[४])। इन्होंने बन्धनों द्वारा पृथ्वी को, तथा स्तम्भ रहित शून्य में आकाश को, दृढ़ किया (१०, १४९[१])

कम से कम एक बार (१,२२[६]) सवितृ को जल का पुत्र (अपां नपात्) भी कहा गया है, अन्यथा यह केवल अग्नि की ही उपाधि है। कदाचित १०, १४९[२२] में भी यह इनके लिये व्यवहृत हुई है। इस मन्त्र पर टिप्पणी करते हुये यास्क (निरुक्त १०, ३२) यहाँ सवितृ को मध्यम स्थान (अथवा वायुमण्डल) में स्थित मानते

हैं, क्योंकि यह वर्षा कराते हैं। साथ ही साथ यास्क यह भी व्यक्त करते हैं कि सूर्य (आदित्य, जो आकाश में स्थित है) को ही सवितृ भी कहा गया है।[3] कदाचित् इसी उपाधि के कारण; तथा इस लिये भी कि एक बार (१, ३५[११]) सवितृ के पथ को वायुमण्डल में स्थित कहा गया है, यह देव नैघण्टुक में मध्यम स्थान और साथ ही साथ द्युस्थान, दोनों के ही देवोंके अन्तर्गत आता है। सवितृ को एक बार संसार का 'प्रजापति' कहा गया है (४, ५३[२])। शतपथ ब्राह्मण (१२, ३, ५[१]) में यह उक्ति है कि लोग सवितृ और प्रजापति में समीकरण करते हैं; और तैत्तिरीय ब्राह्मण (१, ६, ४[१]) में यह कहा गया है कि सवितृ बनकर प्रजापति ने सभी जीवित प्राणियों का सृजन किया[4]। केवल सवितृ ही ऐश्वर्य प्रदान करने वाली शक्ति के अधिपति हैं, और अपनी गतियों (यामभिः) द्वारा पूषन् बन जाते हैं (५, ८२[५])। रक्षक के रूप में सभी प्राणियों का अवलोकन करते हुये, अपनी ऐश्वर्य-दायिनी शक्ति से युक्त हो कर पूषन् अग्रसर होते हैं (१०, १३९[१])। दो लगातार मन्त्रों (३, ६२[९-१०]) में पूषन् और सवितृ के सम्बद्ध होने की कल्पना है। प्रथम में सभी प्राणियों को देखने वाले पूषन् की कृपा का आवाहन है, तथा द्वितीय में सवितृ की इस हेतु स्तुति की गई है कि वह ऐसे उपासकों के विचारों को उद्दीप्त करें जो सवितृ देव की परम श्रेष्ठ तेजस्विता का विचार करते हैं। यह द्वितीय मन्त्र ही प्रसिद्ध 'सावित्री' (ऋग्वेद का स्वख्याति नाम गायत्री मन्त्र) है जिससे बाद में वैदिक अध्ययन के आरम्भ में सवितृ का आवाहन किया जाता है।[5] ऐसी उक्ति है कि अपने नियमों के कारण सवितृ भी मित्र बन जाते हैं (५, ८१[४])। यदि 'भग' सवितृ की केवल एक उपाधि ही नहीं है, तो कभी-कभी (५, ८२[१-३]; ७, ३८[१-६]) इसे सवितृ के साथ समीकृत भी किया गया प्रतीत होता है। 'भग' (जो समृद्धि-दायक देवता है) के नाम को वास्तव में अक्सर सवितृ के साथ इस रूप में संयुक्त कर दिया गया है कि यह केवल एक ही व्याहृति बन गया है, जैसे : 'सविता भगः', अथवा 'भगः सविता'।[6] फिर भी, अन्य ग्रन्थों में सवितृ का, मित्र, पूषन् और भग से विभेद किया गया है। अनेक स्थलों पर सवितृ और सूर्य दोनों को बिना किसी विभेद के एक ही देव का द्योतक माना गया है। अतः एक कवि कहता है : 'सवितृ देव ने अपनी तेजस्विता को ऊपर उठाया, जिससे समस्त संसार प्रकाशमय हो गया; प्रकाशमान सूर्य ने आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को अपनी रश्मियों से परिपूर्ण किया (४, १४[२])। एक अन्य सूक्त (७, ६३) में सूर्य (प्रथम, द्वितीय, और चतुर्थ मन्त्रों में) के लिये ऐसे शब्दों, उदाहरण के लिये, 'प्रसवितृ' अर्थात् (ऐश्वर्यदाता), का प्रयोग हुआ है जो सामान्यतया सवितृ के लिये ही व्यवहृत होते हैं; और तृतीय मन्त्र में [illegible] यक्षतः

सवितृ को भी सूर्य देव ही माना गया है। अन्य सूक्तों में भी (१०, १५८$^{१-५}$; १, ३५$^{१-११}$. १२४^{१}) इन दोनों देवों को पृथक् मानना कदाचित् ही सम्भव है। फिर भी, निम्नोद्धृत स्थलों पर सवितृ का सूर्य से विभेद भी किया गया है। 'सवितृ आकाश और पृथ्वी के बीच भ्रमरण करते हैं, व्याधियों को दूर भगाते हैं, और सूर्य को प्रेरित (वेति) करते हैं (१, ३५^{९}); सवितृ, सूर्य से मनुष्यों के पाप रहित होने की घोषणा करते हैं (१, १२३^{३})। यह सूर्य की रश्मियों से संयुक्त हो जाते हैं (५, ८१^{४}) अथवा सूर्य की रश्मियों से प्रकाशित होते हैं (१०, १३९^{१} तु० की० १८१^{३}; १, १५७^{१}; ७, ३५$^{८-१०}$)। सूर्योदय के समय उपासकों को ऐश्वर्य प्रदान करने के निमित्त, मित्र, अर्यमन्, भग, के साथ सवितृ की भी स्तुति की गई है (७, ६६^{४})।

यास्क (निरुक्त १२, १२) के अनुसार सवितृ उसी समय प्रकट होते हैं जब अन्धकार समाप्त हो गया रहता है। सायरण (ऋग्वेद ५, ८१^{४} पर) यह विचार व्यक्त करते हैं कि उदय होने के पूर्व सूर्य को सवितृ कहते हैं, किन्तु उदय से लेकर अस्त होने के समय तक 'सूर्य'। किन्तु कभी कभी सवितृ को निद्रा प्रदान करने वाला भी कहा गया है (४, ५३^{६}; ७, ४५^{१}), अतः इन्हें निश्चित रूप से प्रातः तथा सायं दोनों से ही सम्बद्ध किया जाना चाहिये। वास्तव में एक सूक्त में अस्त होने वाले सूर्य के रूप में ही सवितृ की स्तुति की गई है (२, ३८); और इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि इन्हें सम्बोधित अधिकांश सूक्त या तो प्रातःकालीन, अथवा सायंकालीन यज्ञ के लिये ही उद्दिष्ट हैं।[७] यह सभी द्विपाद और चतुष्पाद प्राणियों को विश्राम प्रदान करते हैं तथा उन्हें जागृत करते हैं (६, ७१^{२} तु० की० ४, ५३^{३}; ७, ४५^{१})। यह अपने अश्वों को रथ से खोलते हैं, और भ्रमणकारियों को विश्राम की प्रेरणा देते हैं; इन्हीं की आज्ञा से रात्रि का आगमन होता है तथा जुलाहे अपने ताने-बाने को लपेटते हैं; इनकी आज्ञा से ही कर्मकार अपने अपूर्ण कार्य बन्द कर देते हैं (२, ३८$^{३.४}$)। बाद में पश्चिम दिशा इन्हें उसी प्रकार प्रदान की गई है (शतपथ ब्राह्मण ३, २, ३^{१८}), जिस प्रकार पूर्व दिशा अग्नि को, तथा दक्षिण सोम को।

सवितृ शब्द में सर्वथा भारतीय निर्माण के सभी लक्षण वर्तमान हैं। यह इस तथ्य द्वारा सिद्ध होता है कि 'सू' धातु का, जिससे यह व्युत्पन्न हुआ है, निरन्तर ही इसके उस रूप में प्रयोग हुआ है जो केवल ऋग्वेद में ही द्रष्टव्य है। किसी दूसरे देवता के कार्यों को व्यक्त करने के लिये कोई अन्य क्रिया प्रायः सदैव ही प्रयुक्त हो सकती है। किन्तु सवितृ की दशा में न केवल स्वयं धातु ही प्रयुक्त हुई है, वरन् उसकी अनेक व्युत्पत्तियाँ (जैसे 'प्रसवितृ' और 'प्रसव') भी सदैव इसी नाम के साथ संयुक्त हैं।[८] अक्सर ही मिलने वाले यह यौगिक रूप स्पष्टतः

यह व्यक्त करते हैं कि इस धातु में प्रेरित करने, उद्दीप्त करने, जागृत करने, और ऐश्वर्य प्रदान करने आदि के आशय निहित हैं। इस विशेष प्रयोग को व्यक्त करने के लिये यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। 'सवितृ' देव ने सभी गतिशील वस्तुओं को, जागृत किया (प्रासावीत)' (१, १५७[१])। 'केवल तुम्हीं (सवितृ) प्रेरणा के अधिपति हो ('प्रसवस्य : ५, ८१[५])। 'सवितृ ने वह अमरत्व तुमको प्रदान (आसुवत्) किया' (१, ११०[३])। 'सवितृ देव हमें जागृत (सवाय) करने के लिये उदित हुये' (२, ३८[१])। 'एक दिन में तीन वार सवितृ आकाश से उपभोग्य पदार्थ भेजते हैं (सोषवीति)' (३, ५६[६])। 'हे सवितृ, तुम हमें पापरहित बनाओ (सुवतात्)' (५, ५४[३])। 'सवितृ के प्रभाव (सवे) द्वारा अदिति के प्रति पापरहित होकर हम सभी उपभोग्य पदार्थों को प्राप्त करें' (५, ८२[६])। 'दुःष्वप्नों को दूर भगाओ (परा सव), सभी विपत्तियों को दूर भगाओ, और हमें वह सभी वस्तुयें प्रदान करो (आसुव) जो श्रेष्ठ हैं' (वही, [४.५])। 'सवितृ हमारी व्याधियाँ दूर करें (अपसाविषत्)' (१०, १००[८])। अक्सर धन प्रदान करने के लिये ही इस क्रिया के साथ सवितृ की स्तुति की गई है (२, ५६[६] इत्यादि)। 'सू' का प्रयोग प्रायः सवितृ की ही विशेषता है; किन्तु दो या तीन बार यह सूर्य के लिये भी व्यवहृत हुआ है (७, ६३[२.४]; १०, ३७[४])। यह उषस् के साथ (७, ७७[१]), वरुण के साथ (२, २८[९]), आदित्यों के साथ (८, १८[१]), तथा सवितृ के साथ संयुक्त मित्र तथा अर्यमन् के साथ (७, ६६[४]) भी आता है। यह प्रयोग इतना अविक वार किया गया है कि यास्क (निरुक्त १०, ३१) 'सर्वस्य प्रसविता' के रूप में सवितृ की परिभाषा करते हैं।

यह तथ्य कि अपनी आवृत्ति की लगभग आधी दशाओं में इस नाम के साथ 'देव' संयुक्त है, यह व्यक्त करता हुआ प्रतीत होता है कि इसका एक ऐसी उपाधि होने का गुण अभी विस्मृत नहीं हुआ था, जिसका अर्थ 'प्रेरित करने वाला देवता' है। जो कुछ भी हो, दो स्थलों पर (३, ५५[१९]; १०, १०[५]) यह शब्द 'त्वष्टृ' की उपाधि ही प्रतीत होता है, जहाँ 'देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूप' शब्दों का संयोग तथा 'देव' के साथ प्रयोग इस बात का द्योतक है कि सवितृ यहाँ 'त्वष्टृ' के समान है।

अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सवितृ मूलतः भारत में ही व्युत्पन्न एक उपाधि है जो कि, विश्व की अन्य सभी गतियों में प्रमुख और महत्त्वपूर्ण गति का प्रतिनिधित्व करने वाले और जीवन तथा गतियों के महान् प्रेरक के रूप में सूर्य के लिये, प्रयुक्त हुई है; किन्तु सूर्य से भिन्न होने के रूप में यह एक अपेक्षाकृत अधिक अमूर्त देव है। वैदिक कवियों की दृष्टि में यह सूर्य की

मूर्तीकृत दिव्य शक्ति है, जब कि स्वयं सूर्य एक अपेक्षाकृत अधिक स्थूल देव हैं और उनकी धारणा में सूर्य-पिण्ड की वाह्य आकृति का अभाव कभी भी अनुपस्थित नहीं है क्योंकि 'सूर्य' नाम, तथा भौतिक सूर्य में समानता है (तु० की० १, ३५[९]·१२४[१])।

विकास क्रम के सामान्यतया स्वीकृत स्वरूप को उलटते हुए, औल्डेनवर्ग[९] यह विचार व्यक्त करते हैं कि सवितृ वास्तव में प्रेरणा की एक अमूर्त धारणा का प्रतिनिधित्व करता है, और इसके चरित्र में सूर्य अथवा किसी भी दशा में सूर्य सम्बन्धी धारणा, प्रायः गौण रूप से ही संयुक्त है।[१०]

[१]हॉ० इ० ४४ — [२]तु० की० फॉन ब्राड्के : त्सी० गे० ४०, ३५५; हॉ० इ० ४८ — [३]तु० की० रौथ : निरुक्त, पर जर्मन भाषा में प्रस्तावना, १४३; मूईर : सं० टे० ४, ९६, १११ — [४]वेबर : ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा, ३८६, ३९२ — [५]कोलब्रुक के एसेज़ (संशोधित संस्करण) २, १११, में व्हिट्ने — [६]वर्गेन : ल० रि० वे० ३, ३९ — [७]हॉ० इ० ४६ — [८]रौथ : उ० पु० ७६ — [९]औ० वे० ६४-५ — [१०]मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, ९५१-२; फॉन श्रोडर : वी० मौ० ९, १२५।

व्हिट्ने : ज० ए० सो० ३, ३२४; मूइर : सं० टे० ५, १६२-७०; रौथ : सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश; त्सी० गे० २४,. ३०६-८; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद I, ४९, ग्रासमैन : व० ऋ०, व० स्था० पर; के० ऋ० ५६; वर्गेन : ल० रि० वे० ३, ३८-६४; हार्डी ; वे० पी ३३।

§ १६. पूषन् :—ऋग्वेद में प्रायः १२० बार पूषन् का नाम आता है, और आठ सम्पूर्ण सूक्तों (जिनमें से पाँच छठवें, दो पहले, और एक दसवें मण्डल में हैं) में इनकी प्रख्याति है। युगल देव के रूपमें भी इनकी एक सूक्त (६, ५७) में इन्द्र के साथ, और दूसरे (२, ४०) में सोम के साथ प्रशस्ति है। इस प्रकार सांख्यिक दृष्टि से इनका स्थान विष्णु (§ १७) की अपेक्षा कुछ ऊँचा है। बाद के वैदिक और वैदिकोत्तर काल में इनके नाम का उल्लेख उत्तरोत्तर दुर्लभ होता गया है। इनकी वैयक्तिकता अस्पष्ट है, और इनकी मूर्तीकृत प्रवृत्तियाँ अत्यन्त अल्प हैं। जब दुष्टों के समूह को पदाक्रान्त करने की इनसे स्तुति की गई, तब इनके पैरों का उल्लेख है। इनके दाहिने हाथ का भी उल्लेख मिलता है (६, ५४[१०])। (रुद्र की भाँति) इनके केश भी वेणीयुक्त हैं (६, ५५[२]) तथा इन्हें दाढ़ी भी है (१०, २६[७])। यह एक स्वर्ण तोमर धारण करते हैं (१, ४२[६]); एक 'आरा (६, ५३[५.६.८]) अथवा अंकुश (५३[९]· ५८[२]) भी रखते हैं। इनके रथ के पहिये, चक्र-धार, और बैठने के स्थान का उल्लेख है (६, ५४[३]) और इन्हें सर्वश्रेष्ठ रथी कहा गया है (६, ५६[२.३])। इनका रथ अश्वों के स्थान

पर वकरों[१] (अजाश्व) द्वारा खींचा जाता है (१, ३८[४]; ६, ५५[३-४])। यह भोजन करते हैं, क्योंकि उष्णिका इनका भोज्य-पदार्थ बताया गया है (६, ५६[१] तु० की० ३, ५२[७])। कदाचित् इसी कारण शतपथ ब्राह्मण (१, ७, ४[७]) में इन्हें दन्त-विहीन भी कहा गया है।

पूषन् सभी प्राणियों को स्पष्ट रूप से तथा एक साथ देखते हैं (३, ६२[९])। अग्नि के सम्बन्ध में भी इन्हीं के समान उक्ति है (१०, १८७[४])। इन्हें, सभी 'स्थावर-जङ्गम का अधिपति' कहा गया है और प्रायः इन्हीं शब्दों में सूर्य का भी वर्णन किया गया है (१, ११५[१]; ७, ६०[२])। यह अपनी माता के स्वामी (६, ५५[५]) और अपनी बहन के प्रेमी हैं (वही, [४-५])। सूर्य (१, ११५[२]) और अग्नि (१०, ३[३]) के लिये भी इसी प्रकार की व्याहृतियों का प्रयोग किया गया है। ऐसा कथन है कि प्रेम-भीरु पूषन् को देवों ने सूर्य की पुत्री सूर्या विवाह में दिया था (६, ५८[४])। सम्भवतः सूर्या के पति के रूप में पूषन् विवाह-सूक्त (१०, ८५) में विवाह संस्कार से सम्बद्ध किये गये हैं, और इनकी इसलिये स्तुति की गई है कि यह वधू का हाथ पकड़ कर अलग ले जाँय और उसे सफल वैवाहिक सम्बन्ध के लिये आशीर्वाद दें[२] (मन्त्र ३७)। एक अन्य स्थल (९, ६७[१०]) पर इनसे यह स्तुति की गई है कि यह अपने उपासकों के अंश की कन्यायें उन्हें प्रदान करें। अपने स्वर्ण-यानों में, जो अन्तरिक्ष सागर में भ्रमण करते हैं, बैठे हुये यह स्नेह-सिक्त होकर सूर्य के दूत[३] के रूप में कार्य करते हैं (६, ५८[३])। यह विश्व का अवलोकन करते हुये अग्रसर होते हैं (२, ४०[५]; ६, ५८[२]) और आकाश में अपना आवास बनाते हैं (२, ४०[४])। यह ऐसे रक्षक हैं जो सवितृ की प्रेरणा से कार्य करते हैं, तथा सभी प्राणियों को देखते और जानते हैं। इनकी स्तुति में अर्पित एक सूक्त में सर्वश्रेष्ठ रथी के रूप में पूषन् के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इन्होंने सूर्य के स्वर्ण-चक्र को नीचे की ओर हाँका (६, ५६[३]); किन्तु यह सम्बन्धीकरण अस्पष्ट है (तु० की० निरुक्त २, ६)। केवल पूषन् के लिये ही एक बहु-प्रयुक्त उपाधि 'आघृणि' है। इन्हें एक बार 'अगोह्य' (जो छिपाया न जा सके) कहा गया है, अन्यथा जो प्रायः सवितृ का ही गुण है।

दूरस्थ पथों के पथ पर, द्युलोक और पृथ्वी के दूरस्थ पथ पर, पूषन् का जन्म हुआ है; यह दोनों ही प्रिय आवासों को जानते हुये उनमें जाते हैं और वहाँ से लौटते हैं (६, १७[६])। पथों से इस प्रकार परिचित होने के कारण यह दूरस्थ पथ पर स्थित पितरों के आवास तक मृतकों को उसी प्रकार पहुँचा देते हैं, जिस प्रकार अग्नि और सवितृ भी इन मृतकों को उस लोक तक ले जाते हैं जहाँ मृत पुण्यात्मा लोग जाकर देवों के साथ रहते हैं; साथ ही पूषन्

अपने उपासकों को भी उसी लोक तक पथ-प्रदर्शन करते हुये पहुँचा देते हैं (१०, १७³⁻⁵)। अथर्ववेद भी पूषन् के सम्बन्ध में उल्लेख करता है कि यह पुण्यात्माओं तथा देवों के सुन्दर लोक का पथ-प्रदर्शन करते हैं (अथर्ववेद १६, ९²; १८, २⁵³)। इसी प्रकार पूषन् का बकरा यज्ञ-अश्व का पथ-प्रदर्शन करता है (१, १६२²·³)। पूषन् के ऊँचे पथों से परिचय होने के कारण ही कदाचित इस धारणा का विकास हुआ है कि इनके रथ को कभी न फिसलने वाले बकरे खींचते हैं।

पथों के ज्ञाता होने के रूप में पूषन् की पथों के रक्षक के रूप में कल्पना की गई है। संकटों, भेड़ियों, मार्ग-तस्कारों आदि को पथ से भगा देने के लिये इनका स्तवन किया गया है (१, ४२¹⁻³)। इसी सन्दर्भ में इन्हें 'विमुचो नपात्' (मुक्ति का पुत्र) का गया है।[५] एक अन्य स्थल पर भी इनके लिए यही उपाधि व्यवहृत हुई है (६, ५५¹), और दो बार (८, ४¹⁵·¹⁶) इन्हें 'विमोचन' (मुक्तिदाता) कहा गया है। 'विमुचो नपात्' के रूप में इनका पाप से मुक्ति दिलाने के लिये आवाहन किया गया है। (अथर्ववेद ६, ११२³)। शत्रुओं को भगाने और लाभार्थ मार्ग को सरल बनाने (६, ५३⁴), शत्रुओं के समाप्त करने, पथों को सुगम करने, और श्रेष्ठ चरागाहों तक पहुँचाने (१, ४२⁷·⁸) के लिये पूषन् की स्तुति की गई है। अपने को हानि से बचाने (६, ५४⁹) और शुभ पथ प्रदान करने (१०, ५९⁷) के लिये भी इनका आवाहन किया गया है। यह प्रत्येक पथ के रक्षक हैं (६, ४९⁸) और पथ के अधिपति हैं (६, ५३¹)। यह पथों पर पथ-प्रदर्शक (प्रपथ्य) होते हैं (वाजसनेयि संहिता २२, २०)। इसी प्रकार सूत्रों में भी जो यात्रा के लिये अग्रसर होता है वह ऋग्वेद ६, ५३ का पाठ करते हुये पथ-निर्माता पूषन् की पूजा करता है; और जो कोई अपना पथ भूल जाता है वह भी पूषन् की ही शरण लेता है (आश्वालायन गृह्य सूत्र ३, ७⁸⁹; शाङ्खायन श्रौतसूत्र ३, ४⁹)। इसके अतिरिक्त, प्रातः तथा सायंकाल सभी देवों और प्राणियों को समर्पित उपहारों में से अपना भाग पथ-निर्माता पूषन् स्वयं गृह की ड्योढ़ी पर आकर ले लेते हैं (शाङ्खायन गृह्य-सूत्र २, १४⁹)।

पथों के ज्ञाता होने के कारण पूषन् गुप्त देवों तक को प्रकट और सरलता से खोज लेने योग्य बना देते हैं (६, ४८¹⁵)। एक स्थल (१, २३¹⁴·¹⁵ तु० की० तैत्तिरीय संहिता ३, ३, ९¹) पर इनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इन्होंने एक खोये और छिपे हुये राजा (कदाचित सोम) को खोज कर उसे एक खोये हुये पशु की ही भाँति प्रस्तुत कर दिया था। इसीलिये सूत्रों में जब भी कोई खोई हुई वस्तु प्राप्त हो जाती है तो पूषन् के लिये यज्ञ किया जाता है (आश्वलायन गृह्यसूत्र ३, ७⁹)। इसी प्रकार यह पूषन् की ही

चारित्रिक विशेषता है कि वह मवेशियों की देख-रेख और रक्षा करते हैं (६, ५४[५,६,१०], ५८[२] तु० की० १०, २६[३])। यह मवेशियों को गड्ढों में गिर कर चोट खाने से बचाते हैं, उन्हें सुरक्षित रूप से घरों को पहुँचा देते हैं और खोये हुये पशुओं को भी पुनः यथास्थान पहुंचा देते हैं (६, ५४[७-१०])। इनका अंकुश मवेशियों को ठीक पथ पर निर्देशित रखता है (६, ५३[९])। कदाचित ठीक पथ पर निर्देशित रखने के इसी विचार से सम्बन्धित यह धारणा भी है कि पूषन् हल की फाल-रेखा को भी निर्देशित करते हैं (४, ५७[७])। पूषन् अश्वों की रक्षा करते हैं (६, ५४[५]) और भेड़ के ऊन के वस्त्र बुनते तथा उन्हें चिकना करते हैं (१०, २६[६])। अतः पशुओं को पूषन् के लिये पवित्र माना गया है (१, ५[१,२]), और इन्हें मवेशियों को उत्पन्न करने वाला कहा गया है (मैत्रायणी संहिता ४, ३[७]; तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ७, २[४])। सूत्रों में उस समय पूषन् सम्बन्धी मंत्रों के पाठ का विधान है जब गायों को चरागाहों में या मुक्त रूप से चरने के लिये हाँक दिया जाता है (शाङ्खायन गृह्य सूत्र ३, ९)।

पूषन् में अनेक गुण अन्य देवों जैसे भी हैं। इन्हें 'असुर' कहा गया है (५, ५१[११])। यह वलवान (५, ४३[९]), सामर्थ्यवान (८, ४[१५]), क्षिप्र (६, ५४[८]), शक्तिशाली (१, १३८[१]), अप्रतिकार्य (६, ४८[१५]) हैं। यह मनुष्यों से श्रेष्ठ तथा वैभव में देवों के समान हैं (६, ४८[१९])। यह योद्धाओं के शासक (१, १०६[४]), अविजेय रक्षक और सहायक (१, ८९[५]), तथा युद्ध में सहायता देने वाले (६, ४८[१९]) हैं। यह संसार के रक्षक हैं (१०, १७[३] तु० की० २, ४०[१])। यह एक द्रष्टा, पुरोहितों के रक्षक मित्र, तथा सभी अभ्यर्थकों के प्राचीन काल में जन्में एक विश्वसनीय मित्र हैं (१०, २६[५,८])। यह बुद्धिमान् (१, ४२[५]) और उदार[५] (२, ३१[४]) हैं। विशेषतः इनकी उदारता का अक्सर उल्लेख है। यह सभी प्रकार के धन-धान्य से सम्पन्न हैं (१, ८९[६])। सम्पत्ति में ही इनका वास है (८, ४[१५])। यह धन की वृद्धि करते हैं (१, ८९[५])। यह उपकारी (१, १३८[२]), उदार (६, ५८[४]; ८, ४[१८]) और सभी सुखों को प्रदान करने वाले (१, ४२[६]) हैं। यह समृद्धि के परम मित्र, और पोषक तत्त्वों की वृद्धि के शक्तिशाली अधिपति हैं (१०, २६[७,८])। अश्विनों के लिये व्यवहृत विशिष्ट शब्द 'दस्र' का कुछ बार (१, ४२[५]; ६, ५६[४]) इनके लिये भी व्यवहार हुआ है। साथ ही सामान्यतया अग्नि और इन्द्र के लिये प्रयुक्त 'दस्म' (आश्चर्यजनक) (१, ४२[१०], १३८[४]) और 'दस्म-वर्चस्' (आश्चर्यजनक वैभव वाले) (६, ५८[४]) शब्दों का भी इनके लिये व्यवहार किया गया है। दो बार (१, १०६[४]; १०, ६४[३]) इन्हें 'नराशंस' कहा गया है, अन्यथा यह उपाधि केवल अग्नि तक ही सीमित है। एक बार इन्हें 'सर्वव्यापी' (२, ४०[६]) बताया गया है। इन्हें

'भक्ति का प्रेरक' (९, ८८[3]) कहा गया है, और भक्ति की वृद्धि के लिये इनका आवाहन किया गया है (२, ४०[६])। इनके 'आरे' को 'स्तुति प्रेरक' (६, ५३[८]; तु० की० सवितृ §१५) बताया गया है।

एकमात्र पूषन् से सम्बद्ध उपाधियाँ इस प्रकार हैं: आघृणि, अजाश्व, विमोचन, विमुचो नपात्; और प्रत्येक एक बार: पुष्टिम्भर (समृद्धि दायक), अनष्ट-पशु (किसी भी पशु को नष्ट न होने देने वाला), अनष्ट वेदस् (किसी भी श्रेष्ठता को नष्ट न होने देने वाला), करम्भाद् (उष्णिका खाने वाला)। इस अन्तिम गुण के कारण कहीं कहीं पूषन् को तुच्छ दृष्टि से भी देखा गया है (तु० की० ६, ५६[१]; १, १३८[४])[६]। 'करम्भ', जिसका ऋग्वेद में तीन बार उल्लेख है, पूषन् का विशेष भोजन है, और इन्द्र के सोम से इसका विभेद किया गया है (६, ५७[२])। फिर भी, इन्द्र भी इसे खाते हैं (३, ५२[७]), और उन केवल दो स्थलों पर जहाँ विशेषण 'करम्भिन्' (उष्णिका मिश्रित) आता है यह इन्द्र के तर्पण के लिये ही व्यवहृत हुआ है (३, ५२[१]; ८, ८०[२])। पूषन् ही एक मात्र ऐसा देव है जिसे प्रत्यक्षतः (तुलनात्मक दृष्टि से नहीं) 'पशुपा' (मवेशियों का रक्षक) उपाधि से विभूषित किया गया है (६, ५८[२])।

ऐसे कुछ अन्य देव, जिनके साथ-साथ सम्मिलित रूप से पूषन का आवाहन किया गया है, वह सोम (२, ४०), और इन्द्र (६, ५७) हैं। इन्हें एक बार (६, ५५[५]) इन्द्र का भ्राता भी कहा गया है। इन दोनों देवों के बाद, पूषन् को सर्वाधिक अधिक बार 'भग' (१, ९०[४]; ४, ३०[२४]; ५, ४१[५]. ४६[२]; १०, १२५[२]; तु० की० शतपथ ब्राह्मण ११, ४, ३[३]; कात्यायन श्रौत सूत्र ५, १३[१]) और विष्णु (१, ९०[५]; ५, ४६[३]; ६, २१[९]; ७, ४४[१]; १०, ६६[५]) के साथ सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद के इन सभी स्थलों पर पूषन् का नाम इन देवों के साथ संयुक्त कर दिया गया है। यत्र-तत्र यह अनेक अन्य देवों के साथ भी सम्बोधित किये गये हैं।

उपलब्ध प्रमाण स्पष्ट रूप से यह नहीं व्यक्त करते कि पूषन् किसी प्राकृतिक घटना का प्रतिनिधित्व करते हैं अथवा नहीं। किन्तु ऊपर आरम्भ में ही उद्धृत बहुसंख्यक स्थल सूर्य से इनके घनिष्ठ सम्बन्ध का संकेत करते हैं। यास्क भी (निरुक्त ७, ९) 'सभी प्राणियों के रक्षक सूर्य (आदित्य)' के रूप में पूषन् की व्याख्या करते हैं, और वैदिकोत्तर साहित्य में पूषन् कभी-कभी सूर्य के नाम के रूप में ही आता है। पृथ्वी से, देवों और मृत पुण्यात्माओं के आवास द्युलोक तक जाने वाला सूर्य का पथ, एक सौर देव के लिये इस बात का औचित्य सिद्ध कर सकता है कि यह भी (सवितृ की भाँति) मृतक आत्माओं का पथ-प्रदर्शक और सामान्य रूप से पथों का रक्षक होगा। पूषन् के चरित्र के इस द्वितीय पक्ष द्वारा

मवेशियों का निर्देशक होने जैसी उसकी ग्रामीण विशेषता की भी व्याख्या हो जाती है, जो उसकी समृद्धि दायिनी प्रकृति का एक अनिवार्य अङ्ग है। अवेस्ता के सौर-देव 'मिथ्र' के चरित्र में भी मवेशियों की वृद्धि और बँहके हुये पशुओं को पुनः लौटा लाने जैसी ग्रामीण प्रवृत्तियाँ संयुक्त हैं।[७]

व्युत्पत्तिशास्त्र की दृष्टि से 'पुष्' धातु से व्युत्पन्न पूषन् शब्द का अर्थ 'समृद्धिदायक' है। इस देव के चरित्र का यह पक्ष इसकी उपाधियों, जैसे 'विश्ववेदस्', 'अनष्टवेदस्', 'पुरूवसु', 'पुष्टिम्भर', आदि द्वारा, तथा सुरक्षा और सम्पत्ति प्रदान करने के लिये इसके अक्सर आह्वानों (६, ४८[१५] इत्यादि), दोनों में ही प्रमुख है। यह अतुल सम्पत्ति, सम्पत्ति के प्रवाह, और धन के आगार का अधिपति है (६. ५५[२.३])। किन्तु यह जो समृद्धि प्रदान करते हैं वह इन्द्र पर्जन्य, और मरुतों की भाँति वर्षा से नहीं वरन् प्रकाश से सम्बद्ध हैं, और जिस पर एकमात्र इन्हीं के लिये प्रयुक्त 'प्रदीप्त' उपाधि द्वारा बल दिया गया है। जो समृद्धि यह प्रदान करते हैं वह पृथ्वी पर मनुष्यों और मवेशियों को प्रदत्त सुरक्षा, और मनुष्यों को परलोक स्थित आनन्दमय आवासों तक इनके पथ-प्रदर्शन का ही परिणाम है। अतः पूषन् के चरित्र सम्बन्धी धारणा की पृष्ठभूमि में सूर्य की उपकारी शक्ति ही है जो प्रमुखतः एक ग्रामीण देवता के रूप में व्यक्त हुई है।

[१]के० ऋ०, नोट १२० — [२]इन्डिशे स्टूडियन ५, १८६, १९० — [३]गौ० ऐ०, पृ० ८ — [४] मूईर : सं० टे० ५, १७५; व० ऋ०; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ४, ४४४; हार्डी : वे० पी० ३४, और बर्गेन : ल० रि० वे० (जो मूल अर्थ की एक भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं); 'मेघ का पुत्र' : ऋग्वेद १, ४२[१] पर सायण और ग्रिफिथ। — [५]हिलेब्रान्ट : वी० मौ० ३, १९२–३, के अनुसार 'पुरांधि' का अर्थ 'सक्रिय' या 'उत्साही' है — [६]हॉ० इ० ५१ — [७]स्पीगेल : डी० पी० १८४।

ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३२५; मूईर : सं० टे०, ५, १७१–८०; गूबरनेटिस : लेट्योर, ८२; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४२०–३०; के० ऋ० ५५; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ११; हि० वे० मा० १, ४५६; हार्डी : वे० पी० ३४; औ० वे० २३०–३ (तु० की०, वी० मौ० ९, २५२); पेरी : ड्रिस्लर मेमोरियल, २४१–३; हॉ० इ० ५०–३।

§ १७. *विष्णु :*—यद्यपि ब्राह्मणों के पुराकथाशास्त्र में विष्णु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देव हैं, तथापि ऋग्वेद में इनका अपेक्षाकृत बहुत साधारण स्थान है। परन्तु साथ ही साथ केवल सांख्यिक प्रदत्तों से जितना व्यक्त होता है उसकी अपेक्षा इनका वास्तविक व्यक्तित्व यहाँ भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। सांख्यिक प्रदत्तों के आधार पर तो यह केवल चतुर्थ श्रेणी के ही देव प्रतीत होंगे क्योंकि

ऋग्वेद में केवल पाँच सम्पूर्ण सूक्तों तथा अंशतः कुछ अन्य में ही इनकी प्रख्याति है, और इनका नाम भी प्रायः १०० बार से अधिक नहीं आता। विष्णु की मानवत्वारोपित प्रवृत्तियों के अन्तर्गत अक्सर उल्लिखित केवल इनका पग, जिनसे यह नापते हैं, और बृहदाकार शरीरवाला एक ऐसा युवक होना जो अब बालक नहीं रह गया है (१, १५५⁶), आदि ही आते हैं। इनके चरित्र की अनिवार्य विशेषता यह है कि यह तीन पग (साधारणतया 'वि-क्रम' द्वारा व्यक्त) रखते हैं, और इनके इस कार्य का प्रायः एक दर्जन बार उल्लेख मिलता है। इनकी उपाधियों, जैसे 'उरुगाय (विस्तृत पाद प्रक्षेप करनेवाला), और 'उरुक्रम (चौड़े पग रखनेवाला) जो लगभग एक दर्जन बार आती हैं, से भी इनका उक्त कार्य ही उद्दिष्ट है। विष्णु के लिये ऐसा वर्णन है कि इन्होंने तीन पगों से पृथ्वी अथवा पार्थिव स्थानों को नाप लिया था। इनमें से दो पग अथवा स्थान तो मनुष्य को दिखाई पड़ते हैं, किन्तु तीसरा अथवा उच्चतम पग मनुष्य की पहुँच या पक्षियों की उड़ान के बाहर है (१, १५५⁵; ७, ९९²)। कदाचित यही धारणा उस स्थान पर एक रहस्यात्मक रूप में व्यक्त की गई है (१, १५५³) जहाँ इनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह अपना तृतीय नाम द्युलोक के उज्वल क्षेत्र में धारण करते हैं। विष्णु के उच्चतम स्थान को अग्नि के उच्चतम स्थान के समतुल्य ही माना गया है, क्योंकि विष्णु, अग्नि के उच्चतम, तृतीय स्थान की रक्षा करते हैं (१०, १³), और विष्णु के उच्चतम स्थान पर अग्नि रहस्यात्मक गायों (कदाचित = मेघ, ५, ३³) की रक्षा करते हैं। ज्ञानीजन विष्णु के उच्चतम पग को आकाश में स्थित एक नेत्र के रूप में देखते हैं (१, २२²⁰)। वह विष्णु का प्रिय आवास ही है जहाँ पुण्यात्मा लोग आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, जहाँ मधु का एक कूप है (१, १५४⁵) और जहाँ देवगण सुखपूर्वक रहते हैं (८, २९⁷)। यह उच्चतम पग[1] तेज से परिपूर्ण होकर नीचे की ओर प्रकाशित होता रहता है, और यही इन्द्र तथा विष्णु का वह आवास है जहाँ द्रुतगति से चलनेवाली अनेक सींघों से युक्त गायें[2] (कदाचित = मेघ) रहती हैं, और जहाँ पहुँचने की प्रत्येक गायक कामना करता है (१, १५४⁶)। प्रत्येक प्राणी इन तीनों पगों की सीमा के अन्तर्गत ही निवास करते हैं (१, १५४²), और यह मधु से परिपूर्ण हैं (१, ५४⁴); कदाचित इसलिये कि तृतीय और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद इससे परिपूर्ण है ही।[3] विष्णु उच्चतम आवासों (पाथस्)[4] की रक्षा करते हैं; जिसका अर्थ यह है कि यही इनका प्रिय आवास स्थान है (३, ५५¹⁰), और अन्यत्र (१, १५४⁵) इसको स्पष्टतः ऐसा ही कहा भी गया है। एक अन्य स्थल पर (७, १००⁵) अपेक्षाकृत कम निश्चित रूप से विष्णु को इस स्थान से सुदूर वास करनेवाला बताया गया है।

एक बार (१, १५६[५]) इन्हें तीन आवासोंवाला (त्रिपधस्थ) कहा गया है, जो प्रमुखतः अग्नि की ही उपयुक्त उपाधि है (§ ३५)।

यह प्रायः सर्वसम्मत विचार है कि विष्णु के तीन पगों से सूर्य के पथ का आशय है। किन्तु मूलतः यह किसका प्रतिनिधित्व करते हैं ? सर्वथा प्रकृत्यात्मक व्याख्या के अनुसार, जिसे अधिकांश योरोपीय विद्वान्[५] और यास्क के पूर्वगामी 'और्णवाभ' (निरुक्त १२, १९) ग्रहण करते हैं, इन तीन पगों का अर्थ क्रमशः सूर्य का उदय, मध्याह्न में शिरोविन्दु पर उसकी स्थिति, तथा अस्त होना है। इसके विपरीत एक अन्य दृष्टिकोण, जो अपेक्षाकृत बाद के वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, और वैदिकोत्तर साहित्य में सर्वत्र प्रचलित है, और जिसकी यास्क के एक अन्य पूर्वगामी 'शाकपूणि' ने पुष्टि की है, तथा जिसे ही प्रस्तुत पुस्तक के लेखक और बर्गेन[८] भी ग्रहण करते हैं, इन तीन पगों की ब्रह्माण्ड के तीन विभाजनों से होकर जाने वाले सौर-देव के पथ के रूप में व्याख्या करता है। यह तथ्य भी उक्त प्रथम व्याख्या के विपरीत है कि विष्णु के तृतीय पग में सूर्यास्त से सम्बद्ध होने का कोई भी संकेत नहीं मिलता, जब कि इसके विपरीत यह उच्चतम पग के समतुल्य हो सकता है। उक्त द्वितीय दृष्टिकोण ऋग्वेद द्वारा प्रस्तुत जो कुछ भी प्रमाण हैं उनके विपरीत नहीं है, और बाद के वेदों से आरम्भ होने वाली प्रायः अपरिवर्तित भारतीय परम्परा से भी पुष्ट होता है।

गतिशीलता की धारणा विष्णु की एक अन्य चारित्रिक विशेषता है जो इन तीन पगों के अतिरिक्त अन्य अभिव्यक्तियों द्वारा भी व्यक्त होती है। 'उरुगाय' और 'उरुक्रम' उपाधियाँ, तथा क्रिया पद 'वि-क्रम' प्रायः सर्वत्र विष्णु तक ही सीमित हैं। यह बाद का शब्द सूर्य के लिये भी उपलक्षणात्मक आशय में प्रयुक्त हुआ है, जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह (सूर्य) आकाश के मध्य में स्थित विभिन्न रंगों वाला एक ऐसा रत्न है जो अनेक पाद-प्रक्षेप करता है (५, ४७[३])। विष्णु क्षिप्र, 'एष' (अन्यथा जो केवल एक बार बृहस्पति को भी कहा गया है), अथवा द्रुतगामी, 'एवया', 'एवयावन्' (अन्यथा जिसे केवल मरुतों से ही सम्बद्ध किया गया है) भी हैं। क्षिप्र और दूर तक विस्तृत गतिशीलता की धारणा के साथ ही नियमितता का विचार भी संयुक्त है। अपने तीनों पाद-प्रक्षेपों में विष्णु नियमों का ध्यान रखते हैं (१, २२[१८])। नियमित रूप से आने वाले अन्य देवों (अग्नि, सोम, सूर्य, उषस्) की विशिष्टता के ही समान विष्णु भी 'विधान के प्राचीन अंकुर' हैं और एक प्रेरक भी, जो (अग्नि, सूर्य, उषस् की भाँति) प्राचीन और अर्वाचीन दोनों हैं (१, १५६[२-५])। जो शब्द सूर्य-देव सवितृ के लिये प्रयुक्त हुये हैं (५, ८१[३]), उन्हीं में इनके लिये भी यह कहा गया है कि इन्होंने पार्थिव स्थानों को नापा था (१, १५४[१];

६, ४९[13])। इस उक्ति के साथ उस स्थल की भी तुलना की जा सकती है जहाँ कहा गया है कि वरुण ने सूर्य के साथ स्थानों को नापा था (पृ० १९)। एक स्थल पर (१, १५५[6] तु० की० १, १६४[4,48]) यह वर्णन है कि विष्णु ने अपने ९० अश्वों (=दिनों) को उनके चार नामों (=ऋतुओं) सहित एक घूमते पहिये की भाँति गतिशील बना दिया। इसका ३६० दिनों के सौर-वर्ष के अतिरिक्त कदाचित् ही कुछ अन्य अर्थ हो सकता है। अथर्ववेद (५, २६[7]) में यज्ञ को उष्णता प्रदान करने के लिये विष्णु का स्तवन किया गया है। ब्राह्मणों में विष्णु का कटा हुआ मस्तक ही सूर्य बन गया है। वैदिकोत्तर साहित्य में विष्णु के अस्त्रों में से एक घूमता हुआ चक्र भी है जो सूर्य के सदृश्य ही बना होता है (तु० की० ५, ६३[4]); और विष्णु का वाहन पक्षियों में प्रधान गरुड़ है जो देखने में अग्नि की भाँति प्रदीप्त बताया गया है और जिसे 'गरुत्मत्' तथा 'सुपर्ण' भी कहा जाता है, जब कि यह दोनों ही शब्द ऋग्वेद में सूर्य-पक्षी के लिए व्यवहृत हुये हैं। अन्ततः वैदिकोत्तर कालीन 'कौस्तुभ' अथवा विष्णु द्वारा अपने वक्षःस्थल पर धारण की गई मणि की भी कुन[9] द्वारा सूर्य के रूप में ही व्याख्या की गई है। इस प्रकार, यद्यपि विष्णु अपने स्वरूप में प्राकृतिक घटना से स्पष्टतः सम्बन्धित नहीं किये गये हैं, तथापि उपलब्ध प्रमाण इस निष्कर्ष की उपयुक्तता सिद्ध करते हुये प्रतीत होते हैं कि मूलतः सूर्य के रूप में ही इनकी धारणा विकसित हुई थी, जो कि सामान्य चरित्र की दृष्टि से न सही, किन्तु द्रुतगति से चलने वाले एक ऐसे मूर्तीकृत प्रदीप्त पिण्ड के रूप में ही थी जो अपने विस्तृत पगों द्वारा समस्त विश्व को पार करता हुआ प्रतीत होता है। यह व्याख्या इनके नाम के 'विष्'[10] धातु से व्युत्पन्न होने द्वारा भी सिद्ध होती है, जो ऋग्वेद में अनेक बार प्रयुक्त हुई है और जिसका अर्थ 'सक्रिय' होता है (रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश)। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सौर-गति का प्रतिनिधित्व करने-वाले के रूप में विष्णु एक 'सक्रिय व्यक्तित्व' सिद्ध होते हैं। फिर भी, औल्डेन-बर्ग[11] का विचार है कि विष्णु के चरित्र में सौर प्रकृति की सभी निश्चित वृत्तियों का अभाव है और आरम्भ से ही इन्हें एक विस्तृत स्थानों पर पाद प्रक्षेप करने वाला व्यक्ति मात्र माना गया है जिनके तीन पगों से किसी भी प्राकृतिक घटना की कोई समानता नहीं है। इन पगों की संख्या को आप केवल पुराकथा शास्त्रों में व्यक्त 'त्रयी' के प्रति विशेष अनुराग का ही परिणाम मानते हैं।

विष्णु के उच्चतम पग की, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, इनके विशिष्ट आवास के रूप में कल्पना की गई है। स्वभावतः सूर्य की गति को अन्य किसी भी स्थान की अपेक्षा केवल मध्याह्निक अथवा शिरोविन्दु पर ही स्थिर माना जा सकता है; अतः हम यह देखते हैं कि यास्क ने भी शिरोविन्दु को 'विष्णु पद',

अर्थात् विष्णु का 'पग' अथवा 'स्थान' कहा है। एक ही सूक्त (१, १५४[२.३]) में विष्णु के लिये व्यवहृत 'गिरिक्षित्' (पर्वत पर रहने वाला), और 'गिरिष्ठा' (पर्वतानुकूल) आदि उपाधियाँ भी कदाचित् इसी श्रेणी के विचारों से सम्बद्ध प्रतीत होती हैं, क्योंकि दूसरे सूक्त (१, १५५[१]) में ही विष्णु और इन्द्र को सम्मिलित रूप से 'दो ऐसे अभ्रमित व्यक्ति' कहा गया है जो अपने न फिसलने-वाले अश्वों के साथ पर्वत शिखर (सानुनि) पर खड़े हैं। इसका मेघ रूपी पर्वतों[१२] की ऊँचाई से नीचे देखने वाले सूर्य का ही लाक्षणिक आशय प्रतीत होता है (तु० की० ५, ८७[४])। ऋग्वेद की कदाचित् इन्हीं अभिव्यक्तियों के कारण बाद में विष्णु को 'पर्वतों का अधिपति' (तैत्तिरीय संहिता ३, ४, ५[१]) कहा गया है।

विष्णु ने क्यों तीन पग रक्खे इसका कारण एक गौण बात है। इन्होंने त्रस्त मानवता के लिये पार्थिव स्थानों को तीन बार नापा (६, ४९[१३]); मनुष्य को आवास प्रदान करने के लिये इन्होंने पृथ्वी पर पाद-प्रक्षेप किया (७, १००[४]); इन्होंने लोकरक्षा के लिये पार्थिव स्थानों का पाद-प्रक्षेप किया (१, १५५[४]); इन्द्र के साथ इन्होंने विस्तृत पाद-प्रक्षेप किये और हम लोगों के रहने के लिये लोकों का प्रसार किया (६, ६९[५.६])। ऋग्वेद की इस विशेषता में ही अन्ततोगत्वा हम विष्णु के वामन अवतार की उस पुराकथा के स्रोत भी ढूँढ़ सकते हैं जिसका महाकाव्य तथा पुराणों में उल्लेख है। इस पुराकथा के विकास का माध्यमिक स्तर ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है (शतपथ ब्राह्मण १, २, ५[५]; तैत्तिरीय संहिता २, १, ३[१]; तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ६, १[५]), जहाँ हम विष्णु को तीन पगों द्वारा देवों के लिये असुरों से कौशलपूर्वक पृथ्वी की पुनर्प्राप्ति के हेतु वामन रूप धारण करते हुये देख सकते हैं।[१३]

विष्णु के चरित्र की सर्वप्रमुख परवर्ती विशेषता इनकी इन्द्र के साथ मित्रता है। वृत्र के विरुद्ध युद्ध में इन्हें अक्सर इन्द्र के साथ दिखाया गया है। यह इस तथ्य द्वारा प्रकट होता है कि एक सम्पूर्ण सूक्त (६, ६९) इन दोनों देवों को संयुक्त रूप से समर्पित किया गया है, और इन्द्र का नाम युगल रूप में विष्णु के साथ भी प्रायः उतनी ही बार संयुक्त किया गया है जितनी बार सोम के साथ, यद्यपि यह बाद का देव (सोम) ऋग्वेद में विष्णु की अपेक्षा कहीं अधिक बार आता है। इन दोनों के सम्बन्ध की घनिष्ठता इस बात द्वारा भी व्यक्त होती है कि अकेले विष्णु की प्रशस्ति करने वाले सूक्तों में केवल इन्द्र ही एक ऐसा देव है जिसे इनके साथ अक्सर स्पष्टतः (७, ९९[५.६]; १, १५५[२]), अथवा उपलक्षणात्मक रूप से (७, ९९[४]; १, १५४[६] १५५[१]; तु० की० १, ६१[७])[१४] सम्बद्ध किया गया है। विष्णु ने अपने तीनों पग इन्द्र के ओज (ओजसा) से युक्त

होकर ही रक्खे थे (८, १२[२७]), और जिसे (इन्द्र को) पिछले ही मन्त्र में वृत्र का वध करने वाला कहा गया है; अथवा इन्द्र के लिये इन्होंने पाद प्रक्षेप किया (वालखिल्य ४[३])। वृत्र का वध करने के समय इन्द्र यह कहते हैं कि 'हे मित्र विष्णु ! विस्तृत पाद-प्रक्षेप करो (४, १८[११])। विष्णु को साथ लेकर इन्द्र ने वृत्र का वध किया (६, २०[२])। विष्णु और इन्द्र ने मिल कर 'दास' पर विजय प्राप्त की, शम्बर के ९९ दुर्गों को ध्वस्त किया, और 'वर्चिन्' के दल को पराजित कियां (७, ९८[४-५]); विष्णु इन्द्र के घनिष्ठ मित्र हैं (१, २२[१९])। अपने मित्र को साथ लेकर अथवा मित्रयुक्त होकर विष्णु ने गायों के खड़े होने के स्थानों को खोला (५, १५६[४])। शतपथ ब्राह्मण (५, ५, ५[१]) में इन्द्र का वृत्र पर वज्र प्रहार करते हुये वर्णन है, जब कि विष्णु भी उनके पीछे हैं (तु० की० तैत्तिरीय संहिता ६, ५, १[१])। अनेक अलग अलग मन्त्रों में भी इन्द्र के साथ विष्णु का आवाहन किया गया है (४, २[४]·५५[४]; ८, १०[२]; १०, ६६[४])। जहाँ एक युगल देव के रूप में इन्द्र के साथ सम्बद्ध किये गये हैं वहाँ विष्णु भी इन्द्र की सोमपान करने की शक्ति (६, ६९) तथा इन्द्र की विजयों के श्रेय (७, ९९[४-६]) से युक्त हैं। इसके विपरीत इन्द्र भी विष्णु के पाद-प्रक्षेप करने की शक्ति में भाग लेते हैं (६, ६९[५]; ७, ९९[६])। इन दोनों को सम्मिलित रूप से विस्तृत वायु के सृजन और स्थानों के विस्तारण (६, ६९[५]), तथा, सूर्य, उषस्, और अग्नि को उत्पन्न करने (७, ९९[४]) के गुणों से युक्त बताया गया है। इसी मित्रता के कारण विष्णु के साथ बैठ कर ही इन्द्र सोमपान (८, ३[८]·१२[१६]) और इस प्रकार अपनी शक्ति वृद्धि करते हैं (८, ३[८]; १०, ११३[२])। विष्णु द्वारा निचोड़े गये सोम को इन्द्र ने तीन पात्रों में रखकर पान किया (२, २२[१] तु० की ६, १७[११]), जो क्रिया यहाँ मधु से परिपूर्ण विष्णु के तीन पगों (१, १५४[४]) का स्मरण दिलाती है। इन्द्र के लिये विष्णु ने १०० भैंसें (६, १७[११]) अथवा १०० भैंसें और एक क्षीर-सुरा पकाया (८, ६६[१०] तु० की० १, ६१[७])। मित्र, वरुण और मरुतों के साथ विष्णु, गीतों द्वारा इन्द्र की प्रशस्ति गाते हैं (८, १५[९])।

वृत्र के विरुद्ध युद्ध में इन्द्र के सतत सहायक मरुतों को भी विष्णु के साथ सम्बद्ध किया गया है। जब विष्णु ने उल्लासप्रद सोम का पान किया उस समय पक्षियों की भाँति मरुद्गण अपनी प्रिय वेदियों पर आसीन थे (१, ८५[७])।[१५] क्षिप्र विष्णु का तर्पण करते समय मरुतों का भी आवाहन किया गया है (२, ३४[११] तु० की० ७, ४०[५])। मरुद्गण क्षिप्र विष्णु की उदारता के स्वरूप हैं (८, २०[३])। मरुतों ने इन्द्र की सहायता की, जब कि पूषन्-विष्णु ने उनके लिये १०० भैंसें पकाया (६, १७[११])। विष्णु प्रेरणा देने वाले हैं। इन्हें मरुतों (मारुत) से सम्बद्ध किया गया है और इनकी इच्छा का वरुण तथा अश्विनगण

अनुसरण करते हैं (१, १५६[४])। एक सूक्त में आद्योपान्त (५, ८७, मुख्यतः चौथे और पाँचवें मन्त्रों में) विष्णु को मरुतों के साथ सम्वद्ध किया गया है, जिनके साथ ही यह अग्रसर होकर द्रुत गति से चलते हैं।[१६]

विष्णु सम्वन्धी ऋग्वेद के यत्र-तत्र सन्दर्भों के अन्तर्गत एक ऐसे स्थल (७, १००[६]) का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें विष्णु के विभिन्न स्वरूपों की चर्चा है : 'अपने इस रूप को हमसे गुप्त न रक्खो, क्योंकि युद्ध में तुमने दूसरा ही रूप धारण किया था'। विष्णु को भ्रूणों का रक्षक कहा गया है (७, ३६[९]) और गर्भाधान के लिये अन्य देवों के साथ इनका भी आवाहन किया गया है (१०, १८४[१])। खिल १०, १८४,[१७] के बाद तृतीय् मन्त्र में एक पाठ के अनुसार विष्णु से यह स्तुति की गई है कि वह एक अत्यन्त सुन्दर बालक गर्भस्थ करें; अथवा एक अन्य पाठ के अनुसार विष्णु के ही सर्वसुन्दर रूप के सदृश्य बालक की कामना की गई है।[१८]

विष्णु की अन्य विशेषतायें सामान्यतः अन्य देवों के लिये भी व्यवहृत हो सकती हैं। यह उपकारी (१, १५६[५]), निरुपद्रव और कृपालु (८, २५[१२]), उदार (७, ४०[५]), एक रक्षक (३, ५५[१०]), जो अभ्रमित हैं (१, २२[१८]), तथा अनपकारक और उदार मुक्तिदाता (१, १५५[४]) हैं। केवल यही लोकत्रय, पृथ्वी और आकाश, तथा समस्त प्राणियों को धारण करते हैं (१, १५४[४])। इन्होंने ही लोकों को सर्वत्र खूँटियों से दृढ़ किया (७, ९९[3])। यह प्रेरणा देने वाले हैं (१, १५६[४])।

ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु को क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में तीन पाद-प्रक्षेप करनेवाला कहा गया है (शतपथ ब्राह्मण १, ९, ३[९]; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १, २[७])। यज्ञकर्त्ता इन तीनों पगोंका अनुसरण करता है, और विष्णु के इन तीनों पगों को पृथ्वी से आरम्भ होकर द्युलोक में समाप्त मानता है,[१९] क्योंकि यही चरम अभीष्ट है, यही सुरक्षित शरणस्थल है, और यही सूर्य है (शतपथ ब्राह्मण १, ९, ३[१०-१५])। अवेस्ता के एक संस्कार में पृथ्वी से लेकर सूर्य के क्षेत्र तक बढ़ाये गये 'अम्षस्पन्दस' के तीन पग भी इन्हीं की अनुकृति हैं।[२०] ब्राह्मणों में एक विशेषता यह भी है कि इनमें, विष्णु तथा यज्ञ के बीच, नित्य ही समीकरण स्थापित किया गया मिलता है।

विष्णु से सम्बद्ध दो अन्य पूराकथायें भी ब्राह्मण ग्रन्थों में विकसित हुई हैं जिनका उद्गम ऋग्वेद में ढूढ़ा जा सकता है। ऋग्वेद में इन्द्र के साथ सम्मिलित होकर दैत्यों को पराजित करने वाले एक देव के रूप में ही विष्णु का वर्णन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सामान्यतया सुर (देव) और असुर (दैत्य) दो परस्पर विरोधी दलों के रूप में व्यक्त किये गये हैं, जिनमें से प्रथम, जैसा कि

ऋग्वेद में है, सदैव विजयी ही नहीं होते, वरन् अक्सर पराभूत भी होते हैं। ऐसी स्थिति में यह लोग पुनः प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये विविध कौशलों का आश्रय लेते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (६, १५) में ऐसा वर्णन है कि असुरों के विरुद्ध युद्ध रत इन्द्र तथा विष्णु का यह समझौता हुआ कि तीन पगों से विष्णु जितना क्षेत्र नाप सकेंगे वही क्षेत्र देवों का हो जायगा। तदनुसार विष्णु ने तीनों लोकों, वेदों, और वाच् को क्रमशः अपने तीनों पगों के अन्तर्गत नाप लिया। शतपथ ब्राह्मण (१, २, ५) यह वर्णन करता है कि देवों पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात असुरों ने किस प्रकार पृथ्वी का विभाजन करना आरम्भ किया और किस प्रकार विष्णुरूपी यज्ञ को अपने शीर्ष पर धारण कर देवगण वहाँ गये तथा असुरों से पृथ्वी का एक अंश अपने लिये माँगा। उस समय असुरगण केवल उतना ही स्थान देने पर सहमत हुये जितने पर विष्णु, जो वामन वेश में थे, लेट सकते थे। इस पर देवों ने उस विष्णु के साथ यज्ञ किया जो आकार में यज्ञ के बराबर थे, और समस्त पृथ्वी को प्राप्त कर लिया। यहाँ विष्णु के तीन पगों का उल्लेख नहीं है, किन्तु एक अन्य स्थल पर (शतपथ ब्राह्मण १, ९, ३[९]) यह कहा गया है कि देवों के लिये विष्णु ने ही तीनों लोकों पर पाद-प्रक्षेप करके उस सर्वव्यापिनी शक्ति का अर्जन किया था जिससे देवगण आज युक्त हैं। तैत्तिरीय संहिता २, १, ३[१] में यह कहा गया है कि एक ऐसे वामन का रूप धारण करके, जिसे उन्होंने देखा था, विष्णु ने तीनों लोकों को विजित कर लिया (तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ६, १[५])। ऐसा प्रतीत होता है कि असुरों द्वारा किसी प्रकार की शंका से बचने के लिये ही स्वभावतः विष्णु के वामनरूपी छद्म वेश की धारणा का सृजन कर लिया गया है।[२१] ब्राह्मण ग्रन्थों की यही कथा वैदिकोत्तर साहित्य में विष्णु के वामन अवतार की पुराकथा में परिणत हो गई है।[२२]

ब्राह्मण ग्रन्थों की एक और पुराकथा ऋग्वेद के दो स्थलों (१, ६१[७]; ८, ६६[१०]) से उद्धृत हुई है। इनका आशय यह है कि सोमपान कर लेने के पश्चात्, और इन्द्र द्वारा निवेदित होने पर, विष्णु, वाराह (=वृत्र) की १०० भैंसें और क्षीर-सुरा उठा ले गये थे, जब कि उसी समय इन्द्र ने पर्वत (मेघ) के भीतर से उस प्रबल (एमुषम्) वाराह का वध किया। सम्पत्ति को लूटने वाले एक वाराह ने असुरों की सम्पत्ति को सात पर्वतों के पीछे छिपा दिया था। इन्द्र ने कुश के एक गुच्छे को उखाड़ कर उसी से इन पर्वतों का भेदन करते हुये उस वाराह का वध किया। यज्ञरूपी विष्णु उस वाराह को देवों के यज्ञ के लिये उठा लाये। इस प्रकार देवों ने असुरों की समस्त सम्पत्ति प्राप्त कर ली। काठक (इन्डिशे स्टूडियन xi, पृ० १६१) के एक सामानान्तर स्थल पर इस वाराह को 'एमूष' कहा गया है। बहुत थोड़े परिवर्तन के साथ यही कथा चरक ब्राह्मण (ऋग्वेद

८, ६६[१०] पर सायण द्वारा उद्धृत) में भी कही गई है। शतपथ ब्राह्मण (१४, १, २[११]) में यही वाराह एक जगत्सृष्ट्यात्मक रूप में प्रकट होता है, जहाँ 'एमूष' नाम से यह जल के भीतर से पृथ्वी को ऊपर उठाकर लाता है। तैत्तिरीय संहिता (७, १, ५[१]) में इस जगत्सृष्ट्यात्मक वाराह को, जो आद्यजल के भीतर से पृथ्वी को ऊपर उठाता है, प्रजापति का एक रूप कहा गया है। इस पुराकथा का यह परिष्कार तैत्तिरीय ब्राह्मण (१, १, ३[५]) में और विकसित हो गया है। रामायण और पुराणों के वैदिकोत्तर पुराकथाशास्त्र में पृथ्वी को ऊपर उठाने वाला यही वाराह विष्णु का एक अवतार बन गया है।

विष्णु के दो अन्य अवतारों के स्रोत भी ब्राह्मणों में मिलते हैं, जिन्हें यद्यपि अबतक विष्णु से सम्बद्ध नहीं किया गया है। शतपथ ब्राह्मण (१, ८, १[१]) का मत्स्य, जो प्रलय जल से मनु को बाहर करता है, महाभारत में प्रजापति के रूप में आता है और पुराणों में विष्णु का एक अवतार बन गया है। शतपथ ब्राह्मण (७, ५, १[५] तु० की० तैत्तिरीय आरण्यक १, २३[३]) में सन्तानोत्पत्ति करने के इच्छुक प्रजापति, आद्यजल में भ्रमण करनेवाले एक कश्यप बन जाते हैं। पुराणों में यही कश्यप विष्णु का अवतार बन गया है, जो प्रलय जल में लुप्त अनेक वस्तुओं को पुनः प्राप्त करने के लिये यह रूप धारण करता है।[२३]

शतपथ ब्राह्मण (१४, १, १) एक पुराकथा कहता है जिसमें यह वर्णन है कि किस प्रकार यज्ञरूपी विष्णु सर्वप्रथम यज्ञ का महत्त्व समझ लेने के कारण देवों में सर्व प्रमुख बन सके और किस प्रकार इनका धनुष टूट जाने से इनका सर कट कर सूर्य (आदित्य) बन गया। इसी कथा में तैत्तिरीय आरण्यक (५, १, १-७) इतना और जोड़ देता है कि चिकित्सक के रूप में अश्विनों ने यज्ञ के सर को पुनः यथास्थान स्थित कर दिया था जिससे सम्पूर्ण रूप से इसे सम्पन्न करके देवों ने द्युलोक पर विजय प्राप्त कर लिया (तु० की० पंचविंश ब्राह्मण ७, ५[६])।

ऐतरेय ब्राह्मण (१, १) में स्थानगत आधार पर देवों में सर्वोच्चस्थ विष्णु का, सबसे निम्नस्थ अग्नि के साथ विभेद किया गया है, और अन्य सभी देवों को इन दोनों के मध्य में स्थित बताया गया है। यह ब्राह्मण (१, ३०) ऋग्वेद १, १५६[४] का उद्धरण देते हुये, जहाँ यह उल्लेख है कि अपने मित्रों से युक्त होकर विष्णु ने गायों के खड़े होने के स्थान को खोला, यह वर्णन करता है कि विष्णु देवों के द्वारपाल हैं।

[१]हार्डी : वे० पी०, ३३ के अनुसार 'चन्द्रमा — [२]सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, हार्डी : वे० पी०, और अन्य के अनुसार 'तारे' — [३]तु० की० बर्गेन : ल० रि०

वे० २, ४१६ — [४]अन्यथा फे० वे० ९७-१००, में सीग — [५]ह्विट्ने, मैक्स मूलर, हॉग, केगी, ड्यूसन, और अन्य — [६]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४१४-५ — [७]मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, १७०-५ — [८]कुन : हे० गौ०, २२२ — [९]ऊ० वि० ११६ — [१०]अन्य निष्पत्तियों के लिये : औ० वे० २२९, हॉ० इ० ५८०, बेज़ेनबर्गर : बी० २१, २०५ — [११]औ० वे० २२८-३० — [१२]तु० की०, औ० वे० २३०, नोट २; मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, पृ० १७४, नोट २ — [१३]ज० ए० सो० २७, १८८-९ — [१४]वही, १८४ — [१५]बर्गेन : ज० ए० १८८४, पृ० ४७२ — [१६]मैक्समूलर : से० बु० ई० ३२, पृ० १२७, १३३-७ — [१७]ऑफरेख्त : ऋग्वेद, ii[२], ६८७ — [१८]विन्टरनिज़ : ज० ए० सो० २७, १५०-१ — [१९]हिलेब्रान्ट : न्यू-उन्ट वौलमौन्डसोफर, १७१ और बाद — [२०]डर्मेस्टेटर : अवेस्ताका फ्रेन्च अनुवाद, १, ४०१; औ० वे० २२७ — [२१]अन्यथा कुन : ऊ० वि० १२८ — [२२]ज० ए० सो० २७, १६८-१७७ — [२३]वही, १६६-८।

ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३२५; मूईर : सं० टे० ४, ६३-९८, १२१-९, २९८; वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन २, २२६ और बाद; ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा ३३८; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४१४-८; औ० वे० २२७-३०; हॉपकिन्स : प्रो० सो० १८९४ cxlvii, और बाद; हॉ० इ० ५६ और बाद।

§ *१८. विवस्वत् :*—विवस्वत् की ऋग्वेद के किसी भी एक अकेले सूक्त में प्रख्याति नहीं है, किन्तु इनका नाम प्रायः तीस बार आता है। यह अश्विनों के (१०, १७[२]) और यम के (१०, १४[५]·१७[१]) पिता हैं। जैसा कि वैदिकोत्तर साहित्य में है, यह वेदों में भी मानवजाति के आदि पूर्वज मनु (§ ५०) का पिता है, और एक बार (वालखिल्य ४[१]) मनु को विवस्वत् (= वैवस्वत, पृ० २२) कहा गया है, और अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण में उनको 'वैवस्वत' पैतृक नाम से ही विभूषित किया गया है। मनुष्यों को प्रत्यक्ष रूप से 'विवस्वान् आदित्यः' की भी सन्तान कहा गया है (तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ६[२]; शतपथ ब्राह्मण ३, १, ३[४])। एक बार देवों को भी विवस्वत् की सन्तान (जनिमा) कहा गया है (१०, ६३[१])। विवस्वत् की पत्नी 'त्वष्टृ' की पुत्री 'सरण्यू' है (१०, १७[१·२])।

विवस्वत्, और साथ ही साथ मातरिश्वन् के सम्मुख ही अग्नि सर्वप्रथम प्रकट हुये थे (१, ३१[३])। मातरिश्वन् को एक बार विवस्वत् का दूत कहा गया है (६, ८[४]), किन्तु अन्यथा अग्नि ही इनका दूत है (१, ५८[१]; ४, ७[४]; ८, ३९[३]; १०, २१[५])। विवस्वत् के ऋषि के रूप में एक बार अग्नि की अपने पितरों (अग्नि उत्पन्न करने वाली लकड़ियाँ, अरणि) द्वारा उत्पन्न होने की बात कही गई है (५, ११[३])।

विवस्वत् के 'सदन' का पाँच बार उल्लेख है। देवगण (१०, १२^{७}) और इन्द्र इसमें (सदन में) आनन्द मनाते हैं (३, ५१^{३}) और यहीं गायकगण इन्द्र की महानता (१, ५३^{१}; ३, ३४^{७}) अथवा जल की महानता (१०, ७५^{१}) का गुणगान करते हैं। कदाचित् उस समय भी इसी धारणा का संकेत प्रतीत होता है जब एक नवीन सूक्त (१, १३९^{१}) को विवस्वत् के अन्तर्गत एक केन्द्र (नाभा) के रूप में रखे जाने की बात कही गई है।

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर इन्द्र को विवस्वत् के साथ सम्बद्ध किया गया है। इन्द्र विवस्वत् की स्तुति में आनन्द का अनुभव करते हैं (८, ६^{३९}), और इन्होंने अपना समस्त धनकोश विवस्वत् के बगल में रख दिया था (२, १३^{६})। विवस्वत् की दस[१] (उँगलियों) द्वारा इन्द्र द्युलोक से पात्रों के जल को नीचे गिराते हैं (८, ६१^{८}, तु० की ५, ५३^{६})। विवस्वत् के आवास के साथ इन्द्र के इतने घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध होने के कारण सोम के भी यहीं होने की सम्भावना मानी गई है। और वास्तव में नवम मण्डल में सोम को भी विवस्वत् के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध किया गया है। सोम, विवस्वत् के साथ ही रहता है (९, २६^{४}) और विवस्वत् की पुत्रियाँ (= उँगलियाँ) इसे परिष्कृत करती हैं (९, १४^{५})। विवस्वत् की स्तुतियाँ पिशंग सोम को प्रवाहित कराती हैं (९, ९९^{२})। सात बहने (= जल) बुद्धिमान् सोम को विवस्वत् के पथ पर आने का निवेदन करती हैं (९, ६६^{८})। विवस्वत् का (आशीर्वाद) प्राप्त कर लेने पर और उषा के भाग्य (भगम्) को जागृत करते हुये सोम की धारायें छनने से होकर प्रवाहित होती हैं (९, १०^{५})।

विवस्वत् के साथ रहने वाले अश्विनों से, अर्पित उपहारों के पास आने के लिये स्तुति की गई है (१, ४६^{१३})। आश्विनों के रथ के जुतने के समय आकाश की पुत्री का और विवस्वत् के दो उज्वल दिनों (सम्भवतः रात्रि और दिन) का जन्म होता है (१०, ३९^{१२}; तु० की० शतपथ ब्राह्मण १०, ५, २^{४})।

वरुण और अन्य देवों के साथ भी विवस्वत् का एक उपास्य देव के रूप में उल्लेख है (१०, ६५^{६})। एक स्थल पर विवस्वत् में आक्रमक प्रवृत्ति भी लक्षित होती है, जब आदित्यों का उपासक यह स्तुति करता है कि विवस्वत् का सु-लक्षित वाण वृद्धावस्था[२] के पूर्व ही उनका वध न कर दे (८, ५६^{२०}, तु० की० अथर्ववेद १९, ९^{७})। इसके विपरीत, विवस्वत्, यम से भी रक्षा करते हैं (अथर्ववेद १८, ३^{६२})।

अग्नि और उषस् के सन्दर्भ में विवस्वत् शब्द कुछ बार 'देदीप्यमान' के अर्थ में विशेषणात्मक रूप से प्रयुक्त हुआ है। अग्नि के सम्बन्ध में यह कहा गया हैकि

इसने मनुओं की प्रजा को उत्पन्न किया और आकाश और जल को तेज से व्याप्त किया (१, ९६[२])। अग्नि एक बुद्धिमान्, असीम, और देदीप्यमान ऋषि हैं जो उषा के आरम्भ के समय प्रकाशित होते हैं (७, ९[३])। अग्नि से देदीप्यमान उषा रूपी उपहार प्रकट करने की स्तुति की गई है (१, ४४[१]), और मनुष्य गण देदीप्यमान उषा का तेज युक्त मुख देखने की कामना करते हैं (३, ३०[१३])। विवस्वत् का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ 'प्रकाशित होना' (वि + √वस्) उषस् के सम्बन्ध में विशेषतः उपयुक्त है क्योंकि 'उषस्' नाम भी उसी धातु से व्युत्पन्न हुआ है और इसके सम्बन्ध में 'विउष्' तथा 'विउष्टि' (प्रकाशित होना, उदय होना) शब्दों का प्रायः सदैव ही प्रयोग किया गया है। इसकी व्युत्पत्ति शतपथ ब्राह्मण में दी हुई है, जहाँ यह कहा गया है कि 'आदित्य विवस्वत्' दिन और रात्रि को प्रकाशित (वि-वस्ते) करता है (शतपथ ब्राह्मण १०, ५, २[४])।

यजुर्वेद (वाजसनेयि संहिता ८, ५; मैत्रायणी संहिता १, ६[१२]) और ब्राह्मणों में विवस्वत् को 'आदित्य' कहा गया है, तथा वैदिकोत्तर साहित्य में यह सूर्य का एक साधारण नाम है।

विवस्वत् भारतीय-ईरानी काल में भी उपलब्ध है, जहाँ यह उस 'विवन्ह्वन्त्' (यिम के पिता) के समतुल्य है जिसे 'हओम' बनाने वाला प्रथम व्यक्ति कहा गया, और जिसके बाद द्वितीय व्यक्ति 'आथ्व्य' था और तृतीय 'थ्रित' (यस्न, ९, १०)। इनमें से प्रथम और तृतीय का ऋग्वेद (वालखिल्य ४[१]) में भी सम्बन्ध मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि इन्द्र ने मनु विवस्वत् और त्रित के साथ बैठकर सोमपान किया था।

एक पुराकथाशास्त्रीय व्यक्तित्व के रूप में विवस्वत भी त्रित की ही भाँति ऋग्वेद के समय तक विलीन हो चला था। व्युत्पत्तिजन्य अर्थ, अश्विनों, अग्नि सोम से सम्बन्ध, तथा इस तथ्य को भी कि इसका स्थान यज्ञ-स्थल[५] है, ध्यान में रखने पर विवस्वत् की सर्व सम्भाव्य व्याख्या यही प्रतीत होती है कि यह मूलतः उदित होते हुये सूर्य[६] का ही प्रतिनिधित्व करता था। अधिकांश विद्वान्[६] तो इसकी केवल सूर्य के रूप में ही व्याख्या करते हैं। कुछ लोग इसे प्रकाशमय आकाश[७] का देवता, अथवा सूर्य का आकाश[८] मानते हैं। बर्गेन (१,८८) का विचार है कि केवल अग्नि ही, जिसका ही एक रूप सूर्य है, यज्ञकर्त्ता के उस चरित्र के लिये उत्तरदायी हो सकता है जिसकी विवस्वत् में प्रधानता है। 'हओम' के सर्वप्रथम निर्माता, अवेस्ता के 'विवन्ह्वन्त्' के साथ इसकी तुलना करते हुये ओल्डेनबर्ग[९] का यह विश्वास है कि विवस्वत् को प्रकाश का देवता मानने के कारण अपर्याप्त हैं, और यह केवल मानव जाति के प्रथम यज्ञकर्त्ता का ही प्रतिनिधित्व करता है।

[१] तु० की० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ४,३८६ — [२] शर्मन : वि० लि० १४८ — [३] रौथ : त्सी० गे० ४,४२४ — [४] सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; बर्गेन : ल० रि० वे० १,८७; औ० वे० २७५; पिशल : वेदिशे स्टूडियन I, २४२; फॉयः क्रु० त्सी० ३४,२२८ — [५] रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, में बाद का दृष्टिकोण; तु० की०. त्सी० गे० ४,४२५ — [६] कुन, स्पीगेल : डी० पी० २४८ और बाद; हि० वे० मा० १,४८८; हॉ० इ० १२८, १३०, और अन्य — [७] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३,३३३; ५,३९२; एही : यम, १९,२४ — [८] ग्री० ९-१० — [९] औ० वे० १२२; त्सी० गे० ४९,१७३; से० बु० ई० ४६,३९२। तु० की० रौथ : त्सी० गे० ४,४३२; बर्गेन : ल० रि० वे० १,८६-८; हि० वे० मा० १,४७४-८८; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो०, १५,१७६-७।

§ १९. *आदित्यगण* :—देवों के उस वर्ग की, जिसे आदित्य कहते हैं, ऋग्वेद के छः सम्पूर्ण सूक्तों तथा दो अन्य में आंशिक रूप से प्रख्याति है। कौन-कौन से देव आदित्यों के अन्तर्गत आते हैं और उनकी संख्या कितनी है, यह दोनों ही बातें अनिश्चित हैं। कहीं भी छः से अधिक आदित्यों का वर्णन नहीं है, और केवल एक बार : मित्र, अर्यमन्, भग, वरुण, दक्ष और अंश (२,२७[१]) को आदित्य कहा गया है। ऋग्वेद के अन्तिम मण्डलों में इनकी संख्या एक बार (९, ११४[३]) सात बताई गई है, और एक बार (१०, ७०[८]) आठ। 'अदिति', सर्वप्रथम तो देवों को सात ही पुत्र देती है किन्तु आठवें, मार्ताण्ड[१], को बाद में प्रस्तुत करती है (वही,[९])। इन दोनों स्थलों में से किसी में भी आदित्यों का नाम निर्दिष्ट नहीं किया गया है। अथर्ववेद यह कहता है कि 'अदिति' के आठ पुत्र थे (८, ९[२१]), और तैत्तिरीय ब्राह्मण (१, १, ९[१]) इन आठों के नाम इस प्रकार बताता है : मित्र, वरुण, अर्यमन्, अंश, भग, धातृ, इन्द्र, विवस्वत् (इनमें से प्रथम पाँच ऋग्वेद २, २७[१] में आते हैं)। ऋग्वेद २, २७[१] पर भाष्य करते हुये सायण भी इसी तालिका को उद्धृत करते हैं, और यही तैत्तिरीय शाखा के वेद के एक अन्य स्थल पर भी मिलती है। एक स्थल पर शतपथ ब्राह्मण यह कहता है कि 'मार्ताण्ड' को सम्मिलित कर देने से आदित्यों की संख्या आठ हो गई, जब कि दो अन्य स्थलों (६, १, २[८]; ११, ६, ३[८]) पर इनकी संख्या बारह बताई गई है और इन्हें बारहो महीनों से समीकृत किया गया है। वैदिकोत्तर साहित्य में यह लोग नियमित रूप से बारह सूर्य-देव हैं जो प्रत्यक्षतः बारह महीनों से सम्बद्ध किये गये हैं और विष्णु इनमें से एक तथा सर्वश्रेष्ठ[२] हैं। ऋग्वेद २, २७[१] में उल्लिखित छः आदित्यों के अतिरिक्त सूर्य को भी कुछ बार एक आदित्य कहा गया है (पृ० ५६), जो कि ब्राह्मणों तथा बाद में सूर्य का साधारण नाम ही बन गया है। आदित्य के नाम से अग्नि के साथ समीकृत

सूर्य के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इसे देवों ने आकाश में स्थित किया (१०, ८८[११])। सवितृ का भी चार 'आदित्य भगों' की गणना में वरुण, मित्र और अर्यमन् के साथ उल्लेख है (८, १८[३])। अतः यदि ऋग्वेद के कवियों द्वारा आदित्यों की संख्या निश्चित रूप से सात ही दी गई है, तो इसमें सूर्य को सातवाँ होना चाहिये, और आठवाँ 'मार्ताण्ड' है जिसे 'अदिति' फेंक देती है और पुनः लाती है (१०, ७२[८.९])। यह मार्ताण्ड सम्भवतः अस्त होता हुआ सूर्य ही है। अथर्ववेद (१३, २[९.३७]) में सूर्य को अदिति का पुत्र तथा सूर्य और चन्द्रमा को आदित्य (८, २[१५]) कहा गया है। विष्णु का भी उन्हीं देवों की तालिका में आवाहन किया गया है जो ऋग्वेद में आदित्यों के अन्तर्गत आते हैं, यथा : वरुण, मित्र, विष्णु, भग, अंश, और विवस्वत् (११, ६[२])। ऋग्वेद में एक बार (९, १[४]) आदित्यों की माता अदिति नहीं, वरन् वसुओं की पुत्री, स्वर्ण-वर्णा 'मधुकशा' है।

फिर भी, ऋग्वेद में एक बार इन्द्र को युगल रूप में आदित्य और वरुण को आदित्यों में प्रधान, कहा गया है (७, ८५[४])। वालखिल्य ४[७] में तो इन्द्र को प्रत्यक्ष रूप से चतुर्थ आदित्य ही बताया गया है। मैत्रायणी संहिता, २, १[१२] में इन्द्र अदिति के पुत्र हैं, किन्तु शतपथ ब्राह्मण (११, ६, ३[५]) में इनका बारह आदित्यों से विभेद स्पष्ट किया गया है। जहाँ कहीं केवल एक देवता का ही आदित्य के रूप में उल्लेख है, वहाँ सामान्य रूप से इनके प्रधान वरुण का ही आशय है; किन्तु उस सूक्त में जिसमें अकेले मित्र की प्रख्याति है (३, ५९), मित्र को एक आदित्य, और साथ ही साथ सूर्य भी कहा गया है। जब दो आदित्यों का उल्लेख है तब वरुण और मित्र, तथा एक बार वरुण और इन्द्र, से आशय है; जब तीन का उल्लेख है तब वरुण, मित्र और अर्यमन्;[3] और जब पाँच का, जैसा कि एक ही बार उल्लेख है, तब उक्त तीन के साथ-साथ सवितृ और भग भी सम्मिलित कर दिये गये हैं। दक्ष का नाम केवल उपरोल्लिखित छः आदित्यों की गणना के अन्तर्गत आता है। अक्सर आदित्यों का एक सम्मिलित समूह के रूप में ही आवाहन किया गया है। किन्तु साथ ही साथ ऐसे स्थलों पर सामान्यतया मित्र और वरुण के नाम का भी उल्लेख कर दिया गया है। आदित्यगण अक्सर ही, वसुओं, रुद्रों, मरुतों, अङ्गिरसों, ऋभुओं, और विश्वेदेवों जैसे अन्य देव समूहों (§ ४५) के साथ भी आते हैं। कभी-कभी 'आदित्य' शब्द अधिक विस्तृत आशय में देव जाति मात्र का भी वाचक है।[4] एक वर्ग के रूप में इनकी प्रकृति वास्तव में सामान्यरूप से देवजाति के ही समान है, और इस प्रकृति का इनके दो प्रधानों, मित्र और वरुण के चरित्रों की भाँति वैशिष्टीकरण नहीं किया गया है। सामूहिक आशय

में यह लोग सूर्य, चन्द्रमा, तारे और उषा, आदि जैसे किसी विशिष्ट प्रकाशरूप की अपेक्षा एक दिव्य प्रकाश के ही देवता हैं। औल्डेनबर्ग की यह मान्यता कि आदित्यगण मूलतः सूर्य, चन्द्रमा और पाँच ग्रहों का प्रतिनिधित्व करते थे, इनकी अमूर्त प्रकृति और नामों (जैसे भग, अंश, दक्ष), तथा यह मान लेने पर आधारित है कि इनकी संख्या विशिष्टतः सात है[५], जो कि ईरान के 'अमेषस्पेन्तसों' की भी संख्या है।[६] यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन दोनों समूहों में एक भी नाम समान नहीं है, यहाँ तक कि 'मित्र' भी 'अमेषस्पेन्त' नहीं है। अतः आदित्यों की संख्या सात मानने के विश्वास में किसी प्रकार की विशिष्टता अथवा प्राचीनता नहीं है[७]; और यद्यपि 'आदित्यों' तथा 'अमेषस्पेन्तसों' के समीकरण को रौथ के एक लेख[८] के बाद से सामान्यतया स्वीकार कर लिया गया है, तथापि अवेस्ता के कुछ विशिष्ट विद्वानों[९] द्वारा यह अस्वीकृत भी किया जा चुका है।

ऋग्वेद के उन कुछ सूक्तों में जिनमें आदित्यों की प्रख्याति है, (मुख्यतः २, २७ में) केवल सर्वाधिक उल्लिखित मित्र, वरुण और अर्यमन् आदि तीन का ही आशय निहित प्रतीत होता है। जो कुछ भी दूर है, वही इनके लिये निकट है; यह लोग उसी भाँति सभी स्थावर-जङ्गम का पोषण करते हैं जिस प्रकार देवगण विश्व की रक्षा करते हैं (२, $२७^{३.४}$)। यह लोग मनुष्यों के हृदयों में स्थित सभी पाप-पुण्यादि भावों को देखते, और सच्चे-झूठे का विभेद करते हैं (२, $२७^{३}$; ८, $१८^{१५}$)। यह लोग मिथ्यावादिता को घृणा, और पाप को दण्डित करते हैं (२, $२७^{४}$; ७, $५२^{२}$. $६०^{५}$. $६६^{१३}$)। पाप को क्षमा करने (२, $२७^{१४}$. $२९^{५}$) पाप के परिणाम का निराकरण करने अथवा उसे 'त्रित आप्त्य' पर स्थानान्तरित कर देने के लिये (५, $५२^{२}$; ८, $४७^{८}$) इनका स्तवन किया गया है। यह लोग अपने शत्रुओं के लिये पाशों को फैला रखते हैं (२, $२७^{१६}$), किन्तु अपने उपासकों की उसी प्रकार रक्षा करते हैं जिस प्रकार पक्षी पर फैलाकर अपने बच्चों की रक्षा करते हैं (८, $४७^{२}$)। इनके सेवकगण कवच पहने लोगों की भाँति सुरक्षित रहते हैं जिसके कारण कोई भी बाण उनका वेधन नहीं कर सकता ($वही^{७.८}$)। यह लोग व्याधियों और विपत्तियों को भगाते हैं (८, $१८^{१०}$), और विभिन्न लाभकर वस्तुयें, जैसे प्रकाश, दीर्घ-जीवन, सन्तति, निर्देशन, आदि प्रदान करते हैं (२, २७; ८, $१८^{२२}$. $५६^{१५.२०}$)।

इनका वर्णन करनेवाली उपाधियाँ इस प्रकार हैं : 'शुचि', 'हिरण्यय', 'भूर्यक्ष' (अनेक नेत्रोंवाला), 'अनिमिष', 'अस्वप्नज्', 'दीर्घधी'। यह लोग राजा, शक्तिशाली (क्षत्रिय), विस्तृत (उरु), गहन (गभीर), 'अरिष्ट', दृढ़

विधानों वाले (घृतव्रत), आक्षेपरहित (अनवद्य), पापरहित (अवृजिन), शुद्ध (धारपूत), और पवित्र (ऋतावन्) हैं।

इनका नाम स्पष्टतः एक मातृनामोद्भूत रूप है जो इनकी माता 'अदिति' से बना है, और स्वभावतः इस माता के साथ ही इनका अक्सर आवाहन किया गया है। यास्क (निरुक्त २, १३, तु० की० तैत्तिरीय आरण्यक १, १४[३]) द्वारा प्रस्तुत तीन व्युत्पत्तियों में से यह भी एक है।

अर्यमन्[१०] का यद्यपि ऋग्वेद में प्रायः १०० बार उल्लेख है, तथापि यह वैयक्तिक प्रवृत्तियों से इतना हीन है कि नैघण्टुक में देवों की तालिका में इसकी उपेक्षा कर दी गई है। दो स्थलों के अतिरिक्त इसका सदैव अन्य देवों, और अधिकांशतः मित्र तथा वरुण के साथ ही उल्लेख किया गया है। लगभग एक दर्जन से कुछ कम स्थलों पर इस शब्द के केवल 'साथी' अथवा 'वाराती' जैसे अभिधात्मक आशय हैं जिन्हें कभी-कभी इस देव से भी सम्बद्ध किया गया है। अतः एक बार अग्नि को इन शब्दों में सम्बोधित किया गया है : 'हे अग्ने तुम कन्याओं के अर्यमन् हो' (५, ३[२])। इससे व्युत्पन्न विशेषण 'अर्यम्य' (एक साथी से सम्बन्धित) एक बार मित्र्य' (एक मित्र से सम्बन्धित) के समानान्तर आशय में आता है (५, ८५[७])। इस प्रकार अर्यमन् सम्बन्धी धारणा अपेक्षाकृत अधिक महान् 'आदित्य मित्र' से भिन्न तो प्रतीत होती है किन्तु अत्यन्त कम। यह नाम भारतीय-ईरानी काल का ही है क्योंकि अवेस्ता में भी आता है।

ऋग्वेद का एक सूक्त (७, ४१) प्रमुखतः 'भग'[११] की ही प्रशस्ति में अर्पित किया गया है यद्यपि इसी में कुछ अन्य देवों का भी आवाहन है; और इस देव का नाम प्रायः साठ बार आता है। इस शब्द का अर्थ 'प्रदान करने वाला' है और इसी आशय में अधिकांशतः सवितृ[१२] के नाम के साथ इसका प्रायः बीस से अधिक बार एक गुणवाचक के रूप में प्रयोग हुआ है। वैदिक सूक्तों में इस देव की नियमित रूप से संम्पत्ति के वितरक के रूप में कल्पना है, और सामान्यतया इन्द्र तथा अग्नि के वैभव की अभिवृद्धि के उद्देश्य से ही इन लोगों की 'भग' के साथ तुलना की गई है। ऋग्वेद में 'भग' शब्द प्रायः बीस बार 'वैभव, सम्पत्ति, सौभाग्य' के आशय में भी आता है, और इस द्वैध अर्थ का कभी-कभी कुशलता से प्रयोग किया गया है। इस प्रकार, एक स्थल (७, ४१[२]) पर जहाँ 'भग' को वितरक (विधर्ता) कहा गया है, यह उक्ति है कि मनुष्यगण इस देव के सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हैं 'हमें 'भग' का भाग मिले' (भगम् भक्षि)। एक अन्य मन्त्र (५, ४६[६]) में, जिसमें इसे प्रदान करने वाले

('विभक्ता', उसी 'भज्' धातु से व्युत्पन्न) कहा गया है, इसका अपने उपासकों को सम्पत्ति से परिपूर्ण (भगवान्) करने के लिये आवाहन किया गया है।

उषा, भग की बहन है। (१, १२३[५])। भग के नेत्रों को रश्मियों से विभूषित कहा गया है (१, १३६[२]), और सूक्त उसी प्रकार विष्णु तक उठते हैं मानों 'भग' के पथ पर हों (३, ५४[१४])। यास्क 'भग' का पूर्वाह्न के अधिपति के रूप में वर्णन करते हैं (निरुक्त १२, १३)। इस नाम का ईरानी रूप 'बघ' (देव) है जो 'अहुर मज़्द' की एक उपाधि के रूप में आता है। यह शब्द भारोपीय काल तक का हो सकता है, क्योंकि प्राचीन गिरजा-स्लेवोनिकों में 'देवों' के आशय में यह 'वोगु' के रूप में आता है। यह मान लेने के लिये कोई आधार नहीं है कि भारोपीय काल में यह किसी एक देव का द्योतक था, क्योंकि उस दशा में, यदि वास्तव में इसका अर्थ केवल 'उदारता' मात्र से कुछ अधिक था, तो यह एक 'उदार देव' मात्र की अपेक्षा अधिक विशिष्ट आशय कदाचित ही अर्जित कर पाता।

'अंश' शब्द, जो ऋग्वेद में एक दर्जन से भी कम बार आता है, 'भागांश' तथा 'भागांशदाता' जैसे दोनों ही स्थूल आशयों को व्यक्त करता हुआ प्रायः 'भग' का समानार्थी सा ही है। यह केवल तीन बार ही एक देव के नाम के रूप में मिलता है,[१४] जिनमें से एक स्थल ही इसके नाम के अतिरिक्त इसके संबंध में कुछ और विवरण देता है। यहाँ अग्नि को 'अंश' कहा गया है—जो कि भोजनोत्सव के समय एक उदार (भाजयु) देव है (२, १[४]);

'दक्ष'[१५] का ऋग्वेद में एक देव के नाम के रूप में आधे दर्जन से कदाचित् ही अधिक बार उल्लेख मिलता है। यह शब्द अधिकतर 'कुशल, शक्तिशाली, चतुर, बुद्धिमान्' आदि अर्थवाले विशेषण के रूप में अग्नि के लिये (३, १४[७]) और सोम के लिये (९, ६१[१८] इत्यादि) व्यवहृत हुआ है, अथवा 'दक्षता, बल, चतुरता, समझ' जैसे आशयों से युक्त एक सत्तावाचक के रूप में भी आता है। अतः इसके मूर्तीकरण की संज्ञा से 'कुशल' अथवा 'चतुर' देवता का अर्थ प्रतीत होता है। मन्त्र २, २७[१] को छोड़ कर, जिसमें छः आदित्यों की गणना है, इसके ('दक्ष' के) नाम का केवल प्रथम और दशम् मण्डल में ही उल्लेख है। एक स्थल (१, ८९[३]) पर इसका अन्य आदित्यों के साथ, और एक अन्य (१०, ६४[५]) पर मित्र, वरुण और अर्यमन् के साथ उल्लेख है, तथा इसके जन्म के सम्बन्ध में 'अदिति' की भी चर्चा है। एक जगत्सृष्टिमीमांसात्मक सूक्त (१०, ७२[४-५]) में दक्ष को अदिति से उत्पन्न कहा गया है किन्तु दूसरे ही क्षण यह भी संयुक्त कर दिया गया है कि 'अदिति' इन्हीं से उत्पन्न हुई और इनकी पुत्री है, तथा इसके बाद देवों का जन्म हुआ। एक अन्य मन्त्र (१०. ५[७]) में

यह कहा गया है कि व्यक्त और अव्यक्त दक्ष के जन्मस्थान 'अदिति' के गर्भ में स्थित थे। इस प्रकार यह अन्तिम दोनों स्थल अदिति और दक्ष को विश्व-पितरों के रूप में व्यक्त करते हुये प्रतीत होते हैं। यह दिखाया जा चुका है (पृ० २१) कि सन्तानों द्वारा स्वयं अपने पितरों को ही उत्पन्न करने का विरोधाभास ऋग्वेद के कवियों के लिये अपरिचित नहीं है। प्रस्तुत दशा में यह जिस रूप में व्यवहृत हुआ है वह इस प्रकार है। आदित्यों को 'ऐसे देव जो अपने पिता के लिये बुद्धि-सम्पन्न हैं' (६, ५०[२]) भी कहा गया है, और यही (दक्षपितरो) उपाधि वरुण-मित्र के लिये भी व्यवहृत हुई है जिन्हें एक ही मन्त्र (७, ६६[२]) में 'अत्यन्त बुद्धिमान' (सुदक्ष) कहा गया है। यह व्याहृति एक अन्य स्थल (८, २५[५]) द्वारा और भी स्पष्ट कर दी गई है जहाँ मित्र-वरुण को 'बुद्धि के पुत्र (सूनू दक्षस्य) और साथ ही 'महान् शक्ति के पुत्र' (नपाता शवसो महः) कहा गया है। इन बाद की उपाधियों का प्रयोग यह व्यक्त करता है कि यहाँ 'दक्ष' एक मूर्तीकरण नहीं वरन् केवल एक अमूर्त शब्द है जिसका अग्नि की उपाधियों, जैसे 'कुशलता के पिता' (दक्षस्य पितृ : ३, २७[९]) अथवा 'शक्ति के पुत्र' (§§ ८, ३५) के रूप में प्रयोग हुआ है। यह निष्कर्ष इस तथ्य द्वारा पुष्ट होता है कि साधारण मानव-यज्ञकर्त्ताओं को 'दक्षपितरः' (अपने पिता के लिये कुशलता से युक्त) कहा गया है (८, ५२[१०])। इस प्रकार की व्याहृतियों ने ही सम्भवतः आदित्यों के पिता, तथा अदिति के साथ सम्बद्ध होने के रूप में 'दक्ष' का मूर्तीकरण सम्भव कर दिया है। तैत्तिरीय संहिता में सामान्य रूप से देव जाति को 'दक्षपितरः' कहा गया है और शतपथ ब्राह्मण (२, ४, ४[२]) में दक्ष को विधाता 'प्रजापति' के साथ समीकृत किया गया है।

[१]ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, १७६, नोट; शर्मन : फि० हा० ३१ — [२]मूईर : सं० टे० ४, ११७-२१ — [३]वॉलेनसेन : त्सी० गे० ४१, ५०३ — [४]तु० की० ग्रासमैन : व० ऋ०, व० स्था० पर 'आदित्य'— [५]तु० की० श्रोडर : वी० मौ० ९, १२२ — [६]'अमेषस्पेन्तस्' के लिये देखिये, डर्मेस्टेटर : हा० ए०, १ और बाद; बार्थोलोमाई : ए० फॉ० ३, २६ — [७]तु० की० मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, ९४८ — [८]त्सी० गे० ६, ६९ और बाद — [९]स्पीगेल : डी० पी०, १२९; हार्लेज़ : ज० ए० १८७८ (११), १२९, और बाद — [१०]रौथ : त्सी० गे० ६, ७४; वॉलेनसेन, वही, ४१, ५०३; हार्डी : वे० पी० ५५-६ — [११]रौथ : उ० स्था०; वालिस : कॉ० ऋ० ११-१२; देन्स : बायोग्राफी ऑफ भग, ट्रा० का० (८) II. १, ८५-९; हॉ० इ० ५३-६ — [१२]तु० की० ग्रासमैन : व० ऋ०, व० स्था० 'भग'— [१३]श्रोडर : वी० मौ० ९, १२७ — [१४]रौथ : त्सी० गे० ६, ७५; ब्री० १९ — [१५]मूईर :

सं० टे० ५, ५१-२; बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ९३, ९९; वालिस : कॉ० ऋ० ४५।

ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३२३-६; मूईर : सं० टे० ५, ५४-७; मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, २५२-४; ओ० वे० १८५-९; २८६-७; त्सी० गे० ४९, १७७-८; ५०, ५०-४; से० बु० ई० ४८, १९०; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, २८; इ० फौ० ६, ११६।

§ २०. उषस् :—उषा की देवी उषस् की ऋग्वेद के प्रायः २० सूक्तो में प्रख्याति है और इसके नाम का ३०० से कुछ अधिक बार उल्लेख है। नामों की इस समानता के कारण इसका मूर्तीकरण अन्यन्त क्षीण है और इस देवी को सम्बोधित करते समय कहीं भी कवि के मन में तत्सम्बन्धी प्राकृतिक घटना का विचार अनुपस्थित नहीं है। 'उषस्' वैदिक काव्य का सर्वाधिक सुन्दर सृजन है और किसी भी अन्य साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक गीतों में इससे अधिक आकर्षक स्वरूप उपलब्ध नहीं है। न तो इसके स्वरूप की तेजस्विता याजकीय कल्पनाओं द्वारा अवरुद्ध हुई है और न यज्ञ-सम्बन्धी सन्दर्भों के कारण कहीं भी विचार प्रतिमायें ही कुण्ठित हुई हैं। एक नर्तकी की भाँति भड़कीले वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, यह अपने 'वक्षों' का प्रदर्शन करती है (१, ९२[४], तु० की० ६, ६४[२])। अपनी माता द्वारा अलंकृत एक कन्या की भाँति यह अपनी रूप-छवि दिखाती है (१, १२३[११])। प्रकाश का परिधान पहने हुये यह कन्या पूर्व दिशा में प्रकट होकर अपने मोहनी रूप को अनावृत्त करती है (१, १२४[३.४])। अतुलनीय सौन्दर्य से भास्वंरित, यह अपने प्रकाश से लघु और महान् किसी को भी वंचित नहीं रखती (वही, [६])। स्नान करके सुन्दर अलङ्कारों से सजी हुई रमणी की भाँति अपने रूप-सौन्दर्य का प्रदर्शन करते हुय उषस् प्रकाश के साथ प्रकट होकर अन्धकार को भगा देती है (५, ८०[५.६])। पुनः-पुनः जन्म लेने वाली युवती, तथापि प्राचीन, उषस् समान रूप से सब ओर सुशोभित होती हुई मरणशील प्राणियों की आयु क्षीण करने वालो है। (१, ९२[१०])। जिस प्रकार यह प्राचीनकाल में प्रकाशित होती थी, उसी प्रकार आज भी और भविष्य में भी रहनेवाली यह उषस् अजर और अमर है (१, ११३[१३.१५])। आ रही यह रमणी पुनः समस्त संसार के पहले ही जागृत हो जाती है (१, १२३[२])। मनुष्यों की आयु को क्षीण करनेवाली, निरन्तर विगत होनेवाली, और भविष्य में पुनः प्रकट होनेवाली यह प्रथम उषा प्रकाशमान हो रही है[१] (१, १२४[२])। एक चक्र की भाँति घूमती हुई यह नित्य नवीन है (३, ६१[३])। यह पादयुक्त प्राणियों को जगाती और पक्षियों को उड़ाती है: यह सभी की प्राण और प्राणवायु है (१, ४८[५.१०]. ४९[३])। यह प्रत्येक

जीवित को जगा कर गतिशील कर देती है (१, ९२[९]; ७, ७७[१])। उषस् सोते हुओं को जगाती है और द्विपाद तथा चतुष्पाद प्राणियों को गतिशील बनाती है (४, ५१[५])। जब उषस् प्रकाशित होती है तब पक्षी अपने घोसलों से उड़ने लगते हैं और मनुष्य आहार प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हो उठते हैं (१, १२४[१२])। यह मनुष्यों को पथ दिखाती है और पाँच जातियों को जागृत करती है (७, ७९[१])। यह सभी जीवों को धारण करती है और उन्हें नवजीवन प्रदान करती है (७, ८०[१.२])। यह दुःस्वप्नों को 'त्रित आप्त्य' पर स्थानान्तरित कर देती है (८, ४७[१४.१८])। यह रात्रि के काले आवरण को हटा देती है (१, ११३[१४])। यह अन्धकार को भगा देती है (६, ६४[३]. ६५[२])। यह दुष्टात्मा और घृणित अन्धकार को वहिष्कृत कर देती है (७, ७५[१])। यह अन्धकार द्वारा आच्छन्न धन को पुनः प्रकट कर के उसका उदारतापूर्वक वितरण करती है (१, १२३[४.६])। जागृत हो कर यह आकाश के छोरों को प्रकाशित कर देती है (१, ९२[११])। यह द्युलोक का द्वार खोल देती है (१, ४८[१५]. ११३[४])। यह अन्धकार के द्वार को उसी भाँति खोल देती है जिस प्रकार गायें अपनी शाला के द्वार को (१, ९२[४])। इसकी उज्ज्वल रश्मियाँ पशु समूहों की भाँति प्रकट होती हैं (४, ५२[२-४])। यह सुदूर दृष्टिगत उषस् मानों पशुओं के समान वृद्धि को प्राप्त होती हैं (१, ९२[१२])। इसकी अरुणिम रश्मियाँ प्रकट हुईं, इसने अरुणिम गौओं (रश्मियों) को रथ में सन्नद्ध किया; अरुणिम उषा अपने प्रकाश का जाल बुनती है (वही, [२])। इसी प्रकार उषस् को 'सब प्राणियों की माता' भी कहा गया है (४, ५२[२.३]; ७, ७७[२])।

प्रति दिन एक निर्दिष्ट स्थान पर प्रकट होते हुये यह देवों की आज्ञा या विधान का कभी भी उल्लङ्घन नहीं करती (१, ९२[१२]. १२३[९]. १२४[२]; ७, ७६[५])। यह सीधे सुनिर्धारित पथ पर चलती है और पथ से परिचित होने के कारण दिशाओं को कभी भी भूलती नहीं (५, ८०[४])। यह सभी उपासकों को जगाकर और यज्ञाग्नियों को प्रज्वलित कर देवों की एक श्रेष्ठ सेवा करती है (१, ११३[९])। नास्तिक और आलसी व्यक्तियों को सोता हुआ छोड़ कर केवल भक्तों और उदार व्यक्तियों को ही जगाने के लिये इसका आवाहन किया गया है (१, १२४[१०]; ४, ५१[३])। फिर भी कभी-कभी यह कहा गया है कि इसके द्वारा जागृत होने की अपेक्षा स्वयं उपासकगण ही इसे जगाते हैं (४, ५२[४] इत्यादि); और वसिष्ठों का यह कथन है कि उन्होंने ही सर्वप्रथम अपने सूक्तों द्वारा इसे जगाया (७, ८०[१])। एक बार इससे विलम्ब न करने के लिये कहा गया है जिससे एक चोर अथवा शत्रु की भाँति सूर्य इसे जला न दे (५, ७९[९])। सोम पान हेतु देवों को बुलाने के लिये इसका आवाहन किया

गया है (१, ४८[१२])। अतः, सम्भवतः देवों का अक्सर 'उषस् के साथ जागृत होने वालों' (१, १४[९] इत्यादि) के रूप में वर्णन किया गया है।

उषस् का जन्म एक रथ पर हुआ है जो प्रकाशमान (७, ८१[१]), उज्ज्वल (१, २३[७]), देदीप्यमान (३, ६१[२]), सुअलंकृत (१, ४९[२]), सबको अलंकृत करने वाला (७, ७५[६]), वृहत (१, ४८[१०] इत्यादि) और स्वतः सन्नद्ध हो जाने वाला है (७, ७८[४])। इसे सौ रथों पर आनेवाला भी कहा गया है (१, ४८[७])। यह ऐसे अश्वों द्वारा खींची जाती है जो अरुणिम (७, ७५[६] इत्यादि), सरलता से निर्देशित (३, ६१[२]) नित्य सन्नद्ध (४, ५१[५]) हैं; अथवा इसे अश्वों के वैभव से युक्त कहा गया है (५, ७९[१-१०])। इसे अरुणवर्ण प्राणियों अथवा गायों (गोः १, ९२[२], १२४[११]; ५, ८०[३]) द्वारा खींचा जाने-वाला भी कहा गया है। यहाँ अश्व और गाय दोनों ही सम्भवतः प्रातःकालीन अरुण रश्मियों का प्रतिनिधित्व करते हैं;[3] किन्तु गायों की साधारणतया प्रातः-कालीन लाल मेघों के रूप में व्याख्या की गई है। एक दिन में उषस् जिस दूरी को पार करती है उसे ३० योजन बताया गया है (१, १२३[८])।

जैसी कि आशा की जानी चाहिये, उषस् घनिष्ठ रूप में सूर्य से सम्बद्ध है। इसने सूर्य को यात्रा करने के लिये उसके पथों को प्रशस्त किया (१, ११३[१६])। यह देवों के नेत्र को प्रकट करती है और सुन्दर श्वेत अश्वों का पथ-प्रदर्शन करतीं है (७, ७७[3])। यह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होती है (१, ११३[९])। यह अपने प्रेमी (सूर्य) के प्रकाश से प्रकाशित होती है (१, ९२[११])। उषस् के पथ का अनुगमन करते हुये सवितृ देव प्रकाशित होते हैं (५, ८१[२])। सूर्य उषस् का उसी भाँति पीछा करता है जिस भाँति एक पुरुष किसी रमणी का (१, ११५[२])। जो देव इसकी कामना करते हैं यह उनसे मिलती है (१, १२३[१०])। यह सूर्य की पत्नी है (७, ७५[५]); उषायें सूर्य की पत्नियाँ हैं (४, ५[१३])। यतः शून्य आकाश में सूर्य इसके पीछे-पीछे आता है, अतः इसे सूर्य की पत्नी कहा गया है। किन्तु समय की दृष्टि से सूर्य के पूर्व प्रकट होने के कारण कभी-कभी इसे सूर्य की माता भी कहा गया है (पृ० ६५)। इसने सूर्य, यज्ञ, अग्नि, को उत्पन्न किया (७, ७८[3])। सवितृ को उत्पन्न करने के लिये (सवाय) इसकी उत्पत्ति हुई है (प्रसूता) और यह एक उज्वल शिशु के साथ आती है (१, ११३[१-२])। उषस्, आदित्य भग की बहन (१, १२३[५]; तु० की० पृ० ८५) और वरुण की सम्बन्धिनी (जात्रि) (१, १२३[५]) है। यह 'रात्रि' की बहन (१, ११३[२-3]; १०, १२७[3]) अथवा ज्येष्ठ बहन (१, १२४[८]) है; और रात्रि तथा उषस् के नाम अक्सर एक युगल रूप में संयुक्त किये गये हैं ('उषासानक्ता', अथवा 'नक्तोषासा')। उषस् का जन्म

आकाश में हुआ है (७, ७५[१]); और इसका जन्म स्थान् ही ऋग्वेद में बहुधा उल्लिखित इस सम्बन्ध को व्यक्त करता है : इसे नित्य ही आकाश की पुत्री कहा गया है (१, ३०[२२] इत्यादि).[४] एक बार इसे आकाश की प्रियतमा (प्रिया) भी कहा गया है (१, ४६[१])।

उषाकाल में ही यज्ञाग्नि के नियमित रूप से प्रज्वलित किये जाने के कारण स्वभावतः 'अग्नि' को उषस् के साथ सम्बद्ध किया गया है, और अक्सर इसी समय यज्ञाग्नि के प्रदीप्त होने के साथ-साथ अग्नि के ही अन्य रूप सूर्य के उदय होने का भी उल्लेख है (१, १२४[१.११] इत्यादि)।[५] अग्नि, उषा के साथ-साथ अथवा उसके पहले प्रकट होते हैं। उषस् ही अग्नि को प्रदीप्त कराती है (१, ११३[९])। इसलिये सूर्य की भाँति अग्नि को भी कभी-कभी उषस् का प्रेमी कहा गया है (१, ६९[१]; ७, १०[१]; तु० की० १०, ३[९])। जब उषस् आती है तो उस समय यह (अग्नि) उसके पास मिलने जाते हैं और उससे सुखकर सम्पत्ति की याचना करते हैं (३, ६१[६])। स्वभावतः उषस् को प्रातःकालीन यमज देव अश्विनों से भी सम्बद्ध किया गया है (१, ४४[२] इत्यादि)। अश्विनद्वय उषस् के साथ रहते हैं (१, १८३[२]) क्योंकि उषस् इनकी मित्र है (४, ५२[२.३])। अश्विनों को जागृत करने के लिये इसका आवाहन किया गया है (८, ९[१७]) और यह कहा गया है कि इसके सूक्त ने अश्विनों को जगाया (३, ५८[१])। जब अश्विनों का रथ अश्वों से सन्नद्ध होता है तभी आकाश की पुत्री का जन्म होता है (१०, ३९[१२])। एक बार उषस् को चन्द्रमा से भी सम्बद्ध किया गया है जो नित्य नवीन जन्म लेनेवाला और उषा के पूर्व ही लुप्त होकर दिन के आगमन की सूचना देनेवाला है (१०, ८५[१९])।

विभिन्न देवों के सम्बन्ध में यह वर्णन है कि उन्होंने उषस् को खोजा अथवा उसे उत्पन्न किया। इन्द्र ने, जो विशिष्ट रूप से प्रकाश के विजेता हैं, उषस् को उत्पन्न अथवा प्रकाशित किया (२, १२[७] इत्यादि)। किन्तु कभी-कभी उषस् के प्रति इनकी आक्रामक प्रवृत्ति भी देखी जाती है और यह वर्णन है कि इन्होंने इसके रथ को विदीर्ण कर दिया (§ २२)। सोम ने उषाओं के जन्म के समय उन्हें उज्ज्वल किया (६, ३९[३]) और उन्हें एक श्रेष्ठ पति की पत्नियाँ बनाया (६, ४४[२३]), जैसा कि अग्नि भी करते हैं (७, ६[५])। बृहस्पति ने प्रकाश से अन्धकार को भगाकर उषस्, आकाश (स्वर्), और अग्नि को खोजा (१०, ६८[९])। देवों के सखा प्राचीन पितरों ने प्रभावशाली सूक्तों द्वारा गुप्त प्रकाश को खोजा और उषस् को उत्पन्न किया (७, ७६[४])।

अक्सर ही स्तोता पर प्रकट होने के लिये, अथवा उसे सन्तान, सम्पत्ति, सुरक्षा और दीर्घजीवन प्रदान करने के लिये (१, ३०[२२]. ४८[१] इत्यादि),

तथा कवि के सभी उदार प्रतिपालकों को प्रसिद्धि और वैभव से विभूषित करने के लिये (५, ७९[६], तु० की० १, ४८[४]) इस देवी का स्तवन किया गया है। स्तोतागण इससे धनैश्वर्य की प्रार्थना करते हैं और यह कामना करते हैं कि यह उन पर उसी प्रकार कृपा करे जिस प्रकार माता अपने पुत्रों पर करती है (७, ८१[४]); मृत मनुष्यों की आत्मा सूर्य तथा उषस् के पास जाती है (१०, ५८[८])। और जिन अरुणिम व्यक्तियों की गोद में पितरों के विश्राम करने की उक्ति है, उनसे निश्चित रूप से उषाओं का ही आशय है (१०, १५[७])।

नैघण्टुक (१, ८) में दी हुई सोलह के अतिरिक्त भी उषस् की अनेक उपाधियाँ हैं। यह अतिउज्ज्वल, प्रकाशमान, देदीप्यमान, श्वेत, अरुणिम, स्वर्णवर्णा, और प्रदीप्त उदारता से परिपूर्ण है। नियमों में ही इसका जन्म हुआ है। यह इन्द्र के समान, दिव्य और अमर है।[६] यह विशेषतः उदार है (मघोनी : त्सी० गे० ५०, ४४०)।

उषस् का नाम 'वस्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ 'प्रकाशित होना' है, और यह मूलतः 'अरोरा' तथा होस (Ἠώς) का सजातीय है।[७]

[१] गेल्डनरः वेदिशे स्टूडियन १, २६५-६ — [२] तु० का० कुन : ऊ० वि, १३१ — [३] देखिये उपरोल्लिखित स्थल, जहाँ उषस् के रश्मियों की पशुओं अथवा गायों से तुलना की गई है — [४] मूईर : सं० टे० ५, १९०; — [५] वही, १९१ — [६] वही, १९३-४ — [७] सोन्नी : कु० त्सी० १०, ४१६।

ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३२१-२; मूईर : सं० टे० ५, १८१-९८; मैक्स मूलर : ले० लै० २, ५८३-४; गे० के० रौ० ३५-६; के० ऋ० ५२-४; बर्गेन : ल० रि० वे० १, २४१-५०; ब्रान्डिस : उषस् (कोपेनहेगन १८७९, पृ० १२३)।

§ *२१. अश्विन्-द्वय* :—आवाहन की आवृत्ति के आधार पर देखने से ऋग्वेद में, इन्द्र, अग्नि और सोम के बाद यमज देव अश्विन्-द्वय ही सर्वाधिक प्रमुख हैं। पचास से अधिक सम्पूर्ण तथा अंशतः अनेक अन्य सूक्तों में इनकी प्रख्याति है और इनका नाम भी प्रायः ४०० बार आता है। यद्यपि प्रकाश के देवों के अन्तर्गत इनका एक विशिष्ट स्थान है और इनकी अभिधा भी भारतीय ही है, तथापि प्रकाश सम्बन्धी किसी निश्चित घटना के साथ इनका सम्बन्ध इतना अस्पष्ट है कि इनकी वास्तविक मूल प्रकृति आरम्भिक काल से वैदिक व्याख्याकारों के लिये एक समस्या रही है। यह अस्पष्टता इस बात को सम्भव बना देती है कि इन देवों का आरम्भ वैदिक काल के पहले के समय में ढूँढ़ा जाय। यह दोनों यमज (३, ३९[३]; १०, १७[२]) और अवियोज्य हैं। एक सूक्त (२, ३९) का एक मात्र उद्देश्य विभिन्न युगल वस्तुओं जैसे नेत्र, भुजायें, पैर

पक्षियों के डैने, आदि से इनकी तुलना, करना, अथवा ऐसे पशु-पक्षियों से समीकृत करना जो जोड़ों में रहते हैं, जैसे श्वान और बकरियाँ, अथवा हंस और उत्क्रोश, आदि (तु० की० ५, ७८[१-३]; ८, ३५[७-९]; १०, १०६[२-१०]) ! फिर भी, कुछ स्थल ऐसे भी हैं जो कदाचित् इनके मूलतः अलग-अलग होने का संकेत करते हैं। इस प्रकार इन्हें अलग-अलग (नाना : ५, ७३[४]) अथवा यत्र-तत्र (इहेह) जन्म लेने वाले, और एक को एक विजेता राजा तथा दूसरे को आकाश का पुत्र कहा गया है (१, १८१[४])। यास्क भी एक स्थल का उद्धरण देते हुये यह कहते हैं कि 'एक रात्रि का पुत्र और दूसरा उषस् का पुत्र है' (निरुक्त १२, २)। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल (४, ३[६]) पर स्वयं ऋग्वेद अकेले एक 'आवृत्त करनेवाले नासत्य' का उल्लेख करता है, जो कि अन्यथा युगल रूप से दोनों ही अश्विनों की उपाधि है।

अश्विन-द्वय युवा हैं (७, ६७[१०]), और तैत्तिरीय संहिता (७, २, ७[२]) तो इन्हें देवों में सबसे कम वयस्क वाले मानता है। परन्तु साथ ही साथ इन्हें प्राचीन भी कहा गया है (७, ६२[५])। यह उज्ज्वल (७, ६८[१]), तेजस्विता के अधिपति (८, २२[१४]; १०, ९३[६]), स्वर्णकान्तिवाले (८, ८[२]), और मधु-वर्ण (८, २६[६]) हैं। इनके अनेक रूप हैं (१, ११७[९])। यह सुन्दर हैं (६, ६२[५]· ६३[१]) और कमल-पुष्पों की माला पहनते हैं (१०, १८४[२]; अथर्ववेद ३, २२[४]; शतपथ ब्राह्मण ४, १, ५[१६])। यह क्षिप्र हैं (६, ६३[५]), विचारों की भाँति (८, २२[१६]) अथवा उत्क्रोश पक्षी की भाँति (५, ७८[४]) द्रुतगामी हैं। यह बलिष्ठ (१०, २४[४]), अत्यधिक शक्तिशाली (६, ६२[५]) हैं, और अनेक बार इन्हें 'लाल'[१] (रुद्रा, ५, ७५[3] इत्यादि) भी कहा गया है। यह परम मेधावी (८, ८[२]) और गुह्य शक्ति से युक्त (६, ६३[५]; १०, ९३[७]) हैं। अश्विनों की दो बहुप्रयुक्त और विशिष्ट उपाधियाँ 'दस्र', जो कि केवल इन्हीं तक सीमित है, और 'नासत्य' हैं। 'नासत्य' की सामान्यतया 'न-असत्य' के रूप में व्याख्या की गई है, किन्तु अन्य व्युत्पत्तियों[२] की भी सम्भावना व्यक्त की गई है। 'नासत्य' शब्द अवेस्ता[3] में एक दैत्य के नाम के रूप में आता है, फिर भी यह इस पर कोई अधिक प्रकाश नहीं डालता। बाद के समय में यह दोनों ही उपाधियाँ अश्विनों के दो व्यक्तिवाचक नाम बन गये हैं।[४] 'रुद्रवर्तनि' (लाल पथवाला[५]) गुण भी इन्हीं की एक विशिष्टता है और यही एक मात्र देव-द्वय हैं जिन्हें स्वर्ण-पथवाला (हिरण्यवर्तनि) कहा गया है, अन्यथा जिसका केवल दो बार नदियों की उपाधि के रूप में प्रयोग किया गया है।[६]

सभी देवों[७] की अपेक्षा अश्विनों को ही सर्वाधिक घनिष्ठ रूप में 'मधु' के साथ सम्बद्ध किया गया है, और इसके साथ इनका अनेक स्थलों पर उल्लेख है।

इनके पास एक मधु से भरा चर्म पात्र है, और जो पक्षी इन्हें वहन करते हैं वह इस मधु का पान करते हैं (४, ४५[३.४])। इन्होंने १०० कुम्भ मधु गिराया (१, ११७[६])। इनका मधु-दण्ड (१, १२२[३]. १५७[४]), जिससे यह यज्ञ और स्तोताओं[८] को बिखेरते हैं, इन्हीं की विशिष्टता है। केवल अश्विनों के ही रथ को 'मधु-वर्ण' अथवा 'मधु-वाहन' कहा गया है। केवल इन्हें ही मधू-प्रेमी (मघूयु, माघ्वी) अथवा मधुपान करने वाला (मधुपा) कहा गया है। जिस पुरोहित के पास इन्हें आने का निमन्त्रण दिया गया है उसे मधु-हस्त (१०, ४१[३]) कहा गया है। यह लोग ही मधु-मक्खियों को मधु देते हैं (१,११२[२१] तु० की० १०, ४०[६]), और मधु-मक्खियों से इनकी तुलना भी की गई है (१०, १०६[१०])। फिर भी, अन्य देवों की भाँति यह लोग भी सोम के प्रेमी हैं (३, ५८[७.९]), और उषस् तथा सूर्य के साथ सोम पान करने के लिये इन्हें निमन्त्रित किया गया है (८, ३५[१])। फिर भी, हिलेब्रान्ट (वेदिशे माइ-थौलोजी, १, २४१), यह दिखाने के संकेत पाते हैं कि आरम्भ में सोम द्वारा स्तुत्य देवों की श्रेणी में अश्विनों को सम्मिलित नहीं किया गया था।

अश्विनों का रथ सूर्य के समान (८, ८[२]) अथवा स्वर्ण का (४, ४४[४.५]) है, और उसके सभी भाग, जैसे पहिये, धुरा, चक्रधारा और वल्गा आदि सभी स्वर्णिम हैं (१, १८०[१]; ८, ५[२९]. २२[५])। इसमें एक सहस्र रश्मियाँ (१, ११९[१]) अथवा अलङ्कार (८, ८[११.१४]) हैं। इसकी बनावट विचित्र है, क्योंकि यह तीन खण्डोंवाला, तीन पहियोंवाला, तीन चक्रधारोंवाला है, और इसके कुछ अन्य भाग भी त्रिस्तरीय हैं (१, ११८[१.२] इत्यादि)। यह हल्का चलता है (८, ९[८]), विचारों से भी अधिक (१, ११७[२] इत्यादि) अथवा पलकों के झपकने (८, ६२[२]) से भी अधिक वेगवान है। इसे 'ऋभुओं' ने बनाया था (१०, ३९[१२])। केवल अश्विनों का ही रथ ऐसा है जिसमें तीन पहियें होती हैं। यह कहा गया है कि जब सूर्या के विवाह में अश्विन गण आये थे तो उस समय उनके रथ का एक पहिया खो गया था (१०, ८५[१५]; तु० की० § ३७)।

अश्विनों के नाम में अश्वों के स्वामित्व का ही भाव निहित है परन्तु यह दिखलाने के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि इन्हें इसलिये ऐसा कहते थे क्योंकि यह अश्वों पर सवारी करते थे।[१०] इनका रथ अश्वों द्वारा (१, ११७[२] इत्यादि) और अधिक सामान्यतया पक्षियों ('वि', ६, ६३[६] इत्यादि अथवा 'पतत्रिन्', १०, १४३[५]), जैसे हंसों (४, ४५[४]), उत्क्रोश (१, ११८[१]), पक्षी-अश्वों (६, ६३[७]) अथवा उत्क्रोश-अश्वों (८, ५[७]) द्वारा खींचा जाता था। कभी इसे भैंसे (ककुह) अथवा भैंसों (५, ७३[७]; १, १८४[३] इत्यादि), अथवा एक गदहे (रासंभ : १, ३४[९]. ११६[२]; ८, ७४[७]) द्वारा खींचा जानेवाला भी कहा

गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (४, ७-९) में यह कहा गया है कि सोम और सूर्या के विवाह के समय गदहों[११] द्वारा खींचे गये रथ में बैठ कर अश्विनों ने एक दौड़ जीत लिया था (तु० की० ऋग्वेद १, ११६^{७} और इस पर सायण का भाष्य)। इनका रथ आकाश के छोरों का स्पर्श करता है और पाँच देशों तक उसका विस्तार है (७, ६३$^{१-३}$)। यह आकाश के चारों ओर परिक्रमा करता है (१, १८०^{१०})। यह आकाश और पृथ्वी की एक दिन में ही प्रदक्षिणा कर लेता है (३, ५८^{८}), और सूर्य (१, ११५^{३}) तथा उषस् के रथों (४, ५१^{५}) के सम्बन्ध में भी यही उक्ति है। यह शून्य स्थान में सूर्य की परिक्रमा करता है (१, ११२^{१३})। अक्सर इनके भ्रमण-पथ (वर्तिस्) का भी उल्लेख है, और केवल एक अपवाद के अतिरिक्त यह शब्द इन्हीं के लिये व्यवहृत हुआ है। 'परिज्मन्' (परिक्रमा करना) शब्द अनेक बार अश्विनों अथवा उनके रथ के साथ संयुक्त किया गया है, साथ ही 'वात', 'अग्नि' और 'सूर्य' के लिये भी इसका प्रयोग मिलता है।

अश्विनों के स्थान का विभिन्न रूपों में वर्णन किया गया है। यह लोग दूर से (८, ५^{३०}), आकाश से (८, ८^{७}), आकाश और पृथ्वी से (१, ४४^{५}), आकाश और अन्तरिक्ष से तथा दूर और निकट से (५, ७३^{१}) आते हैं। यह आकाश के सागर में (८, २६^{१७}), आकाश के जलप्लावन में, तथा पौधों, गृहों, और पर्वत शिखरों पर रहते हैं (७, ७०^{३})। यह पीछे, नीचे, ऊपर और पूर्व से आते हैं (७, ७२^{५})। कभी-कभी इनके स्थान के सम्बन्ध में इस प्रकार जिज्ञासा प्रकट की गई है मानो वह अज्ञात हो[१२] (५, ७४$^{२-३}$; ६, ६३^{१}; ८, ६२^{४})। एक बार (८, ८^{२३}) इन्हें तीन स्थानों (पदानि) वाला कहा गया है, जो कदाचित् इसलिये कि इनका दिन में तीन बार आवाहन किया जाता था।

इनके प्रकट होने का समय अक्सर उषा का आरम्भ बताया गया है[१३], जब कि अरुणिम गायों के बीच अन्धकार अब भी बना होता है (१०, ६१^{४})। इसी समय यह अपने रथों को सन्नद्ध करके पृथ्वी पर उतरते और स्तोताओं के समर्पणों को स्वीकार करते हैं (१, २२^{२} इत्यादि)। इन्हें उषस् जगाती है (८, ९^{१७})। यह अपने रथों में बैठ कर उषस् का अनुगमन करते हैं (८, ५^{२})। इनके रथ के सन्नद्ध होने के समय उषस् का जन्म होता है (१०, ३९^{१२})। अतः इनका समय उषस् और सूर्योदय के बीच की अवधि प्रतीत होता है। किन्तु एक बार यह कहा गया है कि उषा के पूर्व ही सवितृ ने इनके रथ को गतिशील बनाया (१, ३४^{१०})। अक्सर अश्विनों का प्रकट होना[१४], यज्ञाग्नि का प्रदीप्त होना, उषा का आगमन और सूर्योदय, सभी का एक

साथ होना बताया गया प्रतीत होता है (१, १५७[१]; ७, ७२[४]) आहुतियाँ ग्रहण करने के लिये केवल अपने निश्चित समय पर ही नहीं वरन् सन्ध्या समय (८, २२[१४]), अथवा प्रातः, मध्याह्न और सूर्यास्त के समय (५, ७६[३]) भी आने के लिये अश्विनों का आवाहन किया गया है। तीनों दैनिक यज्ञों के समय अश्विनों का प्रकट होना ही इन्हें समर्पित एक सम्पूर्ण सूक्त (१, ३४) में 'तीन' (त्रिः, त्रयः) शब्द के विभिन्न प्रयोगों का प्रेरणास्रोत प्रतीत होता है। प्रातःकाल के देवों के रूप में अश्विनद्वय अन्धकार को भगाते हैं (३, ३९[३]), और कभी-कभी यह भी कहा गया है कि यह दुष्टात्माओं का पीछा करके उन्हें भगा देते हैं (७, ७३[४]; ८, ३५[१६])। ऐतरेय ब्राह्मण (२, १५) में अश्विनों को, और साथ ही साथ उषस् तथा अग्नि को भी, उषाकाल के देवता कहा गया है; और वैदिक संस्कार में इन्हें सूर्योदय[१५] से सम्बद्ध किया गया है। शतपथ ब्राह्मण (५, ५, ४[१]) में अश्विनों को अरुण-श्वेत वर्ण बताया गया है और इसी कारण एक अरुण-श्वेत वर्ण बकरा ही इन्हें समर्पित किया गया है।[१६]

अश्विनद्वय आकाश की सन्तान हैं (१, १८२[१]. १८४[१]; १०, ६१[४]) और इनमें से केवल एक को ही एक बार आकाश का पुत्र कहा गया है (१, १८४[४])। एक बार (१, ४६[२]) सागर को इनकी माता (सिन्धुमातरा) कहा गया है। अन्यथा, एक स्थल पर (१०, १७[२]) इन्हें विवस्वत् और त्वष्टृ की पुत्री 'सरण्यू' (पृ० ७८), जो कि क्रमशः उगते हुये सूर्य और उषस् का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं, का यमज पुत्र कहा गया है। दूसरी ओर अश्विनद्वय एक सौर देव पूषन् के पिता हैं (१०, ८५[१४])।[१७] इनकी बहन (१, १८०[२]) से उषस् का आशय प्रतीत होता है (तु० की० पृ० ९०)। प्रातःकालीन प्रकाश के पुरुष-देवों के रूप में इन्हें, अक्सर स्त्री के रूप में कल्पित सूर्य के साथ सम्बद्ध किया गया है जिसे यातो 'सूर्या' अथवा अधिक सामान्यतया 'सूर्य की पुत्री' ही कहा गया है। यह लोग (अश्विनद्वय) सूर्या के दो पति हैं (४, ४३[६] तु० की० १, ११९[५]), जिनका सूर्या ने वरण किया है (७, ६९[४])। सूर्या (५, ७३[५]) अथवा रमणी (८, ८[१०]) इनके रथ पर चढ़ी। सूर्य की पुत्री इनके रथ पर चढ़ती है (१, ३४[५]. ११६[१७]. ११८[५]; ६, ६३[५]) अथवा उसने इसे (रथ को) चुना (१, ११७[१३]; ४, ४३[२])। यह लोग सूर्या को अपनी समझ कर उसे अपने पास रखते हैं (७, ६८[३]); और यह तथ्य कि सूर्या रथ में इनके साथ ही रहती है, एक विशिष्टता है (८, २९[८])। अश्विनी नामक देवी से भी इसी का तात्पर्य होना चाहिये, जिसका अन्य के साथ ५, ४६[८] में उल्लेख है। एक बाद के सूक्त (१०, ८५[९]) में यह कहा गया है कि जब सवितृ ने सूर्या को उसके पति (पत्ये) को दिया था उस समय

सोम तो 'वधूयु', और अश्विनद्वय वर (वरा) थे। एक अन्य स्थल (६, ५८[४]) पर यह कहा गया है कि देवों ने पूषन् को 'सूर्या' दे दिया था। सूर्या के साथ इनके सम्बन्ध के कारण अश्विनों से अपने रथ पर बैठा कर वधू को वर-गृह तक पहुंचा देने का आवाहन किया गया है (१०, ८५[२६])। वधू में गर्भ धारण करने की शक्ति उत्पन्न करने के लिये अनेक अन्य देवों के साथ-साथ अश्विनों का भी स्तवन किया गया है (१०, १८४[२])। यह लोग नपुंसकों की पत्नियों को सन्तान प्रदान करते हैं और बन्धा गायों को दूध देने के लिये प्रेरित करते हैं (१, ११२[३]), इन लोगों ने वृद्ध स्त्री को एक पति (१०, ३९[३]), और अपने एक प्रिय पात्र को पत्नी प्रदान किया (१, ११६[१] इत्यादि)। अथर्ववेद (२, ३०[२] इत्यादि) में इन्हें प्रेमियों को संयुक्त करने वाला कहा गया है।[१८]

सूर्य के विलीन हो गये प्रकाश को पुनः प्राप्त करने अथवा खोज निकालने वालों के रूप में ही मूलतः अश्विनों की कल्पना की गई होगी।[१९] ऋग्वेद में यह लोग एक विशिष्ट प्रकार के सहायता करने वाले देव माने गये हैं। यह लोग अन्य की अपेक्षा सर्वाधिक शीघ्रता पूर्वक सहायता करने वाले तथा सामान्य रूप से सभी विपत्तियों से मुक्त करने वाले हैं (१, ११२[२], ११८[३])। इस प्रकार की कृपाओं के लिये नित्य ही इनका स्तवन किया गया है। विशेषतः यह लोग एक अथवा अनेक जहाज़ों से सागर में डूबने से बचाते हैं। सागर अथवा आकाश से धन-सम्पत्ति लाने के लिये भी इनका आवाहन किया गया है (१, ४७[६]), और इनका रथ सागर की ओर से आता है (४, ४३[५])। फिर भी यहाँ दिव्य सागर का आशय उद्दिष्ट प्रतीत होता है। सभी प्रकार की विपत्तियों से मुक्त करने का इनका कार्य केवल दिव्य कृपा का एक शान्तिपूर्ण प्रतिफल मात्र है, युद्ध में शत्रुओं से मुक्ति दिलाना नहीं, जैसी कि साधारणतया इन्द्र के सम्बन्ध में कल्पना है (फिर भी युद्ध करते हुये इन्द्र के साथ इन्हें एक बार संयुक्त, और यहाँ तक कि 'वृत्रहन्' उपाधि से भी इन्हें विभूषित किया गया है)।[२०] इस प्रकार यह लोग विशिष्टतः दिव्य चिकित्सक हैं (८, १८[८] इत्यादि) जो अपने उपचारों द्वारा व्याधियों का उपशमन (८, २२[१०] इत्यादि), दृष्टिदान (१, ११६[१६]), और अन्धे, अपंग तथा रुग्ण व्यक्तियों को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं (१०, ३९[३])। यह लोग देवों के चिकित्सक, और अमरत्व के अभिभावक हैं जो मृत्यु को स्तोताओं से दूर भगाते हैं (अथर्ववेद ७, ५३[१]; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १, २[११])। सहायता करने की अपनी प्रकृति के अतिरिक्त यह लोग उपशमन और आश्चर्यजनक कार्य करनेवाले हैं, तथा इनकी सामान्य उपकारशीलता की अक्सर प्रशस्ति है। यह लोग अपने स्तोताओं को

वृद्धावस्था तक दृष्टिहीन नहीं होने देते, और उन्हें प्रचुर सम्पत्ति तथा सन्तानों से परिपूर्ण रखते हैं (१, ११६[२५]; ८, ८[३३] इत्यादि)।

सहायता देने की अश्विनों की शक्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद में अनेक आख्यान मिलते हैं। जराक्रांत और परित्यक्त च्यवन ऋषि को इन्होंने ही अपाहिज शरीर से मुक्त किया, उन्हें दीर्घ जीवन और नयौवन दिया, उन्हें अपनी पत्नी के लिये ग्राह्य और कन्याओं का पति बना दिया (१, ११६[१०] इत्यादि; मूईर : सं० टे०, ५, १४३)। अश्विनों ने किस प्रकार च्यवन ऋषि को पुनः युवावस्था प्रदान की थी, इसकी एक विस्तृत कथा शतपथ ब्राह्मण (४, १, ५)[२१] में मिलती है। इन्होंने वृद्ध 'कलि' को भी पुनः युवावस्था प्रदान की थी (१०, ३९[८]), और स्त्री प्राप्त करने पर भी उस पर अनुग्रह किया था (१, ११२[१५])। यह युवा 'विमद' के लिये अपने रथ पर बैठाकर पत्नियाँ (१, ११२[१९]), अथवा एक पत्नी लाये (१, ११६[१]) जिसका नाम 'कमद्यू' था (१०, ६५[१२]), जो कि 'पुरुमित्र' की एक सुन्दर प्रेयसी प्रतीत होती है (१, ११७[२०]; १०, ३९[७])। इन्होंने अपने उपासक कृष्ण के पुत्र विश्वक को, पशु के समान, उनके खोये हुये पुत्र 'विष्णापू' से पुनः मिला दिया (१, ११६[२३], ११७[७]; १०, ६५[१२])। इनके सम्बन्ध में इस कथा का बहुधा उल्लेख मिलता है कि 'तुग्र' के पुत्र 'भुज्यु' की इन्होंने रक्षा की थी, जो समुद्र (समुद्रे) अथवा जल-मेघों (उदमेघे) के बीच पड़ गया था और जहाँ अन्धकार में थपेड़े खाते हुये उसने (भुज्युने) इन युवक देवों का आवाहन किया था। बिना किसी आश्रय के टिके हुये समुद्र से यह लोग भुज्यु को सौ डाड़ोवाले जलयान में बैठा कर उसके घर ले गये थे। इन्होंने अन्तरिक्ष में चलनेवाले चेतन और जलाभेद्य यानों पर, चार यानों पर, चेतन पंखयुक्त नाव पर, सौ पैरों तथा छः अश्वों से युक्त तीन उड़न-यानों पर, अपने सीधे उड़नेवाले अश्वों पर, अपने विचार की भाँति वेगवान और सुसन्नद्ध रथ पर, बैठाकर 'भुज्यु' की रक्षा की थी। एक स्थल पर यह उल्लेख है कि लहरों के बीच पड़े भुज्यु आश्रय के लिये एक लकड़ी के लट्ठे (वृक्ष) को पकड़ कर लटके हुये थे।[२२] हत, बँधे, आक्रामकों द्वारा छिपाये, और मृत समझ कर परित्यक्त, दस रात्रियों और नौ दिन तक जल में पड़े 'रेभ' ऋषि को अश्विनों ने उसी प्रकार बाहर निकाला जिस प्रकार एक चम्मच द्वारा सोम बाहर निकाला जाता है।[२३] इन्होंने 'वन्दन' को विपत्तियों से मुक्त कर सूर्य के प्रकाश में पहुँचा दिया (१, ११२[५]. ११६[११]. ११७[५]. ११८[६]); अथवा उन्हें उस गड्ढे से बाहर निकाला जिसमें वह मृतकों की भाँति लुप्तप्राय पड़े थे (१० ३९[८]), अथवा उन्हें वार्धक्य से मुक्त किया (१, ११९[६.७])[२४]। इन्होंने 'अत्रि सप्तवध्रि' पर भी कृपा की थी जो एक दैत्य

की कुटिलता के फलस्वरूप अपने साथियों सहित जलते हुये गड्ढे में गिर पड़े थे। इन्होंने इस ऋषि को शीतल और स्वास्थ्यकर पेय पिलाया, उसे अग्नि ज्वालाओं से बचाया और अन्ततः युवा बना कर उसे मुक्त किया। यह भी कहा गया है कि इन्होंने इस ऋषि को अन्धकार से मुक्त किया। जहाँ यह उल्लेख है कि 'अग्नि' ने अत्रि को ताप से बचाया (१०, ३०³), वहाँ भी सम्भवतः यही अर्थ है कि अश्विनों की मध्यस्थता के कारण हीं अग्नि ने उसे छोड़ा था।[२५] यहाँ तक कि अश्विनों ने भेड़िये द्वारा दबोची हुई उस कोयल की भी रक्षा की जिसने इनकी सहायता का आवाहन किया था।[२६]

उस 'ऋज्राश्व' को, जिसे एक सौ भेड़ों की हत्या कर एक माँदा-भेड़िये को भक्षणार्थ दे देने के कारण उसके पिता ने अंधा बना दिया था, इन्होंने उसी माँदा भेड़िये की प्रार्थना पर पुनः दृष्टिदान दे दिया (१, ११६¹⁶. ११७¹⁷·¹⁸), तथा 'परावृज्' को भी अन्धत्व और अपंगत्व से स्वस्थ्य किया था (१, ११२⁸)। जब युद्ध में 'विश्पला' का पैर एक पक्षी के पंख की भाँति कट कर अलग हो गया था, तब अश्विनों ने उसे उसके बदले एक लोहे का पैर प्रदान किया था।[२७] जब अपने पितृगृह में पड़ी-पड़ी 'घोषा' वृद्ध हो चली थी तो इन्होंने ही उसे एक पति प्रदान करने की कृपा की थी (१, ११७⁷; १०, ३९³·⁶. ४०⁵)। एक नपुंसक की पत्नी को इन्होंने हिरण्यहस्त नामक पुत्र प्रदान किया था (१, ११६¹³. ११७²⁴; ६, ६२⁷; १०, ३९⁷), जिसे एक बार 'श्याव' भी कहा गया है (१०, ६५¹²)। 'शयु' की जिस गाय ने बच्चे देना बन्द कर दिया था, उसे भी इन्होंने दूध देने की लिये प्रेरित किया (१, ११६²² इत्यादि)। इन्होंने 'पेडु' को इन्द्र द्वारा प्रेरित एक क्षिप्र, बलिष्ठ, श्वेत, अतुलनीय और दैत्यों का वध करने वाला अश्व प्रदान किया जिससे वह अनेक युद्धों में विजेता हो सके (१, ११६⁶ इत्यादि)। पज्र के परिवार के 'कक्षीवत्' को इन्होंने प्रचुर सम्पत्ति से परिपूर्ण किया तथा उसके लिये सौ पात्रों के बराबर 'सुरा' अथवा मधु को एक बलिष्ठ अश्व के खुर से उसी भाँति प्रवाहित किया जिस प्रकार छनने से जल निकलता है (१, ११६⁷. ११७⁶)।[२८] इनके एक अन्य अद्‌भुत कृत्य को मधु अथवा मधुरता से सम्बद्ध किया गया है। इन्होंने 'अथर्वन्' के पुत्र 'दध्यञ्च' पर अश्व का सिर स्थापित किया जिससे उसने यह बताया कि त्वष्टृ (§ ५३) का मधु कहाँ है।[२९] उपरोल्लिखित व्यक्तियों के अतिरिक्त अनेक अन्य लोगों का भी ऋग्वेद १, ११२ और ११६–१९ में उल्लेख है जो अश्विनों की कृपा अथवा अनुग्रह के पात्र रहे। यह सभी अधिकतर ऐसे वास्तविक लोगों के नाम हो सकते हैं जो किसी अद्‌भुत रूप से रक्षित अथवा उपचारित हो गये थे। ऐसे लोगों की रक्षा

अथवा उपचार का श्रेय अश्विनों को अत्यन्त सरलतापूर्वक दिया जा सका होगा, क्योंकि दिव्य मुक्तिकारकों अथवा उपशामकों का चरित्र विकसित कर लेने के कारण अश्विनगण स्वभावतः अद्भुत शक्तियों से सम्बद्ध सभी प्रकार की कथाओं के केन्द्र बन गये थे। बर्गेन तथा अन्य विद्वानों के इस मत में सम्भावना का अभाव प्रतीत होता है[30] कि अश्विनों को आरोपित विभिन्न चमत्कार सौर-घटनाओं के ही मूर्तीकृत स्वरूप हैं। (इसके अनुसार अन्धे व्यक्ति द्वारा दृष्टि प्राप्त कर लेने का अर्थ सूर्य का अन्धकार से बाहर निकलना होगा)। साथ ही साथ यह भी सम्भव है कि अत्रि की कथा (तु० की० § ५६) में अन्तर्ध्यान हुये सूर्य के पुनः प्रकट होने की पुराकथा का आभास हो। अश्विनों के भौतिक आधार के सम्बन्ध में ऋषियों की भाषा इतनी अस्पष्ट है कि ऐसा प्रतीत होता है कि वह लोग स्वयं भी नहीं समझ सके थे कि यह देव किस घटना का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रातः काल के अन्य देवता, अन्धकार का विनाश करने वाले अग्नि, मनुष्यों को जागृत करने वाली उषस्, और उगते हुये सूर्य, अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से सम्बोधित किये गये हैं। इन लोगों को अश्वों का स्वामी कहा जा सकता है क्योंकि अश्व, प्रकाश और मुख्यतः सूर्य के प्रकाश की किरणों के, प्रतीक हैं। किन्तु अश्विन्-द्वय वास्तव में किसका प्रतिनिधित्व करते हैं यह यास्क द्वारा उल्लिखित प्राचीनतम भाष्यकारों तक के लिये एक समस्या ही रही है। यास्क का कथन है (निरुक्त १२, १) कि कुछ लोग इन्हें 'पृथिवी' और 'आकाश' मानते थे (जैसा कि शतपथ ब्राह्मण ४, १, ५[16] भी मानता है), अन्य लोग 'दिन' और 'रात', तथा कुछ अन्य 'सूर्य' और 'चन्द्रमा', जब कि 'पौराणिक कथाकार' इन्हें 'पवित्र कृत्य करने वाले दो राजा' मात्र मानते हैं।

स्वयं यास्क का अपना मत अस्पष्ट है। रौथ का विचार है कि यास्क का अर्थ 'इन्द्र और सूर्य से है', और गॉल्डस्टूकर यह मानते हैं कि उनके (यास्क के) अनुसार अन्धकार से प्रकाश का प्रकट होना अर्थ है जो इन देवों की यमज प्रकृति के अनुकूल अविभाज्य युग्मता का प्रतिनिधित्व करता है। गोल्डस्टूकर स्वयं भी इसी मत से सहमत हैं। मीरियन्थ्यूस, तथा साथ ही साथ, हॉपकिन्स का भी यही मत है जो इस बात की सम्भावना मानते हैं कि यह दोनों अवियोज्य यमज देव उषा के पहले के उस ईषत्प्रकाश की अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं जब आधा अन्धकार और आधा प्रकाश रहता है, और इस कारण इनमें से अकेले एक को उज्ज्वल आकाश, अर्थात् 'द्यौस्' का पुत्र कहा जा सकता है। अन्य विद्वान्[31] सूर्य और चन्द्रमा के साथ अश्विनों के समीकरण के पक्ष में ही मत व्यक्त करते हैं। मैनहार्ट[32] और बॉलेनसेन (त्सी० गे०, ४१, ४९६) का अनुसरण करते हुये औल्डेनबर्ग यह विश्वास

व्यक्त करते हैं कि अश्विनों का प्राकृतिक आधार प्रातःकालीन तारा होना चाहिये, जो अग्नि, उषस्, और सूर्य के अतिरिक्त एक मात्र अन्य प्रातःकालीन प्रकाश होता है। समय, प्रकाशमान प्रकृति, और आकाश की परिक्रमा करने का अश्विनों का पथ, यह सभी इनके अनुकूल तो हैं किन्तु इनकी द्वैधता के नहीं।

वास्तव में प्रातःकालीन तारे को स्वभावतः सायंकालीन तारे के साथ सम्बद्ध होने का विचार किया जा सकता है, किन्तु यह दोनों सदैव ही पृथक् रहते हैं जबकि अश्विनद्वय संयुक्त हैं। फिर भी ऋग्वेद के दो स्थलों पर अश्विनों की अलग-अलग चर्चा है; और यद्यपि वैदिक उपासना में प्रातःकाल का इतना अधिक महत्त्व है जब कि सूर्यास्त का कुछ नहीं (५, ७७[२]), तथापि अश्विनों का अक्सर प्रातः और सायं[33] दोनों समय आवाहन किया गया है (८, २२[१४]; १०, ३९[१]. ४०[४])। द्यौस् के पुत्र, अश्विनद्वय, जो अपने अश्वों पर आकाश के आरपार भ्रमण करते हैं और जिनके एक बहन भी है, के समानान्तर ही यूनानी पुराकथाशास्त्र के दो प्रसिद्ध अश्वारोही ज्यूस के पुत्र (डायोस् कूरॉय, Διός Κοῦροι)[34] और 'हेलेना' के भ्राता हैं, तथा दो लैक्टिक देव-पुत्र भी, जो यातो अपने अथवा चन्द्रमा के लिये सूर्य की पुत्री से प्रेम करने के लिये अपने अश्वों पर आते हैं। लैक्टिक पुराकथा में प्रातःकलीन तारे के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह सूर्य की पुत्री पर दृष्टिपात करने आया है।[35] जिस प्रकार दो अश्विन्-गए एक ही सूर्या से विवाह करते हैं उसी प्रकार दो लैक्टिक देव-पुत्र भी सूर्य की एक ही पुत्री से विवाह करते हैं; और यह भी ('डायोस्कूरॉय', Διόσκουροι, की भाँति) सागर से बचाने वाले, तथा सूर्य की पुत्री अथवा स्वयं सूर्य को मुक्त करने वाले हैं।[36] यदि यह सिद्धान्त ठीक है, तो अन्धकार के कष्ट से मुक्ति की सूचना देने वाले के रूप में प्रातःकालीन तारे के विचार के आधार पर ही मुक्तिकारक अश्विनों की प्रकृति का विकास हुआ होगा। वेबर का यह भी विचार है कि अश्विन-द्वय मिथुन राशि के दो तारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।[37] अन्ततः, गेल्डनर का विचार है कि अश्विनगए किसी प्राकृतिक घटना का प्रतिनिधित्व नहीं करते, वरन् विशुद्ध भारतीय सृजन के केवल दो उपकारी सन्त मात्र हैं।[38]

ईषत्प्रकाश तथा प्रातःकालीन तारे से सम्बन्धित सिद्धान्त सर्वाधिक सम्भव प्रतीत होते हैं। जो कुछ भी हो, नाम की दृष्टि से न सही, किन्तु चरित्र की दृष्टि से अश्विनों का अस्तित्व भारोपीय-कालीन होना असम्भव नहीं प्रतीत होता।

[१] पिशलः वेदिशे स्टूडियन १, ५६–८, के अनुसार; अन्य लोगों ने विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है; तु० की० बर्गेनः ल० रि० वे०, ३, ३८, नोट —
[२] ब्रुनहॉफर : वॉ० ग०, पृ० ९९; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४३४; हॉ० इ०

८३ — [3]स्पींगेल : डी० पां० २०७; कॉलिनेट : वे० रे० ३, १९३ — [4]के० ऋ०, नोट १७२ — [5]पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ५५ — [6]पिशल : वेदिशे स्टूडियन ५६–७, अश्विनों की उपाधियों की एक तालिका देते हैं — [7]हि० वे० मा०, १, २३७ — [8]औल्डेनबर्ग के अनुसार इससे प्रातःकालीन ओस विन्दुओं का तात्पर्य है; तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४३३ — [9]हॉग: गौ० ए० १८७५, पृ० ९३ — [10]वॉलेनसेन : त्सी० गे० ४१, ४९६, हॉ० इ०, ८० — [11]अश्विनों के रथ और अश्वों पर; तु० की० हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १५, २६९–७१ — [12]पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, १०५ — [13]मूईर : सं० टे० ५, २३८–९; हॉ० इ० ८२ — [14]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४३२ — [15]औ० वे० २०८ — [16]हॉ० इ० ८३ — [17]तु० की० इन्डिशे स्टूडियन ५, १८३. १८७; एही : त्सी० गे० ३३, १६८–७० — [18]वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ५. २१८, २२७. २३४ — [19]श्रोडर : वी० मौ० ९, १३१; हॉ० इ० ८३ — [20]मूईर : सं० टे० ५, २४८–९ — [21]मूईर : सं० टे० ५, २५०–३; से० बु० ई० २६. २७३ और बाद; बेनफे : ओ० आ० ३, १६०—मीरियन्थ्यूस, पृ० ९३ (= जो सूर्य सन्ध्या समय अस्त हो जाता है वह प्रातःकाल पुनः प्रकट होता है); हार्डी : वे० पी० ११२ — [22]मूईर : सं० टे० ५, २४४–५, उद्धृत सन्दर्भ; सोन्नी : कु० त्सी० १०. ३३५–६; बेनफे : ओ० आ० ३, १५९; मीरियन्थ्यूस १५८; हार्डी : वे० पी० ११२ — [23]मूईर : सं० टे० ५, २४६; बेनफे : ओ० आ० ३, १६२, १६४; मीरियन्थ्यूस १७४; बॉनैक : त्सी० गे० ५०, २६४–६ — [24]बॉनैक, वही, २६३–४ — [25]वही, २६८; सोन्नी : कु० त्सी० १०, ३३१ (अत्रि = सूर्य); मूईर : सं० टे० ५, २४७; तु० की० ब्राड्के : त्सी० गे० ४५, ४८२–४ — [26]मैक्स मूलर : लै० लै० २, ५२५–६; मूईर : सं० टे० ५, २४८; मीरियन्थ्यूस ७८–८१ — [27]मूईर सं० टे० ५, २४५; मीरियन्थ्यूस १००–१२; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, १७१–३ ('विश्पला' एक घुड़दौड़ की अश्वी का नाम है)। 'विश्पला' की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है — [28]मीरियन्थ्यूस १४९ और बाद; के० ऋ०, नोट १८५ — [29]बेनफे : ओ० आ० २, २४५; मीरियन्थ्यूस १४२–३; हार्डी : वे० पी० ११३ — [30]मूईर : सं० टे० ५, २४८; हार्डी : वे० पी० ११२ — [31]लुडविग: ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३३४; हि० वे० मा० १, ५३५; हार्डी : वे० पी० ४७–९ — [32]त्सी० इथ्नोलौजी ७, ३१२ और बाद — [33]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ५०० — [34]हॉ० इ० ७८, ८०; ज० ए० सो० २७, ९५३–४ — [35]औ० वे० २१२, नोट ३ — [36]श्रोडर : वी० मौ० ९, १३०–१ — [37]वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ५, २३४; राजसूय १०० — [38]गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, ३१, तु० की० १. xxvii।

रौथ : त्सी० गे० ४, ४२५; व्हिट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३२२; मैक्स मूलर : लै० लै० २, ६०७–९; बेनफे : ओ० आ० २, २४५; मूईर : सं० टे० ५, २३४–५४; गोल्डस्टूकर, वही, २५५–७; ग्रासमैन : ऋग्वेद का

अनुवाद १, १५०; मीरियन्थ्यूस : डी० डि०; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४३१–५१०; के० ऋ० ४९–५२, नोट १७१, १७९, १८०; हार्डी : वे० पी० ४७–४९, १११–१३; औ० वे० २०९–१५; हॉ० इ० ८०–६।

(ख) अन्तरिक्ष-देवता

§ २२. इन्द्र :—इन्द्र वैदिक भारतीयों के प्रिय राष्ट्रीय देवता हैं। इस तथ्य द्वारा ही इनके महत्त्व का संकेत मिल जाता है कि प्रायः २५० सूक्तों में इनकी महानता की प्रख्याति है, और यह संख्या किसी भी अन्य देव को अर्पित सूक्तों से कहीं अधिक तो है ही, ऋग्वेद के समस्त सूक्तों की भी लगभग चतुर्थांश है। यदि ऐसे सूक्तों को भी सम्मिलित कर लिया जाय जिनमें आंशिक रूप से अथवा अन्य देवों के साथ इनकी प्रशस्ति है तो इन्हें अर्पित सूक्तों का योग प्रायः ३०० तक पहुंच जायगा। 'इन्द्र' नाम, जो भारतीय-ईरानी काल का ही है तथा जिसका अर्थ अनिश्चित है, किसी प्राकृतिक घटना का वाचक न होने के कारण, इन्द्र का व्यक्तित्व अत्यधिक मूर्तीकृत हो गया है, और वास्तव में वेदों के किसी भी अन्य देवता की अपेक्षा यह पुराकथा शास्त्रीय कल्पनाओं से कहीं अधिक परिपूर्ण है। फिर भी इनके चरित्र का महत्त्व पर्याप्त रूप से स्पष्ट है। यह मुख्यतः आकाशीय गर्जन के देवता हैं। अवर्षण अथवा अन्धकार के दैत्यों पर विजय तथा उसके फलस्वरूप जल की मुक्ति (वर्षा) अथवा प्रकाश का विस्तारण इनके पुराकथाशास्त्रीय सारतत्त्व का निर्माण करता है। दूसरे स्तर पर इन्द्र युद्ध के देवता हैं जो भारतीय आदिवासियों पर विजय प्राप्त करने में विजेता आर्यों की सहायता करते हैं।

यह मध्यस्थान (अन्तरिक्ष स्थान) के प्रमुख देवता हैं। यह वायु को व्याप्त करते हैं (१, ५१[२])। नैघण्टुक में यह केवल अन्तरिक्ष-देवों के ही अन्तर्गत आते हैं (५, ४), और अग्नि-इन्द्र–(अथवा 'वायु')–सूर्य की त्रयी में वायु के प्रतिनिधि हैं।

इन्द्र के अनेक, दैहिक गुणों का उल्लेख है। इनके एक शरीर है, एक सर तथा भुजायें और हाथ हैं (२, १६[२]; ८, ८५[३])। सोम पान करने की इनकी शक्ति के सन्दर्भ में इनके पेट का भी अक्सर उल्लेख है (२, १६[२] इत्यादि)। सोम से भरा होने पर इसकी (पेट की) झील से तुलना की गई है (३, ३६[८])। इनके अधरों ('शिप्रा'-का सम्भव अर्थ) का भी अक्सर उल्लेख है, तथा 'सुशिप्र, अथवा 'शिप्रिन्' (सुन्दर अधरोंवाले), जिनका अक्सर उल्लेख मिलता है, प्रायः इन्हीं का विशिष्ट गुण है। सोम पान के पश्चात् यह अपने दाँतों को पीसते हैं (८, ६५[३०])। जब यह अत्यधिक उल्लसित अथवा गतिशील होते हैं तो इनकी दाढ़ी तीव्र गति से हिलती है (२, ११[१७];

१०, २३[१])। इनके केश (१०, ९६[५.८]), और दाढ़ी (१०, २३[४]) का रंग हरा है। इनका समस्त रूप ही हरा है और इनको अर्पित एक सूक्त (१०, ९६) के प्रत्येक मन्त्र में इन्द्र के सन्दर्भ में 'हरा' (·हरि) शब्द का उल्लेख है। कुछ बार इन्हें स्वर्ण-वर्ण (१, ७[२]; ८, ५५[३]), जो सवितृ का विशिष्ट गुण है (पृ० ५९), स्वर्ण-हस्त (७, ३४[४]), और लौह-वत (१, ५६[३]; १०, ९६[४.८]) भी कहा गया है। वज्र धारण किये हुये इनकी भुजाओं का विशेषतः अक्सर उल्लेख मिलता है। इनकी भुजायें लम्बी, दूर तक फैलनेवाली, विशाल (६, १९[३]; ८, ३२[१०], ७०[१]), शक्तिशाली और सुदृढ़ (सामवेद २, १२१९) हैं। इन्द्र सर्वाधिक सुन्दर रूप और सूर्य की अरुणिम आभा धारण करते हैं (१०, ११२[३]), और अपने इच्छानुसार अनेक प्रकार के रूप बदलते रहते हैं (३, ४८[४].५३[८]; ६, ४७[१८])।

'वज्र'[१] अनन्यतः केवल इन्द्र का ही अस्त्र है। यह (वज्र) बिजली गिरने का ही नियमित रूप से पुराकथाशास्त्रीय नाम प्रतीत होता है (तु० की० पृ० १११) सामान्यतया इसे 'त्वष्टृ' द्वारा निर्मित बताया गया है (१, ३२[२] इत्यादि), किन्तु यह भी कहा गया है कि 'काव्य उशना' ने इसे बनाकर इन्हें दिया था (१, १२१[१२]; ५, ३४[२])। ऐतरेय ब्राह्मण (४, १) में यह कहा गया है कि देवों ने ही इन्द्र को वज्र प्रदान किया था। यह सागर में जलावृत्त पड़ा रहता है (८, ८९[९])। इसका स्थान सूर्य के नीचे है (१०, २७[२१])। सामान्यतया इसे 'आयस' अथवा धातु का बना कहा गया है (१, ५२[८] इत्यादि)। किन्तु कभी-कभी इसे स्वर्णिम (१, ५७[२] इत्यादि), हरा (३, ४४[४]; १०, ९६[३]), अथवा उज्ज्वल (३, ४४[५]) भी कहा गया है। यह चतुष्कोणीय (४, २२[२]), शत-कोणीय (४, १७[१०]), शत-जोड़ोवाला (८, ६[६] इत्यादि) और सहस्त्र नोकोंवाला (१, ८०[१२] इत्यादि) है। यह तीक्ष्ण (७, १८[१८] इत्यादि) है। इन्द्र इसे चाकू की भाँति तीक्ष्ण करते हैं, अथवा जिस प्रकार बैल अपनी सींघ[२] (१, १३०[४].५५[१]) को तीक्ष्ण करता है। इसे पत्थर (अश्मन्) अथवा चट्टान (पर्वत; ७, १०४[१९]) की भाँति बताया गया है। इन्द्र के हाथ में स्थित वज्र की आकाश में स्थित सूर्य से तुलना की गई है (८, ५९[२])। वज्र' से व्युत्पन्न अथवा इसके साथ यौगिक रूप में बनी उपाधियों का प्रयोग, जिनमें से कुछ तो बहुधा ही मिलती हैं, प्रायः इन्द्र तक ही सीमित है। 'वज्रभृत्' (वज्र धारण किये हुये), 'वज्रिवत्' (वज्र से युक्त), और 'वज्रदक्षिण' (अपने दाहिने हाथ में वज्र धारण किये हये), एक मात्र इन्द्र के लिये ही व्यवहृत हुये हैं, जब कि 'वज्रबाहु' अथवा '–हस्त' (अपनी भुजाओं अथवा हाथ में वज्र ग्रहण किये हुये), और एक सर्वसाधारण निष्पत्ति 'वज्रिन'

(वज्र से युक्त) आदि, इनके अतिरिक्त एक-एक बार क्रमशः 'रुद्र', 'मरुद्गण' और 'मन्यु' के लिये भी प्रयुक्त हुये हैं।

कभी-कभी इन्द्र को धनुष और बाण से भी सम्पन्न बताया गया है (८, ४५[४]; ६६[६.११]; १०, १०३[२.३])। इनके बाण स्वर्णिम, शतनोकोंवाले, और सहस्र पंखों से युक्त हैं (८, ६६[७.११])। इनके पास एक 'अंकुश' भी है जिससे यह धन प्रदान करते हैं (८, १७[१०]; अथर्ववेद ६, ८२[३]), अथवा जिसका आयुध के रूप में भी व्यवहार करते हैं (१०, ४४[९])। इन्हें एक ऐसे जाल से भी युक्त बताया गया है जिससे यह अपने शत्रुओं को आच्छादित कर देते हैं (अथर्ववेद ८, ८[५-८])।

इन्द्र का जन्म एक ऐसे रथ पर हुआ है जो स्वर्णिम (६, २९[२] इत्यादि), और विचार से भी वेगवान है (१०, ११२[२])। 'रथेष्ठा' उपाधि एक मात्र इन्द्र के लिये ही उपयुक्त मानी गई है। इनका रथ दो हरे रंग (हारी)[३] के अश्वों द्वारा खींचा जाता है। यह 'हारी' शब्द अत्यधिक बार प्रयुक्त हुआ है और अधिकांश अवस्थाओं में इससे इन्द्र के अश्वों का ही आशय है। कुछ स्थलों पर अश्वों की संख्या दो से अधिक, सौ और यहाँ तक कि एक सहस्र अथवा ग्यारह सौ तक होने का भी उल्लेख है (२, १८[४-७]; ४·४६[३]; ६, ४७[१८]; ८, १[९.२४])। यह अश्व सूर्य-नेत्री हैं (१, १६[१.२])। यह अश्व हँसते और हिनहिनाते भी हैं (१, ३०[१६])। इनके अयाल बड़े-बड़े (१, १०[३] इत्यादि) अथवा स्वर्णिम हैं (८, ३२[२९].८२[२४])। इनके केश मोर के पंखों अथवा पूँछों की भाँति हैं (३, ४५[१]; ८, १[२५])। यह द्रुत गति से बड़ी-बड़ी दूरियाँ पार करते हैं और इन्द्र को उसी भाँति वहन करते हैं जिस भाँति उत्क्रोश पक्षा का उसके पंख (२, १६[२]; ८, ३४[९])। यह स्तुति द्वारा सन्नद्ध होते हैं (२, १८[३] इत्यादि), जिसका निःसन्देह यह अर्थ है कि स्तवन द्वारा ही इन्द्र यज्ञ तक आते हैं। कुछ बार यह कहा गया है कि सूर्य के अश्व (१०, ४९[७]) अथवा 'वात' के अश्व (१०, २२[४-६]) इन्द्र को वहन करते हैं, और इन्द्र, वायु के सारथी (४, ४६[२]. ४८[२]), अथवा उसके साथ रथारूढ़ हैं (७, ९१[६])। इन्द्र के रथ और उसके अश्वों कों ऋभुओं ने बनाया था (१, १११[१]; ५, ३१[४])। एक बार इन्द्र को एक स्वर्ण-कशा (८, ३३[११]) से युक्त बताया गया है।

यद्यपि सामान्य रूप से सभी देव सोम के प्रेमी हैं (८, २[१८]. ५८[११]), तथापि इन्द्र इसके सर्वप्रमुख व्यसनी हैं (१, १०४[९] इत्यादि); यहाँ तक कि इसे पान करने के लिये इन्होंने इसे चुरा लिया था (३, ४८[४]; ८, ४[४])। यह देवों और मनुष्यों में सर्वाधिक सोम-पान करने वाले हैं (८, २[४]), और केवल इनके सखा 'वायु' ही इस दिशा में इनके निकट आ सकते हैं।[४] यह इन्द्र का प्रिय

पोषक-पेय है (८, ४[३२])। 'सोम-पा', 'सोम-पावन्' आदि बहुप्रयुक्त उपाधियाँ इन्हीं की विशिष्टता हैं, अन्यथा केवल कुछ ही बार इन्द्र के साथ सम्बद्ध होने की दशा में अग्नि और बृहस्पति के लिये, तथा एक बार अकेले 'वायु' के लिये प्रयुक्त हुई हैं।

कभी-कभी यह कहा गया है कि सोम इन्द्र को महानतम दिव्य कार्य, जैसे पृथ्वी और आकाश को धारण, अथवा पृथ्वी का विस्तारण आदि करने की उत्तेजना प्रदान करता है (२, १५[२])। किन्तु यह (सोम) विशिष्टतः इन्द्र को युद्ध अभियान, जैसे वृत्रासुर का वध करने (२, १५[१].१९[२]; ६, ४७[१.२]) अथवा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये (६, २७; ७, २२[२]; ८, ८१[६]) उत्साहित करता है। इन्द्र के लिये सोम इतना आवश्यक है कि इनकी माता ने ही इन्हें यह प्रदान किया था, अथवा अपने जन्म के दिन ही इन्होंने इसका पान किया था (३, ४८[२.३] .३२[९.१०]; ६, ४०[२]; ७, ९८[३])। वृत्र का वध करने के लिये इन्होंने सोम की तीन झीलों[५] का पान किया था (५, २९[७] तु० की० ६, १७[११]), और यहाँ तक कहा गया है कि एक बार में ही यह इस पेय की तीस झीलों का पान कर गये थे (८, ६६[४])। एक सम्पूर्ण सूक्त (१०, ११९) में एक स्वगत संभाषण है जिसमें सोम पान कर लेने के पश्चात् अपनी संवेदनाओं का इन्द्र स्वयं वर्णन करते हैं। जिस प्रकार अत्यधिक सोम-पान मनुष्यों को भी रुग्ण कर देने वाला कहा गया है, उसी प्रकार इसके अत्यधिक दुर्व्यसन के कारण स्वयं इन्द्र के पीड़ित होने तथा देवों द्वारा सौत्रायणी संस्कार[६] से उपचारित किये जाने का वर्णन है। इन्द्र मधु-मिश्रित दुग्ध का भी पान करते हैं[७] (८, ४[९])।

साथ ही साथ यह बैलों (वृषभ) का मांस भी खाते हैं (१०, २८[३]): कभी एक बैल का (१०, २७[२]), कभी बीस (१०, ८६[१४]) का, अथवा कभी सौ भैंसों का (६, १७[११]; ८, ६६[१०]), अथवा अग्नि द्वारा पकाये गये तीन सौ भैंसों का (५, २९[७])। यज्ञ के समय यह अपूप के उपहार (३, ५२[७.८]) और साथ ही अन्न (३, ३५[३]. ४३[४]; १, १६[२]) को भी ग्रहण करते हैं। इनके अश्वों को भी अन्न खाने वाला माना गया है (३, ३५[७].५२[७])

अक्सर इन्द्र के जन्म लेने का भी उल्लेख है। दो सम्पूर्ण सूक्त (३, ४८; ४, १८) इनके जन्म के विषय से सम्बद्ध हैं। एक बार अपनी माता के पार्श्वभाग से अप्राकृतिक रूप में जन्म लेने की कामना करने वाले के रूप में इनका उल्लेख है[८] (४, १८[१.२])। सम्भवतः मेघों के किनारों से विद्युत की चमक के प्रकट होने की धारणा से ही यह विचार निष्कृष्ट हुआ प्रतीत होता है। जन्म लेने पर यह आकाश को प्रदीप्त कर देते हैं (३, ४४[४])। जन्म लेते ही यह सूर्य-रूपी चक्र को गतिशील कर देते हैं (१, १३०[९])। जन्म लेते ही यह एक योद्धा

बन गये (३, ५१[८]; ५, ३०[५]; ८, ४५[४]. ६६[१]; १०, ११३[४]), और जन्म से ही दुर्जेय हैं (१, १०२[८]; १०, १३३[२])। इनके जन्म लेने पर दृढ पर्वत, आकाश और पृथिवी भय से प्रकम्पित हो उठते हैं (१, ६१[१४])। इनके जन्म के समय आकाश और पृथिवी इनके क्रोध से भयभीत होकर काँपने लगे (४, १७[२]) और सभी देवता इनसे भयभीत हुये (५, ३०[५])[९]। इनकी माता का भी अक्सर उल्लेख है (३, ४८[२.३] इत्यादि)[१०]। एक बार (४, १८[१०]) इनकी माता को गाय (गृष्टि) के रूप में व्यक्त किया गया है और यह उसके बछड़े हैं। इन्हें एक वृषभ के रूप में गाय की सन्तान (गार्ष्टेय) भी कहा गया है (१०, १११[२])। इन्हें एक बार (१०, १०१[१२]) 'निष्टिग्री' का पुत्र भी कहा गया है जिसे (निष्टिग्री) सायण 'अदिति' का समानार्थी मानते हैं (तु० की० § ४१)। अथर्ववेद (३, १०[१२.१३]) के अनुसार इन्द्र (और अग्नि) की माता प्रजापति की पुत्री 'एकाष्टका' है। इन्द्र के भी पिता वही हैं जो अग्नि के (६, ५९[२]) और यह द्यौस् तथा पृथिवी के पुत्र हैं (§ ३५)। एक सूक्त के एक मंत्र (४, १७[४]) की एक व्याख्या के अनुसार, जिसमें इनके पिता का दो बार उल्लेख है, इनके पिता द्यौस् हैं। इन्द्र को अर्पित सूक्त (१०, १२०[१]) के एक मंत्र से भी इसी के समान निष्कर्ष निकाला जा सकता है, जहाँ यह कहा गया है कि 'लोकों में जो सर्वोच्च है उसी से इस भयंकर (देव) का जन्म हुआ'। कुछ अन्य स्थलों से भी ऐसा ही प्रतीत होता है (तु० की० ६, ३०[५]; १०, ५४[3] सहित ८, ३६[४]; और १, १६४[३३] सहित १०, १३८[६])। इनके पिता को इनके वज्र का निर्माता कहा गया है (२, १७[६]), किन्तु अन्यत्र सामान्य रूप से इसे (वज्र) 'त्वष्टृ' द्वारा निर्मित बताया गया है (§ ३८)। इन्द्र ने अपने पितृगृह में ही सोम पान किया, जहाँ इनकी माता ने इसे इन्हें दिया था (३, ४८[२])। इन्होंने 'त्वष्टृ' के गृह में सोम पान किया (४, १८[3])। इन्द्र ने जन्म लेते ही त्वष्टृ को पराजित करके सोम चुरा लिया और पात्रों में रख कर उसका पान किया (३, ४८[४])। इन्द्र ने अपने पिता को पकड़ कर पैरों से कुचल दिया, और उसी मंत्र में इनसे यह पूछा गया है कि इनकी माता को किसने विधवा बनाया (४, १८[१२])। इन स्थलों से स्पष्टतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सोम प्राप्त करने के लिये इन्द्र अपने जिस पिता का वध करते हैं वह 'त्वष्टृ'[११] (तु० की० १, ८०[१४]) है। एक स्थल (४, ३०[३]) पर इनके विरुद्ध युद्ध करते हुये दिखाये गये देवों की इनके प्रति आक्रामकता सम्भवतः इनके द्वारा बलात् सोम प्राप्त करने की चेष्टा से ही सम्बद्ध प्रतीत होती है।[१२]

इन्द्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विवरण उपलब्ध हैं। दैत्यों के विनाशक के रूप में इन्हें देवों द्वारा उत्पन्न किया गया बताया गया है

(३, ४९[१]), किन्तु यहाँ निश्चित रूप से 'जन्' क्रिया केवल 'निर्मित करने' के लाक्षणिक आशय में ही प्रयुक्त हुई है (तु० की० २, १३[५]; ३, ५१[८])। इन्द्र, तथा कुछ अन्य देवों को उत्पन्न करनेवाले के रूप में एक बार सोम का उल्लेख है। (९, ९६[५])। पुरुष सूक्त में यह कहा गया है कि इन्द्र और अग्नि विश्व-पुरुष के मुख से निकले (१०, ९०[१३])। शतपथ ब्राह्मण (११, १, ६[१४]) के अनुसार इन्द्र, और साथ ही साथ अग्नि, सोम तथा परमेष्ठिन् का प्रजापति से सृजन हुआ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२, २, १०[१]) यह व्यक्त करता है कि देवों में अन्तिम इन्द्र की रचना प्रजापति ने की।

इन्द्र के यमज भ्राता अग्नि हैं (६, ५९[२]) और पूषन् भी इनके भ्राता ही हैं (६, ५५[५])। इन्द्र के भ्राता के पुत्रों का भी एक बार उल्लेख है है (१०, ५५[१]) किन्तु इनसे किसका तात्पर्य है यह अनिश्चित है।

इन्द्र की पत्नी का अनेक बार उल्लेख है (१, ८२[५-६]; ३, ५३[४-६]; १०, ८६[९-१०])। एक सूक्त में इनकी पत्नी का नाम 'इन्द्राणी है, जहाँ इसे इन्द्र से वार्तालाप करते हुये व्यक्त किया गया है (१०, ८६[११-१२])। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थलों पर भी जहाँ देवियों की गणना कराई गई है, इसका नाम आता है (१, २२[१२]; २, ३२[८]; ५,४६[८])। शतपथ ब्राह्मण स्पष्टतः इन्द्राणी को इन्द्र की पत्नी बताता है (१४, २, १[८]) फिर भी ऐतरेय ब्राह्मण (३,२२[७]) में इन्द्र की पत्नियों के रूप में 'प्रासहा' और 'सेना' का उल्लेख है।[१३] इन दोनों को इन्द्राणी के साथ समीकृत किया गया है (तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ४, २[७-८]; मैत्रायणी संहिता ३, ८[४]; ४, १२[१])[१४]। पिशल (वेदिशे स्टूडियन २, ५२) का विचार है कि ऋग्वेद, और साथ ही साथ वैदिकोत्तर साहित्य में, इन्द्र की पत्नी का व्यक्तिवाचक नाम 'शची' है।[१५] अथर्ववेद (७.३८[२]) एक ऐसी असुर स्त्री के नाम का उल्लेख करता है जिसने देवों के बीच से इन्द्र को नीचे खींच लिया था; और काठक (इण्डिशे स्टूडियन ३, ४७९) यह व्यक्त करता है कि 'विलिस्तेन्गा' नामक एक 'दानवी' पर मोहित होकर इन्द्र स्त्रियों में स्त्री और पुरुषों में पुरुष का रूप धारण करके असुरों के बीच रहने के लिये स्वयं चले गये थे।

इन्द्र को अनेक अन्य देवताओं के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। इनके प्रमुख मित्र और सहायक 'मरुद्गण' हैं, जिनका असंख्य स्थलों पर इन्द्र के युद्ध अभियानों में इनकी सहायता करने वालों के रूप में उल्लेख है (§ २९)। इन देवों (मरुतों) से इन्द्र का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि 'मरुत्वत्' उपाधि, जो यद्यपि कभी-कभी कुछ अन्य देवों के लिये भी प्रयुक्त हुई है, इन्द्र की ही विशेषता है, और इसका तथा साथ ही 'मरुद्गण' का प्रयोग मात्र ही इन्द्र का बोध कराने के लिये पर्याप्त है (५, ४२[६]; ९, ६५[१०])। 'अग्नि' के साथ इन्द्र

को एक युगल देव के रूप में किसी भी अन्य देव की अपेक्षा कहीं अधिक बार संयुक्त किया गया है (§ ४४)[१६]। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि विद्युत भी अग्नि का ही एक रूप है। यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने दो पत्थरों के बीच से अग्नि को उत्पन्न किया (२, १२[३]), अथवा अग्नि को जल में छिपा हुआ पाया (१०, ३२[६])। इन्द्र को कभी-कभी वरुण और वायु के साथ, और अपेक्षाकृत कुछ कम बार सोम, बृहस्पति, पूषन्, और विष्णु के साथ भी सम्बद्ध किया गया है (§ ४४)। इन देवों में से विष्णु, इन्द्र के विश्वासपात्र मित्र हैं और कभी-कभी दैत्यों के साथ युद्ध में इन्द्र की सहायता भी करते हैं (§§ १७.४४)[१७]

तीन या चार स्थलों पर कुछ स्पष्ट रूप से ही इन्द्र को सूर्य के साथ समीकृत किया गया है।[१८] प्रथम पुरुष में बोलते हुये (४, २६[१]) इन्द्र यह कहते हैं कि 'एक समय में हम मनु और सूर्य थे।' इन्द्र को एक बार प्रत्यक्ष रूप से सूर्य कहा ही गया है (१०, ८९[२]); और एक दूसरे मंत्र (८, ८२[४]) में सूर्य तथा इन्द्र का इस प्रकार आवाहन किया गया है मानो यह दोनों एक ही व्यक्ति हों। एक स्थल पर इन्द्र को 'सवितृ' उपाधि से भी विभूषित किया गया है (२, ३०[१])। शतपथ ब्राह्मण भी एक बार (१, ६, ४[१८]) इन्द्र को सूर्य के साथ समीकृत करता है, जहाँ ही वृत्र को चन्द्रमा बताया गया है।

इन्द्र के बृहद् आकार की अनेक स्थलों पर चर्चा की गई है। जब इन्द्र ने दोनों असीम लोकों को पकड़ा तो वह दोनों केवल उनकी मुट्ठी में ही आ गये (३, ३०[५])। महानता में यह, आकाश, पृथ्वी, और वायु, सभी से बड़े हैं (३, ४६[३])। दोनों लोक केवल इनके अर्ध भाग के ही बराबर हैं (६, ३०[१]; १०, ११९[७])। आकाश और पृथ्वी इनके कटिबन्ध के लिये भी पर्याप्त नहीं हैं (१, १७३[६])। यदि पृथ्वी दसगुनी भी और बड़ी होती, तो भी इन्द्र उसके बराबर होते (१, ५२[११])। यदि इन्द्र के पास एक सौ आकाश और एक सौ पृथ्वी होती तो एक सहस्र सूर्य भी उनकी समता नहीं कर सकते, और न दोनों लोक ही उनके बराबर होते (८, ५९[५])।

इन्द्र की महानता और शक्ति की अत्यन्त उन्मुक्त रूप से प्रशंसा की गई है। जन्म ले चुके अथवा जन्म लेनेवालों में से कोई भी इनके समान नहीं है (४, १८[४])। किसी भी ऐसे व्यक्ति ने, चाहे वह दिव्य हो अथवा पार्थिव, न तो जन्म लिया और न जन्म लेगा, जो इनके बराबर हो (७, ३२[२३])। देवता अथवा मनुष्य, कोई भी, न तो इनके बराबर है और न इनसे अधिक (६, ३०[४])। न तो प्राचीन, न इनके बाद के, और न अर्वाचीन प्राणी ही इनके शौर्य की समता कर सकते हैं (५, ४२[६])। न तो देव, न मनुष्य, और न जल ही इनके पराक्रम की सीमा तक पहुँच सके हैं (१, १००[१५])।

इनके समान देवों में भी कोई नहीं; कोई भी जन्म लेनेवाला, भूत अथवा वर्तमान, इनकी समता नहीं कर सकता (१, १६५[९])। यह देवों में भी अतिश्रेष्ठ हैं (३, ४६[३])। शक्ति और पराक्रम में सभी देव इनसे कम हैं (८, ५१[७])। प्राचीन देवता भी इनके दिव्य वैभव और राजकीय प्रतिष्ठा से अपने को हीन मानते थे (७, २१[७])। सभी देव इनके कृत्यों और इच्छाओं को विफल कर सकने में असमर्थ हैं (२, ३२[४])। यहाँ तक कि वरुण और सूर्य भी इनके आदेशों के अधीनस्थ हैं (१, १०१[३] तु० की० २ ३८[९], पृ० २९)। मित्र, अर्यमन् और वरुण के शत्रुओं को विनष्ट करने के लिये इनका स्तवन किया गया है (१०, ८९[८,९]), और यह कहा गया है कि युद्ध द्वारा इन्होंने देवों के लिये पर्याप्त स्थान अर्जित किया (७, ९८[३])। केवल इन्द्र ही समस्त संसार के सम्राट् हैं (३, ४६[२])। यह सभी जंगम और जीवित प्राणियों के अधिपति हैं (१, १०१[५])। यह सभी गतिशील वस्तुओं और मनुष्यों के अधिपति हैं (५, ३०[५]); यह सभी गतिशील और देखनेवाले प्राणियों के नेत्र हैं (१०, १०२[१२])। यह मानव और दिव्य जाति के लोगों के नायक हैं (३, ३४[२])। इन्हें अनेक बार एक सार्वभौमिक सम्राट् (४, १९[२] इत्यादि) तथा अपेक्षाकृत और अधिक बार आत्म-निर्भर सर्वसत्ता सम्पन्न राजा (३, ४६[७] इत्यादि; तु० की० पृ० ४३) कहा गया हैं। यह भी कहा गया है कि एक प्राचीन द्रष्टा के रूप में अपने पराक्रम से यह अकेले (एक) ही शासन करते हैं (८, ६[४१])। कुछ बार इनके लिये 'असुर' उपाधि का भी प्रयोग किया गया है (१, १७४[१]; ८, ७९[६])। अभिव्यक्त शक्ति के भी अनेक चारित्रिक गुणों से इन्द्र को सम्पन्न बताया गया है। 'शक्र' का इन्द्र के लिये तो ४० बार, तथा अन्य देवों के लिये केवल पाँच बार ही प्रयोग किया गया है। 'शचीवत्' (पराक्रम से युक्त) के रूप में इन्द्र का पन्द्रह बार और अन्य देवों का केवल दो बार ही वर्णन है। ऋग्वेद में ग्यारह बार आनेवाली 'शचीपति' (पराक्रम के अधिपति) उपाधि केवल इन्द्र के लिये ही प्रयुक्त हुई है। इसका केवल एक ही अपवाद (७, ६७[५]) है, जहाँ अपने स्तोताओं को पराक्रमयुक्त (शचीभिः) बनाने के लिये 'पराकम के अधिपति' के रूप में अश्विनों का स्तवन किया गया है। इनमें से एक स्थल पर (१०, २४[२]) इन्द्र का 'पराक्रम के अधिपति' (शचीपते शचीनाम्) के रूप में एक शब्दाधिक्यात्मक सा आवाहन मिलता है। यह उपाधि वैदिकोत्तर साहित्य में भी प्रचलित है, जहाँ यह 'शची के पति' के रूप में इन्द्र की द्योतक है (पिशल तो ऋग्वेद तक में इसका यही आशय मानते हैं)। 'शतक्रतु' (शतशक्तियों से युक्त) का बहु प्रयुक्त गुण, जो ऋग्वेद में लगभग साठ बार आता है, केवल दो अपवादों के अतिरिक्त सर्वथा इन्द्र तक ही सीमित है।

अधिकांश दशाओं में इन्द्र के लिये 'सत्पति' (शक्तिशाली अधिपति) का व्यवहार हुआ है। इन्द्र की शक्ति और शौर्य का विभिन्न अन्य उपाधियों द्वारा भी वर्णन किया गया है। यह शक्तिशाली (तवस्), क्षिप्र (नृतु), विजयी (तुर), वीर (शूर), असीम शक्तिवाले (१, ११[४]. १०२[६]) और अविजेय पराक्रम वाले (१, ८४[२]) हैं। यह हाथी की भाँति पराक्रम से युक्त हैं और भयंकर सिंह की भाँति आयुधों को धारण करते हैं (४, १६[१४]) यह युवा (१, ११[४] इत्यादि), और 'अजर' हैं, और साथ ही साथ प्राचीन (पूर्व्य) भी।

इन्द्र के व्यक्तिगत गुणों और चरित्र का निरूपण कर लेने के पश्चात् अब हम उस महान् पुराकथा का अध्ययन करेंगे जो इनकी प्रकृति का आधार है। सोम पान से उल्लसित और समान्यतया मरुतों द्वारा रक्षित होकर यह अवर्षण के उस प्रमुख दैत्य पर आक्रमण करते हैं जिसे बहुधा अवरोधक 'वृत्र' (§ ६८) और अक्सर 'अहि' (सर्प) (§ ६४) भी कहा गया है। इनका यह युद्ध अत्यन्त भयंकर है। आकाश और पृथ्वी भी उस समय भय से प्रकम्पित हो उठते हैं जब कि अपने वज्र से इन्द्र वृत्र पर प्रहार करते हैं (१, ८०[११]; २, ११[९.१०]; ६, १७[९]); यहाँ तक कि स्वयं वज्र के निर्माता त्वष्टृ भी इन्द्र के क्रोध से काँपने लगते हैं (१, ८०[१४])। इन्द्र अपने वज्र से वृत्र को छिन्न-भिन्न कर देते हैं (१, ३२[५]. ६१[१०]; १०, ८९[७])। यह वृत्र की पीठ पर वज्र का प्रहार करते हैं (१, ३२[७]. ८०[५]), उसके मुख का तीक्ष्ण शस्त्रों से वेधन करते हैं (१, ५२[१५]) और उसके अन्य अंगों को भी विदीर्ण करते हैं (३, ३२[४]; ५, ३२[५])। इन्होंने अपने वज्र से जल को रोक रखने वाले वृत्र को मारा (६, २०[२] इत्यादि), अथवा उस दैत्य का वध किया जो जल के चारों ओर शयन (परिशयानम्) कर रहा था (४, १९[२])। इन्होंने जल पर शयन कर रहे दैत्य को पराजित किया (५, ३०[६])। इन्होंने जल में छिपे तथा जल और आकाश को अवरुद्ध करने वाले दैत्य का वध किया (२, ११[५]), और जल को आवृत्त कर रखने वाले वृत्र पर वज्र से उसी प्रकार प्रहार किया जिस प्रकार एक वृक्ष पर प्रहार किया जाता है (२, १४[२])। इसीलिये 'अप्सुजित्' एकमात्र इन्हीं का गुण कहा गया है। अक्सर वर्तमान काल में वृत्र का वध करते हुये इन्द्र का वर्णन है, अथवा उसका वध करने के लिये इनका आवाहन किया गया है। ऐसा विश्वास प्रतीत होता है कि वृत्र के साथ इन्द्र के इस युद्ध की स्थायी रूप से बार-बार आवृत्ति होती है, जो पुराकथाशास्त्रीय दृष्टि से तत्सम्बन्धी प्राकृतिक घटना की निरन्तर पुनरावृत्ति को व्यक्त करता है। अनेक उषाओं और शरद् ऋतुओं में इन्द्र ने वृत्र का वध करके जलधाराओं को प्रवाहित किया (४, १९[८]); अथवा भविष्य में ऐसा ही करने

के लिये इन्द्र का आवाहन किया गया है (८, ७८[४])। इन्द्र पर्वतों को तोड़कर जलधारायें प्रवाहित करते हैं अथवा गायों को ले जाते हैं (१, ५७[६]; १०, ८९[७]); यहाँ तक कि केवल अपने वज्र की ध्वनि मात्र से भी यह यही कार्य करते हैं (६, २७[४])। इन्होंने महान् पर्वत को तोड़ा, उसमें अवस्थित जल-धाराओं को प्रवाहित किया, और 'दानव' का वध किया; इन्होंने रुकी हुई जल-धाराओं और पयोधरों को मुक्त किया (५, ३२[१,२])। इन्होंने 'दानव' का वध किया, महान् पर्वत को विदीर्ण किया, कूपों को तोड़ दिया, और रुके हुये जल को मुक्त किया (१, ५७[६]; ५, ३३[१])। यह उन जलधाराओं को मुक्त करते हैं जो वन्दी गायों के समान हैं (१, ६१[१०]), अथवा जो रँभती हुई गायों की भाँति सागर की ओर बहती हैं (१, ३२[२])। इन्होंने गायों और सोम को जीता और सप्त-नदों को प्रवाहित किया (१, ३२[१२]; २, १२[१२])। यह वन्दी जल को मुक्त करते हैं (१, ५७[६], १०३[२])। इन्होंने दानव द्वारा रोक रक्खी जल-धाराओं को मुक्त किया (२, ११[२]), जलधाराओं के प्रवाहित होने के लिये अपने वज्र से पथों का निर्माण किया (२, १५[३]), बाढ़ के जल को समुद्र में बहाया (२, १९[३]), और वृत्र द्वारा रोक रक्खे जल को प्रवाहित किया (३, २६[६]; ४, १७[१])। वृत्र का वध करके इन्होंने बन्द कर दिये गये जलाशयों को खोला (१, ३२[११])। इनका वज्र ९० नदियों के बराबर विस्तृत है (१, ८०[८])। वृत्र के साथ युद्ध और जलों को मुक्त करने का सन्दर्भ ऋग्वेद में अत्यधिक बार मिलता है। एक सम्पूर्ण सूक्त (१, ८०) में आद्योपान्त इस पुराकथा के विभिन्न परिवर्त्तनों का उल्लेख है। एक अन्य स्थल वृत्र के साथ युद्ध का विवरण प्रस्तुत करता है (१, ३२)। यह युद्ध अभियान ही इन्द्र के चरित्र की प्रमुख विशेषता है. ऐसा उस विधि द्वारा स्पष्ट लक्षित होता है जिससे उक्त द्वितीय सूक्त के प्रथम दो मंत्रों में कवि इस पुराकथा का सारांश व्यक्त करता है : 'हम इन्द्र के उन वीरतापूर्वक कृत्यों का उल्लेख करेंगे जिन्हें इस वज्र धारण करने वाले योद्धा ने सर्व प्रथम किये : इन्होंने पर्वत पर शयन कर रहे दैत्य का वध किया, जलों को मुक्त किया, और पर्वतों का उदर भेदन किया।' स्थिर प्रकार के लाक्षणिक शब्दों, जैसे 'वज्र', 'पर्वत', 'जलों अथवा नदियों', द्वारा प्राकृतिक घटनाओं का प्रायः सदैव संकेत मिलता है, जब कि 'विद्युत', 'आकाशीय गर्जन', 'वर्षा' ('वृष्टि', वर्षा, अथवा 'वृस्' क्रिया) का कदाचित ही प्रत्यक्ष रूप से नामकरण किया गया है (१, ५२[५,६,१४] इत्यादि)।[१९] प्रवाहित कराई गई नदियाँ अक्सर निःसन्देह पार्थिव ही हैं (बर्गेन : ल० रि० वे० २, १८४), किन्तु इस पर भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद में जल और नदियों की अक्सर दिव्य अथवा अन्तरिक्षीय

होने की कल्पना की गई है (१, १०[८]; २, २०[८].२२[४] तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० २, १८७)। वृत्र की पुराकथा को अन्य देवों के लिये व्यवहृत शब्दावली से एक भिन्न रूप में ही व्यक्त करने की इच्छा के अतिरिक्त भी, इन्द्र द्वारा जल के वृहत आगारों की मुक्ति (तु० की० 'अर्णास', बाढ़), 'वर्षा' की अपेक्षा 'नदियों' जैसे शब्दों के प्रयोग को अधिक प्रोत्साहित करती है। इन्द्र द्वारा मुक्त की गई गायों का अधिकांश दशाओं में जल से ही आशय हो सकता है, क्योंकि हम देख चुके हैं कि अक्सर रंभती हुई गायों की जल से ही तुलना की गई है। इस प्रकार यह कहा गया है कि इन्द्र ने जब दैत्य का वध कर दिया तो उस समय उन्होंने मनुष्यों के लिये गायों को प्राप्त किया (५, २९[३] तु० की० १, ५२[८])। एक सन्दर्भ यह दिखाता हुआ प्रतीत होता है कि जहाँ इस बात का वर्णन है कि अपने वज्र की सहायता से इन्द्र ने अन्धकार से प्रकाश और गायों को निकाला, तो वहाँ इससे जल का ही आशय है (१, ३३[१०])। किन्तु अनेक अन्य दशाओं में गायों की धारणा इन्द्र द्वारा प्रकाश पर विजय से सम्बद्ध हो सकती है, क्योंकि रात्रि की कालिमा से प्रकट होती हुई उषा की अरुणिम रश्मियों की अपनी गोशालाओं से बाहर आती हुई गायों से तुलना की गई है। पुनः, यद्यपि ऋग्वेद[२०] में अपने अभिधामूलक नाम ('अभ्र' इत्यादि) सहित मेघों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, तथापि इसे कदाचित् अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि जल से युक्त होने के रूप में यह गायों (गो० § ६१), और साथ ही साथ 'ऊधर', 'उत्स', 'कवन्ध', 'कोश' तथा अन्य नामों के अन्तर्गत पुराकथाशास्त्रीय आशय में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसी प्रकार उस समय भी सम्भवतः वर्षा के मेघों का ही आशय है जब यह कहा गया है कि इन्द्र के जन्म के समय गायों ने गर्जन किया (८, ५९[४])।

फिर भी यह (मेघ) इन्द्र की पुरा कथा में अधिकतर 'पर्वत', 'गिरि' (पृ० १८) के ही रूप में आते हैं। यह पर्वत ही हैं जिन पर दैत्यगण रहते हैं (१, ३२[२]; २, १२[११]), अथवा जहाँ से इन्द्र इन्हें नीचे गिराते हैं (१, १३०[७]; ४, ३०[१४]; ६, २६[५])। इन पर्वतों पर से ही इन्द्र अपने सुलक्षित बाण छोड़ते हैं (८, ६६[६])। इन्होंने गायों को मुक्त करने के लिये पर्वतों में विस्तृत दरारें बनाई (८, ४५[३०]); अथवा मेघ एक चट्टान (अद्रि) है जो गायों को आवृत्त करता है और जिसे इन्द्र अपने स्थान से हटाते हैं (६, १७[५])। इन्द्र ने चट्टानों को शिथिल किया और गायों को सुग्राह्य बनाया (१०, ११२[८])। इन्होंने उन गायों को मुक्त किया जो पत्थरों के बीच दृढ़ रूप से अवस्थित थीं (६, ४३[३] तु० की० ५, ३०[४])। मेघ-पर्वत अथवा चट्टानें सम्भवतः अवर्षण

के समय लक्षित होने वाले स्थिर वर्षा रहित मेघों को व्यक्त करते प्रतीत होते हैं, जब कि मेघ-गायें गर्जन करती हुयी वर्षा के गतिशील मेघ हो सकते हैं (पृ०)। औल्डेनबर्ग (औ० वे० १४० और बाद) का विचार है कि ऋग्वेद के कवियों की दृष्टि से वृत्र-पुरा कथा में पर्वत और नदियाँ पार्थिव ही हैं; यद्यपि आप यह स्वीकार करते हैं कि मूलतः यह सभी अन्तरिक्षीय थे और बाद के समय में भी इन्हें ऐसा ही समझा गया है।

झंझावात की पुराकथात्मक कल्पना में मेघ बहुधा अन्तरिक्षीय दैत्यों के गढ़ (पुरः)[२१] भी बन गये हैं। इनकी संख्या नब्बे, निन्यानवे, अथवा एक सौ बताई गई है। (२, १४^{६}. १९^{६}; ८, १७^{१४}·८७^{६})। यह गढ़ गतिशील (८, १^{२८}), शारदीय (१, १३०^{७}·१३१^{४}·१७४^{२}; ६, २०^{१०}), धातु निर्मित (२, २०^{८}), अथवा पाषाण-निर्मित (४, ३०^{२०})[२२] हैं। इन्द्र इन्हें विदीर्ण करते हैं। (१, ५१^{५} इत्यादि), और इसी लिए इनके लिये प्रयुक्त 'पूर्भिद्' उपाधि इन्हीं की विशेषता है। एक मन्त्र (१०, १११^{१०}) में इन्द्र को एक साथ ही गढ़ों को छिन्न भिन्न करने वाला और जल का प्रेमी दोनों ही कहा गया है। अन्यत्र इस पुराकथा के विभिन्न गुणों का एक साथ उल्लेख है : इन्होंने वृत्त का वध किया, दुर्गों को तोड़ा, नदियों के लिये पथों का निर्माण किया, पर्वतों का भेदन किया और अपने मित्रों को गायें प्रदान कीं (१०, ८९^{७})।

वृत्र-पुराकथा के महत्त्व के कारण ही इन्द्र की प्रमुख और विशिष्ट उपाधि 'वृत्रहन्'[२३] है। ऋग्वेद में यह इनके लिये प्रायः ७० बार प्रयुक्त हुई है। एक मात्र अन्य देव, जिन्हें भी कभी कभी इससे विभूषित किया गया है वह अग्नि हैं; किन्तु इसका कारण अग्नि का अक्सर इन्द्र के साथ एक युगल देवता के रूप में सम्बद्ध होना ही है। इस उपाधि का एकाध बार सोम के लिये प्रयोग भी गौण ही है (§ ३७)[२४]। यद्यपि कभी कभी यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन्द्र ने वृत्र का वध अकेले अपने पराक्रम से ही किया (१, १६५^{८}; ७; २१^{६}; १०, १३८^{६}), तथापि अक्सर अन्य देवों को भी इस संघर्ष में इन्द्र के साथ सम्बद्ध किया गया है। ऐसा कहा गया है कि सामान्य रूप से देवों ने इन्द्र को युद्ध के लिये (१, ५५^{३}; ६, १७^{८}) अथवा वृत्र का वध करने के लिये रथारूढ़ किया (८, १२^{२२})। यह भी कहा गया है कि वृत्र पर आक्रमण करने के लिये देवों ने इन्द्र का बल-वर्धन (१०, ११३^{८}), अथवा इन्द्र में पराक्रम तथा शौर्य उत्पन्न किया (१, ८०^{१५}; ६, २०^{२}; १०, ४८^{३}·१२०^{३}), अथवा इन्द्र के हाथ में वज्र दिया (२, २०^{८})। किन्तु सर्वाधिक बार इन्हें मरुतों के साथ अथवा मरुतों द्वारा प्रोत्साहित बताया गया है (३, ३२^{४}; १०, ७३$^{१-२}$ इत्यादि, § २९) जब वृत्र के भय से भयभीत होकर अन्य देवता भाग गये (८, ८५^{७} तु० की०

४, १८[११]; ऐतरेय ब्राह्मण ३, २०) तब भी मरुद्गण इन्द्र के साथ खड़े रहे। किन्तु एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि स्वयं मरुतों ने इन्द्र का साथ छोड़ दिया था (८, ७[३१])। वृत्र के साथ युद्ध करने में अक्सर अग्नि, सोम और विष्णु को भी इन्द्र के साथ संयुक्त किया गया है। यहाँ तक कि कभी कभी पृथ्वी के पुरोहित-गण भी इन्द्र के युद्ध में अपने को इन्द्र के साथ सम्बद्ध करते हैं (५, ३०[८]; ८, ५१[११]; १०, ४४[९])। यह कहा गया है कि स्तोता (जरिता) ने इन्द्र के हाथ में वज्र दिया (१, ६३[२]), और यज्ञ के सम्बन्ध में यह कथन है कि दैत्य का वध करने में इसने वज्र की सहायता की थी (३, ३२[१२])। सूक्तों, प्रार्थनाओं और स्तुतिओं, तथा साथ ही साथ सोम को भी अक्सर इन्द्र की बल-वृद्धि (√वृध्) करने वाला कहा गया है।[२५]

वृत्र के अतिरिक्त इन्द्र अनेक अन्य छोटे दैत्यों से भी युद्ध करते हैं (§ ६९) इनमें से एक, 'उरण', जिसका एक बार उल्लेख है (२, १४[४]), के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसके ९९ हाथ हैं, जब कि एक अन्य, विश्वरूप, को तीन सर और छः नेत्रोंवाला बताया गया है (१०, ९९[६])। इन दैत्यों का इन्द्र सदैव वज्र से ही वध नहीं करते। इस प्रकार यह इनमें से एक अर्बुद नामक दैत्य को पैरों से कुचलते अथवा हिम से वेधन करते हैं (१, ५१[६]; ८, ३२[२६])। कभी कभी सामान्य रूप से सभी दैत्यों का विनाश करने वाले के रूप में इन्द्र का वर्णन है। इस प्रकार, यह कहा गया है कि इन्द्र अपने रथ के पहियों से असुरों को पराभूत करते हैं (८, ८५[९])। यह राक्षसों को अपने वज्र से उसी प्रकार समाप्त कर देते हैं जिस प्रकार सूखे वन को अग्नि (६, १८[१०]), और दुरात्माओं (द्रुहः) पर विजय प्राप्त करते हैं (४, २३[७]·२८[२])।

जलों के विमोचन से ही प्रकाश, सूर्य और उषा पर विजय को भी सम्बद्ध किया गया है। इन्द्र ने प्रकाश और दिव्य जल को विजित किया (३, ३४[८])। वृत्र का वध करने और प्रकाश को जीतने के लिये इन्द्र का आवाहन किया गया है (८, ७८[४])। जब इन्द्र अपने धातुवत वज्र से वृत्र का वध और मनुष्यों के लिये जल को मुक्त कर चुके, तो उन्होंने सूर्य को आकाश में दृश्यरूप से अवस्थित किया (१, ५१[४]·५२[८])। दैत्यों का वध करने वाले इन्द्र ने जल-धाराओं को समुद्र में प्रवाहित किया, सूर्य को उत्पन्न किया और गायों को खोजा (२, १९[३])। दैत्यों का वध करने के पश्चात् इन्होंने सूर्य और जल को प्राप्त किया (३, ३४[८.९])। जब इन्द्र दैत्यों के प्रधान का वध और पर्वतों से जल को मुक्त कर चुके तब उन्होंने सूर्य, आकाश और उषा को उत्पन्न किया (१, ३२[४]; ६, ३०[५])। जब इन्द्र ने दैत्य को हवा में उठाकर फेंक दिया तो सूर्य प्रकाशित होने लगा (८, ३[२०])। यद्यपि बहुधा सूर्य इस संघर्ष में प्राप्त पुरस्कार ही है, तथापि यह

इन्द्र के आयुध के रूप में भी आता है, क्योंकि दैत्यों को इन्द्र सूर्य की तप्त रश्मियों से भस्म करते हैं (८, १२[९])। वृत्र के साथ युद्ध के सन्दर्भ के विना ही, इन्द्र के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इन्होंने प्रकाश (३, ३४[४]; ८, १५[५]; १०, ४३[४]) को अन्धकार में पाया (१, १०८[८]; ४, १६[४])। इन्द्र ही सूर्य को उत्पन्न करने वाले हैं (३, ४९[४])। इन्होंने उज्ज्वल प्रकाश रूपी सूर्य को आकाश में अवस्थित किया (८, १२[३०])। इन्होंने सूर्य को प्रकाशित किया (८, ३[६]·८७[२]) और उसे आकाश में आरोहण करने के लिये प्रेरित किया (१, ७[३]) इन्होंने सूर्य को प्राप्त किया (१, १००[६·१८]; ३, ३४[९]) अथवा उस अन्धकार से सूर्य को खोजा, जो उसका (सूर्य का) आवास है (३, ३९[५]) और उसके लिये एक पथ का निर्माण किया (१०, १११[३])।

इन्द्र ही सूर्य, तथा साथ ही साथ, उषा को उत्पन्न करते हैं (२, १२[७]·२१[४]; ३, ३१[१५]; ३२[८].४९[४])। इन्होंने ही उषाओं और सूर्य को प्रकाशित किया (३, ४४[२])। इन्होंने उषा और सूर्य से अन्धकार को खोला (१, ६२[५])। यह सूर्य सहित उषा को चुराते हैं (२, २०[५])। सूर्य और उषा के साथ (१, ६२[५]; २, १२[७]; ६, १७[५]) अथवा केवल सूर्य के साथ (१, ७[३]; २, १९[३]; ३, ३४[९]; ६, १७[३]·३२[२]; १०, १३८[२]) जिन गायों के इन्द्र द्वारा प्राप्त होने, मुक्त होने अथवा विजित होने का उल्लेख है, वह सम्भवतः जल[२०] अथवा वर्षा-मेघों को उतना व्यक्त नहीं करतीं जितना प्रातःकालीन रश्मियों (§ ६१) अथवा बर्गेन (बर्गेन : ल० रि० वे० १, २४५) तथा अन्य के अनुसार उषा के अरुणिम मेघों को। सम्भवतः अरुणिम जलमय (अप्या) गायों से जल का (९, १०८[६]), किन्तु इसके बाद के ही स्थल पर प्रातःकालीन रश्मियों अथवा मेघों का अर्थ है। जब इन्द्र गायों के अधिपति बन गये तब इन्हें देख कर उषायें इनसे मिलने आईं (३, ३१[४])। जब इन्होंने वृत्र को पराभूत कर दिया तब रात्रि की गायों (धेनाः) को प्रकट किया (३, ३४[३] तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० २, २००)। कुछ स्थलों पर उषा को ऐसी व्याहृतियों द्वारा व्यक्त किया गया है जो गायों की विजय का स्मरण कराती हैं। इस प्रकार, 'उषा अन्धकार को उसी प्रकार खोलती है जिस प्रकार गायें अपनी गोशालाओं को' (१, ९२[४])। उषा दृढ़ चट्टानों का द्वार खोलती है (७, ७९[४])। गायें उषा की ओर मुँह करके रँभती हैं (७, ७५[७])। अङ्गिरसों ने ऊँचाइयों पर उषस् के गोस्थानों को प्रकट किया (६, ६५[५])। जिन स्थलों में जल के विजय को प्रख्याति है, उन्हीं में कभी-कभी उषा को सूर्य के साथ ही साथ उत्पन्न हुआ कहा गया है (१, ३२[१·२·४]; ६, ३०[५]; १०, १३८[१·२])। इस प्रकार झंझावात के अन्धकार के पश्चात् सूर्य की पुनरुत्पत्ति, तथा उषा के समय रात्रि के अन्धकार से सूर्य की

प्राप्ति की धारणाओं के बीच कुछ व्यतिक्रम दिखाई पड़ता है। इन्द्र-पुराकथा में यह बाद का विचार सम्भवतः केवल प्रथम का विस्तारण मात्र ही प्रतीत होता है।

झंझावात में इन्द्र के कृत्यों को कभी-कभी अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त किया गया है। इस प्रकार यह कहा गया है कि इन्होंने आकाशीय विद्युत् का सृजन किया (२, १३[७]) और जल के नीचे गिरने की क्रिया का निर्देशन किया (२, १७[५])।

वृत्र के साथ युद्ध, और गायों तथा सूर्य के विजय के साथ ही सोम को भी सम्बद्ध किया गया है। जब इन्द्र ने अन्तरिक्ष से दैत्य को भगाया तब अग्नि, सूर्य और सोम रूपी इन्द्र का रस प्रकाशित हुआ (८, ३[२०])। दैत्य पर अपनी विजय के पश्चात् इन्होंने सोम को अपने पेय के रूप में चुना (३, ३६[८])। दैत्यों पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् सोम इनकी सम्पत्ति बन गया (७, ९८[५]); और यह सोमरस के राजा बन गये (६, २०[३])। इन्द्र ने पत्थर से दबाये गये रस को प्रकट किया और गायों को बाहर निकाल दिया (३, ४४[४])। इन्होंने सोम को भी उसी समय विजित किया जब गायों को (१, ३२[१२])। इन्होंने इस गुप्त पेय को आकाश में प्राप्त किया (६, ४४[२३])। इन्होंने मधु को अरुणिम गायों (उस्रियायाम् : ३, ३९[६]) में संचित पाया। अप्रसूता गाय पके हुए दूध के साथ चरती है, और अरुणिम गायों में समस्त मधुरता संचित है जिसे इन्द्र ने आनन्द के हेतु वहाँ रक्खा है (३, ३०[१४])। इन्द्र पके हुए दूध को ऐसी गायों में स्थित करते हैं (८, ३२[२५]), जो अप्रसूता (८, ७८[७]), काली अथवा लाल हैं (१, ६२[९]), और जिनके लिये यह द्वारों को खोलते हैं (६, १७[६])। इन स्थलों पर प्रमुखतः वर्षा-मेघों का एक पुराकथाशास्त्रीय सन्दर्भ निहित प्रतीत होता है, क्योंकि अधिकांश स्थलों के प्रसंग इन्द्र के महान् दिव्य कृत्यों का ही वर्णन करते हैं।

यह कहा गया है कि इन्द्र ने कम्पित होने वाले पर्वतों तथा भूमियों को स्थिर किया (२, १२[२]; १०, ४४[८])। एक बाद के ग्रन्थ में यह कहा गया है कि इन्द्र ने उन पर्वतों के पंखों को काट दिया जो पहले जहाँ कहीं चाहते थे उतर जाते थे और इस प्रकार पृथ्वी को अस्थिर बना रक्खा था। यही पंख गर्जन करने वाले मेघ बन गये (मैत्रायणी संहिता १, १०[१२])। वैदिकोत्तर साहित्य में यह एक प्रिय पुराकथा है। पिशल (वाजसनेयि संहिता १, १७४) ऋग्वेद के मंत्र (४, ५४[५]) में इसका आरम्भ ढूँढ़ते हैं। आकाश के उज्ज्वल क्षेत्रों को भी इन्द्र ने ही दृढ़ किया (८, १४[९])। इन्होंने पृथ्वी को धारण किया और आकाश को उठाया (२, १७[५] इत्यादि)। यह आकाश और पृथ्वी को उसी प्रकार अलग-अलग उठा रखते हैं जिस प्रकार धुरे द्वारा दोनों पहिये अलग-अलग रहते

हैं (१०, ८९[४])। इन्होंने पृथ्वी और आकाश को उसी प्रकार फैलाया (८, ३[६]) जिस प्रकार एक चर्म फैलाया जाता है (८, ६[५])। यह आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न करने वाले हैं (८, ३६[४] तु० की० ६, ४७[४])। इन्होंने अपने महान गुप्त नाम द्वारा, जो कुछ है और जो होगा, उन सबको उत्पन्न किया (१०, ५५[२]) और अस्तित्वहीन को एक क्षण में अस्तित्वयुक्त कर दिया (६, २४[५])। आकाश और पृथ्वी के पृथक्करण तथा धारण करने को कभी-कभी उस दैत्य (५, २९[४]) पर इन्द्र की विजय का परिणाम माना गया है जिसने इन दोनों (आकाश और पृथ्वी) को एक साथ रख छोड़ा था (८, ६[१७])। वृत्र से युद्ध के लिये जब इनका जन्म हुआ तब इन्होंने (इन्द्र ने) पृथ्वी को विस्तारित तथा आकाश को दृढ़ किया (८, ७८[५])। दैत्य का वध करने वाले इन्द्र ने जब जल धाराओं के लिये पथों को खोला तब पृथ्वी को आकाश से दृष्य बनाया (२, १३[५]) इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि इन्होंने उस आकाश और पृथ्वी को प्राप्त किया जो छिपे थे (८, ८५[१६]), अथवा प्रकाश और जल के साथ-साथ इन दोनों को भी जीता (३, ३४[८])। दृष्टि क्षेत्र को विस्तृत, और प्रत्यक्षतः अन्धकार द्वारा एक साथ दबे हुए प्रतीत होने वाले आकाश तथा पृथ्वी को पृथक् करते प्रतीत होने के रूप में प्रकाश का प्रभाव ही सम्भवतः इस प्रकार की धारणाओं के विकास का प्रारम्भिक विन्दु हो सकता है।

वज्र धारण करने वाले इन्द्र का, जो युद्ध में सभी अन्तरिक्षीय दैत्यों को विनष्ट करते हैं, योद्धाओं द्वारा नित्य ही आवाहन किया जाता है (४, २४[३] इत्यादि)। अपने पार्थिव शत्रुओं के साथ संघर्ष करते समय आर्यों ने अपनी सहायता के लिये युद्ध के महान् देवता के रूप में इन्द्र का किसी भी अन्य देवता की अपेक्षा कहीं अधिक बार आवाहन किया है। यह आर्यों के वर्ण की रक्षा करते हैं और काली त्वचा को अधीनस्थ करते हैं (३, ३४[९]; १, १३०[८])। इन्होंने ५०,००० काली जाति के लोगों को भगाया और उनके गढों को विनष्ट किया (४, १६[१३])। इन्होंने दस्युओं को आर्यों के अधीनस्थ किया (६, १८[३]) और आर्यों को भूमि प्रदान किया (४, २६[२])। यह सप्त-नदों के देश में दस्युओं के अस्त्रों को आर्यों पर प्रहार करने से विफल करते हैं (८, २४[२७])। आर्यों के रक्षकों के रूप में अन्य देवों का केवल कभी-कभी ही उल्लेख है, जैसे अश्विनों का (१, ११७[२१]), अग्नि का (८, ९२[१]), तथा सामान्य रूप से देव मात्र का (६, २१[११])।

अधिक सामान्य रूप से इन्द्र को एक सहानुभूतिपूर्ण सहायक (१, ८४[१९]; ८, ५५[१३], ६९[१]), अपने स्तोताओं का मुक्तिदाता और समर्थक (८, ८५[२०]),

उनकी शक्ति (७, ३१[५]) और सुरक्षा की प्राचीर (८, ६९[७]), आदि के रूप में व्यक्त किया गया है। इन्द्र के मित्र का न कभी वध हो सकता है और न वह कभी विजित ही हो सकता है (१०, १५२[१])। बहुधा इन्द्र को उनके स्तोताओं[२७] का मित्र कहा गया है; और कभी एक भ्राता (३, ५३[५]), एक पिता (४, १७[१७]; १०, ४८[१]), अथवा एकस्थ माता और पिता (८, ८७[११]) तक कहा गया है। प्राचीन काल में भी यह पितरों के मित्र थे (६, २१[८] तु० की० ७, ३३[४]), और इनके लिये एक बार (१, १०[११]) प्रयुक्त 'कौशिक' उपाधि यह व्यक्त करती है कि इन्होंने विशेषतः कौशिकों[२८] के परिवार की सहायता की थी। इन्द्र उस व्यक्ति से मित्रता करने की इच्छा नहीं रखते जो इनकी स्तुति नहीं करता (१०, ४२[४])। किन्तु यह पवित्र व्यक्तियों को धन-धान्य से समृद्ध करते हैं (२, १९[४]·२२[३]; ७, २७[३]); और इसलिये भी इनकी स्तुति की गई है कि अन्य स्तोताओं द्वारा इनका ध्यान दूसरी ओर न चला जाय (२, १८[३] इत्यादि)[२९]। सभी व्यक्ति इनके उपकारों से लाभान्वित होते हैं (८, ५४[७])। इनके दोनों हाथ धन से परिपूर्ण हैं (७, ३७[३])। यह धन-सम्पत्ति से भरे हुये एक कोशागार हैं (१०, ४२[२])। यह अपने स्तोताओं पर समृद्धि की उसी प्रकार वर्षा कर सकते हैं जिस प्रकार कोई व्यक्ति अंकुशाकार बाँस से हिला कर वृक्ष के पके फलों को नीचे गिराता है (३, ४५[४])। देव और मनुष्य, और न भयंकर वृषभ ही इन्हें प्रदान करने की इच्छा से किसी प्रकार रोक सकते हैं (८, ७०[३])। यह समृद्धि के सागर हैं (१, ५१[१]) और समृद्धि के सभी पथ इनकी ओर उसी प्रकार अग्रसर होते हैं जिस प्रकार नदियाँ समुद्र की ओर (६, १९[५])। एक सम्पूर्ण सूक्त विशिष्ट रूप से उन सभी समृद्धियों की ही चर्चा करता है जो इन्द्र प्रदान कर सकते हैं (१०, ४७)। अन्य देवों की भाँति ही इन्द्र से भी बहुधा गाय तथा अश्व प्रदान करने की स्तुति की गई है (१, १६[९] १०१[४] इत्यादि), और प्रमुखतः इन्हें ही 'गोपति' उपाधि से विभूषित किया गया है। इनके युद्धों को अक्सर 'गविष्टि' (शब्दार्थ : 'गायों की इच्छा') कहा गया है (८, २४[५] इत्यादि), और इनके द्वारा प्रदत्त उपहारों को विजय का परिणाम माना गया है (४, १७[१०·११] इत्यादि : तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० २, १७८)। इन्द्र, पत्नियाँ (४, १७[१६]) और लड़के (पुरुष सन्तानें) भी प्रदान करते हैं (१, ५३[५] इत्यादि)। उदारता को इनके चरित्र की इतनी अधिक विशिष्टता माना गया है कि 'मघवन्' होने का बहुप्रयुक्त गुण ऋग्वेद में केवल इनके लिये ही प्रयुक्त हुआ है (तु० की० पृ० ९१) और वैदिकोत्तर साहित्य में भी यह एक मात्र इन्हीं की उपाधि है। 'वसुपति' (धन के अधिपति) उपाधि भी प्रमुखतः इन्द्र के लिये ही व्यवहृत हुई है।

यद्यपि इन्द्र सम्बन्धी प्रमुख पुराकथा वृत्र के साथ इनका युद्ध ही है, तथापि वीरोचित कार्य करने वाले के रूप में इनके साथ अनेक अन्य कथायें भी संयुक्त हो गई हैं। कुछ स्थल उषस् के साथ इन्द्र के संघर्ष रत होने का वर्णन करते हैं। इन्होंने उषा के 'अनस्' को मार गिराया (१०, ७३[६])। इन्होंने अपने वज्र से उषस् के 'अनस्' को विदीर्ण कर उसके द्रुतगामी अश्वियों की गति को मन्द कर दिया (२, १५[६])। इन्द्र के वज्र से भयभीत हो कर उषस् ने अपने 'अनस्' का परित्याग कर दिया (१०, १३८[५])। इन्द्र ने आकाश की पुत्री उषस् को कुचला और उस पर प्रहार करने का पुरुषोचित वीरता पूर्ण कार्य किया जिससे उसका रथ (अनस्) छिन्न-भिन्न हो कर विपाश् नदी में गिर पड़ा और स्वयं उषस् भयभीत हो कर भाग गई (४, ३०[८-११])। किसी झंझावात द्वारा उषा के अवरुद्ध हो जाने को ही सामान्यतया इस पुराकथा का आधार माना गया है। इस प्रकार की व्याख्या के विपरीत, वर्णन यह व्यक्त करते हैं कि आकाश को अवरुद्ध करने वाला इन्द्र नहीं वरन् एक दैत्य है, और इन्द्र के विशिष्ट अस्त्र 'वज्र' के व्यवहार को केवल वृत्र-युद्ध तक ही सीमित नहीं मानना चाहिये। आप यह निष्कर्ष निकालते हैं कि देर करती हुई उषा को वशीभूत करते हुये सूर्योदय (तु० की० २, १५[६]; ५, ७९[९]) को ही यहाँ सूर्य को प्रकट करने वाले के रूप में इन्द्र की विजय मानी गयी है।[३०]

एक रथ को खींचने वाले द्रुतगामी अश्व 'एतश', तथा अपने पीत-अश्वों द्वारा खीचे जाने वाले सूर्य के बीच एक दौड़ से सम्बन्धित अस्पष्ट-सी पुराकथा में सूर्य के साथ भी इन्द्र का संघर्ष होता है। इस दौड़ में आगे निकल गये सूर्य को इन्द्र रोकते हैं। सूर्य के रथ का एक पहिया नष्ट हो जाता है, और किसी न किसी प्रकार से इन्द्र को ही इस पहिये का नष्ट करने वाला माना गया प्रतीत होता है (§ ६०—घ)। सम्भवतः इसी पुरा कथा से सम्बद्ध यह उक्ति भी है कि इन्द्र ने सूर्य के हरे अश्वों को रोका (१०, ९२[८])। सोम के बलात्कार से सम्बन्धित पुराकथा के साथ भी इन्द्र को सम्बद्ध किया गया है (क्योंकि अमरत्व प्रदान करने वाले इस पेय को उत्क्रोश पक्षी इन्हीं के पास लाता है (§ ३७)। एक अन्य पुराकथा, जिसका बहुत उल्लेख नहीं मिलता और जिसका विवरण केवल एक ही सूक्त (१०, १०८) में मिलता है, पणियों (§ ६७) की गायों के इन्द्र द्वारा बन्दी बनाये जाने से सम्बद्ध है। इन दैत्यों के पास, जो यहाँ उन कृपण लोगों के पौराणिक प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं जो पवित्र हविदाताओं की गायों को रोक रखते हैं, गायों के ऐसे समूह हैं जिन्हें यह 'रसा' नामक एक पौराणिक नदी के उस पार बहुत दूर स्थित कन्दरा में छिपा रखते हैं। इन्द्र का दूत 'सरमा' उन गायों का पता लगा लेता है और इन्द्र के नाम पर ही उन्हें माँगता है, किन्तु

'पणि' लोग उसे घेर लेते हैं। एक अन्य स्थल (६, ३९[२]) पर यह कहा गया है कि पर्वतों में छिपी हुई गायों को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले इन्द्र ने 'वल' का भेदन और 'पणियों' को पराभूत किया। अन्यत्र 'पणियों' के सन्दर्भ के बिना ही यह कहा गया है कि 'वल' दैत्य ने गायों को बन्दी बना रक्खा था और इन्द्र ने उन गायों को मुक्त किया (२, १२[३]; ३, ३०[१०])। अनेक स्थलों पर 'वल' का भेदन करने, उसके गढ़ों को विध्वस्त करने, और गायों को मुक्त करने में अङ्गिरसों को भी इन्द्र के साथ सम्बद्ध किया गया है (§ ५४)।

विजय के उल्लेखों में अक्सर 'दासों' अथवा 'दस्युओं' पर इन्द्र के विजय के खण्डशः सन्दर्भ भी मिलते हैं। यह लोग प्रमुखतः मानव शत्रु हैं जिनकी त्वचा का रंग काला है (१, १३०[८] तु० को० २ २०[७]), जो नासिकाविहीन हैं (५, २९[१०]), जो गुण-रहित हैं तथा यज्ञादि नहीं करते। यद्यपि अलग-अलग 'दासों' पर इन्द्र की विजय के वर्णनों में निःसन्देह पर्याप्त मात्रा में पुराकथा-शास्त्रीय तत्व सम्मिलित हैं, तथापि इन पुराकथाओं का आधार सर्वथा पार्थिव और मानवीय प्रतीत होता है। क्योंकि जहाँ वृत्र का वध मानव मात्र के कल्याण के लिये किया गया है, वहीं अलग-अलग उन मनुष्यों का भी उल्लेख है जिनके लिये इन्द्र ने 'दास' अथवा 'दासों' को विजित किया। इन्द्र द्वारा रक्षित उक्त सभी मनुष्य निश्चितरूप से कभी भी पुरोहितों के पूर्वज नहीं, वरन् ऐसे राजा और योद्धागण हैं जो ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार दिवोदास अतिथिग्व[३१] प्रसिद्ध राजा सुदास का पिता है, और इसका 'दास' शत्रु 'कुलितर' का पुत्र 'शम्बर' है (§ ६९-ख)। किन्तु जहाँ कहीं 'दास' शब्द उस दैत्य के लिये प्रयुक्त हुआ है जिससे छीनकर इन्द्र ने जल को मुक्त किया है (२, ११[२]), अथवा तीन सर और छः नेत्रोंवाले उस दैत्य के लिये जिससे 'त्रित' युद्ध करते हैं (१०, ९९[६]), अथवा उस 'व्यंस' के लिये जिसने इन्द्र के दाँतों को विदीर्ण किया था (४, १८[९]), वहाँ यह निश्चित रूप से दैत्यों का ही द्योतक है। इन्द्र द्वारा पराजित 'नमुचि' तथा अन्य 'दासों' का विवरण आगे दैत्यों के अध्याय में दिया गया है।

एक पुराकथा, जिसका कोई सर्वसामान्य महत्व नहीं है और जो केवल ऋग्वेद के किसी बाद के कवि का आविष्कार मात्र है, इन्द्र तथा 'वृषाकपि' से सम्बद्ध है, जिसका विवरण कुछ अस्पष्ट रूप से ऋग्वेद १०, ८६ में मिलता है। यह सूक्त इन्द्र और इन्द्राणी के बीच उस 'वृषाकपि' नामक एक बन्दर सम्बन्धी विवाद का वर्णन करता है जो इन्द्र का प्रियपात्र था और जिसने इन्द्राणी की सम्पत्ति को क्षति पहुँचाया था। यहाँ वृषाकपि को खूब पीटा गया है और वह भाग जाता है, किन्तु समझौता हो जाने के बाद पुनः लौट आता

है। फॉन ब्राड्के इस कथा को एक व्यंग मात्र मानते हैं जिसमें इन्द्र और इन्द्राणी के नाम से एक राजा तथा उसकी पत्नी का आशय है।[32]

ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को सुरक्षित रखनेवाली कथाओं में से एक इन्द्र द्वारा तुर्वश और यदु को सुरक्षित रूप से नदियों के उस पार पहुंचा देने की कथा है (१, १७४[९] इत्यादि)। तुर्वश और यदु घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध दो आर्य जातियों के वीर योद्धा हैं, जिनका यद्यपि कभी-कभी कवियों ने परस्पर आक्रामक आशय में भी उल्लेख किया है। यह बदलता हुआ दृष्टिकोण बहुत अंशों में ऐतिहासिकता का द्योतक है। यहाँ राष्ट्रीय योद्धा-रूपी देवता आर्यों के देशान्तर गमन के संरक्षक के रूप में आता है। एक अन्य स्थल पर यह कहा गया है कि सुश्रवस् के साथ इन्द्र ने अपने रथ के घातक पहियों से बीस प्रधानों और उनके ६००९९ योद्धाओं को कुचल डाला था! राजा 'सुदास्' के संघर्षों के विवरणों में ऐतिहासिकता के सभी गुण वर्तमान हैं। इस प्रकार यह कहा गया है कि दस राजाओं के युद्ध में इन्द्र ने सुदास् की सहायता की (७, ३३[३])। सुदास् की यह सहायता इन्द्र ने उसके तृत्सु पुरोहितों (जिनमें से वसिष्ठ प्रमुख हैं) की प्रार्थना के फलस्वरूप की थी, और सुदास् के शत्रुओं को 'परुष्णी' नदी में डुबो दिया था (७, १८[९.१३])।

अन्ततः, ऋग्वेद का एक सूक्त (८, ८०) इस बात का वर्णन करता है कि किस प्रकार 'अपाला' नामक एक रमणी किसी नदी के किनारे सोम प्राप्त करने पर उसे अपने दाँतों से दबाती और इन्द्र को अर्पित करती है, और किस प्रकार उसे इन्द्र से, जो उसके पास आते हैं, कुछ इच्छाओं की पूर्ति का पुरस्कार प्राप्त होता है।[33]

सम्पूर्ण रूप से देखने पर इन्द्र के गुणों में प्रमुखतः भौतिक संसार पर प्रभुत्व और प्राकृतिक श्रेष्ठता का भाव ही लक्षित होता है। सक्रिय कृत्य इनकी विशेषता है, जब कि निष्क्रिय आधिपत्य वरुण की विशिष्टता है। इन्द्र एक सार्वभौमिक सम्राट है, जो न तो विश्व के चिरन्तन नियमों के प्रयोगकर्त्ता के रूप में और न एक नैतिक शासक के रूप में, वरन् एक ऐसे योद्धा के रूप में, जिनका शक्तिशाली हाथ विजय अर्जित करता है, जिनकी अक्षय उदारता मानव मात्र को श्रेष्ठतम समृद्धियाँ प्रदान करती है, और जो उल्लासप्रद महान् सोम-यज्ञों में आनन्द का अनुभव करते हैं, स्तुतियों को सम्पन्न करने वाले पुरोहित वर्ग पर समृद्धि की वर्षा करते हैं। अनेक सूक्त, जो इनकी प्रख्याति करते हैं, कुछ स्थिर प्रकारात्मक शब्दों में इनके इन्हीं गुणों का वर्णन करते हैं और सोम-यज्ञों के सन्दर्भ से कदाचित् ही कभी मुक्त हैं। सामान्यतया इनका वर्णन वरुण की भाँति नैतिक उच्चता और वैभव से सम्पन्न होने के रूप में नहीं किया गया है।

फिर भी, अनेक ऐसे स्थल हैं जो विशिष्टतः वरुण जैसे कृत्यों[३४] से इन्द्र को भी युक्त बताते हैं। अधिकतर बाद के मण्डलों में कुछ ऐसे स्थल भी हैं जिनमें इनके चरित्र को नैतिक प्रकृति प्रदान की गई है, और इनके प्रति आस्था को स्वीकार अथवा संयुक्त किया गया है (१, ५५[५] इत्यादि); और कभी-कभी संशयवादियों की अनास्था के विरुद्ध इनके अस्तित्व की वास्तविकता में भी आस्था व्यक्त की गई है (२, १२[५] इत्यादि)[३५]। ऋग्वेद के एक बाद के स्थल पर एक बार यह भी कहा गया है कि इन्होंने तपस्या द्वारा द्युलोक की प्राप्ति की (१०, १६७[१] तु० कौ०·१५९[४])।

इन्द्र की प्रकृति सें सम्बन्धित सर्वाधिक गहन मूर्तीकरण का कारण निश्चित रूप से कुछ वासनात्मक और अनैतिक प्रवृत्तियाँ ही हैं, जो इनके सम्बन्ध में अन्यत्र वर्णित उस नैतिक पूर्णता की भावना के विपरीत हैं, जो वैदिक देवों के चरित्र की अनिवार्य विशेषता मानी गई है। इनके चरित्र के विकास की कालगत विभिन्नता को व्यक्त करने वाले विभिन्न स्थलों द्वारा इस असंगति का समाधान नहीं होता, क्योंकि अक्सर यह एक ही कृवि के शब्दों में, और यहाँ तक कि कभी-कभी एक ही मंत्र में भी लक्षित होती है। यह प्रमुखतः इनके अत्यधिक सोम-प्रेम से सम्वद्ध है। एक स्थल (८, ६७[५-६]) पर यह कहा गया है कि यह सभी कुछ सुनने और देखने वाले हैं और मनुष्यों के उत्साह को देखते हैं, तथा दूसरे ही मंत्र में इनके उदर को बलवर्धक पेय (सोम) से पूर्ण बताया गया है। एक सम्पूर्ण सूक्त (१०, ११९) ऐसे स्वगत संभाषण से पूर्ण है जिसमें सोम से मदमत्त होकर इन्द्र अपनी महानता और चंचल वृत्ति की अहंकारोक्तियाँ करते हैं। यहाँ तक कि इस वात के भी संकेत हैं कि एक बार यह अत्यधिक सोम-पान के कुप्रभाव से पीड़ित हुए थे (§ ६९)। यह भी व्यक्त किया गया है कि इनके सोम-प्रेम ने इन्हें पितृहत्या (४, १८[१२]) तक के लिये प्रवृत्त कर दिया था। इन्द्र के अत्यधिक सोम-पान की नैतिकता का निर्णय करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि सोम-पान के आनन्द ने वैदिक कवियों की दृष्टि में एक धार्मिकता का स्वरूप ग्रहण कर लिया था और सोम के स्वयं मादक प्रभाव ने ही इसे एक अमरत्व प्रदान करने वाला पेय मान लेने के विचार को जन्म दिया था। सम्भवतः इस द्वितीय दृष्टिकोण के कारण ही सोम के प्रभाव में होकर इन्द्र द्वारा आकाश और पृथ्वी को स्थिर करने जैसे महानतम दिव्य कृत्य कर सकने की कल्पना की गई है (२, १५[२])। और इस देवता पर सोम के प्रभाव के साथ (वैदिक) कवियों की प्रत्यक्ष सहानुभूति उस युग के नैतिक स्तर को ही प्रतिभासित करती है। दूसरी ओर ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र के अभियानों में लोलुप कृत्य सर्वथा अनुपस्थित हैं, और गौतम[३६] की पत्नी अहल्या के जार होने के

वर्णन के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों तक में भी इनकी लोलुपता का कदाचित् ही कोई संकेत मिलता है। यह सर्वथा स्वाभाविक भी है कि सोम-अर्पण सम्बन्धी काव्य में इन्द्र के केवल तृषित पक्ष का ही समावेश किया गया है।

रौथ[३७] का यह विचार है, और इसे ही व्हिट्ने (ज० अ० ओ० सो० ३, ३२७) ने भी स्वीकार किया है, कि एक अपेक्षाकृत प्राचीन देव समाज के सदस्य के रूप में वरुण की प्रमुखता ऋग्वैदिक काल में क्रमशः इन्द्र पर स्थानान्तरित हो गई थी। यह दृष्टिकोण अंशतः इस तथ्य पर आधारित है कि दशम् मण्डल में जहाँ वरुण को एक भी सम्पूर्ण सूक्त सम्बोधित नहीं किया गया है वहीं इन्द्र की पैंतालीस सूक्तों में प्रख्याति है। फिर भी दशम मण्डल के दो सूक्त (१२६, १८५) ऐसे भी हैं जिनमें वरुण की दो अन्य आदित्यों के साथ प्रशस्ति है, तथा इसी मण्डल के अनेक अलग-अलग मन्त्रों में भी वरुण का अन्य देवों के साथ आवाहन अथवा उल्लेख है। सूक्तों की संख्या पर आधारित युक्ति उपस्थित करना बहुत उचित नहीं है क्योंकि ऋग्वेद के सभी आरम्भिक मण्डलों में वरुण की अपेक्षा इन्द्र को कहीं अधिक सूक्त सम्बोधित किये गये हैं। तृतीय मण्डल में वरुण को एक भी सूक्त अर्पित नहीं है, किन्तु इन्द्र को २२ हैं, और द्वितीय मण्डल में वरुण को केवल एक और इन्द्र को २३ सूक्त अर्पित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त यह दोनों मण्डल सम्मिलित रूप से भी दसवें मण्डल से छोटे ही हैं। फिर भी यह सत्य है कि वरुण का ऋग्वेद के आरम्भिक मण्डलों की अपेक्षा अन्तिम में कहीं कम बार उल्लेख है। इस तथ्य के अतिरिक्त, इन्द्र द्वारा वरुण के अपाकरण का ऋग्वेद के निर्माण काल में कोई भी प्रत्यक्ष और निर्णायक प्रमाण उपलब्ध प्रतीत नहीं होता। फिर भी, एक वार्तालाप के रूप में इन्द्र और वरुण के बीच प्रतिस्पर्धा का वर्णन करने वाले आरम्भिक भाग के एक सूक्त (४, ४२) को विशिष्टतः इन दोनों देवों के सापेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से अपेक्षाकृत प्राचीन समय से संक्रमित हुये होने का द्योतक माना गया है (गे० के० रौ० २७)। किन्तु यह निष्कर्ष सम्भवतः अन्तिम मण्डल (१०, १२४)[३८] को एक अन्य (तु० की० ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद २, ४०१) उक्ति द्वारा कदाचित ही पुष्ट होता है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ एक ओर तो भारतीय-ईरानी काल में इन्द्र की अपेक्षा वरुण का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, वहीं दूसरी ओर, ब्राह्मणों (ऐतरेय ब्राह्मण ८, १२) और महाकाव्य में इन्द्र भारतीय धारणा के द्युलोक के प्रधान बन गये हैं, और ब्रह्मा-विष्णु-शिव की पौराणिक त्रयी के समय भी इनकी यही स्थिति सुरक्षित है, अद्यपि यहाँ यह इन तीनों देवों के अधीनस्थ ही माने गये हैं।[३९] इस बीच अथर्ववेद के समय तक वरुण सर्वोच्च शक्तियों से रहित हो चले हैं (पृ० ४६)। अतः ऋग्वैदिक काल में भी

इन्द्र की लोक प्रियता में कम से कम क्रमिक वृद्धि आरम्भ हो चली थी। बेनफे (ओ० आ० १, ४८) और ब्रील (हर्क्यूल एट केकस १०१) यह मानते हैं कि वेदों में इन्द्र ने प्राचीन 'द्यौस्' से भी अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया था। यही सम्भवतः भारतीय-ईरानी 'त्रित-आप्त्य' के सम्बन्ध में और भी अधिक निश्चितता के साथ व्यक्त किया जा सकता है। क्योंकि 'त्रित' का यद्यपि ऋग्वेद में अत्यन्त कम उल्लेख है, तथापि वहाँ इसका इन्द्र के समान ही कृत्य करने वाले के रूप में वर्णन है और कभी-कभी तो पुराकथा में यह एक अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में आता है (§ २३)।

अवेस्ता[४०] में इन्द्र का नाम केवल दो बार आता है। इसके एक देवता नहीं वरन् केवल एक असुर होने के तथ्य के अतिरिक्त अवेस्ता में इसका चरित्र भी अनिश्चित[४१] है। इन्द्र के लिये प्रयुक्त विशिष्ट वैदिक उपाधि 'वृत्रहन्' भी अवेस्ता में 'वेरेथ्रघ्न' के रूप में आती है, फिर भी यहाँ यह इन्द्र अथवा झंझावात की पुराकथा से सर्वथा असम्बद्ध और केवल 'विजय के देवता'[४२] की ही द्योतक है। अतः यह सम्भव है कि भारतीय-ईरानी काल में भी वैदिक 'वृत्रहन् इन्द्र' के समकक्ष किसी देवता का अस्तित्व रहा हो। यहाँ तक कि यह भी सम्भव है कि आकाश के एक गर्जन करने वाले देवता के अतिरिक्त भी भारोपीय काल बृहदाकार तथा प्रचुर भोजन और पान करने वाले एक ऐसे गर्जन-देवता की धारणा से परिचित रहा हो जो अपने विद्युत रूपी वज्र से दैत्य का वध करता है।[४३] 'इन्द्र' की व्युत्पत्ति[४४] सन्दिग्ध है, किन्त इसके धातु का 'इन्दु' (विन्दु) से सम्बद्ध होना सम्भव प्रतीत होता है।

[१]त्सी० गे० ३२, २९६-७; वी० मौ० ९, २३३ — [२]हि० वे० मा० १, ४४, नोट — [३]त्सी० गे० १, ६७ — [४]हि० वे मा० १, ११९ — [५]रौथ : निरुक्त ५, ११ पर; कुन : हे० गौ० १३८-९ — [६]शतपथ ब्राह्मण ५, ५, ४[९]; १२, ७, १[११]; तैत्तिरीय संहिता २, ३, २, तु० की० हि० वे० मा० १, २६६; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन २७५ — [७]हि० वे० मा० २३८ — [८]पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, २४२-५३; लैङ्ग : मिथ, रिचुअल ऐन्ड रिलीजन १, १८३; २, ११३ और बाद, २४४ — [९]पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, २४९ — [१०]वहीं, २, ५१-४; मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, १८३ — [११]बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ५८-६२; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ४४ — [१२]वहीं, १, २११ — [१३]तु० की० वही, २, ३८, नोट १ — [१४]ब्लूमफील्ड : त्सी० गे० ४८, ५४९-५१ — [१५]वहीं, ५४८ — [१६]मैकडौनेल : ज० ए० सो० २५, ४७०-१; २७, १७५ — [१७]वही, २७, १७५ — [१८]हॉ० इ० ९२ — [१९]अन्य स्थल, १, ८०[४.१४]; २, १३[४]; ४, २६[२]; ८, ३[१९.२०].६१; १०, ९२[८].१२४[१]; अथर्ववेद १३, ४[४१] — [२०]हि० वे० मा० १, ३१३ — [२१]रिसमर : आल्टिन्डिशे लेवेन

४२ — [२२]काठक भा, इन्डिशे स्टूडियन १२, १६१; ज० ए० सो० २७, १८१ — [२३]त्सी० गे० ८, ४६० — [२४]मैकडौनेल : ज० ए० सो० २५, ४७२ — [२५]मूईर : सं० टे० ५, ९१-२ — [२६]ऑफरेख्त : त्सी० गे० १३, ४९७; बर्गेन : ल० रि० वे० १, २५९; के० ऋ० ४२ (वर्षामेघ) — [२७]मूईर : सं० टे० ५, १०४-५ — [२८]मूईर : सं० टे० ५, ३४८-९; — [२९]मूईर सं० टे० ५, १०६-७ — [३०]बर्गेन : ल० रि० वे० २, १९३; तु० की० सोन्नी : कु० त्सी० १०, ४१६-७; मैक्स मूलर : चिप्स २, ९१ और बाद; औ० वे० १६९; हॉ० इ० ७७, नोट — [३१]बर्गेन : ल० रि० वे० २, २०९; हि० वे० मा० १, ९६. १०७ — [३२]त्सी० गे० ४६, ४६५ तु० की०, औ० वे० १७२-४ — [३३]ऑफरेख्त : इन्डिशे स्टूडियन ४, १-८; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ३९, ७६-७ — [३४]बर्गेन : ल० रि० वे० ३, १४३ — [३५]मूईर : सं० टे० ५, १०३-४ — [३६]वेबर : सि० अ०, पृ० ९०३ — [३७]त्सी० गे० ६, ७३: सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; तु० की० ग्री० २७ — [३८]औ० वे० ९५-७; मूईर : सं० टे० ५, १२१-६ — [३९]त्सी० गे० ६, ७७; २५, ३१ — [४०]स्पीगेल : अथर्ववेद का अनुवाद iii, lxxxi; स्पीगेल : डी० पी० १९५; मूईर : सं० टे० ५,१२१, नोट २१२ — [४१]डर्मेस्टेटर : से० बु० ई० iv[२], lxxii; हिलेब्रान्ट : त्सी० गे० ४८, ४२२ — [४२]स्पीगेल : डी० पी० १९५ — [४३]औ० वे० ३४, नोट १; १३४; श्रोडर : वी० मौ० ९, २३० — [४४] यास्क : निरुक्त १०, ८; ऋग्वेद १, ३४, पर सायण; बेनफे : ओ० आ० १, ४९; रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; मैक्स मूलर : ले० लैं० २, ५४३, नोट; मैक्स मूलर : ओ० रि० २१८; मैक्स मूलर : ऐ० रि० ३९६; मूईर :सं० टे० ५, ११९, नोट २०८; व० ऋ०; बेज़ेनबर्गर : बी० १, ३४२; बर्गेन : ल० रि० वे० २, १६६; बॉलिनसेन : त्सी० गे० ४१, ५०५-७; जेकोबी : कु० त्सी० ३१, ३१६; इ० फौ० ३, २३५।

कुन : हे० गौ० ८; रौथ : त्सी० गे० १, ७२; ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३१९-२१; डेलब्रुक : त्सी० वो० १८६५, २७७-९; मूईर : सं० टे० ५, ७७-१३९; ४, ९९-१०८; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३१७; के० ऋ० ४०-७; ग्री० १२-३; बर्गेन : ल० रि० वे० २, १५९-९६; पेरी : इन्द्र इन दि ऋग्वेद, ज० अ० ओ० सो० ११, ११७-२०८; हिलेब्रान्ट : लि० फि०, पृ० १०८; डी० आ० १६; स्पीगेल : डी० पी० १९४-७; हार्डी : वे० पी० ६०-८०; औ० वे० १३४-७५; त्सी० गे० ४९, १७४-५; हॉ० इ० ९१-६; श्रोडर : वी० मौ० ९, २३०-४।

§ २३. *त्रित आप्त्य*:—त्रित आप्त्य की ऋग्वेद के किसी भी एक सम्पूर्ण सूक्त में प्रख्याति नहीं है, वरन् उन्तीस सूक्तों में आने वाले प्रायः चालीस स्थलों पर इसका केवल प्रसंगवश ही उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के चार सूक्तों (१, १०९; ५, ४१; ८, ४७; १०, ८) में लगभग सात बार 'आप्त्य' उपाधि या तो 'त्रित' के साथ आती है अथवा उसके साथ एकान्तरित होती है। त्रित आप्त्य

सर्वाधिक बार इन्द्र के साथ ही सम्बद्ध अथवा उल्लिखित है। इसे सात बार अग्नि से सम्बद्ध अथवा उसके साथ समीकृत किया गया है। अनेक बार इसकी मरुतों के साथ भी चर्चा है और या तो एक पेय अथवा एक देवता के रूप में सोम के साथ भी इसका दस बार उल्लेख है। त्रित के सम्बन्ध में यह वर्णन है कि इसने अकेले सोम की शक्ति से वृत्र का मर्दन किया था (१, १८७[१])।

वृत्र पर विजय प्राप्त करने में त्रित और इन्द्र की मरुतों ने सहायता की थी (८, ७[२४])। इस प्रकार के कृत्य को त्रित की विशिष्टता ही माना गया होगा क्योंकि इसका एक दृष्टान्त के रूप में उल्लेख है। वृत्र के साथ युद्ध करते हुए जब इन्द्र उस वर्षा को अवरुद्ध करने वाले दैत्यों की ओर बढ़े तब उन्होंने उसे उसी प्रकार विदीर्ण किया जिस प्रकार 'वल' के दुर्गों को त्रित विदीर्ण करते हैं (१, ५२[४.५])। इसी प्रकार पुनः जिस व्यक्ति की इन्द्र-अग्नि सहायता करते हैं वह शत्रुओं के गढ़ों का त्रित की ही भाँति भेदन करता है (५, ८६[१])। अपने पैतृक शस्त्रों को जानते हुए और इन्द्र द्वारा निवेदित होने पर आप्त्य ने त्वष्टृ के तीन सर वाले पुत्र के विरुद्ध युद्ध करके उसका वध किया और गायों को मुक्त किया (१०, ८[८])। इसके बाद के स्थल पर इन्द्र भी ठीक इसी प्रकार का पराक्रम दिखाते हैं; क्योंकि इन्द्र भी त्वष्टृ के पुत्र 'विश्वरूप' के तीनों सरों को काट कर गायों को अपने अधिकार में ले लेते हैं। इन्द्र (अथवा सम्भवतः अग्नि) ने भीषण गर्जन करने वाले तीन सरों और छः नेत्रों वाले दैत्य को परास्त किया और उनकी शक्ति से युक्त हो कर त्रित ने लोहे की नोकों वाले वज्र से वाराह (अर्थात् 'दैत्य', तु० की० १, १२१[११]) का वध किया (१०, ९९[६])। यहाँ इन दोनों देवों द्वारा दिखाये गये पराक्रम में पुनः समानता है। इन्द्र ने त्रित के लिये दैत्य से गायें उपलब्ध की (१०, ४८[२])। इन्द्र ने त्वष्टृ के पुत्र विश्वरूप को त्रित को समर्पित कर दिया था (२, ११[१९])। सोम दबाने वाले त्रित से सशक्त हो कर इन्द्र ने 'अर्बुद' को नीचे गिरा दिया और अङ्गिरसों के साथ हो कर 'वल' का मर्दन किया (२, ११[२०])। जब शक्तिशाली मरुद्गण अग्रसर होते हैं और विद्युत चमकती है तब त्रित और जल गर्जन करते हैं (५, ५४[२])। एक मरुत्-सूक्त (२, ३४) के दो अस्पष्ट स्थलों पर मरुतों के उज्ज्वल पथ को त्रित के प्रकट होने पर प्रदीप्त होने वाला कहा गया है (मन्त्र १०) और त्रित के सम्बन्ध में यह धारणा प्रतीत होती है कि यह मरुतों को अपने रथ में लाता है (मन्त्र १४)। अग्नि को अर्पित एक सूक्त में यह कहा गया है कि वायुओं ने त्रित को खोजा और उसे अपनी सहायता करने का निर्देश दिया (१०, ११५[४])। जब त्रित आकाश में प्रवाहित होता है तब वह एक धमन भट्ठी की भाँति अग्नि की ज्वालाओं को उठाता है और अग्नि को उसी प्रकार तीक्ष्ण करता है जिस

प्रकार एक कर्मकार धमन भट्टी में उसे तीक्ष्ण करता है (५, ९[५])। उत्सुकता पूर्वक ढूँढ़ते हुए त्रितने उसे (अग्नि को) गाय के मस्तक पर प्राप्त किया। जब यह गृहों में जन्म लेता है तब एक युवक के रूप में उज्ज्वलता का केन्द्र बन कर अपने को आवासों में स्थापित कर लेता है। (ज्वालाओं से) आवृत्त हो कर त्रित अपने स्थान के अन्दर अवस्थित हुआ (१०, ४६[३.६])। त्रित को आकाश में स्थित कहा गया है (५, ९[५])। इसका आवास गुप्त है (९, १०२[२])। यह दूरस्थ है; क्योंकि आदित्यों और उषाओं से यह स्तुति की गई है कि वह दुःस्वप्नों और दुष्कर्मों को त्रित आप्त्य पर स्थानान्तरित कर दें (८, ४७[१३-७])। इसका आवास सूर्य के क्षेत्र में स्थित प्रतीत होता है, क्योंकि कवि कहता है कि : 'जहाँ वह सात रश्मियाँ हैं, वहीं से हमारे उद्गम का सम्बन्ध है; त्रित आप्त्य इससे भी परिचित है; वह इस सम्बन्ध के लिये स्तुति करता है।' इसका यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि कवि रश्मियों के साथ पैतृक सम्बन्ध की कल्पना करता है (१, १०५[९])। इसी सूक्त में (मन्त्र १७) त्रित का एक कूयें (कूपे) में दवे हुये के रूप में वर्णन है जहाँ से वह अपनी सहायता के लिये देवों को स्तुति करता है; उसकी इस स्तुति को बृहस्पति ने सुना और उसे विपत्ति से मुक्त किया। एक अन्य स्थल (१०, ८[७]) पर एक गड्ढे (वव्रे) में त्रित अपने पिता की स्तुति करता है और अपने पैतृक शस्त्रों की कामना करता है; और दूसरे ही मन्त्र (१०, ८[८]) में यह विश्वरूप से युद्ध करता है। इन्द्र के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह विष्णु, त्रित आप्त्य, अथवा मरुतों के साथ बैठकर सोम पान करते हैं (८, १२[१६]) और एक प्रशस्ति-सूक्त में त्रित के साथ आनन्द मनाते हैं (बालखिल्य ४[१])। नवम् मण्डल में, निःसन्देह अपने विशिष्ट चरित्र के कारण, सोम निर्माण करनेवाले एक विशेष रूप में त्रित आता है और यह गुण शेष ऋग्वेद में केवल एक बार ही और इसे आरोपित किया गया है (२, ११[२०])। सोम त्रित द्वारा परिष्कृत होता है (९, ३४[४])। त्रित की कन्यायें (उँगलियाँ) इन्द्र के पीने के लिये हरे रङ्ग वाले सोम-विन्दुओं को पाषाण से निकलती हैं (९, ३२[२]. ३८[२])। त्रित के दबाने के पत्थरों (अधिषवणों) के पास एक गुप्त स्थान पर सोम स्थित होता है (९, १०२[२]) और इससे (सोम से) त्रित के पृष्ठों (पृष्ठेषु) पर जलधारा के रूप में समृद्धि लाने के लिये स्तुति की गई है (९, १०२[३])। बहनों के साथ सूर्य को सोम ने त्रित के शिखर (सानु) पर प्रदीप्त किया (९, ३७[४])। वह काण्ड को दबाते हैं, पर्वतों पर रहनेवाला वृषभ जो एक भैंसे की भाँति शिखर पर पवित्र होता है जब गर्जन करता है तो सूक्त उसका साथ देते हैं; त्रित उसका आनन्द लेते हैं जो सागर में वरुण की भाँति है (९, ९५[४])।

जब सोम मधु सिञ्चन करता है तब वह त्रित के नाम का उच्चारण करता है (९, ८६[२०])।

इस प्रकार के अनेक स्थल हैं जिनसे त्रित की मूल प्रकृति के सम्बन्ध में बहुत कम अथवा कुछ भी नहीं जाना जा सकता (इसका नाम कुछ ऐसी गणनाओं में आता है जो कोई भी सूचना प्रस्तुत नहीं करतीं (२, ३१[६]; ५, ४१[४]; १०, ६४[३])। दो अन्य मन्त्रों (५, ४१[९.१०]) में व्याख्या अनिश्चित है क्योंकि मूल पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। वरुण को अर्पित एक सूक्त के मध्य के एक स्थल पर त्रित का इस रूप में वर्णन है कि इसमें सभी ज्ञान उसी भाँति स्थित हैं जिस भाँति पहिये के मध्य में नाभि स्थित होती है (८, ४१[६])। एक अन्य स्थल पर यह कहा गया है कि त्रित ने सूर्य से निर्मित और यम द्वारा प्रदत्त एक दिव्य अश्व को पकड़ा; और बाद के ही मन्त्र में इस अश्व को किसी 'गुप्त प्रक्रिया द्वारा' यम, सूर्य और त्रित के साथ समीकृत किया गया है (१, १६३[२.३])। अथर्ववेद[३] के लगभग आधे दर्जन स्थल भी, जो त्रित्र का उल्लेख करते हैं, इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित विवरण नहीं प्रस्तुत करते। यह सभी स्थल इसके सम्बन्ध में केवल एक ऐसे दूरस्थ देव का विचार व्यक्त करते हैं जिस पर सभी अपराध अथवा दुःष्वप्न स्थानान्तरित किये जाते हैं (१, ११३[१.२]; १९, ५६[४])। तैत्तिरीय संहिता (१, ८, १०[२]) एक दीर्घ-जीवन प्रदान करनेवाले के रूप में त्रित्र का वर्णन करता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक गौण विशेषता मात्र है जो सोमरूपी अमरत्व प्रदान करनेवाले पेय का निर्माण करनेवाले त्रित के साथ संयुक्त हो गई है। ब्राह्मण ग्रन्थ त्रित का उन तीन देवों में से एक के रूप में वर्णन करते हैं, जिनमें से दो अन्य अग्नि के पुत्र और जल से उत्पन्न 'एकट' तथा 'द्वित' हैं (शतपथ ब्राह्मण १, २, ३[१.२]; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, २, ८[१०.११])। ऋग्वेद १, १०५ पर भाष्य करते हुये सायण साट्यायनियों की एक कथा का उद्धरण देते हैं जिसमें यही तीनों भाई ऋषियों के रूप में आते हैं और जिसमें अन्य दो ने त्रित को एक कूयें में फेंक दिया था। यह स्पष्ट है कि यहाँ इन तीनों नामों का संख्यात्मक आशय है। 'द्वित' तो ऋग्वेद में मिलता ही है, जहाँ यह एक बार त्रित के साथ (८, ४७[१६]) और एक बार अकेले अग्नि को अर्पित एक सूक्त (५, १८[२]) में आता है और इसे प्रत्यक्षतः अग्नि के साथ समीकृत भी किया गया है। नैघण्टुक में देवों की तालिका में त्रित के नाम का उल्लेख नहीं है। यास्क (निरुक्त ४, ६) इस शब्द को (√तृ से व्युत्पन्न मानते हुये) 'बुद्धि में अत्यन्त प्रवीण' के आशय में इसकी व्याख्या करते हैं, अथवा इसे तीन भ्राताओं 'एकट', 'द्वित', और 'त्रित' से उद्दिष्ट एक

संख्यावाचक मानते हैं। एक अन्य स्थल पर (निरुक्त ९, २५) यास्क, 'तीन आवासों' (अर्थात् आकाश, पृथ्वी, अन्तरिक्ष) में स्थित इन्द्र के रूप में त्रित की व्याख्या करते हैं।

ऋग्वेद के प्रमाणों का परीक्षण करने पर हम यह देखते हैं कि तीन या चार स्थलों पर इन्द्र और त्रित दोनों ही दैत्य का वध करने जैसे समान कृत्य करते हैं। एक स्थल पर इन्द्र ने त्रित को प्रेरित किया है। जब कि दूसरे पर स्वयं इन्द्र ही त्रित द्वारा प्रोत्साहित हुआ है; और दो बार यह कहा गया है कि इन्द्र ने त्रित के लिये कार्य किया। झंझावात में त्रित को मरुतों के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त यह (त्रित) अग्नि को ढूँढ़ता है। अग्नि को आकाश में प्रज्वलित करता है. और स्पष्टतः अग्नि के एक रूप में ही मानवीय गृहों में अपना आवास बनाता है। इसका आवास दूरस्थ और गुप्त है, तथा वहाँ सोम भी है। नवम् मण्डल में सोम निर्माण करनेवाले के रूप में त्रित इन्द्र से भिन्न हो गया है, क्योंकि इन्द्र केवल सोमपान करनेवाले मात्र हैं। त्रित के समकक्ष ही हमें अवेस्ता में 'थ्रित' मिलता है जो एक मनुष्य है (भारतीय महाकाव्य में त्रित भी मनुष्य ही बन गया है)। एक बार (यस्न ९, १०) में थ्रित का उस तृतीय व्यक्ति के रूप में वर्णन है, ('आथ्व्य' = 'आप्त्य', द्वितीय व्यक्ति है) जिसने देहधारी संसार के लिये 'हओम' (= सोम) बनाया था, और एक अन्य स्थान पर (वेन्ड० २०, २) इसका उस प्रथम शामक के रूप में वर्णन है जिसने अमरत्व प्रदान करनेवाले श्वेत 'हओम' वृक्ष के चतुर्दिक उगने वाले दस सहस्र शामक पौधों को 'अहुर मज़्द' से प्राप्त किया था। दो स्थलों पर (यश्ट ५, ७२; ९३, ११३) 'थ्रित' को 'शायुद्रि' का पुत्र भी कहा गया है, जिसमें से एक स्थान पर इसे 'अपाम नपाट' (पृथ्वी के एक स्थान विशेष रूप में)[३] में रहने वाला बताया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि सोम के साथ त्रित को भारतीय-ईरानी जैसे प्राचीन काल से ही सम्बद्ध किया गया है। हम यह देखते हैं कि त्रित के कार्यों का दूसरा पक्ष, अर्थात् तीन सर और छः नेत्रों वाले दैत्य अथवा व्याल के वध करने का कार्य, अवेस्ता में एक अन्य सजातीय व्यक्तित्व 'थ्रायटओना' पर स्थान्तरित कर दिया गया है जो आसुर सर्प (अज़ि दहाक) अथवा तीन मुख, तीन सर और छः नेत्रों वाले दैत्य का, वध करता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'दहाक' के विरुद्ध अपने अभियान में 'थ्रायटओना' के साथ दो भाई भी हैं जो मार्ग में ही उसका वध कर देना चाहते हैं।[४] स्वरशास्त्रीय दृष्टि से 'त्रित' शब्द यूनानी शब्द 'त्रीतोस' (τριτος)[५] अर्थात् 'तृतीय' के समकक्ष है। इससे 'तृतीय' का ही आशय माना जाता था ऐसा ऋग्वेद में इसके अतिरिक्त 'द्वित' के प्रयोग, तथा ब्राह्मणों में इन

दोनों (द्वित, त्रित) के भी अतिरिक्त 'एकट' के अविष्कार द्वारा सिद्ध होता है। त्रित के साथ 'त्रीणि' (तीन) का न्यस्त होना (ऋग्वेद ९, १०२[२]; अथर्ववेद ५, १[३]) भी इसी बात का संकेत करता है। अन्ततः, यह अत्यधिक सम्भव है कि ऋग्वेद के एक स्थल (६, ४४[२३])[६] पर बहुवचन में 'त्रित' शब्द का अर्थ 'तृतीय' ही हो।

त्रित की नियमित उपाधि 'आप्त्य' सम्भवतः 'आप्' (जल) से व्युत्पन्न प्रतीत होती है और इस कारण यह आशय में प्रायः 'अपां नपात्'[७] के ही समान है। सायण (ऋग्वेद ८, ४७[१५] पर) इसकी 'जल के पुत्र' के रूप में व्याख्या करते हैं। त्रित की एक अन्य उपाधि 'वैभूवस' को, जिसका स्वरूप एक पैतृक नाम जैसा है और जो एक वार (१०, ४६[३]) ही आता है, सोम के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है।[८]

उपरोक्त प्रमाण सम्भवतः इस निष्कर्ष को पुष्ट कर सकता है कि त्रित, अग्नि के तृतीय अथवा अन्तरिक्षीय रूप विद्युत का देवता था, जो कि मूलतः अग्नि, वायु अथवा इन्द्र, सूर्य, की त्रयी के मध्य का सदस्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह देवता, जो कि चरित्र की दृष्टि से मूलतः प्रायः इन्द्र के समतुल्य था, एक स्वाभाविक वरण पद्धति के आधार पर क्रमशः इन्द्र द्वारा बहिष्कृत कर दिया गया, जिसके परिणाम स्वरूप ऋग्वेद तक में त्रित का एक अत्यन्त अस्पष्ट सा ही स्थान रह गया है। यदि यह व्याख्या उपयुक्त है तो त्रित का सोम के साथ मौलिक सम्वन्ध, विद्युत् द्वारा सोम को आकाश से लाने के तथ्य का (जैसा सोम-उत्क्रोश पुराकथा में है : § ३७) द्योतक होगा। प्रमाणों की अल्पता ने अनेक प्रकार के विभिन्न मतों को जन्म दिया है।[९] इनमें से यहाँ केवल कुछ का ही उल्लेख पर्याप्त है। रौथ (त्सी० गे० २, २२४) त्रित को एक जल और वायु का देवता मानते हैं। हिलेब्रान्ट[१०] इसे उज्ज्वल आकाश के एक देव के रूप में ग्रहण करते हैं। पेरी इसे इन्द्र से भी प्राचीन एक झंझावत का देवता समझते हैं।[११] पिशल ने, जो कि पहले (पिशल : वेदिशे स्टूडियन १,१८६) इसे 'समुद्र अथधा जलों का एक देवता' मानते थे, हाल में (गौ० ऐ० १८९४, पृ० ४२८) यह विचार व्यक्त किया है कि त्रित मूलतः एक मानव चिकित्सक (शामक) था जिसका वाद में दैवीकरण कर दिया गया है। हार्डी का विचार है कि त्रित एक चन्द्र-देवता है।[१२]

[१]देखिये, व्हिट्ने : अथर्ववेद इन्डेक्स वर्बोरम, व० स्था० 'तृत' — [२]अन्यथा पिशल : गौ० ऐ०, १८९४, पृ० ४२७ — [३]स्पीगेल : ढी० पी० १९३ — [४]स्पीगेल : ढी० पी० २७१ — [५]ब्रुगमैन : ग्रुन्ड्रिस २, २२५; फिक : व० व० १४, ६३.२२९, के अनुसार मूलतः त्रित का अर्थ 'समुद्र' था — [६]औ० वे० १८३, नोट; तु० ढी० पौट : कु० त्सी० ४, ४४१ — [७]तु० की०

ओल्डनबर्ग : इ० पौ० ४, १२६, १४२ — [8]ज० ए० सो० २५, ४५० — [9]ज० ए० सो० २५, ४, १९-२३, में अब तक का वर्णन है — [10]वरुण उन्ट मित्र ९४-५ — [11]ज० अ० ओ० सो० ११, १४२-५ — [12]हार्डी : वे० पी० ३१-८।

मैकडौनेल : दि गॉड त्रित; ज० ए० सो० २५, ४१९-९६। यहाँ उद्धृत अधिकारी विद्वानों के साथ इन लोगों को भी संयुक्त किया जा सकता है : लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३५५-७; के ऋ० ३३, नोट ११२d; ग्रॉ० ११; ब्राड्के : द्या० ८२, नोट ३; स्पीगेल : डॉ० पी० २६२-७१; ब्लूमफील्ड : अ० फा० ११, ३४१; प्रो० सो० १८९४, cxix cxxiii; लुडविग : ऋग्वेद-फॉर्शुङ्ग ११७-९; फे : प्रो० सो० १८९४, clxxiv; अ० फा० १७, १३; औ० वे० १४३; से० बु० ई० ४६, ४०६; हॉ० इ० १०४; ऑर्टेल : ज० अ० ओ सो० १८, १८-२०।

§ २४. *अपां नपात्*—अपां नपात् नामक देव की ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त (२, ३५) में प्रख्याति है, और जल को अर्पित एक अन्य सूक्त के दो मन्त्रों (१०, ३०[3-4]) में इसका आवाहन किया गया है। इनके अतिरिक्त इसके नाम का प्रायः तीस बार उल्लेख मिलता है। जल का उज्ज्वल पुत्र (अपां नपात्) चारों ओर जलों से घिरा रहता है; युवक जल इस युवक के चारो ओर प्रवाहित होते हैं; तीन दिव्य स्त्रियाँ इस देवता के निमित्त अन्न धारण करती हैं; यह प्रथम माताओं का दुग्ध पान करता है (२, ३५ [3-5])। इस वृषभ रूपी देव ने उनमें (जलों में) गर्भ प्रकट किया; पुत्र के रूप में यह उनका स्तनपान करता है और वह सभी इसका चुम्बन करती हैं (मन्त्र[13]); जलों के पुत्र जलों के भीतर सशक्त होते हुये सुशोभित होते हैं (मन्त्र [7])। यह बिना ईंधन के ही जल में प्रदीप्त होते हैं (मन्त्र [4]; १०, ३०[4])। विद्युत का परिधान पहने हुये जलों के पुत्र तिरछे जलों की गोद में सीधे आरूढ़ हुये; इनको वहन करते हुये स्वर्ण-वर्ण क्षिप्र जल इनके चतुर्दिक जाते हैं (मन्त्र [9]; तु० की० १, ९५[4-5] में अग्नि)। जलों के पुत्र का आकार, रूप, और वर्ण, स्वर्णिम है; हिरण्यगर्भ से आते हुये यह बैठ कर अपने स्तोताओं को भोजन प्रदान करते हैं (मन्त्र[10])। सर्वोच्च स्थान पर खड़े हुये यह सदैव अप्रतिम वैभव से सुशोभित होते हैं; क्षिप्र जल समूह अपने पुत्र के लिये भोजन के रूप में घृत लिये हुये अपने परिधानों से युक्त चारों ओर उड़ते हैं (मन्त्र [14])। जिसे कन्यायें प्रदीप्त करती हैं, जिसका वर्ण सुवर्ण के समान है, उस जलों के पुत्र का मुख गुप्तरूप से वृद्धि को प्राप्त होता (मन्त्र [11]) है। इनके पास एक गाय है जो इन्हीं के घर में श्रेष्ठ दूध देती है (मन्त्र [7])। विचार के समान द्रुतगामी अश्व (वृषणः) जलों के पुत्र को

वहन करते हैं (१, १८६[५])। जलों के पुत्र नदियों (नाद्य : मन्त्र [१]) से सम्बद्ध हैं। जलों के पुत्र ने सभी प्राणियों की रचना की है, और यह सभी लोग केवल इसी की शाखायें हैं (मन्त्र [२.८])। अपां नपात् सूक्त के अन्तिम पद में इस देव का अग्नि के रूप में आवाहन किया गया है, अतः इसे अग्नि के साथ समीकृत किया जाना चाहिये। इसके विपरीत कुछ सूक्तों में अग्नि को इसके रूप में सम्बोधित करते हुये उसे अपां नपात् कहा गया है (तु० की० वाजसनेयि संहिता ८, २४)। अग्नि जलों का पुत्र है (३, ९[१])। वह (अग्नि) जलों का पुत्र है, जो पृथ्वी पर एक प्रिय पुरोहित के समान विराजमान था (१, १४३[१])। किन्तु इन दोनों में विभेद भी किया गया है। जलों के पुत्र के साथ सहमत होकर अग्नि वृत्र पर विजय प्रदान करते हैं (६, १३[३])। यहाँ जलों के पुत्र अग्नि के शरीर से संयुक्त हो जाते हैं (२, ३५[१३])। तीन बार अपां नपात् के लिये व्यवहृत उपाधि 'आशुहेमन्' जब एक बार अन्यत्र आती है तो वह अग्नि के लिये ही प्रयुक्त हुई है।

अपां नपात् का विभिन्न गणनाओं में, मुख्यतः अज एकपाद् (२, ३१[६]; ७, ३५[१३]), अहि बुध्न्य (१, १८६[५]; २, ३१[६]; ७, ३५[१३]), और सवितृ (२, ३१[६]; ६, ५०[१३]), के साथ उल्लेख है। कम से कम एक बार इस उपाधि का प्रत्यक्षतः सवितृ के लिये प्रयोग किया गया है, जो सम्भवतः इसलिये कि सवितृ गर्भित करनेवाले अग्नि के एक रूप का प्रतिनिधित्व करता है। जो सुवर्ण के समान है, जो विद्युत का परिधान पहने हुये हैं, जो उच्चतम स्थान पर रहता है, जो प्रच्छन्न रूप से विकसित होता है, जो प्रदीप्त होता है, जो जलों की सन्तान है, जो नीचे पृथ्वी पर आता है, और जिसे अग्नि के साथ समीकृत किया गया है, वह अपां नपात् मेघों में छिपे रहनेवाले अग्नि के ही विद्युत रूप का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि अग्नि को प्रत्यक्षरूप से अपां नपात् कहे गये होने के अतिरिक्त जल का 'गर्भ' भी कहा गया है (७, ९[३]; १, ७०[३])। इसी रूप में इसे (अग्नि को) मानव गृहों में स्थित किया गया है (३, ५[३]), इसका आवास जल है (८, ४३[९]), और अरणि की दोनों लकड़ियाँ उस अग्नि को उत्पन्न करती हैं जो पौधों और जल, दोनों का गर्भ है (३, १[१३])। अग्नि को 'पर्वत का पुत्र' भी कहा गया है (१०, २०[७] तु० की० ६, ४८[५]) जिसका उस विद्युत के अतिरिक्त कदाचित ही कुछ अन्य आशय हो सकता है जो पर्वतरूपी मेघों से प्रकट होती है। अपने दिव्य और पार्थिव रूपों से भिन्न, अग्नि के तृतीय रूप का जल में, समुद्र में, आकाश के पयोधर में, जल की गोद में, प्रदीप्त होने के रूप में वर्णन किया गया है (१०, ४५[१-३])। वास्तव में दिव्य अग्नि का आवास जल में स्थित होना वैदिक पुराकथाशास्त्र

का सर्वोत्कृष्ट रूप से स्थापित तथ्य है।[२] त्रित के लिये व्यवहृत 'आप्त्य' शब्द की भी इसी के समान व्याख्या सम्भव प्रतीत होती है (§ २३)।

'अपां नपात्' भारतीय पुराकथाशास्त्र का ही सृजन नहीं है वरन यह भारतीय-ईरानी काल में भी मिलता है। अवेस्ता में 'अपाम् नपाट' जलवासी एक आत्मा है, जो उसकी गहराई में रहता है, जो ऐसी स्त्रियों से घिरा है जिनके साथ उसका आवाहन किया गया है, जो क्षिप्र अश्वों पर चलता है, और जिसके लिये यह कहा गया है कि इसने सागर की गहराई में उज्ज्वलता को छीन लिया।[३] स्पीगेल[४] का विचार है कि अवेस्ता में यह देवता आग्नेयता के चिह्न प्रकट करता है, और डर्मेस्टेटर यह व्यक्त करते हैं कि यहं मेघों से विद्युत के रूप में उत्पन्न एक अग्निदेवता हैं[५]। श्रोडर इसी मत से सहमत हैं[६], किन्तु कुछ विद्वान् इससे असहमत भी हैं। औल्डेनबर्ग[७] का विचार है कि अपां नपात् मूलतः एक विशुद्ध और सरल जलीय व्यक्ति था, जो एक सर्वथा भिन्न व्यक्ति जल से उत्पन्न अग्नि, के साथ सम्बद्ध हो गया। आपकी मान्यता का आधार यह हैं कि जिन दों सूक्तों में इसकी प्रख्याति है, उनमें से एक (१०, ३०) को संस्कारों में ऐसे कृत्यों से सम्बद्ध किया गया है जो सर्वथा जल से सम्बद्ध हैं, जब कि २, ३५ में इसका जलमय रूप ही प्रमुख है। दूसरी ओर हिलेब्रान्ट[८] का, जिनसे हार्डी[१०] भी सहमत है, यह विचार है कि अपां नपात् चन्द्रमा है, और मैक्स मूलर[११] इसे सूर्य अथवा विद्युत मानते हैं।

[१]विन्डिश : फे० रौ० १४४ — [२]तु० कीं० मुख्यतः ऋग्वेद ३, १ (गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १, १५७-७०); और ५, ८५[२]; ७, ४९[४]; १०, ९[६] भी — [३]तु० कीं०, हि० वे० मा० १, ३७७-८ — [४]स्पीगेल : डी० पी० १९२-३ — [५]से० बु० ई० ४[२], lxiii; किन्तु देखिये हिलेब्रान्ट; त्सी० गे० ४८, ४२२ — [६]वीं० मौ० ९, २२७-८ — [७]औ० वे० ११८-२०, तु० कीं० ३५७ — [८]तु० कीं० श्रोडर : वीं० मौ०, उ० स्था०; मेकडौनेल : ज० ए० सो० २७, ९५५-६ — [९]हि० वे० मा० १, ३६५-८०; त्सीं० गे० ४८, ४२२ और बाद — [१०]हार्डी : वे० पी० ३८ और बाद — [११]चिप्स ४[२], ४१०; मैक्स-मूलर : नेचुरल रिलीजन ५००।

रेर्लां : रेव्यू डि लिंग ३, ४९ और बाद; स्पीगेल के जोरोआस्ट्रिशे स्टूडियन १७७-८६ में विण्डिशमेन; स्पीगेल : अवेस्ता का अनुवाद ३, xix, liv; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद I, ४५; बर्गेन : ल० रि० वे० २, १७-१९; ३६-७; ३, ४५; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ४, १८१; ग्रुप्पे: डी ग्रीश कुल्टे, १, ८९; ब्राड्के : धा० ८२, नोट २; लु० ऋ० फौ० ९३; मैकडौनेल : ज० ए० सो० २५, ४७५-६; हॉ० इ० १०६।

§ २५. *मातरिश्वन्*:—मातरिश्वन् को ऋग्वेद के किसी भी सम्पूर्ण सूक्त में प्रख्याति नहीं है और इसमें इनका नाम भी केवल सत्ताइस बार ही आता है, जिसमें से इक्कीस बार इस वेद के बाद के अंशों में मिलता है, अन्यथा पाँच बार तृतीय और केवल एक बार षष्ठम् मण्डलों में ही आता है। इन छः अपेक्षाकृत प्राचीन स्थलों पर मातरिश्वन् को या तो सदैव अग्नि के साथ समीकृत किया गया है अथवा इसे अग्नि को उत्पन्न करने वाला बताया गया है। यद्यपि मातरिश्वन् की पुराकथा अग्नि तथा अग्नि को उत्पन्न करनेवाले एक मूर्तीकरण पर आधारित है, तथापि इस पुराकथा का विश्लेषण यह व्यक्त करता है कि यह दोनों ही समतुल्य हैं। ऋग्वेद के बाद के मण्डलों में भी कोई ऐसी बात नहीं है जिससे स्पष्टतः यह व्यक्त हो सके कि अन्य वेदों तथा वैदिकोत्तरकाल में प्रचिलित मातरिश्वन् की धारणा का कुछ अंश इस वेद में भी प्रकट होना आरम्भ हो गया था।

तीन स्थलों पर मातरिश्वन् अग्नि का एक नाम है (३, ५[९]. २६[२]; १, ९६[४])। एक अग्नि सूक्त (९, ८८[१९]) के अन्तिम पद में भी, जहाँ यह नाम सम्बोधन के रूप में आता है, सम्भवतः यही आशय प्रतीत होता है। एक अन्य मन्त्र में, जहाँ इस नाम की एक व्युत्पत्ति-विषयक व्याख्या दी हुई है, इसे अग्नि का ही एक रूप कहा गया है, यथा : 'आकाशीय बीज के रूप में इन्हें 'तनू नपात्' कहते हैं, जब यह जन्म लेते हैं तो 'नराशंस' बन जाते हैं; जब मातरिश्वन् के रूप में अपनी माता में इनका निर्माण होता है (अमिमीत मातरि : तु० की० १, १४१[५]), तब यह द्रुतगामी वायु के समान बन जाते हैं (३, २९[११])। अन्यत्र यह कहा गया है : 'एक ही व्यक्ति को ज्ञानीजन विविध नामों से पुकारते हैं : उसे अग्नि, यम, मातरिश्वन् कहते हैं (१, १६४[४६])। एक बार मातरिश्वन् को बृहस्पति का रूप कहा गया है, जिन्हें अनेक बार अग्नि के साथ समीकृत किया गया है (§ ३६) : 'वह बृहस्पति संस्कार के समय मातरिश्वन् के रूप में प्रकट हुये (सम अभवत्)' (१, १९०[२])।

अन्यत्र अग्नि के साथ मातरिश्वन् का विभेद किया गया है। 'उच्चतम आकश में जन्म लेनेवाले वह (अग्नि) मातरिश्वन् के लिये प्रकट हुये' (१, १४३[२])। 'अग्नि सर्वप्रथम मातरिश्वन् और विवस्वत् के सम्मुख प्रकट हुये; पुरोहित के वरण करने पर दोनो लोक प्रकम्पित हुये' (१, ३१[३])। 'जब मातरिश्वन् ने हवि-वाहक प्रच्छन्न अग्नि को प्रदीप्त किया, तब तेजस्वियों में सर्वोच्च अग्नि ने अपनी ज्वाला से अन्तरिक्ष को उपस्तम्भित किया' (३, ५[१०])। इस मन्त्र के पहले एक ऐसा मन्त्र है जिसमें अग्नि को प्रत्यक्ष रूप से मातरिश्वन् कहा गया

है। एक सूक्त के परस्पर सन्निकट मन्त्रों में इस प्रकार के विरोधाभास की यही एक-मात्र व्याख्या प्रतीत होती है कि बाद के मन्त्र में अग्नि के एक विशिष्ट मूर्तीकरण के नाम का ही प्रथम में जातिवाचक अग्नि की एक उपाधि के रूप में प्रयोग किया गया है। मातरिश्वन् एक अग्रणी, यशस्वी यज्ञपति, और द्विजन्मा दूत को उपहार स्वरूप भृगु के समीप लाये (१, ६०[१])। एक (अग्नि) को मातरिश्वन् आकाश से लाये और दूसरे (सोम) को उत्क्रोश पक्षी पर्वतों से (१, ९३[६])। मातरिश्वन् उस प्रशंसनीय पुरोहित और आकाश-निवासी अग्नि को लाये (३, २[१३])। मनुष्य के लिये प्रथम पूज्य (पुरोहित) के रूप में अग्नि को मातरिश्वन् और देवों ने निर्मित, और भृगु ने उत्पन्न किया (१०, ४६[९])। उस देव को मातरिश्वन् मनुष्यों के लिये बहुत दूर से लाये (१, १२८[२])। विवस्वत् के दूत मातरिश्वन् उस अग्नि वैश्वानर को दूर से यहाँ लाये, जिसे पराक्रमी व्यक्तियों ने जल की गोद में पकड़ा (६, ८[४])। घर्षण द्वारा मातरिश्वन् ने गुप्त अग्नि को उत्पन्न किया (१, १४१[३])। अग्नि को घर्षण द्वारा मातरिश्वन् ने उत्पन्न किया और मानव आवासों में स्थित किया (१, ७१[४]· १४८[१])। इन्द्र ने त्रित के लिये दैत्य से गायों को प्राप्त किया और गाय के गोष्ठों को दध्यञ्च (और) मातरिश्वन् को समर्पित किया (१०, ४८[२])।

बाद के सूक्तों में कुछ ऐसे अस्पष्ट स्थल हैं जो मातरिश्वन् के चरित्र पर कदाचित् ही कुछ और अधिक प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार के दो स्थलों पर यह (मातरिश्वन्) सोम को परिष्कृत करने वाला तथा उसका आनन्द लेनेवाला माना गया प्रतीत होता है (९, ६७[३१]; १०, ११४[१]); और एक अन्य स्थल पर ऐसे पितरों की गणना में इसका उल्लेख है जिनके साथ बैठकर इन्द्र ने सोम पान किया था (वालखिल्य ४[२])। एक बार इन्द्र की एक योग्य हविदाता के रूप में इसके साथ तुलना की गई है (१०, १०५[६]) जहाँ कदाचित् अग्नि उत्पन्न करने की मातरिश्वन् की योग्यता का ही लाक्षणिक आशय उद्दिष्ट प्रतीत होता है (तु० की० १०, ४६[९] जहाँ वही 'तक्ष' क्रिया प्रयुक्त हुई है)। इसकी योग्यता सम्बन्धी धारणा सम्भवतः एक विवाह-सूक्त (१०, ८५[४७]) में भी उपस्थित है जहाँ दो प्रेमियों के हृदयों को संयुक्त करने के लिये अन्य देवताओं के साथ मातरिश्वन् का भी आवाहन किया गया है। (तु० की० त्वष्टृ, § ३८)। अन्ततः, एक अत्यन्त अस्पष्ट मन्त्र (१०, १०९[१]) में मातरिश्वन् को 'असीम' और 'भ्रमणशील' ('सलिल', जो एक ऐसा विशेषण है जिसका अथर्ववेद में अनेक बार 'वात' के साथ प्रयोग किया गया है) कहा गया है, जो गुण सम्भवतः बाद के समय में मिलने वाली मातरिश्वन् सम्बन्धी धारणा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस प्रकार मातरिश्वन् अग्नि के ही एक दिव्य रूप का मूर्तीकरण प्रतीत

होता है जिसके साथ में 'प्रोमेथियस' की भाँति ही यह धारणा भी संयुक्त है कि वह गुप्त अग्नि को आकाश से पृथ्वी पर लाया। विद्युत् के अतिरिक्त कदाचित् ही कुछ अन्य वस्तु इसका प्राकृतिक आधार हो सकती है। इस तथ्य द्वारा इस बात का भी समाधान हो जाता है कि यह आकाश से पृथ्वी पर आने वाला विवस्वत् का दूत है (६, ८^{४}) ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अग्नि स्वयं भी दोनों लोकों के बीच विवस्वत् (५, ३५) का दूत है।[१] अथर्ववेद में तो मातरिश्वन् अग्नि के एक रहस्यात्मक नाम के रूप में आता है (अथर्ववेद १०, ८$^{३९.४०}$); किन्तु सामान्यतया अथर्ववेद (१२, १^{५१} इत्यादि) अन्य संहिताओं, ब्राह्मणों, तथा उनके बाद के साहित्य में, यह नाम वायु की एक उपाधि है। इस धारणा का संक्रमण एक ऐसे स्थल पर मिलता है जिसे पहले उद्धृत किया जा चुका है (३, २९^{११}), यथा : 'जब मातरिश्वन् के रूप में अग्नि का अपनी माता के गर्भ में निर्माण हुआ था तब वह वायु के समान वेगवान हुआ'[२], और अन्यत्र सर्प की भाँति फुँफकार मारते हुये वायु में स्थित अग्नि की वेगवान वायु के साथ तुलना की गई है (१, ७९^{१})। इसी प्रकार की उक्तियों को बाद में वायु के रूप में मातरिश्वन् की व्याख्या करने के लिये अत्यन्त सरलतापूर्वक ग्रहण कर लिया गया होगा।

'मातरिश्वन्' शब्द में, जिसकी समानता का कोई अन्य शब्द किसी भी भारतीय भाषा में नहीं है, एक सर्वथा भारतीय यौगिक शब्द होने के सभी चिह्न वर्तमान हैं ('मातरिम्वरी', 'ऋजिश्वन्', दुर्गृभिश्वन्' आदि की भाँति)। 'जिसका अपनी माता में निर्माण हुआ हो' के रूप में इस नाम को ऋग्वेदिक कवियों द्वारा प्रस्तुत व्याख्या को व्युत्पत्तिशास्त्रीय दम्भ के आधार पर कदाचित ही अस्वीकृत किया जा सकता है, क्योंकि इस शब्द के ऋग्वेदिक भाषा के समसामयिक काल से ही चले आ रहे होने की सभी सम्भावनायें हैं। सम्भवतः इसका अर्थ 'माता के भीतर विकसित होने वाला' है (√शू, बढ़ना, जिससे हमें 'शिशु' तथा अन्य व्युत्पन्न शब्द मिलते हैं)[३] और अग्नि को भी अपनी माता में विकसित (√वृध्) होने वाला कहा गया है (१, १४१^{५})। इसमें स्वराघात द्वितीय अक्षर की अपेक्षा तृतीय पर स्थानान्तरित हो गया है, जो कि सम्भवतः 'वन्' प्रत्यय से बने अनेक अन्य शब्दों (जैसे 'प्रातरित्वन्') के प्रभाव के कारण हुआ है। यहाँ माता से या तो निचली 'अरणी', अथवा 'गर्जन करने वाले मेघ' का आशय है; किन्तु यह बाद की ही धारणा अधिक सम्भव है क्योंकि मातरिश्वन् आकाश से आते हैं। यास्क (निरुक्त ७, २६), जो मातरिश्वन् को वायु की उपाधि मानते हैं, इस यौगिक शब्द का 'मातरि' (=अन्तरिक्षे) और 'श्वन्' ('श्वस्' साँस लेना', अथवा 'आशु अन्' जल्दी जल्दी साँस लेना' से) के रूप में विश्लेषण करते हैं जिससे इसका अर्थ 'वह पवन जो वायु में श्वास लेता है' हो जाता है।

[1]ओ० वे० १२२, नोट १, के विचार से इस मत का कि मातरिश्वन् केवल अग्नि के रूप के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, कोई विश्वस्त आधार नहीं है, और आप मातरिश्वन् को केवल ऋग्वेद का 'प्रोमेथ्यूस' मात्र मानते हैं; तु० की० ओ० वे० १०८, नोट १, और से० बु० ई० ४६, १२३ — [2]तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० १, २७; ग्राइके : धा० ५१; औल्डेनवर्ग : से० बु० ई० ४६, ३०६ — [3]तु० की० ह्विट्ने : संस्कृत रूट्स, पृ० १७६; रौथ : निरुक्त १११-३; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ४१६; रूटर : कु० त्सी० ३१, ५४४-५।

कुन : हे० गौ० ८, १४; मूईर : ज० ए० सो० २०, ४१६, नोट; मूईर : सं० टे० ५, २०४, नोट; श्वार्ज़े : कु० त्सी० २०, २१०; व० ऋ०, व० स्था०; बर्गेन : ल० रि० वे० १, ५२-७; ब्री० ९; के० ऋ० ३५; हार्डी : वे० पी० ११०; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, १८६, नोट २; ओ० वे० १२२-३।

§ २६. *अहि बुध्न्यः*—अतल के सर्प अहि बुध्न्य, जिसका नाम केवल 'विश्वे-देवस्' को अर्पित सूक्तों में ही वर्णित है, ऋग्वेद में केवल बारह बार आता है और इसकी कदाचित ही कभी अकेले चर्चा है। इसे पाँच बार 'अज एकपाद्' के साथ, तीन बार 'अपां नपात्' के साथ, तीन बार 'समुद्र' के साथ, और दो बार सवितृ के साथ सम्बद्ध किया गया है। ऐसे मन्त्र केवल तीन हैं (५, ४१^१६; ७, ३४^१६.१७) जिनमें अकेले इसका ही आवाहन किया गया है। जहाँ कहीं किसी एक अन्य देवता का इसके साथ उल्लेख है वहाँ वह देवता या तो 'अपां नपात्' (१, १८६^५) है अथवा 'अज एकपाद्' (१०, ६४^४)। जहाँ अहि बुध्न्य और अज एकपाद् का एक साथ एक ही मन्त्र में उल्लेख है, वहाँ इन दोनों में सदैव (१०, ६६^११ के थोड़े से अपवाद के अतिरिक्त) एक सान्निध्य है। सर्वाधिक विशिष्ट तालिकायें जिनमें इस नाम का आवाहन मिलता है वह यह हैं : अज एकपाद्, अहि बुध्न्य, समुद्र, अपां नपात्, पृश्नि (७, ३५^१३); अहि बुध्न्य, अज एकपाद्, त्रित, ऋभुक्षन्, सवितृ, अपां नपात् (२, ३१^६); समुद्र, नदी, स्थान (रजस्), वायु, अज एकपाद्, गर्जन करने वाला जलप्लावन, अहि बुध्न्य, और सर्वदेव (१०, ६६^११)। इन सहयोगियों के आधार पर निर्णय करने पर अहि बुध्न्य एक अन्तरिक्ष देवता प्रतीत होगा और नैघण्टुक (५, ४) में मध्यम स्थान अथवा अन्तरिक्ष क्षेत्र के देवताओं के अन्तर्गत ही इसकी गणना है। किन्तु जिन स्थलों पर इसका अकेले उल्लेख है उन्हीं के आधार पर इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ और अधिक जाना जा सकता है। इसके सम्बन्ध में अधिकांश विवरण प्रस्तुत करनेवाले कण मन्त्र में कवि कहता है : 'मैं जल में उत्पन्न (अब्जाम्) उस सर्प की स्तुति करता हूँ जो शून्य स्थलों में स्थित जल धाराओं के तल (बुध्ने) में बैठा है' (७, ३४^१६; तु० की० १०, ९३^५)।

इससे इस बात का संकेत मिलता है कि यह अन्तरिक्ष-समुद्र में रहता है, और यास्क 'वायु' के रूप में ही 'बुध्न' की व्याख्या करते हैं (निरुक्त १०, ४४)। उक्त स्थल के बाद के ही मन्त्र में इससे अपने स्तोताओं को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाने की स्तुति की गई है, और एक अन्य स्थल (५, ४१[१६]) पर भी इसे ठीक इन्हीं शब्दों में सम्बोधित किया गया है। इससे यह व्यक्त होता है कि इसकी प्रकृति में कुछ हानिकर तत्व अवश्य संयुक्त थे। अन्यथा, 'अहि' एक ऐसा शब्द है जो साधारणतता वृत्र के लिये व्यवहृत हुआ है (§ ६८), और जलों को आवृत्त करनेवाले वृत्र का जल द्वारा बहा लिये जाने अथवा जल में शयन करने वाले के रूप में वर्णन किया गया है (वही), अथवा वायु के तल (बुध्न) में पड़ा हुआ कहा गया है (१, ५२[६])। शून्य स्थान में स्थित अग्नि को 'अहि' कहा गया है (१, ७९[१]), और इसे महाशून्य के तल (बुध्ने) में उत्पन्न भी कहा गया है (४, ११[१])। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूलतः अहि बुध्न्य, 'अहि वृत्र' से भिन्न नहीं था, यद्यपि एक ऐसे दिव्य व्यक्ति के रूप में इसका आवाहन किया गया है जो अपां नपात् से मिलता-जुलता है और इसके घातक पक्ष का केवल संकेतमात्र कर दिया गया है। बाद के वैदिक साहित्य में अहि बुध्न्य को लाक्षणिक रूप से 'अग्नि गार्हपत्य' के साथ सम्बद्ध किया गया है (वाजसनेयि संहिता ५, ३३; ऐतरेय ब्राह्मण ३, ३६; तैत्तिरीय ब्राह्मण १, १, १०[३]) वैदिकोत्तर साहित्य में अहि बुध्न्य एक 'रुद्र' का नाम और साथ ही साथ शिव की उपाधि भी है।

वेवर : इण्डिशे स्टूडियन १, ९६; रौथ : सेण्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'बुध्न्य'; मूईर : सं० टे० ५, ३३६; बर्गेन : ल० रि० वे० २, २०५–६, ४०१; ३, २४–५; हार्डी : वे० पौ० ४१ (चन्द्रमा के एक नाम के रूप में)

§ २७. *अज एकपाद्*:—यह व्यक्ति अहि बुध्न्य से घनिष्ठतः सम्बद्ध है, और इसका नाम पाँच बार तो अहि बुध्न्य के सन्निकट होने के रूप में, तथा केवल एक बार ही अकेले (१०, ६५[१३]) आता है। इस बाद के स्थल पर स्तुत्य देवता, 'गर्जन करनेवाली पावीरवी (विद्युत की पुत्री : सेन्ट पीर्सबर्ग कोश), एकपाद् अज, आकाश को धारण करनेवाला, जलधारा, समुद्रीय जल, सर्वेदेवाः और सरस्वती, आदि सभी बाद के ही सूक्त में उल्लिखित देवताओं के समान हैं, यथा : 'समुद्र, जलधारा, वायवीय स्थान, अज एकपाद्, गर्जन करनेवाला जलप्लावन, अहि बुध्न्य, और सर्वेदेवाः' (१०, ६६[११])। यह दोनों ही स्थल ऐसा व्यक्त करते हैं कि अज एकपाद्, एक वायवीय देवता है। फिर भी, नैघण्टुक (५, ६) में इसकी द्युलोकवासी देवताओं के अन्तर्गत गणना है। अथर्ववेद में

यह कहा गया है कि अज एकपाद् ने दोनों लोकों को दृढ़ किया (अथर्ववेद १३, १[६])। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३, १, २[८]) अज एकपाद् का पूर्व में उदित होने वाले के रूप में वर्णन करता है। इस स्थल के भाष्यकार अज एकपाद् की एक प्रकार की अग्नि के रूप में परिभाषा करता है। निरुक्त १२, २९ पर टीका करते हुये दुर्गा इसकी सूर्य के रूप में व्याख्या करते हैं। स्वयं यास्क इस सम्बन्ध में कोई मत नहीं व्यक्त करते कि अज एकपाद् किसका प्रतिनिधित्व करता है और केवल 'अज' की 'अजन' (प्रेरित करनेवाला) तथा 'एकपाद्' की 'जिसके एक पैर हों', अथवा 'जो रक्षित करता है अथवा एक पैर से पान करता है' के रूप व्याख्या मात्र कर देते हैं। यद्यपि यह बाद में कदाचित ही एक स्वतंत्र देवता रह गया है, तथापि अज एकपाद्, और साथ ही-साथ अहि बुध्न्य गृह्य सूत्रों में हवि प्राप्त करते हैं (पारस्कर गृह्य सूत्र २, १५[२])। महाकाव्य में अज एकपाद् ग्यारह रुद्रों में से एक का नाम तथा शिव की एक उपाधि, दोनों ही है।

रौथ[१], जिनके मत से ग्रासमैन भी सहमत हैं[२], अज एकपाद् को झंझावात का प्रेरक मानते हैं, और 'एक पाद वाला संचालक अथवा प्रबल वात उत्पन्न करने वाले' के रूप में इस नाम का अनुवाद करते हैं। ब्लूमफील्ड[३] और विक्टर हेनरी[४] का विचार है कि यह एक सौर-देव का प्रतिनिधित्व करता है। हार्डी[५] का विश्वास है कि 'एक बकरा जो अकेले जाता है' चन्द्रमा है। 'अजन्मा (अ-ज) जिसके एक ही पैर है' के रूप में इस शब्द की व्याख्या करते हुये बर्गेन[६] यह विचार व्यक्त करते हैं कि इसका अर्थ वह है जो एक रहस्यमय एकाकी संसार में रहता है। यदि यहाँ एक अन्य अनुमान भी प्रस्तुत किया जाय तो 'एक पैर वाले बकरे'[७] के अर्थ का यह नाम मूलतः विद्युत की एक लाक्षणिक उपाधि था, जिसमें 'बकरे' से मेघ-रूपी पर्वत के बीच विद्युत की चपल गति का आशय होगा और 'एक पाद' से विद्युत की एक रेखा का जिससे वह पृथ्वी पर आघात करती है।

[१]सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'अज'; निरुक्त, पर प्रस्तावना, १६५-६ (तु० की० मूईर : सं० टे० ५, ३३६) — [२]व० ऋ०, व० स्था० १ 'अज'; तु० की०, फे : अ० फा० १७, २४-५ — [३]अ० फा० १२, ४४३; से० बु० ई० ४२, ६६४ — [४]ला'हिम्स रोहित, पेरिस, १८९१, पृ० २४ — [५]हार्डी : वे० पां० ४१-२ — [६]बर्गेन : ल० रि० वे० ३, २३ — [७]औ० वे० ७१-२; तु० की० ब्रॉ : २४।

वेवर : इन्डिशे स्टूडियन १, ९६।

§ २८. रुद्र:—ऋग्वेद में इस देवता का एक अप्रधान सा ही स्थान है। केवल तीन सम्पूर्ण सूक्तों में, अंशतः एक अन्य में, तथा एक दूसरे में सोम के साथ सम्मिलित रूप से इनकी प्रख्याति है, जब कि इनका नाम भी प्रायः ७५ बार ही आता है।

ऋग्वेद में इनके दैहिक गुणों का इस प्रकार वर्णन है। इनके हाथ हैं (२, ३३[७] इत्यादि), भुजायें हैं (२, ३३[३]; वाजसनेयि संहिता १६, १), और इनके हाथ-पैर सुदृढ़ हैं (२, ३३[११])। यह सुन्दर अधरों वाले (२, ३३[५]) हैं और (पूषन् की भाँति) वेणीयुक्त केश रखते हैं (१, ११४[१.५])। इनका वर्ण भूरा (बभ्रु : २, ३३[५] इत्यादि) है। इनका रूप अति तेजस्वी है (१, ११४[५]) और यह विविध-रूप हैं (२, ३३[९])। यह जाज्वल्यमान सूर्य के समान और सुवर्ण की भाँति प्रदीप्त हैं (१, ४३[५])। यह स्वर्णालङ्कारों से सुशोभित (२, ३३[९]) और विविध रूपों वाले कण्ठहार[१] (निष्क : २, ३३[१०]) से विभूषित हैं। यह रथ के आसन पर आसीन हैं (२, ३३[४])। बाद की संहितायें (मुख्यतः वाजसनेयि संहिता १६) इनके अनेक अन्य गुणों का उल्लेख करती हैं। यह सहस्र-नेत्र हैं (अथर्ववेद ११, २[२.७], वाजसनेयि संहिता १६, ७)। इनके एक पेट, एक मुख, एक जिह्वा और दाँत हैं (अथर्ववेद ११, २[६])। इनका पेट कृष्णवर्ण, और इनकी पीठ रक्तवर्ण है (अथर्ववेद १५, १[७.८])। यह नीली-ग्रीवा वाले (वाजसनेयि संहिता १६, ७) और नीले केशों वाले हैं (अथर्ववेद २, २७[६])। यह ताम्र-वर्ण और लाल हैं (वाजसनेयि संहिता १६, ७)। यह चर्म-वेष्ठित (वाजसनेयि संहिता ३, ६१; १६, ५१) और पर्वतों में रहने वाले हैं (वाजसनेयि संहिता १६, २-४)।

ऋग्वेद में अवसर ही रुद्र के युद्ध-आयुधों का भी उल्लेख है। एक बार इन्हें अपने हाथों में वज्र धारण किये हुये कहा गया है (२, ३३[३])। आकाश से प्रक्षिप्त इनका विद्युत-शर (दिद्युत्) पृथ्वी को पार करता है (७, ४६[३])। साधारणतया इन्हें एक धनुष और ऐसे वाणों से सुसज्जित वताया गया है (२, ३३[१०.११]; ५, ४२[११]; १०, १२५[६]) जो शक्तिशाली और शीघ्रगामी हैं (७, ४६[१])। इनका, 'कृशानु' (§ ४८) तथा धनुर्धरों के साथ आवाहन किया गया है (१०, ६४[८]), और जहाँ इन्द्र की एक रथारूढ़ धनुर्धर से तुलना की गई है वहाँ धनुर्धर से यही उद्दिष्ट हैं (६, २०[९], तु० की० २, ३३[११])। अथर्ववेद में भी इन्हें एक धनुर्धर कहा गया है (१, २८[१]; ६, ९३[१]; १५, ५[१-७])। इसी वेद तथा वाद के वैदिक ग्रन्थों में इनके धनुष, वाण, शस्त्र और गदा आदि का अक्सर उल्लेख है (अथर्ववेद १, २८[५] इत्यादि; शतपथ ब्राह्मण ९, १, १[६])।

रुद्र के सम्बन्ध में जिस एक तथ्य का सर्वाधिक वार उल्लेख है वह है मरुतों के साथ इनका सम्बन्ध। यह मरुतों के पिता हैं (१, ११४[६.९]; २, ३३[१]); अथवा अपेक्षाकृत अधिकतर मरुतों को ही इनका पुत्र, तथा अनेक बार 'रुद्र' या रुद्रिय[२] कहा गया है। यह भी कथन है कि इन्होंने मरुतों को पृश्नि के उज्ज्वल पयोधर से उत्पन्न किया (२, ३४[२])[३]। किन्तु रुद्र को इन्द्र की भाँति मरुतों के

युद्धोत्तम कृत्यों के साथ कभी भी सम्बद्ध नहीं किया गया है क्योंकि यह देव दैत्यों के साथ कभी भी युद्धरत नहीं होते। वैदिकोत्तर साहित्य में शिव की बहु-प्रयुक्त उपाधि 'त्र्यम्बक' को वैदिक ग्रन्थों (वाजसनेयि संहिता ३, ५८; शतपथ ब्राह्मण २, ६, २[९]) में तो रुद्र के लिये व्यवहृत किया ही गया है, ऋग्वेद तक में इससे एक बार (७, ५९[१२]) इन्हीं का आशय प्रतीत होता है। इस शब्द (त्र्यम्बक) का अर्थ 'वह जिसकी तीन मातायें हों' (तु० की० ३, ५६[५]) प्रतीत होता है, जिससे विश्व के त्रि-पदीय विभाजन का आशय उद्दिष्ट है (तु० की० ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद १, ५५५)। शिव की पत्नी के एक वैदिकोत्तर कालीन नाम 'अम्बिका' का सर्वप्रथम वाजसनेयि संहिता ३, ५ में उल्लेख है, जहाँ यद्यपि यह रुद्र की पत्नी नहीं वरन् उनकी बहन के रूप में आता है। शिव की पत्नी के नियमित नाम 'उमा' और 'पार्वती' सर्व प्रथम तैत्तिरीय आरण्यक और केन उपनिषद् में आते हुये प्रतीत होते हैं।

ऋग्वेद के एक स्थल पर (२, १[६]) रुद्र उन अनेक देवों में से एक हैं जिन्हें अग्नि के साथ समीकृत किया गया है। अथर्ववेद (७, ८७[१]), तैत्तिरीय संहिता (५, ४, ३[१]; ५, ५, ७[४]) और शतपथ ब्राह्मण (६, १, ३[१०], तु० की० ९, १, १[१]) में भी इन्हें अग्नि के साथ समीकृत किया गया है। 'रुद्र' शब्द अक्सर एक विशेषण के रूप में और अनेक दशाओं में अग्नि के एक गुण के रूप में (यद्यपि कदाचित और अधिक बार अश्विनों, § २१, के एक गुण के रूप में) आता है। वाजसनेयि संहिता (१६, १८-२८) में अनेक अन्य के अतिरिक्त 'शर्व' और 'भव' के रूप में रुद्र के दो नवीन नाम दिये गये हैं। अथर्ववेद में भी यह दोनों नाम आते हैं जहाँ इनके विनाशात्मक वाणों और विद्युतों का उल्लेख है (२, २७[६]; ६, ९३[१]; १०, १[२३]; ११, २[१ १२]); किन्तु यहाँ इन दोनों को परस्पर पृथक्-पृथक् और रुद्र से भी स्वतंत्र देवता माना गया प्रतीत होता है। सूत्र के एक स्थल पर 'भव' और 'शर्व' को रुद्र का पुत्र कहा गया है और हिंसा के लिये उद्यत भेड़िये से इनकी तुलना की गई है (शाङ्खायन श्रौत सूत्र ४, २०[१])। वाजसनेयि संहिता ३९, ८ में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्रदेव, तथा अन्य की देवों के रूप में, अथवा एक ही देव के विविध रूप में गणना कराई गई है। अग्नि के आठ भिन्न-भिन्न रूपों का प्रतिनिधित्व करने वालों के रूप में रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव और महान् देवः के नाम दिये गये हैं (शतपथ ब्राह्मण ६, १, ३[७]; तु० की० शाङ्खायन ब्राह्मण ६, १ इत्यादि); और शर्व, भव, पशुपति, तथा रुद्र, सभी को अग्नि का नाम बताया गया है (शतपथ ब्राह्मण १, ७, ३[८])। शतपथ ब्राह्मण (६, १, ३[१०]) में 'अग्नि कुमार' को दिये गये उपरोक्त तालिका के एक नाम 'अशनि' की इसी ग्रन्थ में 'विद्युत' के

अर्थ में व्याख्या की गई है, किन्तु शाङ्खायन ब्राह्मण में इसे ही इन्द्र कहा गया है। 'पशुपति' उपाधि, जिससे रुद्र को अक्सर ही वाजसनेयि संहिता, अथर्ववेद, और बाद में विभूषित किया गया है, इनके लिये निःसन्देह इसीलिये व्यवहृत हुई है क्योंकि खुले में रहने वाले पशुओं पर विशेषतः इनका आक्रमण हो सकता था, और इस लिये ऐसे पशुओं को इन्हीं के संरक्षण में छोड़ दिया जाता था।

ऋग्वेद में रुद्र को भयंकर (२, ३३$^{९.११}$; १०, १२६^{५}) और हिंसक पशु की भाँति विनाशक (२, ३३^{११}) कहा गया है। यह आकाश के अरुण[५] (अंरुष) वाराह हैं (१, ११४^{५})। यह एक वृषभ हैं (२, ३३$^{७.८.१५}$)। यह महान् (७, १०^{४}), शक्तिशाली (१, ४३^{१}·११४^{१}), बलवानों में बलवानतम (२, ३३^{३}), अघृष्य (७, ४६^{१}) और शक्ति में अद्वितीय (२, ३३^{१०}), द्रुतगामी (१०, ९२^{५}), और क्षिप्र हैं (१, ११४^{४})। यह युवा (२, ३३^{१}; ५, ६०^{५}) और अजर हैं (६, ४९^{१०})। इन्हें 'असुर'[१] (५, ४२^{११}) अथवा आकाश[६] का महान् 'असुर' कहा गया है (२, १^{६})। यह आत्म-वैभव सम्पन्न हैं (१, १२९^{३}; १०, ९२^{९}), योद्धाओं पर शासन करते हैं (१, ११४$^{१.२}$ इत्यादि) और इस विस्तृत संसार के 'ईशान' (२, ३३^{९}) और संसार के पिता (६, ४९^{१०}) हैं। यह नियोजन करने वाले हैं (६, ४६^{१}) और अपने नियमों तथा सार्वभौमिक आधिपत्य द्वारा यह देवों और मनुष्यों के कर्मों से अवगत हैं (७, ४६^{२})। यह जलधाराओं को पृथ्वी पर प्रवाहित कराते हैं तथा गर्जन करते हुये सभी वस्तुओं को आर्द्र करते हैं (१०, ९२^{५})। यह बुद्धिमान (१, ४३^{१}), मेधावी (१, ११४^{४}), और उदार हैं (२, ३३^{७}; ६, ४९^{१०})। इन्हें अनेक वार उपकारी (मीढ्वस् : १, ११४^{३}) कहा गया है, और बाद के वेदों में इस शब्द के तुलनात्मक तथा अतिशयवाचक रूप केवल रुद्र के सन्दर्भ में ही मिलते हैं।[७] इनका सरलता से आवाहन किया जा सकता है (२, ३३^{६}) और यह कल्याणकारी (शिव) हैं (१०, ९२^{९})। यह 'शिव' उपाधि अथर्ववेद के समय तक भी किसी अन्य देवता की विशिष्टता नहीं बन सकी है।

ऋग्वेद में रुद्र के चरित्र में अक्सर मात्सर्य भी आरोपित किया गया है; इनको अर्पित सूक्तों में मुख्यतः इनके भयंकर दण्ड के प्रति भय, तथा इनके क्रोध के लघूकरण की भावना व्यक्त की गई है। इनका इसलिये स्तवन किया गया कि यह क्रोध में आकर अपने स्तोताओं, स्तोताओं के पितरों, सन्तानों, सम्बन्धियों, मवेशियों, अथवा अश्वों का वध अथवा उन्हें किसी प्रकार की क्षति न पहुँचा दे' (१, ११४$^{७.८}$)। इसलिये भी इनका स्तवन किया गया है कि यह स्तोताओं के अश्वों को अपने क्रोध से वंचित रक्खें (२, ३३^{१}), और अपने मात्सर्य तथा वज्र को अपने स्तोताओं से हटा कर दूसरों को उनका लक्ष्य बनायें

(२, ३३[१३.१४])। क्रोध में आकर यह अपनी गदा से अपने स्तोताओं, उनकी सन्तानों, और उनकी गायों को क्षति न पहुंचायें इसके लिये इनकी स्तुति की गई है (६, २८[७]. ४६[२-४]), तथा यह भी निवेदन किया गया है कि अपने गो-घातक और मनुष्य-घातक प्रक्षेप्यास्त्र को उनसे दूर रक्खें (२, ३३[१])। इनके दुर्भावना तथा क्रोध की भर्त्सना की गई है (२, ३३[४-६.१५]), और इनसे गमनशील भोजन पर दया दिखाने की स्तुति की गई है (१०, १६९[१])। इनके स्तोता इस बात के लिये स्तुति करते हैं कि वह अक्षत और इनके कृपापात्र रहें (२, ३३[१.६])। एक बार इनके लिये मानव-घातक उपाधि का प्रयोग किया गया है (४, ३[६]), और सूत्र के एक स्थल पर यह कहा गया है कि यह देव मानव का वध करते हैं (आश्वलायन गृह्य सूत्र ४, ८[३२])। बाद के वैदिक ग्रन्थों में रुद्र का मात्सर्य और भी प्रमुख हो गया है। इनके क्रोध की अक्सर भर्त्सना की गई है (वाजसनेयि संहिता ३, ६१ इत्यादि; अथर्ववेद १, २८[५] इत्यादि)। अपने स्तोताओं को दिव्य अग्नि से पराभूत न करने तथा विद्युत को अन्यत्र गिराने के लिये इनका आवाहन किया गया है (अथर्ववेद ११, २[२६]; १०, १[२३])। यहाँ तक कि इन्हें ज्वर, कास, और विष[८] से त्रस्त करनेवाला भी कहा गया है (अथर्ववेद ११, २[२२.२६]; ६, ९० तु० की ९३)। रुद्र के विकराल मुख तथा भूँकनेवाले श्वानों का भी उल्लेख है जो भक्ष्य को विना चवाये ही निगल जाते हैं (अथर्ववेद १०, १[३०], तु० की० वाजसनेयि संहिता १६, २८)। यहाँ तक कि रुद्र के धनुष और बाण से देवगण भी भयभीत रहते हैं कि कहीं यह उनका विनाश न कर दें (शतपथ ब्राह्मण ९, १, १[१.६])। महादेव नाम से इन्हें मवेशियों का वध करनेवाला कहा गया है (ताण्ड्य महा ब्राह्मण ६, ९[७])। एक अन्य ब्राह्मण स्थल पर इन्हें सभी भयंकर पदार्थों से मिलकर बना हुआ कहा गया है (ऐतरेय ब्राह्मण ३, ३३[१])। सम्भवतः इनके भयानक चरित्र के कारण ही ब्राह्मणों तथा सूत्रों में इनको अन्य देवों से पृथक रक्खा गया है। जब देवों ने द्युलोक को प्राप्त किया तो उस समय रुद्र पीछे रह गये (शतपथ ब्राह्मण १, ७, ३[१])। किसी भी वैदिक संस्कार में अन्य देवों को अर्पित हवि का अवशिष्ट भाग रुद्र को समर्पित किया जाना दुर्लभ नहीं है (गोभिल गृह्य सूत्र १, ८[२८]; आपस्तम्ब धर्मसूत्र २, ४[२३])। इनके गण, जो मनुष्यों और पशुओं पर व्याधि तथा मृत्यु का आक्रमण करते हैं, बध्य-प्राणियों की रक्त-धारा उसी प्रकार प्राप्त करते हैं (शाङ्खायन श्रौतसूत्र ४, १९[८]), जिस प्रकार दैत्यों को उनका विशिष्ट यज्ञभाग देने के लिये रक्त गिराया जाता है[९] (ऐतरेय ब्राह्मण २, ७[१])। इन बाद के ग्रन्थों में साधारणतया रुद्र का आवास उत्तर दिशा में स्थित माना गया है[१०], जब कि अन्य देवों का पूर्व में स्थित है। कदाचित

भयंकर प्रकृति के कारण ही ऋग्वेद में रुद्र केवल एक बार एक अन्य देव (सोम : § ४४) के साथ युगल देव के रूप में चार मन्त्रों के एक छोटे से सूक्त में सम्बद्ध किये गये हैं।

वाजसनेयि संहिता में अनेक ऐसी उपाधियों के अतिरिक्त, जिनका संख्याधिक्य के कारण यहाँ उल्लेख सम्भव नहीं है, रुद्र के बहुत से अपमानजनक गुणों का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार इन्हें एक 'तस्कर, छली, कपटी, चोरों और डाकुओं का अधिपति' आदि कहा गया है (१६, २०–१)। वास्तव में यहाँ आनेवाली विभिन्न उपाधियों द्वारा व्यक्त इनका चरित्र वैदिकोत्तर 'शिव' के भयंकर, अपवित्र और वीभत्स प्रकृति के प्रायः समान है।

फिर भी, रुद्र एक दैत्य की भाँति सर्वथा मात्सर्यपूर्ण ही नहीं हैं। ऋग्वेद में इन्हें देवों के क्रोध अथवा उनके द्वारा उत्पन्न संकटों का प्रतिकार करनेवाला भी कहा गया है (१, ११४[४]; २, ३३[७])। केवल विपत्तियों से रक्षा करने के लिये ही नहीं (५, ५१[१३]), वरन् समृद्धि प्रदान करने (१, ११४[१.२]; २, ३३[६]) और मनुष्यों तथा पशुओं के कल्याण के लिये भी (१, ४३[६]) इनका आवाहन किया गया है। इनकी उपशमन करने की शक्ति का विशेषतः अनेक बार उल्लेख किया गया है। यह उपचार प्रदान करते हैं (२, ३३[१२]); यह सभी उपचारों के नायक है (५, ४२[११]), और इनके पास सहस्र उपचार हैं (७, ४६[३])। चुने हुये उपचार यह अपने हाथ में लेकर चलते हैं (१, ११४[५]), और इनका हाथ शामक तथा वर्धक है (२, ३३[७])। यह अपने उपचारों द्वारा योद्धाओं को स्वस्थ करते हैं क्योंकि यह चिकित्सकों में भी श्रेष्ठतम चिकित्सक हैं (२, ३३[४]) और इनके शुभ उपचारों से इनके स्तोता शत-शीत ऋतुओं तक जीवित रहने की आशा करते हैं (२, ३३[२])। इसलिये भी इनका स्तवन किया गया है कि यह स्तोताओं की सन्तानों की व्याधियाँ दूर करें (७, ४६[२]) और मनुष्यों तथा पशुओं पर कृपा रक्खें जिससे सभी ग्रामवासी हृष्ट-पुष्ट और व्याधि मुक्त रहें (१, ११४[१])। इस सम्बन्ध में रुद्र को दो उपाधियों से विभूषित किया गया है जो इनकी ही विशिष्टता हैं, यथा, 'जलाष' अर्थात् (सम्भवतः) उपशमन करनेवाला, और 'ज़लाष-भेषज' अर्थात् उपशामक औषधियों से युक्त (१, ४३[४]; अथर्ववेद २, २७[६])। व्याधियों के प्रति यह औषधियाँ सम्भवतः वर्षा[११] ही हैं (तु० की० ५, ५३[१४]; १०, ५१[९])। यह गुण इन्हीं की प्रकृति के लिये अनिवार्य था ऐसा उस सूक्त के एक मन्त्र से प्रकट होता है जिसमें विभिन्न देवों का नाम दिये बिना ही सबका चित्रण किया गया है (८, २९[५]) : 'तेजस्वी, विकराल, उपशामक औषधियों से युक्त अपने हाथों में तीक्ष्ण आयुध धारण करते हैं।' रुद्र के विद्युत और उपचारों का साथ ही साथ एक अन्य मन्त्र में भी उल्लेख

है (७, ४६[३])। अनुकूल रहने के लिये उपशमन करनेवाले रुद्र का रुद्रों के साथ आवाहन किया गया है (७, ३५[६])। एक अन्य मन्त्र में मरुतों को भी विशुद्ध और लाभकर औषधियों से युक्त होने के रूप में रुद्र के साथ सम्बद्ध किया गया है (२, ३३[१३])। रुद्र की उपशामक शक्ति का कभी-कभी अन्य संहिताओं में उल्लेख तो है (वाजसनेयि संहिता ३, ५९; १६, ५·४९; अथर्ववेद २, २७[६]) किन्तु इनकी विनाशात्मक क्रियाओं की अपेक्षा कहीं कम बार। 'सूत्रों' में मवेशियों को व्याधि-मुक्त करने अथवा व्याधि से बचाने के लिये रुद्र के यज्ञों का विधान मिलता है (आश्वलायन गृह्यसूत्र ४, ८[४०]; कौशिक सूत्र ५१, ७ इत्यादि)।

ऋग्वेद में उपलब्ध प्रमाण स्पष्ट रूप से यह व्यक्त नहीं करते कि वास्तव में किस भौतिक आधार से रुद्र का सम्बन्ध है। रुद्र को सामान्यतया एक झंझावात का देवता माना गया है। किन्तु इनका क्षेप्यास्त्र दुर्भावनापूर्ण रूप से प्रयुक्त होता है, जब कि इनके विपरीत इन्द्र का अस्त्र केवल उनके स्तोताओं के शत्रुओं पर ही लक्षित होता है। अतः यह प्रतीत होता है कि मूलतः रुद्र साधारण और विशुद्ध रूप से झंझावात के नहीं, वरन विद्युत के माध्यम से उसके हानिकर पक्ष का ही प्रतिनिधित्व करते थे[१२]। इसी तथ्य द्वारा इनके घातक बाणों, और झंझावात के देवता उन मरुद्गणों के प्रधान अथवा पिता होने का समाधान होता है, जो विद्युत-शस्त्र-धारी हैं और जिन्हें 'विद्युत की हँसी से उत्पन्न' कहा गया है (१, २३[१२])। इनकी उपकारी और उपशामक शक्तियाँ अंशतः तो झंझावात के उर्वरीकरण तथा शुद्धीकरण क्रिया पर, तथा अंशतः ऐसे लोगों के छोड़ देने के अप्रत्यक्ष व्यवहार पर आधारित हैं जिनका यह वध कर सकते हैं। इस प्रकार क्रोध-निवारिणी स्तुतियों ने ही इनके लिये 'कल्याणकारी' (शिव) उपाधि को जन्म दिया जो कि वैदिकोत्तर पुराकथाशास्त्र में रुद्र के ऐतिहासिक उत्तराधिकारी का नियमित नाम बन गया है। यही व्याख्या ऋग्वेद में अग्नि के साथ रुद्र के घनिष्ठ सम्बन्ध का भी समाधान कर देती है।

वेबर[१३] यह विचार व्यक्त करते हैं कि प्राचीनतम काल में यह देव विशेषतः झंझावात के भीषण रव का व्यञ्जक था (अतः बहुवचन का अर्थ मरुद्गण था), किन्तु यतः अग्नि का रव भी इसी के समान होता है अतः झंझावात और अग्नि दोनों के संयोग से क्रोध और विनाश का यह देवता बना, तथा इसकी 'शतरुद्रिय' उपाधि अंशतः रुद्र = झंझावात और अंशतः अग्नि = भौतिक अग्नि, से निष्कृष्ट हुई है। विलसन का विचार है कि रुद्र 'प्रत्यक्षतः या तो अग्नि, अथवा इन्द्र का ही रूप था[१४]। श्रोडर[१५] मूलतः रुद्र को मृतक आत्माओं का प्रधान मानते हैं जिसकी वायु के प्रबल वात की भाँति गतिशील होने के रूप में कल्पना की गई है (तु० की० पृ० १५३)। औल्डेनबर्ग का यह विचार है कि उत्पत्ति की दृष्टि

से रुद्र सम्भवतः पर्वत और वन के एक देवता का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ से व्याधियों के वाण मानव समाज पर आक्रमण करते हैं।[१६]

जहाँ तक अर्थ का प्रश्न है, 'रुद्र' शब्द की व्युत्पत्ति कुछ अनिश्चित सी है। यह 'रुद्र' (क्रन्दन करना) धातु से व्युत्पन्न हुआ है और इसकी 'क्रन्दन करनेवाले' के रूप में व्याख्या की गई है[१७]। यह भारतीय व्युत्पत्ति है[१८]। ग्रासमैन[१९] द्वारा इसे एक 'रुद्र' धातु से सम्बद्ध किया गया है, जिसका अनुमानात्मक अर्थ 'चमकना', अथवा पिशल के अनुसार 'अरुणिम होना'[२०] है। इसके अनुसार रुद्र का अर्थ 'प्रदीप्त' अथवा 'लाल' व्यक्ति होगा[२१]।

[१] तु० की० पिशल : त्सी० गे० ४०, १२०-१ — [२] १, ६४[२.१०]. ८५[११]; ५, ४२[१५]; ६, ५०[४]. ६६[११]; ८, २०[१७] (तु० की० ५, ५९[८]; ७, ५६[१]. ५८[५]) — [३] एक बार यह कहा गया है कि वायु ने आकाश से मरुतों को उत्पन्न किया (१, १३४[४]) और १०, १६९[१] में वात को रुद्र कहा गया है — [४] १, २७[१०] (तु० की० निरुक्त १०, ८; प्रस्तावना, १३६); ३, २[५]; ४, ३[१]: ५, ३[३]; ८, ६१[३] — [५] तु० की० ब्लूमफील्ड : अ० फा० १२, ४२९; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ५७; औ० वे० ३५९, नोट ४ — [६] तु० की० ब्राड्के : द्या० ४६, ५४; गेल्डनर : फे० वे० २० — [७] ब्लूमफील्ड : अ० फा० १२, ४२८-९ — [८] तु० की० 'विद्युत को ज्वर, सर दर्द और कास का कारण मान कर उसकी स्तुति' के रूप में अथर्ववेद १, १२ की ब्लूमफील्ड की व्याख्या (अ० फा० ७, ४६९-७२), अन्यथा (वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ४, ४०५) — [९] हॉ० इ० २५०, नोट २; तु० की०, औ० वे० ४८८, ३०२-३, ३३४-५, ४५८ — [१०] तु० की०, औ० वे० ३३५, नोट ३ — [११] वर्गेन : ल० रि० वे० ३, ३२ इस औषधि की, अमरत्व के पेय सोम के रूप में, व्याख्या करते हैं; और ब्लूमफील्ड (अ० फा० १२, ४२५-९) ने, जिनका हार्डी : वे० पौ० ८३-४, और हॉपकिन्स : प्रो० सो०, दिसम्बर १८९४, cl और बाद, ने भी अनुसरण किया है, इसे वर्षा (जलाष = रुद्र का मूत्र) माना है — [१२] मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, ९५७; हॉपकिन्स : प्रो० सो०, दिसम्बर १८९४, पृ० cli; हॉ० इ० ११२; तु० की०, के० ऋ० ३८, नोट १३३ — [१३] इन्डिशे स्टूडियन २, १९-२२ — [१४] ऋग्वेद का अनुवाद, प्रथम भाग की प्रस्तावना, १, पृ० २६-७, ३७-८; तु० की० द्वितीय भाग, पृ० ९-१० — [१५] वी० मौ० ९, २४८ — [१६] औ० वे० २१६-२४ (तु० की० हॉपकिन्स प्रो० सो० l. c) — [१७] कुन : हे० १७७; कु० त्सी० २, २७८; ३, ३३५; वेबर इन्डिशे स्टूडियन २, १९-२२; मैक्स मूलर : ओ० रि० २१६; अन्यथा फॉन ब्राड्के : त्सी० गे० ४०, ३५९-६१ — [१८] तैत्तिरीय संहिता १, ५, १[१]; शतपथ ब्राह्मण ६, १, ३[१०]; यास्क : निरुक्त १०, ५; ऋग्वेद १, ११४[१] पर सायण — [१९] व० ऋ० — [२०] पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ५७; त्सी० गे० ४०, १२० — [२१] तु० की० ग्री० १४; हार्डी : वे० पौ० ८३।

रॉथ : त्सा० ग० २, २२२; ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३१८-९; ओरियण्टल एण्ड लिन्गुइस्टिक स्टडीज़ १८७३, पृ० ३४-५; मूईर : सं० टे० ४, २९९-३६३, ४२०-३; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३२०-२; बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ३१-८, १५२-४; फॉन श्रोडर : वी० मौ० ९, २३३-८, २४८-५२; हॉ० इ० ९९, ५७८ ।

§ २९. *मरुद्गण* :—यह लोग ऋग्वेद के देवों में प्रमुख स्थान रखते हैं। तैंतीस सूक्त अकेले इन्हें ही, तथा कम से कम सात इन्द्र के साथ, और एक एक अग्नि तथा पूषन् के साथ, इन्हें समर्पित किये गये हैं। यह लोग देवों के एक समूह या 'गण' (यही शब्द सामान्यतया इनके सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है) अथवा 'शर्धस्' (१, ३७[१.५] इत्यादि) हैं जिनका केवल बहुवचन में ही प्रयोग किया गया है। इनकी संख्या साठ की तीनगुनी (८, ८५[८]) अथवा सात की तीन गुनी (१, १३३[६]; अथर्ववेद १३, १[१३]) है। इनके जन्म का अक्सर उल्लेख किया गया है (५, ५७[५] इत्यादि)। यह लोग रुद्र के पुत्र हैं (पृ० १४०) जिन्हें अक्सर 'रुद्रगण' (१, ३९[४.७] इत्यादि), कभी कभी 'रुद्रियगण' (१, ३८[७]; २, ३४[१०] इत्यादि), और 'पृश्नि' के पुत्र (२, ३४[२]; ५, ५२[१६]. ६०[५]; ६, ६६[३]) कहा गया है तथा 'पृश्निमातरः' (पृश्नि जिनकी माता है) उपाधि इनके लिये व्यवहृत हुई है (१, २३[१०] इत्यादि; अथर्ववेद ५, २१[११])। पृश्नि नामक गाय (५, ५२[१६]) अथवा केवल एक गाय इनकी माता है (८, ८३[१]) और इन्हें 'गोमातरः' (गाय जिनकी माता है) उपाधि से विभूषित किया गया है (१, ८५[३] तु० की० ८, २०[८])। यह गाय सम्भवतः शवलीकृत झंझावात-मेघों का ही प्रतिनिधित्व करती है (§ § ४३.६१-ख); और दीर्घ जल स्रोतों वाली जो उमड़ती गायें आती हैं (२, ३४[५]) वह वर्षा और विद्युत से परिपूर्ण मेघों के अतिरिक्त कदाचित् ही कुछ और हो सकती हैं। जब पृश्नि से उत्पन्न हुये हैं तब मरुतों की अग्नियों से तुलना की गई है (६, ६६[१-३])। इन्हें विद्युत के अट्टहास से भी उत्पन्न कहा गया है (१, २३[१२], तु० की० ३८[८])। अग्नि के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने इन्हें निर्मित अथवा उत्पन्न किया (६, ३[८]; १, ७१[८])। एक बार यह कहा गया है कि वायु ने इन्हें आकाश के गर्भ में अवस्थित किया (१, १३४[४]), और एक बार इन्हें आकाश का पुत्र बताया गया है (१०, ७७[२])। इन्हें आकाश के वीर (वीराः) (१, ६४[४].१२२[१]; ५, ५४[१०]) अथवा आकाश के पुरुष (मर्याः) (३, ५४[१३]; ५, ५९[६]) के रूप में भी व्यक्त किया गया है। एक बार इनकी माता को समुद्र और इन्हें 'सिन्धुमातरः' कहा गया है (१०, ७८[६] तु० की० पृ० ९५)। अन्यत्र इन्हें स्वोद्भूत बताया गया है (१, १६८[२]; ५, ८७[२])।

सभी मरुद्गण एक दूसरे के भ्राता हैं जिनमें न कोई ज्येष्ठ है और न कोई कनिष्ठ (५, ५९^६.६०^५), क्योंकि अवस्था में सभी समान हैं (१, १६५^१)। सभी एक साथ विकसित हुये हैं (५, ५६^५; ७, ५८^१) और सभी एक मन हैं (८, २०^१.२१)। इन सभी का जन्मस्थान (५, ५३^३) और आवास (१, १६५^३; ७, ५६^१) एक है। इन्हें पृथ्वी पर, वायु में, और आकाश में विकसित हुआ (५, ५५^७) अथवा तीन आकाशों में रहनेवाला (५, ६०^६) कहा गया है। एक वार इन्हें पर्वतों पर रहने वाले भी कहा गया है (८, ८३^१.२)।

इन लोगों को देवी इद्राणी से, जो इनकी मित्र हैं (१०, ८६^९) और सरस्वती (७, ९६^२, तु० की० ३९^५) से सम्बद्ध किया गया है। फिर भी इनका सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध देवी 'रोदशी' से है जिसे आनन्द प्रदान करनेवाले इनके रथ पर इनके साथ खड़ी (५, ५६^८) अथवा केवल इनके साथ खड़ी मात्र बताया गया है (६, ६६^६)। उन पाँचों स्थलों पर, जहाँ इस देवी का नाम आता है, इसका इन्हीं के साथ वर्णन किया गया है (तु० की० १, १६७^४.५)। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस देवी को इनकी स्त्री माना गया है (जिस प्रकार 'सूर्या' अश्विनों की स्त्री है)। इसी संबन्ध के कारण सम्भवतः इनके लिये 'भद्रजानयः' (सुन्दर पत्नी वाले) उपाधि का प्रयोग किया गया है (५, ६१^४) और 'वरों' (५, ६०^४) अथवा युवा प्रेमियों (१०, ७८^६) से इनकी तुलना की गई है।

मरुतों के दीप्तिमान होने का नित्य उल्लेख है। यह स्वर्णिम, सूर्य के समान प्रदीप्त, प्रज्वलित अग्नि के समान, और लाल आभा वाले हैं (६, ६६^२ ; ७, ५९^११ ; ८, ७^७)। यह अग्नि की ज्वालाओं की भाँति प्रदीप्त हैं (१०, ७८^३)। इनका रूप अथवा तेज अग्नि के समान है (१०, ८४^१ ; ३, २६^५), और उज्ज्वलता में अग्नि के साथ इनकी तुलना की गई है (१०, ७८^२)। यह अग्नियों के समान (२, ३४^१) अथवा प्रज्वलित अग्नियों के समान हैं (६, ६६^२), और इन्हें स्पष्टतः अग्नि ही कहा भी गया है (३, २६^४)। इनमें सर्पों की तेजस्विता (अहिभानवः : १, १७२^१) है। यह पर्वतों पर प्रदीप्त होते हैं (८, ७^१) : यह स्वप्रकाशित हैं (१, ३७^२ इत्यादि) और यह उपाधि सर्वथा इन्हीं के लिये व्यवहृत हुई है। अक्सर अधिक सामान्य रूप से इन्हें प्रदीप्त और प्रकाशमान कहा गया (१, १६५^१२ इत्यादि)।

विशेषतः इन्हें अक्सर विद्युत से सम्बद्ध किया गया है (५, ५४^२.३.११; १, ६४^५)। जब मरुद्गण अपना घृत छिड़कते हैं तब विद्युत नीचे पृथ्वी की ओर मुस्कराती है (१, १६८^८, तु० की० ५, ५२^६)। जब यह अपनी वर्षा करते हैं तब विद्युत उसी प्रकार गाय की भाँति रेंभती है जिस प्रकार अपने

बछड़े का पीछा करती हुई माता (१, ३८[८])। यह लोग वर्षा के साथ प्रकाशित होने वाले विद्युतों के समान हैं (७, ५६[१३])।

विद्युत इनकी इतनी अधिक विशिष्टता है कि ऋग्वेद में मिलने वाले 'विद्युत' के सभी पाँच यौगिक रूप इनके साथ, और एक अपवाद के अतिरिक्त केवल इन्हीं के साथ सम्बद्ध किये गये हैं। यह लोग विद्युत को अपने हाथों में पकड़ रखते हैं (८, ७[२५]; ५, ५४[११]); यह विद्युतों में आनन्द लेते हैं और एक पत्थर फेंकते हैं (५, ५४[३])। इनके तोमरों (ऋष्टि) का अक्सर उल्लेख है और यह विद्युत का ही प्रतिनिधित्व करता है ऐसा इन लोगों की 'ऋष्टिविद्युत्' (विद्युतरूपी तोमर वाले) उपाधि से स्पष्ट है (१, १६८[५]; ५, ५२[१३])। अपेक्षाकृत कम बार इन्हें ऐसी कुठारों से भी युक्त कहा गया है (१, ३७[२]·८८[३]; ५, ३३[४]·५७[२]; ८, २०[४]) जो स्वर्णिम हैं (८, ७[३२])। एक बार (वही) इन्हें अपने हाथों में, वज्र धारण किये हुए कहा गया है, अन्यथा जो इन्द्र का ही विशिष्ट अस्त्र है। कभी-कभी इन लोगों को धनुष और बाण से सुसज्जित बताया गया है (५, ५३[४]. ५७[२]; ८ २०[४·१२]), और एक बार धनुर्धरों की भाँति बाण चलाते हुये कहा गया है; किन्तु इन लोगों को समर्पित अनेक सूक्तों में यह एक दुर्लभ विशेषता ही है, जिसे इनके पिता रुद्र से गृहीत कर लिया गया प्रतीत होता है। मरुद्गण मालाओं और अलङ्कारों से सुसज्जित हैं (५, ५३[४])। यह लोग स्वर्णिम प्रावारवस्त्र धारण करते हैं (५, ५५[६])। सम्पन्न प्रेमियों की भाँति यह लोग अपने शरीरों को सुवर्ण से सजा रखते हैं (५, ६०[४])। बाजूबन्द और 'खादि' इनके विशिष्ट अलंकार हैं। इन अलंकारों को धारण करके यह लोग उसी प्रकार प्रकाशित होते हैं जिस प्रकार तारों से भरा आकाश, अथवा मेघों से आ रही वर्षा की बूँदे (२, ३४[२])। एक मन्त्र इनके रूप का सामान्य की अपेक्षा अधिक पूर्णता से वर्णन करता है। इनके कन्धों पर तोमर, पैरों में 'खादि', वक्ष पर स्वर्णिम अलंकार, हाथों में अग्निमय विद्युत, और सर पर स्वर्ण शिरस्त्राण हैं (५, ५४[११])।

मरुद्गण ऐसे रथों पर चलते हैं जो विद्युत के समान प्रतीत होते हैं (१, ८८[१]; ३, ५४[१३]), जो स्वर्णिम हैं (५, ५७[१]), जिनके पहिये और चक्रधार सुवर्ण के बने हैं (१, ६४[११]·८८[५]), जिनमें आयुध हैं (५, ५७[६]), और जिनमें द्रोणियाँ रक्खी हुई हैं (१, ८७[२])। जो जवाश्व इनके रथों को खींचते हैं वह अरुणिम अथवा हरे (१, ८८[२]; ५, ५७[४]), स्वर्ण-पाद (८, ७[२७]) और विचारों के समान द्रुतगामी हैं (१, ८५[४])। यह जवाश्व चितकबरे हैं, जैसा कि उस 'पृषदश्व' (चितकबरे अश्वोंवाला) उपाधि से प्रकट होता है जिसे अनेक बार केवल मरुतों से ही सम्बद्ध किया गया है। अपेक्षाकृत अधिकतर उन

पशुओं को जो इनका रथ खींचते हैं, 'पृषतीः' के रूप में स्त्रीलिङ्ग में व्यक्त किया गया है (१, ३९[६] इत्यादि)। इन पशुओं का दो स्थलों (५, ५५[६]. ५८[६]) पर पुलिङ्ग 'अश्वाः' के साथ उल्लेख मिलता है। यह भी वर्णन है कि मरुतों ने अश्वों के रूप में वायु को ही अपने रथ में सन्नद्ध किया था (५, ५८[७])।

मरुद्गण आकाश के समान महान हैं (५, ५७[४])। यह आकाश और पृथ्वी से बड़े (१०, ७७[३]) और महानता में असीम हैं (५, ५८[२])। कोई भी अन्य पराक्रम में इनकी सीमा तक नहीं पहुंच सकता (१, १६७[९])। मरुद्गण युवा (१, ६४[२] १६५[२]; ५, ४२[१५]) और अजर हैं (१, ६४[३])। यह 'असुर', प्रबल, वेगवान, मिट्टी-विहीन (१, ६४[२.१२]) और धूलरहित (६, ६६[२]) हैं। यह क्रूर (१, १९[४]), क्रोधालु (७, ५६[८]), भयंकर (५, ५६[२.३]; ७, ५८[२]), भयंकर स्वभाव वाले (५, ५६[२]), भयानक रूपवाले (१, १९[५].६४[२]) और वन्य पशुओं की भाँति भयंकर (२, ३४[१]; तु की० पृ० १४२) हैं। यह बालकों अथवा बछड़ों के समान क्रीड़ाप्रिय हैं (१, १६६[२]; ७, ५६[१६]; १०, ७८[६] । यह लोग पीठवाले हंस के समान (७, ५९[७]), लौहदन्त वाराहों के समान (१, ८८[५]) और सिंहों के समान (१, ६४[८]) हैं।

यह लोग जो ध्वनि करते हैं उसका भी अक्सर उल्लेख है (१, १६९[७] इत्यादि)। इसे स्पष्ट रूप से आकाशीय गर्जन कहा गया है (१, २३[११]); किन्तु यह वायु का गर्जन भी है (७, ५६[३])। इनके आने पर आकाश मानों भय से गर्जन करता है (८, ७[२६])। अक्सर यह वर्णन है कि यह लोग पर्वतों को हिला देते हैं और पृथ्वी अथवा दोनों लोकों को प्रकम्पित करते हैं।[१] अपने रथ के चक्रधारों से यह पर्वतों अथवा चट्टानों को विदीर्ण करते हैं (१, ६४[११]; ५, ५२[९])। यह लोग जब वायुओं के साथ आते हैं तब पर्वतों को हिला देते हैं (८, ७[४])। यह वृक्षों को विदीर्ण और हाथियों की भाँति वनों का भक्षण करते हैं (१, ३९[५].६४[७])। भयभीत हो कर वन इनके सम्मुख नत हो जाते हैं (५, ६०[२])। पर्वतों के समान अबाध, यह लोग पार्थिव और दिव्य प्राणियों को नीचे गिराते हैं (१, ६४[३])। सभी प्राणी इनसे भयभीत रहते हैं (१, ८५[८])। यह प्रचण्ड वायु के समान वेगवान (१०, ७८[३]) और धूल उड़ाने वाले हैं (१, ६४[१२]) यह वायुओं, अथवा वायुओं की ध्वनि को, उत्पन्न करते हैं (७, ५६[३] । यह वायुओं के साथ आते हैं (८, ७[३.४.१७]) और उनको अपने अश्वों के रूप में प्रयुक्त करते हैं (५, ५८[७])।

मरुतों का एक प्रमुख कार्य वर्षा कराना है। यह वर्षा से परिवेष्ठित हैं (५, ५७[४])। यह समुद्र से उठते और वर्षा कराते हैं (१, ३८[९])। अक्षय कूप का दोहन करते हुए यह वर्षा सहित दोनों लोकों के बीच से प्रवाहित

होते हैं (१, ६४[६]; ८, ७[१६])। वर्षा इनके पीछे पीछे चलती है (५, ५३[१०])। यह जल लाते हैं और वर्षा को प्रेरित कर देते हैं (५, ५८[३])। यह वर्षा से अपनी उज्ज्वलता को अवरुद्ध करते हैं (५, ५९[१])। यह वर्षा से सूर्य के नेत्र को आच्छादित करते हैं (५, ५९[५])। जब यह वर्षा करते हैं तब मेघों से अन्धकार उत्पन्न कर देते हैं (१, ३८[९])। जब यह वायु सहित वेग से चलते हैं तब कुहरे को बिखेरते हैं (८, ७[४])। यह आकाशीय पात्र (५, ५३[६], ५९[८]) और पर्वतों की जलधाराओं से जल गिराते हैं (५, ५९[७])। जब यह वेगवान होते हैं तब जल प्रवाहित होता है (५, ५८[६])। इनके इस व्यवहार के कारण एक पार्थिव नदी को 'मरुद्वृद्धा' (मरुतों द्वारा वृद्ध) नाम दिया गया है (१०, ७५[५])। रुद्र के पुत्रों का स्वेद वर्षा बन गया (५, ५८[७])। मरुतों द्वारा कराई गई वर्षा को लाक्षणिक रूप से दूध (१, १६६[३]), घृत (१, ८५[३]; १० ७८[४]), दूध और घृत (१, ६४[६]) भी कहा गया है; अथवा यह कहा गया है कि यह लोग जलधारा गिराते हैं (१, ८५[११]) अथवा पृथ्वी को मधु से सिंचित करते हैं (५, ५४[८])[२]। यह समुद्र से जल को आकाश में उठाते हैं और आकाश से उसे पृथ्वी पर गिराते हैं (अथर्ववेद ४, २७[४])। जिन जलों की यह वर्षा करते हैं उन्हें अक्सर स्पष्टतः झंझावात से सम्बद्ध किया गया है। जल प्रदान करने की इच्छा से, उपलवृष्टि करनेवाले, प्रचण्ड, यह लोग गर्जन के साथ आते हैं (५, ५४[३])। यह अपने पराक्रम से वायु और विद्युत को उत्पन्न करते हैं, पयोधर से आकाशीय उपहारों का दोहन करते हैं, और पृथ्वी को दूग्ध से परिपूर्ण करते हैं (१, ६४[५])। जिस जलस्रोत का यह दोहन करते हैं वह गर्जन करता है (१, ६४[६])। जब यह जल गिराते हैं तब अरुणिम वृषभ रूपी आकाश गर्जन करता है (५, ५८[६])। यह वृषणाश्व को जल प्रदान करने के लिये प्रेरित करते हैं (१, ६४[६])। यह आकाश के जल को प्रदान करते हैं और वृषणाश्व की जलधाराओं को प्रचुर मात्रा में गिराते हैं (५, ८३[६])। जब अश्व के साथ यह जल प्रदान करते हैं तब यह स्वर्ण वर्ण धारण कर लेते हैं (२, ३४[१३])। जब मरुद्गण मेघ गर्जन को तीव्र करते हैं तब उनके चक्रधारों से जलधारायें प्रतिध्वनित होती हैं (१, १६८[८])। इन्द्र जिन जलों की वर्षा कराते हैं उन्हें 'मरुत्वतीः' कहा गया है (१, ८०[४])। वर्षा करने वालों के रूप में इनकी प्रकृति के सन्दर्भ में मरुतों को 'पुरुद्रप्साः' (५, ५७[५]) अथवा 'द्रप्सिनः' (१, ६४[२]), और बहुधा 'सुदानवः' उपाधियों से विभूषित किया गया है। यह उष्णता को भी दूर करते हैं (५, ५४[१])। किन्तु इसी प्रकार यह लोग अन्धकार को भगाते हैं (७, ५६[२०]), प्रकाश को उत्पन्न करते हैं (१, ८६[१०]), और सूर्य के लिये एक मार्ग प्रशस्त करते हैं (८, ७[८])। यह भी

कहा गया है कि इन लोगों ने वायु को नांपा (५, ५५[२]), पार्थिव क्षेत्रों और द्युलोक के उज्ज्वल प्रदेशों को विस्तारित किया और दोनों लोकों को अलग अलग स्थित किया (८, ८३[१.११]) ।

इसमें सन्देह नहीं कि वायु की ध्वनि को उद्दिष्ट करके ही मरुतों को अनेक वार गायक कहा गया है (५, ५२[१]. ६०[८]; ७, ३५[९]) । यह लोग आकाशीय गायक हैं (५, ५७[५]) । यह लोग एक गीत गाते हैं (१, १९[४]. १६६[७]) । गाते हुये इन लोगों ने सूर्य को प्रकाशित (८, २९[१०]) और अपनी वंशी को बजाते हुये पर्वत का वेधन किया (१, ८५[१०]) । जब इन्द्र ने दैत्य का वध किया तब इन लोगों ने इन्द्र के लिये एक गीत गाया और सोम को दबाया (५, २९[२]. ३०[६]) । एक गीत के गायन में इन लोगों ने इन्द्र-पराक्रम उत्पन्न किया (१, ८५[२]) । यद्यपि मुख्यतः इन लोगों का गायन निश्चित रूप से वायु की ध्वनि का ही प्रतिनिधित्व करता रहा होगा (तु० की० ४, २२[४]), तथापि प्रशस्ति सूक्त के रूप में भी इसकी कल्पना की गई है (३, १४[४]) । इसीलिये जब यह इन्द्र के साथ हैं तब इन्हें पुरोहित के रूप में सम्बोधित किया गया है (५, २९[३]), और पुरोहितों से इन लोगों की तुलना की गई है (१०, ७८[१]) । 'दशग्वों' के रूप में इन्हीं लोगों ने सर्वप्रथम यज्ञ सम्पन्न कराया (२, ३६[२]) और पवित्रात्माओं के घर में इन लोगों ने ही अग्नि को पवित्र किया था, जब कि भृगुओं ने उसे प्रज्वलित किया था (१०, १२२[५]) । अन्य देवों की भाँति इन लोगों को भी अनेक वार सोम पान करने वाला कहा गया है (२, ३६[२]; ८, ८३[९-१२] इत्यादि) ।

झंझावात की घटना के साथ समीकृत होने के रूप में मरुद्गण स्वभावतः इन्द्र के साथी हैं और इनके साथी तथा मित्र के रूप में ही असंख्य स्थलों पर आते हैं । यह लोग इन्द्र के शक्ति और सामर्थ्य को (३, ३५[९]; ६, १७[११]), अपनी स्तुतियों, सूक्तों, और गीतों[३] (१, १६५[११] इत्यादि) से बढ़ाते हैं । यह लोग सामान्यतया वृत्र के साथ युद्ध करने में इन्द्र की सहायता करते हैं (८, ६५[२.३]; १०, ११३[२]) । यह लोग वृत्र का वध करने में त्रित, और साथ ही साथ इन्द्र की सहायता करते हैं (८, ७[२४]) । वृत्र-वध करने वाले सूक्त का गायन करने के लिये इनकी स्तुति की गई है (८, ७८[१-३]) । दैत्य और शम्वा के साथ संघर्ष करने में इन लोगों ने इन्द्र की सहायता की थी (३, ४७[३.४]) । इनके साथ इन्द्र प्रकाश को प्राप्त करते हैं (८, ६५[४]) । इन लोगों के साथ ही इन्द्र ने गायों को प्राप्त किया (१, ६[५]) और आकाश को स्थित किया (७, ४७[५]) । वास्तव में अपने समस्त दिव्य अभियानों में इन्द्र इन लोगों के साथ ही सफलता प्राप्त करते हैं (१, १००. १०१. १६५; १०,

६५)। कभी-कभी इन अभियानों में मरुद्गण अधिक स्वतंत्र प्रतीत होते हैं। इस प्रकार यह लोग इन्द्र की सहायता से वृत्र पर प्रहार करते हैं (१, २३९)। यहाँ तक कहा गया है कि इन लोगों ने अकेले ही वृत्र को विदीर्ण करके उसका जोड़-जोड़ अलग कर दिया था (८, ७२३) अथवा गायों को प्रकट किया था (२, ३४१)। (सामान्य रूप से सभी देवताओं की भाँति) इन लोगों के प्रधान भी इन्द्र हैं (१, २३८ इत्यादि) और यह लोग इन्द्र के साथ रहते हैं (१०, १२८२)। यह लोग इन्द्र के पुत्रों के समान हैं (१, १००५)। और इन लोगों को इन्द्र का भ्राता भी कहा गया है (१, १७०२)। फिर भी, दो या तीन बार यह कहा गया है कि मरुतों ने इन्द्र को युद्ध में अकेला छोड़ दिया था। इन लोगों ने इन्द्र को दैत्य के साथ अकेले ही युद्ध रत कर दिया (१, १६५६), और इन्द्र का साथ छोड़ दिया (८, ७३१)। एक मन्त्र इन्द्र और मरुतों के बीच संघर्ष तक का प्रमाण प्रस्तुत करता है, जब कि मरुद्गण इन्द्र से कहते हैं,: 'हे इन्द्र! तुम हम लोगों का वध क्यों करना चाहते हो? युद्ध में हम लोगों का वध मत करो' (१, १७०२ तु० की० १७१६)।[४] एक ब्राह्मण स्थल (तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ७, १११) भी मरुतों और इन्द्र के बीच संघर्ष का उल्लेख करता है।

जब इन्द्र के साथ सम्बद्ध नहीं हैं, तब अक्सर मरुद्गण मात्सर्यपूर्ण प्रवृत्तियाँ भी प्रदर्शित करते हैं। ऐसी दशा में यह लोग अपने पिता रुद्र के मात्सर्यपूर्ण स्वभाव का कुछ अंश ग्रहण कर लेते हैं। अपने स्तोताओं से विद्युत को दूर रखने तथा अपनी दुर्भावनाओं को स्तोताओं तक न पहुँचने देने के लिये इनका आवाहन किया गया है (७, ५६९)। इन लोगों से अपने बाण, तथा उस पत्थर को जो यह लोग फेंकते हैं, (१, १७२२), अपने विद्युत को (७, ५७४) और अपने गाय तथा मनुष्य का वध करने वाले वज्र को (७, ५६१७) दूर रखने की स्तुति की गई है। इन लोगों के पास से विपत्तियाँ आ सकती हैं (१, ३९८); इन लोगों के क्रोध के निवारण की स्तुति की गई है (१, १७११; ७, ५८५); और इन लोगों को सर्प के समान क्रोधी कहा गया है (१, ६४८.९)। किन्तु इन लोगों के पिता रुद्र की भाँति मरुद्गणों को भी ऐसी उपशामक औषधियाँ लाने वाला कहा गया है जो सिन्धु में, आसिक्नी में, समुद्र में, और पर्वतों पर मिलती हैं। (८, २०२३-६); और एक बार इन लोगों को विशुद्ध, हितकर और उपकारी औषधियाँ रखने वालों के रूप में रुद्र के साथ सम्बद्ध किया गया गया है (२, ३३१३)। यह औषधियाँ जल ही प्रतीत होती हैं, क्योंकि मरुद्गण वर्षा द्वारा ही औषधियाँ प्रदान करते हैं (५, ५३१४)। अग्नि की भाँति इन लोगों को भी अनेक बार

विशुद्ध अथवा शुद्ध करने वाला (पावक) कहा गया है (७, ५६[१२] इत्यादि)।

विद्युत, आकाशीय गर्जन, वायु और वर्षा, तथा साथ ही साथ, उन अनेक अन्य प्रवृत्तियों द्वारा जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में मरुद्गण झंझावात-देवता हैं। देशीय व्याख्या के अनुसार मरुद्गण वायु का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस शब्द का वैदिकोत्तर अर्थ केवल 'वायु' मात्र है। किन्तु ऋग्वेद में यह लोग शुद्ध और सरल रूप में कदाचित ही वायुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योंकि इनके कुछ गुण मेघों तथा विद्युत से भी गृहीत हुये हैं। कुन और वेनफें[५] मरुतों को मृतक आत्माओं का मूर्तीकरण मानते हैं (तु० की० पृ० १४५) और मेयर[६] तथा श्रोडर[७] भी बहुत कुछ इसी मत से सहमत हैं। यह उत्पत्ति ऐतिहासिक दृष्टि से सम्भव है किन्तु ऋग्वेद इसके सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता। इस शब्द की व्युत्पत्ति[८] के अनिश्चित होने के कारण इससे भी इन लोगों की उत्पत्ति और धारणा पर कुछ अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। इस शब्द की धातु 'मर्' प्रतीत होती है किन्तु इसका आशय 'मरना', 'कुचलना' अथवा 'प्रकाशित होना' आदि में से क्या है यह निर्णय कर सकना कठिन है। फिर भी, यह अन्तिम अर्थ ही ऋग्वेद में मरुतों के वर्णन के सर्वाधिक अनुकूल प्रतीत होता है।

[१]पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, ७३ — [२]ऋग्वेद में वर्षा के विभिन्न नामों के लिये देखिये वॉह्नेनवर्गर : उ० पु० ४३-४ — [३]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३९१ — [४]पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ५९ — [५]वेनफे : ओ० आ०, ऋग्वेद १, ६४ पर — [६]इन्डोजर्मनीशे माइथेन १, २१८ — [७]वी० मौ० ९, २४८-९ — [८]निरुक्त ११, १३; ग्रासमैन : कु० त्सी० १६, १६१-४; ब्राडके : धा० ११२-३; त्सी० गे० ४०, ३४९-६०; के ऋ० नोट १३६; मैक्स मूलर : वैदिक हिम्स, से० बु० ई० ३२, xxiv-xxv; हॉ० इ० ९७।

रौथ : त्सी० गे० २, २२२; व्हिट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३१९; मूईर : सं० टे० ५, १४७-५४; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद १, ४४; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३६९-४०२; ब्री : १४; के० ऋ० ३९; मैक्स मूलर : फिज़िकल रिलीजन ३१७-२०; हार्डी : वे० पी० ८३-५; ब्राड्के : फे० रौ० ११७-२५; ओ० वे० २२४-५, २८३; हॉ० इ० ९६-९।

§ ३०. *वायु-वात* :—हवा के इन दोनों नामों 'वायु' और 'वात' में से प्रत्येक का एक भौतिक तत्त्व तथा उसके मूर्तीकरण दोनों के लिए ही प्रयोग हुआ है। किन्तु 'वायु' ही मुख्यतः एक देवता है, तथा 'वात' एक तत्त्व। 'वायु' की अकेले एक सम्पूर्ण सूक्त में, अंशतः अन्य में, और लगभग आधे दर्जन में इन्द्र के साथ संयुक्त रूप से प्रख्याति है। 'वात' का केवल ऋग्वेद के

दशम मण्डल के उत्तरार्ध में दो छोटे छोटे सूक्तों (१६८ और १८६) में ही आवाहन किया गया है। यह दोनों ही नाम कभी कभी एक ही मन्त्र में आते हैं (६, ५०[12]; १०, ९२[13])। इन दोनों का अन्तर इसी तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि एक देवता के रूप में केवल अकेले 'वायु' को ही इन्द्र के साथ सम्बद्ध किया गया है और ऐसी दशाओं में इन दोनों देवों का अक्सर 'इन्द्रवायू' के रूप में आवाहन किया गया है। प्राचीन देशीय व्याख्याकारों द्वारा यह जोड़ा इतना घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध माना गया है कि इनमें से कोई भी एक देव वैदिक त्रयी में अन्तरिक्ष क्षेत्र के देवताओं का प्रतिनिधित्व कर सकता है (निरुक्त ७, ५)। इसके विपरीत, 'वात' का अपेक्षाकृत कम पूर्णता के साथ मूर्तीकरण हुआ होने के कारण, उसे केवल पर्जन्य (§ ३१) के साथ ही सम्बद्ध किया गया है, जिसका झंझावात के साथ सम्बन्ध इन्द्र की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट है। इन दोनों वायु-देवताओं के लिये अलग अलग उपाधियों का व्यवहार हुआ है, जिनमें से 'वात' के लिये प्रयुक्त उपाधियाँ मुख्यतः क्षिप्रता और विध्वन्स के भौतिक गुणों को व्यक्त करती हैं।

'वायु' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी कुछ थोड़े से सन्दर्भ मिलते हैं। यह कहा गया है कि दोनों लोकों ने इसे समृद्धि के लिपे उत्पन्न किया (७, ९०[3])। एक बार इसे 'त्वष्टृ' का जामाता कहा गया है (८, २६[21-2]) जहाँ यद्यपि इसकी पत्नी के नाम का उल्लेख नहीं है (तु० की० § ३८)। पुरुष-सूक्त में इसे विश्व पुरुष के श्वास से उत्पन्न बताया गया है (१०, ९०[13])। 'वायु' को एकाव बार मरुतों से सम्बद्ध किया गया है। फिर भी, एक बार ऐसा कहा गया है कि इसने आकाश के गर्भ से मरुतों को उत्पन्न किया (१, १३४[4])। इसे मरुतों (१, १४२[12]) और साथ ही साथ पूषन् तथा विश्वेदेवस् के साथ रहनेवाला बताया गया है। इसके व्यक्तिगत गुण कुछ अनिर्दिष्ट से ही हैं। यह सुन्दर है (१, २[1]) और इन्द्र के साथ इसे आकाश का स्पर्श करनेवाला, विचार के समान वेगवान, और सहस्र नेत्रोंवाला कहा गया है (१, २३[2-3])। इसे एक बार गति के समय गर्जन करनेवाला बताया गया है (१०, १००[2])। 'वायु' के पास एक प्रकाशमान रथ है जिसे अश्वों का एक दल, अथवा 'रोहित' या 'अरुण' अश्वों का एक जोड़ा खींचता है। इनके दल में ९९ (४, ४८[4]), १०० अथवा १००० (४, ४६[3]) तक अश्व हैं जो इनकी इच्छा से सन्नद्ध हो जाते हैं। 'नियुत्वत्' (एक दल द्वारा खींचा जाने वाला) गुण अक्सर केवल 'वायु' अथवा उसके रथ के सन्दर्भ में आता है। अन्यथा यह एक या दो बार और मिलता है जहाँ प्रत्येक दशा में इन्द्र, अग्नि, पूषन् अथवा मरुतों के ही सन्दर्भ में आया है। 'वायु' के रथ में, जिसमें इन्द्र भी उसके साथ हैं (४, ४६[2],

४८[२]; ७, ९१[५]), बैठने का आसन सुवर्णमय है और यह रथ आकाश का स्पर्श करता है (४, ४६[४])। अन्य देवों की भाँति 'वायु' भी सोम-प्रेमी हैं। इसे अक्सर अपने दल के साथ सोम-पान करने के हेतु निमन्त्रित किया गया है जहाँ आकर यह सर्वप्रथम अपना (इन्द्र के साथ भी आता है : १, १३५[४]) पेय-भाग[१] प्राप्त करता है क्योंकि यह देवों में सबसे क्षिप्र है (शतपथ ब्राह्मण १३, १, २[७] इत्यादि)[२]। ऐतरेय ब्राह्मण (२, २५) एक यह कथा कहता है कि किस प्रकार सोम प्राप्त करने के लिये देवताओं की दौड़ में 'वायु' अभीष्ठ स्थान पर सर्वप्रथम आये, और इन्द्र द्वितीय। ऋग्वेद में इसे सोम का रक्षक भी कहा गया है (१०, ८५[५]) और इसके लिये एक विशिष्ट उपाधि 'शुचिपा' (स्वच्छ सोमपान करनेवाला) का व्यवहार किया गया है, जिससे ही एक बार इन्द्र को भी इसी के साथ ही विभूषित किया गया है। इसे एक बार अमृतरूपी दुग्ध देनेवाली (सबर्दुघा) गाय[३] के साथ भी सम्बद्ध किया गया है (१, १३४[४])। 'वायु' यश, सन्तान, अश्वों के रूप में सम्पत्ति, वृषभ, और सुवर्ण प्रदान करते हैं (७, ९०[२.६])। यह शत्रुओं को भगाते हैं (४, ४८[२]) और निर्बलों की रक्षा के लिये इनका आवाहन किया गया है (१, १३४[५])।

हवा के साधारण नाम के रूप में 'वात' की अधिक स्थूल रूप से प्रख्याति है। इसके नाम को अक्सर उस 'वा' (बहना) धातु से सम्बद्ध किया गया है जिससे यह व्युत्पन्न हुआ है। इसकी प्रशस्ति में समर्पित एक सूक्त (१०, १६८) इसका इस प्रकार वर्णन करता है। सभी वस्तुओं को छिन्न-भिन्न करता हुआ और गर्जन करनेवाला इसका नाद अग्रसर होता है; यह पृथ्वी की धूल को उड़ाता हुआ आगे बढ़ता है। यह हवा में अपने पथ पर भ्रमण करता है। यह एक दिन के लिये भी विश्राम नहीं करता। प्रथम-जन्मा, यह जलों का मित्र है; किन्तु इसका जन्म स्थान अज्ञात है। यह देव जहाँ चाहता है वहाँ भ्रमण करता है; व्यक्ति इसका गर्जन मात्र सुनते हैं इसके रूप को कोई भी नहीं देखता (तु० की०, १६४[४४])। यह देवों का प्रश्वास है (तु० की० ७, ८७[२]; १०, ९२[१३]) और हवि के साथ इसकी उपासना की गई है।

रुद्र की भाँति 'वात' भी उपशमन तथा दीर्घ जीवन प्रदान करता है क्योंकि अपने घर में इसके पास अमरत्व की निधि है (१०, १८६)। वात की यह उपशामक शक्ति निश्चित रूप से इसकी शुद्ध करने वाली प्रकृति का ही प्रतिनिधित्व करती है (तु० की० पृ० १४५)। वायु की क्रिया का मुख्यतः झंझावात के सन्दर्भ में उल्लेख किया गया है (४, १७[१२]; ५, ८३[४]; १०, १६८[१.२])। हवा के झोकों के विद्युत के साथ प्रकट होने की, और सूर्य के पुनः प्रकट होने के पूर्व की, घटना होने के कारण 'वात' को अरुणिम प्रकाश उत्पन्न

करने वाला (१०, १६८[१]) और उषाओं को प्रकाशित करने वाला (१, १३४[३]) कहा गया है। हवा की क्षिप्रता अक्सर देवों की गति (४, १७[१२]; ५, ४१[३]; ९, ९७[५२]) अथवा पौराणिक अश्वों की गति के लिये (१, १६३[११]; ४, ३८[३]) तुलनात्मक आधार प्रस्तुत करती है। हवा की ध्वनि का भी अक्सर उल्लेख है (४, २२[४]; ८, ९१[३]: १०, १६८[१.४])। 'वात' के नाम को झंझावत, और युद्ध के जर्मनिक देवता 'ओधिन' अथवा 'वोदन',[४] के साथ समीकृत किया गया है, और इसको एक सजातीय आवार से ही व्युत्पन्न प्रत्यय द्वारा निर्मित हुये होने के रूप में व्याख्या भी की गई है। किन्तु यह समीकरण अत्याधिक सन्दिग्ध प्रतीत होता है।[५]

[१] १, १३४[१].१३५[१]; ४, ४६[१]; ५, ४३[३]; ७, ९२[१]; ८, ८९[२] — [२]औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ३९, ५५, नोट १; हि० वे० मा० १, २६० — [३]तु० की० औल्डेलबर्ग : से० बु० ई० ४६, २४४ — [४]ग्रॉह्‌मैन : कु० त्सी० १०, २७४; त्सिमर : त्सी० आ० १९, १७०–२; १७९–८०; मैनहार्टः वहीं, २२, ४; पॉल : ग्रुन्ड्रिस, १०७५ में मौक; स्टोक्स : वेजेनबर्ग बीट्रेज १९, ७४; मैकडौनेल : ज० ए० सो० २५, ४८८; श्रोडर : वी० मौ० ९, २३९ — [५]तु० वी ब्राडके : द्या० पृ० x; इ० फौ० ५, २७२।

मूईर : सं० टे० ५, १४३–६; के० ऋ० ३८; बर्गेन : ल० रि० वे० १, २४–८; स्पीगेल : डी० पी० १५६–८; हार्डी : वे० पी० ८२–३; औ० वे० २२५–६।

§ ३१. *पर्जन्य* : ऋग्वेद के देवों में इस देव का अत्यन्त गौण स्थान है। केवल तीन सूक्तों में ही इसकी प्रख्याति है और इसके नाम का भी तीस से कम ही वार उल्लेख है। इसकी अथर्ववेद (४, १५) के भी एक सूक्त में प्रशस्ति गाई गई है, किन्तु यह सूक्त मुख्यतः ऋग्वेद के मन्त्रों से ही निर्मित हुआ है। आगे दिये जा रहे स्थलों पर 'पर्जन्य' शब्द से 'वर्षामेघ' का ही अभिधात्मक आशय हो सकना है। 'यही जल दिन प्रतिदिन ऊपर उठता और नीचे गिरता है; वर्षामेघ (पर्जन्याः) पृथ्वी को तृप्त करते हैं, और अग्नियाँ आकाश को प्रसन्न करती करती हैं' (१, १६४[५१])। मरुद्गण 'दिन के समय में भी जल वहन करनेवाले वर्षामेघों से उस समय अन्धकार कर देते हैं जब वह पृथ्वी का सिंचन करते हैं' (१, ३९[९]); 'उन्होंने आकाश के पात्र से जल गिराया, वह वर्षामेघ से दोनों लोकों में वर्षा कराते हैं और यह जल सभी सूखे स्थानों में फैल जाता है' (५, ५३[६])। मेघों से वर्षा कराने और वर्षा से भरे (वृष्टिमन्तम्) मेघ को भेजने के लिये बृहस्पति की स्तुति की गई है (१०, ९८[१.८])। 'वर्षा से भरे मेघ की भाँति' सोम प्रवाहित होता है (९, २[९]), और 'मेघ से वर्षा

के समान' सोम के विन्दु गिरते हैं (९, २२²)। अथर्ववेद में वर्षा करानेवाली 'वशा' नामक गाय को इस प्रकार सम्बोधित किया गया है : 'हे श्रेष्ठ देवी, वर्षामेघ तुम्हारे पयोधर हैं; और हे 'वशा', विद्युत तुम्हारे स्तन हैं' (अथर्ववेद १०, १०⁷)। ऐसे सभी स्थलों पर देशीय व्याख्याकार 'पर्जन्य' को 'मेघ' के रूप में व्याख्या करते हैं। दूसरी ओर, वाजसनेयि संहिता (१२, ६) में 'द्यौस्' की व्याख्या के लिये, तथा शतपथ ब्राह्मण (१४, ५, ५¹⁰)¹ में 'स्तनयित्नु' की व्याख्या के लिये पर्जन्य का प्रयोग किया गया है। कुछ दशाओं में यह कह सकना असम्भव है कि वहाँ अभिधात्मक अर्थ है अथवा मूर्तीकृत। इस प्रकार अग्नि के पराक्रम को 'पर्जन्य' की भाँति प्रतिध्वनित होने वाला कहा गया है (८; ९१⁵): और मेढकों के सम्बन्ध में यह कहा गया है जब पर्जन्य उन्हें जगा देता है तब वह बोलने लगते हैं (७, १०३¹)। फिर भी अधिकांश स्थलों पर यह शब्द स्पष्टतः उस मूर्तीकरण का ही प्रतिनिधित्व करता है जो वर्षा-मेघ का अधिपति है, जब कि इस दशा में भी सामान्यतया तत्सम्बन्धी भौतिक घटना के गुण इसमें सुरक्षित हैं। इस प्रकार वर्षामेघ, पयोधर, कोश अथवा दृति बन जाते हैं (५, ८३⁸·⁹; ७, १०१⁵)। मूर्तीकरण कभी-कभी पशुत्वारोपण के रूप में भी व्यक्त हुआ है और पर्जन्य को अक्सर एक वृषभ कहा गया है,यद्यपि इस दशा में लिङ्ग के सम्बन्ध में कुछ सन्दिग्धता है (सम्भवतः इसलिये कि अन्यथा, मेघ गायें हैं)। यह द्रुत गति विन्दुओं सहित गर्जन करने वाला ऐसा वृषभ है जो अपना बीज एक कीट की भाँति पौधों में अवस्थित करता है (५, ८३¹, तु० की० ⁷·⁹; अथर्ववेद ४, १५¹)। वायु द्वारा प्रेरित होकर मेघ (अभ्राणि) एकत्र होते हैं, गर्जन करनेवाला महान् 'नभस्वतः' वृषभ पृथ्वी को आनन्द प्रदान करता है (अथर्ववेद ४·१५¹)। कभी कभी पर्जन्य एक वन्ध्या गाय है, और कभी उत्पादनात्मक बन जाता है जो अपनी इच्छानुसार अपने शरीर को प्रयुक्त करता है (७, १०१³)।

वर्षा करना इसकी सर्वप्रथम चारित्रिक विशेषता है। यह जलमय रथ पर चारों ओर उड़ता, जल चर्म को ढीला करता, तथा उसे नीचे खींचता है (५. ८३⁷)। अपने अश्वों को हाँकते हुए एक सारथी की भाँति यह अपने वर्षा स्वरूप दूतों का प्रदर्शन करता है ; जब यह वृष्टि करता है तब सिंह का गर्जन दूर से प्रतिध्वनित होता है ; हम लोगों के दिव्य (असुर) पिता की भाँति यह वृष्टि करता हुआ गर्जन सहित आता है (५, ८३³·⁶)। वर्षा के लिये इनकी स्तुति की गई है (७, १०१⁵) और वर्षा कराने के पश्चात् जल को रोक रखने के लिये इनका आवाहन किया गया है (५, ८३¹⁰)। फिर भी यह आशय अन्तर्निहित है कि वर्षा कराने की पर्जन्य की और साथ ही मरुतों की

शक्ति मित्र और वरुण के अधीनस्थ है (५, ६३[२-६])। पर्जन्य से अनेक वार गर्जन करने के लिये कहा गया है (५, ८३)। गर्जन करते हुये यह वृक्षों, दैत्यों, दुरात्माओं आदि पर प्रहार करते हैं; समस्त संसार इनके शक्तिशाली आयुध से भयभीत है (५, ८३[२])। यह और 'वात' शक्तिशाली गर्जन को प्रयुक्त करने वाले हैं (१०, ६६[१०]। पर्जन्य को विद्युत से भी सम्बद्ध किया गया है, यद्यपि गर्जन की अपेक्षा कम वार। जब पर्जन्य अपने बीज से पृथ्वी को तृप्त करता है तब वायु बहती है और विद्युत गिरती है (५, ८३[४])। (अन्तरिक्ष) सागर में विद्युत सहित पर्जन्य गर्जन करता है (अथर्ववेद १९, ३०[५]। ऋग्वेद में विश्वेदेवों को अर्पित एक सूक्त में भी उस देवता से इसका ही आशय है, जो गर्जन और सिंहनाद करता है, जो मेघ और जल से सम्पन्न है, और जो विद्युत से दोनों लोकों को उद्दीप्त करता हुआ उन्हें सिंचित करता है (५, ४२[१४])।

वृष्टि कराने वाले के रूप में स्वभावतः पर्जन्य विशेष अंशों में वनस्पतियों का उत्पादक तथा पोषक है। जब यह अपने बीज से पृथ्वी को तृप्त करता है तब पौधे उगने लगते हैं; इसकी क्रिया में सभी प्रकार के पौधे हैं; इसने पोषणार्थ पौधों को उत्पन्न किया है (५, ८३[४.५.१०], तु० की० ६, ५२[६]; अथर्ववेद ४, १५[२.३.१५]; ८, ७[२१])। यह पौधों को फलित और वृद्ध करने वाला है; इस देव से रक्षित होकर पौधे श्रेष्ठ फल धारण करते हैं (७, १०१[१.५])। नरकट और तृण इसी की क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं (७, १०२[१]; तु० की० ५, ७५[१५]; अथर्ववेद १, २[१]. ३[१]; १९, ३०[५])। पर्जन्य केवल पौधों को ही नहीं वरन् गायों, अश्वियों और स्त्रियों को भी अंकुरित करता है (७, १०२[२])। उर्वरता प्रदान करने के लिये इसका आवाहन किया गया है (५, ८३[७] तु० की० ६, ५२[१६])। यह वह वृषभ है जो सभी को गर्भित करता है: जो कुछ भी स्थिर अथवा गतिशील है उसकी आत्मा इसी में निहित है (७, १०१[६]; तु० की० १, ११५[१])। एक आत्मनिर्भर और सार्वभौम सत्ता सम्पन्न के रूप तक में इसका वर्णन किया गया है, जो समस्त संसार पर शासन करता है, जिसमें सभी प्राणी और तीनो द्युलोक स्थित हैं, और जिसमें त्रिस्तरीय जल प्रवाहित होते हैं (७, १०१[२.४.५])। अपनी उत्पादनात्मक क्रिया के कारण पर्जन्य को अनेक बार 'पिता' उपाधि से विभूषित किया गया है (७, १०१[३]; ९, ८२[३]; अथर्ववेद ४, १५[१२]; १२, १[१२])। एक बार इसे 'हमारे दिव्य (असुर) पिता' कहा गया है (५, ८३[६]); और एक अन्य स्थल पर 'असुर की गुह्य शक्ति' (५, ६३[३.७]) से सम्भवतः इसी का सन्दर्भ है।

निहितार्थ रूप से पृथ्वी ही इसकी पत्नी है (५, ८३[४]; ७, १०१[३], तु० की०

१, १६०³)। अथर्ववेद (१२, १¹²) यह कहता है कि पृथ्वी माता है और पर्जन्य पिता², किन्तु अन्यत्र यही ग्रन्थ स्पष्टत: 'वशा' को इसकी पत्नी कहता है (१०, १०⁶)। इन पक्षों की दृष्टि से, और साथ ही साथ वृषभ के रूप में इसकी पशुत्वारोपित धारणा तथा आकाशीय गर्जन, विद्युत, और वर्षा से इसके सम्बन्ध की दृष्टि से, यह उस द्यौस् के चरित्र के समान प्रतीत होता है (तु० की० १०, ४५⁴; २, ४⁶. २७¹⁵), जिसका ही इसे एक बार पुत्र कहा गया है (७, १०२¹)। स्वयं पर्जन्य को ही पौधों का अंकुर रूपी एक बछड़ा (वत्सम्) उत्पन्न करने वाला कहा गया है (७, १०१¹, तु० की० मन्त्र ³; ५, ८३¹) जो सम्भवत: विद्युत का प्रतिनिधित्व करता है। फिर भी, यहाँ सोम का अर्थ भी हो सकता है क्योंकि एक बार (९, ८२³) पर्जन्य³ को सोम का पिता कहा गया है, और ऐसा कहा गया है कि सोम 'पर्जन्य द्वारा वृद्ध हुआ' (९, ११३³)।

पर्जन्य को अनेक अन्य देवों के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। इसका सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध 'वात' के साथ है, जो, एक स्थल पर अग्नि के साथ एक मात्र अपवाद के अतिरिक्त, केवल अन्य ऐसा देवता है जो इसके साथ युगल देव के रूप में आता है (§ ४४)। मरुतों का भी कुछ बार पर्जन्य के साथ आवाहन किया गया है (५, ६३⁶, ८३⁵) और उनसे इसकी प्रशस्ति गाने के लिये कहा है (अथर्ववेद ४, १५⁴)। एक ही सूक्त के दो मन्त्रों में अग्नि की इसके साथ प्रख्याति है (६, ५२⁶·¹⁶; तु० की० § ४४)। इन्द्र तथा 'वर्षामय' पर्जन्य में बहुत कुछ समानता है और इसके इस पक्ष से इन्द्र की तुलना की गई है (८, ६¹)। वास्तव में इन दोनों देवों के प्राकृतिक आधार में बहुत कुछ समानता है, फिर भी पर्जन्य का प्राकृतिक आधार के साथ सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है (तु० की० पृ० १५५)।

पर्जन्य नाम की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। किन्तु चारित्रिक समानता के कारण इसे आज भी बहुधा लिथुआनियन गर्जन देवता 'पर्कुनस'⁴ के साथ समीकृत किया जाता है, यद्यपि इस समीकरण की ध्वन्यात्मक कठिनाइयों की व्याख्या नहीं की जा सकती। ऋग्वेद में इसके धारणा की नवीनता यह सम्भव बना देती है कि यह दोनों वास्तव में सम्बद्ध हैं और इनका भारोपीय रूप इस समय भी इसी अभिधात्मक आशय में सुरक्षित है। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में यह शब्द गर्जन करने वाले वर्षामेघ की, तथा साथ ही साथ उसके मूर्तीकरण के रूप में उस देवता के व्यक्ति वाचक नाम की, जो वास्तव में वर्षा कराता है, अभिधा है। वर्षामेघ और वर्षा-देव, दोनों का ही आशय ब्राह्मण ग्रन्थों से होता हुआ बाद की भाषा में भी सुरक्षित है। देशीय कोश इस

अभिधा की 'गर्जनमेघ' के रूप में व्याख्या करते हैं, जब कि महाभारत में यह देव कभी-कभी इन्द्र के साथ समीकृत किया गया मिलता है।

[1]तु० की० वेनफे: ओ० आ० १, २२३ — [2]तैत्तिरीय आरण्यक १, १०, १[2] यह कहता है कि भूमि अथवा पृथ्वी पत्नी है, और व्योमन् अथवा आकाश पति — [3]तु० की० ब्लूमफील्ड : फे० रौ० १५३ — [4]वेनफे : ओ० आ० १, २२३; त्सिमर : त्सी० आ० १९, १६४ और बाद, तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३, ३२२ और बाद; त्सी० गे० ३२, ३१४ और बाद; के० ऋ० नोट १३९; हर्ट : इ० फौ० १, ४८१–२।

बूहलर : ओ० आ० १, २१४–२९; डेलब्रुक : त्सी० वो० १८६५, पृ० २७५ और बाद; रौथ : त्सी० गे० २४, ३०२–५ (ऋग्वेद १, १६५ पर); मूईर : सं० टे० ५, १४०–२; वर्गेन : ल० रि० वे० ३, २५–३०; के० ऋ० ४०; ग्री० १४; कॉ० ऋ० ५६ और बाद; हार्डी : वे० पी० ८०–२; औ० वे० २२६; से० बु० ई० ४६, १०५; हॉ० इ० १०३–४।

§ ३२. *आपः* :—जलों अथवा आपः की ऋग्वेद के चार सूक्तों (७, ४७. ४९; १०, ९. ३०) तथा कुछ यत्र तत्र मंत्रों में प्रशस्ति मिलती है। अनेक फुटकर मंत्रों में अन्य देवों के साथ भी इनका आवाहन किया गया है। इनका मूर्तीकरण औपचारिक मात्र है, जो मातायें, युवती पत्नियाँ, तथा यज्ञ के समय आकर वरदान देने वाली देवियों की धारणा से कदाचित् ही अधिक विस्तृत हो सका है। यह ऐसी देवियाँ हैं जो देवों के पथ का अनुसरण करती हैं (७, ४७[3])। अपने वज्र से शस्त्रसज्ज हो कर इन्द्र ने इनके बहने के लिये मार्ग खोदा (७, ४७[4] ४९[1]) और यह लोग इन्द्र के विधानों का कभी भी उल्लङ्घन नहीं करतीं (७, ४७[3])। इन लोगों को सवितृ के विधानों के अन्तर्गत भी रक्खा गया है (पृ० ६०)। यह दिव्य हैं और साथ ही साथ पार्थिव जलमार्गों से बहने वाले भी, और इनका अभीष्ट समुद्र है (७, ४९[2])। ऐसा आशय अन्तर्निहित है कि यह वहीं रहती हैं जहाँ देवों का आवास, और मित्र तथा वरुण का स्थान है (१०, ३०[1])। यह सूर्य की पार्श्ववासी हैं और सूर्य इनके साथ रहते हैं (१, २३[17])। नीचे मनुष्यों के सत्य और झूठ पर दृष्टिपात करते हुये राजा वरुण इन लोगों के बीच विचरण करते हैं (७, ४९[3])। इस प्रकार के स्थलों पर इनसे वर्षा के जल का ही अर्थ होना चाहिये (हॉ० इ० ९९)। किन्तु नैघण्टुक (५, ३) केवल पार्थिव देवों के अन्तर्गत ही जलों की गणना करता है (तु० की० यास्क : निरुक्त ९, २६)।

अग्नि का अक्सर जल में रहने वाले के रूप में वर्णन किया गया है (पृ० १७४)। ऐसा कहा गया है कि अग्नि जलों में प्रविष्ट रहते हैं (७, ४९[4])।

माताओं के रूप में यह अग्नि को उत्पन्न करते हैं (१०, ९१[६], तु० की० २[७]; अथर्ववेद १, ३३[१]). और अग्नि के एक रूप को 'जलों का पुत्र' कहा गया है (§ २४)। जल मातायें हैं (१०, १७[१०]; १, २३[१६]) जो लोकों की पत्नियाँ हैं, और उत्पत्ति तथा वय की दृष्टि से समान हैं (१०, ३०[१०])। वात्सल्य से परिपूर्ण माताओं की भाँति इनसे अपना सुखद रस प्रदान करने की स्तुति की गई है (१०, ९[२])। यह अत्यन्त मातृत्व भावना से परिपूर्ण और समस्त चराचर को उत्पन्न करने वाली हैं (६, ५०[७])।

जल स्वच्छ और पवित्र करते हैं; यह देवियाँ कलुष को बहा ले जाती हैं; स्तोतागण इनमें से पवित्र और स्वच्छ हो कर निकलते हैं (१०, १७[१०])। नैतिक अपराधों, हिंसात्मक पापों, श्राप, तथा झूठ से भी पवित्र करने के लिये इनका आवाहन किया गया है (१, २३[२२] = १०, ९[८])। यह परिष्कारात्मक हैं (६ ५०[७]); औषधियाँ और दीर्घजीवन प्रदान करती हैं, क्योंकि सभी औषधियाँ, अमरत्व, और उपशमन, इनमें ही निहित हैं (१०, ९[५-७]; १, २३[१९-२१])। यह घर में मनुष्य के स्वास्थ्य पर दृष्टि रखती हैं (हिरण्यकेशि गृह्य सूत्र २, ४[५])। यह वरदान और समृद्धि की स्वामिनी हैं और श्रेष्ठ शक्ति तथा अमरत्व प्रदान करती हैं (१०, ९[५]. ३०[१२])। इनकी कृपा और सहायता की अक्सर कामना की गई है (७, ४७[४]. ४९[१-४]; १०, ९. ३०[११]), और 'जलों के पुत्र' के साथ आकर सोमार्पण यज्ञ के समय कुशासन पर बैठने के लिये इनको निमन्त्रण दिया गया है (१०, ३०[१४.१५])।

जलों को अनेक वार मधु से संयुक्त किया गया है। माताओं के रूप में यह अपने दुग्ध को मधु के साथ मिलाते हैं (१, २३[१६])। जलों की लहरें मधु से परिपूर्ण हैं; घृत से मिल कर यह इन्द्र का पेय बन गया जिसका पान कर इन्द्र प्रसन्न हुये (७, ४७[१.२])। अपां नपात् से उन जलों को प्रदान करने की स्तुति की गई है जिनसे इन्द्र में शौर्य विकसित हुआ (१०, ३०[४])। जिन इन्द्र ने जलों को मुक्त किया उनके लिये मधु के समान और हर्ष-प्रदायक लहरों को गिराने के लिये जलों का आवाहन किया गया है : ऐसी लहरें जो मदमत्त कर देती हैं, जो इन्द्र के पेय (सोम) के समान हैं; और जो आकाश में उत्पन्न होती हैं (१०, ३०[६-९])। इन स्थलों से ऐसा प्रतीत होता है कि कम से कम कभी-कभी दिव्य जलों को इन्द्र के पेय, आकाशीय सोम के समान, अथवा उसके तत्त्वों से युक्त माना जाता था। अन्य स्थलों पर पार्थिव सोम निर्मित करने के हेतु व्यवहृत जलों का अर्थ प्रतीत होता है। जब इन्हें घृत, दुग्ध और मधु से सम्पन्न माना गया है, तब इन्द्र को अर्पित करने के लिये सुनिर्मित सोम से युक्त पुरोहितों के साथ इनकी तुलना की गई है (१०, ३०[१३])।

इनके मध्य सोम उसी प्रकार आनन्द लेता है जिस प्रकार सुन्दर कन्याओं के बीच एक युवक; सोम इनके पास एक प्रेमी की भाँति आता है और यह ऐसी कन्यायें हैं जो यौवन के सम्मुख नत हो जाती हैं (१०, ३०^{५-६})।

मूईर : सं० टे० ५, २४, नोट ३४३. ३४५; बर्गेन : ल० रि० वे० १, २६०; डर्मेस्टेटर : हा० ए० ७३-४; कॉ० ऋ० ५६; स्पीगेल : डी० पी० १५३-५; औ० वे० २४२।

(ग) पार्थिव देवता

§ ३३. नदियाँ :—दिव्य 'जलों', के अतिरिक्त, दैवीकृत नदियाँ भी ऋग्वेद में कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखतीं। एक सूक्त (१०, ७५) के पाँचवें मन्त्र को छोड़कर, जिसमें अन्य नदियों के अतिरिक्त सिन्धु की विभिन्न सहायक नदियों का भी आवाहन किया गया है, इस सम्पूर्ण सूक्त में सिन्धु की ही प्रख्याति है, और इसी सूक्त के छठवें मन्त्र में अनेक अन्य नदियों को सिन्धु के साथ मिलकर प्रवाहित होनेवाली बताया गया है। एक अन्य सम्पूर्ण सूक्त (३, ३३) दो बहनों के रूप में विपाश् और शुतुद्री, नामक नदियों का आवाहन करता है।

फिर भी, किसी भी अन्य नदी की अपेक्षा 'सरस्वती' की ही सर्वाधिक प्रख्याति मिलती है। किन्तु, यद्यपि इसकी दशा में मूर्तीकरण अन्य की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित है, तथापि ऋग्वेद में इस देवी का नदी के साथ सम्बन्ध कवियों के मन में सदैव वर्तमान है। सरस्वती की प्रशस्ति ऋग्वेद के तीन सम्पूर्ण सूक्तों, तथा अनेक फुटकर मन्त्रों में मिलती है। सरस्वती, सरयु, और सिन्धु का महान् नदियों के रूप में आवाहन किया गया है (१०, ६४^{९}) और अन्यत्र (१०, ७५^{५}) गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी तथा अन्य ज्ञात और अज्ञात नदियों सहित इक्कीस को सम्बोधित किया गया है। सरस्वती के तट पर रहनेवाले राजाओं और लोगों का उल्लेख है (७, ९६^{२}; ८, २१^{१८})। लौह-दुर्ग के समान धारण करनेवाली यह सरस्वती नदी धारक जल के सहित प्रवाहित होती है और अन्य सभी नदियों से महानता में आगे है; नदियों में यही पवित्र है, तथा पर्वतों से निकलकर (दिव्य) समुद्र तक[१] जाती है (७, ९५^{१.२}, तु० की० ५, ४३^{११})। अपनी शक्तिशाली लहरों से यह पर्वत शिखरों को तोड़ देती है, और इसका अगाध वेगवान जल गर्जन करता हुआ अग्रसर होता है (६, ६१^{२.८})। महानों में महानतम होने के रूप में इसका विभेद किया गया है। यह गतिशीलों में सर्वाधिक गतिशील है, और अपना दुग्ध न रोकने के लिए इसका आवाहन किया गया है (६, ६१^{१३})। कवि इसलिये

स्तुति करता है कि कहीं वह इसके (सरस्वती के) पास से दूर अपरिचित क्षेत्रों में न हटा दिया जाय (६, ६१[१४])। इसकी सात बहनें हैं, और यह सप्तस्वरीय है (६, ६१[१०, १२])। यह सात में से एक, और नदियों की माता[२] है (७, ३६[६])। यह माताओं, नदियों और देवियों में सर्वश्रेष्ठ है (२, ४१[१६])। इसे 'पावीरवी' कहा गया है, जिस उपाधि (१०, ६५[१३] में इसी उपाधि का 'तन्यतु' के लिये भी व्यवहार किया गया है) का अर्थ सम्भवतः 'विद्युत की पुत्री'[3] है, और इसे एक योद्धा (सम्भवतः 'सारस्वत') की पत्नी कहा गया है (६, ४९[७])। यह पार्थिव क्षेत्रों और विस्तृत अन्तरिक्षीय स्थानों को परिपूर्ण करती है और तीन आवासों पर इसका आधिपत्य है (६, ६१[११, १२])। आकाश से, 'महान पर्वत से' उतर कर यज्ञस्थल तक आने के लिये इसका आवाहन किया गया है (५, ४३[११])। उक्त अन्तिम तीन स्थल (तु० की० ७, ९५[२] भी), वैदिकोत्तर पुराकथाशास्त्र में गङ्गा की भाँति इसकी भी एक दिव्य उत्पत्ति की धारणा व्यक्त करते प्रतीत होते हैं। इसे 'असुर्या' भी कहा गया है (७, ९६[१])। यह देवी पितरों के रथ पर बैठ कर ही यज्ञस्थल पर आती और कुशासन पर बैठती है (१०, १७[८, ९])। यहाँ भी इसे एक नदी रूपी देवी माना जाना चाहिये क्योंकि बाद के ही दो मन्त्रों में कलुषरहित करने के लिये जलों का आवाहन किया गया है।

यह स्वयं भी पवित्र करनेवाली है (१, ३[१०])। 'जलधाराओं से परिपूर्ण' हो कर आने के लिये (६, ५२[६]), और उन जलों के साथ आकर, जो समृद्धि, सन्तान, तथा अमरत्व प्रदान करने वाले हैं; शक्ति प्रदान करने के लिये इसका आवाहन किया गया है (१०, ३०[१२])। यह शक्ति और सन्तान प्रदान करती है (२, ४१[१७]) और प्रजनन में सहायक देवों के साथ इसे सम्बद्ध किया गया है (१०, १८४[२])। यह भी कहा गया है कि 'वध्र्यश्व' को इसने दिवोदास नामक पुत्र प्रदान किया था (६, ६१[१])। इसके अक्षय स्तन (तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ४, १) सभी प्रकार की समृद्धियाँ प्रदान करते हैं (१, १६४[४९])। अक्सर इसे धन, समृद्धि, और पोषण प्रदान करने वाली कहा गया है (७, ९५[२]; ८, २१[१७]; ९, ६७[३२]; १०, १७[८, ९]), और अनेक बार 'सुभग' उपाधि से विभूषित किया गया है (१, ८९[३]; ७, ९५[४, ६]; ८, २१[१७])। माता (अम्बा) के रूप में यह अप्रसिद्ध व्यक्तियों को प्रसिद्धि प्रदान करती है (२, ४१[१६])। यह अपने स्तोताओं की आस्था को उद्दीप्त, निर्देशित और समृद्ध करती है (१, ३[१०, ११]; २, ३[८]; ६, ६१[४])। स्तुति की देवी के साथ साथ इसका भी आवाहन किया गया है (७, ३७[११]; १०, ६५[१३])। यह देव-द्रोहियों का विनाश करती है, तथा अति भयंकर और वृत्र का वध करने वाली है (६, ६१[३, ७])

किन्तु अपने स्तोताओं को सुरक्षा प्रदान करती है और उनके शत्रुओं को पराजित करती है (७, ९५[४.५]; २, ३०[८]; ६, ४९[७])।

अक्सर अन्य देवों के साथ भी सरस्वती का आवाहन किया गया है। पूषन् और इन्द्र के अतिरिक्त इसे विशेषतः मरुतों के साथ सम्बद्ध किया गया है (३, ५४[१३]; ७, ९[५].३९[५]. ४०[३]) और ऐसा कहा गया है कि मरुद्गण इसके साथ रहते हैं (२, ३०[८]) अथवा इसके मित्र हैं[४] (७. ९६[२])। ऋग्वेद में इसे एक बार अश्विनों के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। जब अश्विनों ने इन्द्र की सहायता की तब इसने अश्विनों का श्रमहरण किया (१०, १३१[५])। इसी पुराकथा के सन्दर्भ में वाजसनेयि संहिता (१९, १२) में यह उक्ति है: जब देवों ने एक उपशामक यज्ञ सम्पन्न किया तब चिकित्सकों के रूप में अश्विनों ने और अपनी वाणी (वाचा) द्वारा सरस्वती ने इन्द्र में शक्ति उत्पन्न की[५]। वाजसनेयि संहिता तो सरस्वती को अश्विनों की पत्नी तक कहती है (१९, ९४)। 'आप्री' और 'आप्र' सूक्तों के आठवें और नवें मन्त्रों में सरस्वती को, अनेक बार 'इडा' और 'भारती' (जिनके साथ मिलकर यह एक त्रयी बन गई है) नामक यज्ञ-देवियों, और कभी-कभी 'मही' और 'होत्रा' के साथ भी, सम्बद्ध किया गया है। इस नदी की पवित्र प्रकृति के कारण ही ऐसा सम्बन्धीकरण स्थापित किया गया हो सकता है। 'सरस्वती' और 'दृषद्वती' के तट पर 'अग्नि' के प्रज्वलित किये जाने का भी सन्दर्भ मिलता है (३, २३[४])[६]; और ऐतरेय ब्राह्मण (२, १९) सरस्वती के किनारे ऋषियों द्वारा किये गये एक यज्ञ का उल्लेख करता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सरस्वती के तट पर ही भरतों के उपासना-स्थल स्थित थे; और ऐसी दशा में पशु-यज्ञ[७] के साथ होनेवाली 'आप्री' स्तुति में भरतों के मूर्तीकृत हवि 'भारती' को भी सरस्वती के साथ-साथ स्वाभाविक रूप से एक निश्चित स्थान प्राप्त हो गया होगा।

यद्यपि ऋग्वेद में स्पष्टतः यह व्यक्त करने के लिये (तु० की० ७, ३५[११]) कहीं भी कुछ ऐसी सामग्री नहीं कि सरस्वती एक नदी-देवी के अतिरिक्त कुछ और भी है, तथापि ब्राह्मणों (शतपथ ब्राह्मण ३, ९, १[७]; ऐतरेय ब्राह्मण ३, १[१०]) में हम इसे 'वाच्' के साथ समीकृत पाते हैं, और वैदिकोत्तर पुराकथा में यही बुद्धि तथा वाक्पटुता की वह देवी बन् गई है जिसका विद्या की देवी के रूप में आवाहन किया गया है, और जिसे ब्रह्मा[८] की पत्नी माना गया है। प्राचीन से इस नवीन धारणा का संक्रमण सम्भवतः ऊपर उद्धृत वाजसनेयि संहिता, १९, १२, जैसे स्थलों पर देखा जा सकता है।

उस नदी की वास्तविकता के सम्बन्ध में, जिसकी सरस्वती एक मूर्तीकृत देवी हैं, अत्यधिक विवाद है। इस नाम को अफगानिस्तान में अवेस्ता की 'हरक्वैति' नदी के साथ समीकृत किया गया है[९] और यही बाद की वह नदी हो

सकती है जिसकी सर्व प्रथम सरस्वती[10] के रूप में प्रशस्ति की गई है। किन्तु रौथ (सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश), ग्रासमैन (व० ऋ०), लुडविग[11], और त्सिमर (आल्टिन्डिशे लेबेन १०), आदि का यह विचार है कि ऋग्वेद में, सामान्यतः और मूलतः, सरस्वती से एक बड़ी नदी, कदाचित सिन्धु नदी (यह 'सरस्वती इसका पवित्र नाम है और 'सिन्धु' एक लौकिक) है; किन्तु यह अक्सर मध्य देश की एक छोटी नदी को भी द्योतक है जिसके साथ बाद के समय में इसका नाम और इसकी पवित्रता दोनों ही संयुक्त कर दी गई है। मैक्स मूलर[12] इसे इसी छोटी सी सरस्वती नदी के समान मानते हैं जो दृषद्वती के साथ मिलकर ब्रह्मावर्त के पवित्र क्षेत्र की सीमा निर्धारित करती थी, और जो आजकल तो मरुभूमि के बालुओं में समाप्त हो जाती है किन्तु वैदिक काल में समुद्र तक पहुंचती थी। ओल्ढम[13] के अनुसार प्राचीन नदी-घाटियों के पर्यवेक्षण द्वारा ऐसा प्रमाण उपलब्ध होता है कि सरस्वती मूलतः शुतुद्री (आधुनिक सतजल)[14] की एक सहायक नदी थी, और जब यह शुतुद्री अपना प्राचीन मार्ग बदल कर विपाश् नदी से मिल गई तब सरस्वती शुतुद्री की ही प्राचीन घाटी से होकर बहने लगी।

सरस्वती का एक सहसम्बन्धी पुरुष नाम 'सरस्वत्' है जिसका एक ही सूक्त (७. ९६) के तीन मन्त्रों में नदी-देवी के प्रशस्ति-गायन के पश्चात्, बाद के ही तीन मन्त्रों में पत्नियों तथा सन्तान, सुरक्षा, समृद्धि, आदि की कामना करने वाले स्तोता द्वारा आवाहन किया गया है। यहाँ इसके (सरस्वत् के) उर्वरक जलों और पीवर कुचों तक का उल्लेख किया गया है। एक अन्य स्थल (१, १६४[52]) पर सरस्वत् को प्रत्यक्षतः अग्नि-पक्षी[15] के नाम के रूप में वर्षा द्वारा तृप्ति प्रदान करनेवाला कहा गया है। रौथ (सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश) इसे दिव्य जलों का एक अभिभावक मानते हैं जो उर्वरता प्रदान करता है। हिलेब्रान्ट[16] सरस्वत् को अपां नपात् (=सोम, चन्द्रमा) के साथ समीकृत करते हैं और हार्डी[17] का मत भी इसी समान है।

[1]तु० की बर्गेनः ल० रि० वे० ९, ३२६ — [2]बर्गेन (वही) के अनुसार स्वराघात के कारण 'जिसकी माता (दिव्य) समुद्र है' अर्थ है। — [3]रौथः निरुक्त १६५ और बाद; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; बर्गेन : ल० रि० वे० १, ३२७ — [4]तु की० एक नदी के नाम के रूप में 'मरुद्वृधा' (१०, ७५[5]) — [5]तु० की० शतपथ ब्राह्मण १२, ७, ३[1]; मूईर : सं० टे० ५, ९४ नोट — [6]तु० की० मानवधर्मशास्त्र, II, १७ और बाद; औल्डेनबर्ग : बुद्ध ४१३ और बाद। — [7]औ० वे० २४३ — [8]तु० की०, त्सी० गे० १, ८४; २७, ७०५ — [9]स्पीगेल : ई० पी० १०५ और बाद — [10]हॉ० इ० ३१ — [11]ना० जि०, पृ० १३; तु० की पिशलः वेदिशे स्टूडियन २, ८६ — [12]वैदिक हिम्स, से० बु० ई० ३२, ६० — [13]ज० ए० सो० २५, ४९-७६ — [14]मूईरः सं० टे० २, ३४५ — [15]बर्गेनः ल० रि वे० १, १४४; २, ४७ — [16]हि० वे० मा० १, ३८०-२ — [17]हार्डीः वे० पी० ४२-३।

मूईर: सं० टे० ५, ३३७–४३; वर्गेन: ल० रि० वे० १, ३२५–८; वॉलेन-सेन : त्सी० गे० ४१, ४९९; हि० वे० मा० १, ३८२–३ (दिव्य सरस्वती = आकाश गङ्गा); हार्डी : वे० पी० ९८; औ० वे० २४३।

§ ३४. *पृथिवी* :—जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है (पृ० ३९) पृथिवी की सामान्यतया 'द्यौस्' के साथ सम्मिलित रूप से ही प्रख्याति है। अकेले इसकी ऋग्वेद के केवल एक छोटे से तीन मन्त्रों के सूक्त (५, ८४) में, तथा अथर्ववेद (१२, १) के एक लम्बे तथा सुन्दर सूक्त में प्रशस्ति की गई है। इसका मूर्तीकरण क्षीणप्राय है, और इस देवी के सभी गुण प्रमुखतः भौतिक पृथ्वी जैसे ही हैं। ऋग्वेद के अनुसार इसमें अनेक ऊँचे स्थल हैं; यह पर्वतों का भार वहन करती है, और धरती (क्षमा) पर उगे वन-वृक्षों को धारण करती है। यह मिट्टी को उर्वर करती है क्योंकि यह वर्षा के जल को फैलाती है; आकाश की बूँदें इसी के मेघों के विद्युत से आकर वर्षा करती हैं। यह महान (मही), दृढ़ (दृलहा), और प्रदीप्त (आर्जुनी) हैं।

पृथिवी का अर्थ 'विस्तृत स्थल' है; और ऋग्वेद (२, १५[२]) के एक कवि का उस समय इसकी इसी व्युत्पत्ति से आशय है जब वह यह कहता है कि इन्द्र ने 'पृथ्वी' को ऊपर उठाया और उसे विस्तृत (पप्रथत्) किया। पृथ्वी के आरम्भ का वर्णन करते हुये तैत्तिरीय संहिता (७, १, ५) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (१, १, ३[५]) इसके नाम को निश्चित रूप से 'प्रथ्' (फैलाना, विस्तृत करना) धातु से ही निष्कृष्ट मानते हैं क्योंकि यह फैली हुई या विस्तृत है।

पृथिवी को 'दयालु पृथ्वीमाता' कहा गया और एक अन्त्येष्टि सूक्त (१०, १८[१०]) में मृतकों से इसी के पास जाने की अनुनय की गई है। जब 'द्यौस्' के साथ इसका वर्णन है तब पृथिवी के लिये 'माता' उपाधि का प्रयोग किया गया है (तु० की० §§ ११. ४४)।

ब्रूस : ज० ए० सो० १८६२, पृ० ३२१; मूईर: सं० टे० ५, २१–२; बर्गेन: ल० रि० वे० १, ४–५; ब्राड्के : द्या० ४८; बॉलेनसेन: त्सी० गे० ४१, ४९४–५; हार्डी० वे० पी० २५–६; थर्नेसेन : इ० फौ०, ४, ८४।

§ ३५. *अग्नि* :—अग्नि ही वह प्रमुख पार्थिव देव हैं जिनको वेदों के सांस्कारिक काव्य के केन्द्र यज्ञाग्नि के मूर्तीकरण के रूप में स्वभावतः सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। वैदिक देवों में इन्द्र के बाद इन्हीं का सबसे प्रमुख स्थान है। इनकी ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्तों में प्रख्याति है, और इसके अतिरिक्त अनेक सूक्तों में अन्य देवों के साथ सम्मिलित रूप से भी इनका आवाहन किया गया है।

यतः इनका नाम भी नियमित रूप से साधारण अग्नि का ही द्योतक है, अतः इनके दैहिक रूप का मानवत्वारोपण केवल प्राथमिक अवस्था में ही रह गया है,

और इनके दैहिक अंगों द्वारा यज्ञात्मक पक्ष की पार्थिव अग्नि का स्पष्ट सन्दर्भ है। यह घृत-पृष्ठ (५, ४[३] इत्यादि), घृत-मुख (३, १[१८] इत्यादि) और सुन्दर जिह्वावाले हैं (१, १४[७])। यह घृत-केश (८, ४९[२]), ज्वाल-केश (१, ४५[६] इत्यादि) अथवा हरित-केश (३, २[१३]) हैं, और इनकी दाढ़ी भी हरी है (५, ७[७])। इनके तीक्ष्ण (८, ४९[३] इत्यादि) अथवा जलनेवाले जबड़े (१, ५८[५] इत्यादि) हैं; स्वर्णिम (५, २[३]), उज्ज्वल (५, ७[५]) अथवा लोहे के समान (१०, ८७[२]) दाँत हैं। एक बार इन्हें पादविहीन और सरविहीन कहा गया है (४, १[११]), किन्तु अन्यत्र यह कहा गया है कि यह एक ज्वालामय-मस्तक हैं (७, ३[१]) अथवा तीन मस्तक और सात रश्मियाँ हैं (१, १४६[१]; २, ५[३])। यह सभी दिशाओं की ओर उन्मुख हैं (२, ३[१] इत्यादि)। इनकी जिह्वा का अक्सर उल्लेख है (८, ६१[१८] इत्यादि)। इनकी जिह्वा की संख्या तीन (३, २०[२]) अथवा सात (वाजसनेयि संहिता १७, ७९) बताई गई है, और इनके अश्व भी सप्तजिह्वा हैं (३, ६[२])। बाद में इनकी इन सातों जिह्वाओं का अलग-अलग नामकरण किया गया है[१]। घृत, अग्नि का नेत्र है (३, २६[७]); यह चार नेत्रोंवाले (१, ३१[१३]), सहस्र नेत्रोंवाले (१, ७९[१२]) और सहस्र सींघोंवाले हैं (६, १[८])। यह अपने हाथों में मनुष्यों के लिये अनेक उपहार धारण करते हैं (१, ७२[१])। इन्द्र की भाँति इन्हें भी 'सहस्र-मुष्क' उपाधि से विभूषित्त किया गया है (८, १९[३२])। इन्हें धनुर्धर (४, ४[१]) कहा गया है, अथवा ऐसे धनुर्धर से तुलना की गई है (१, ७०[११]), जो अपनी ज्वालाओं को एक लौह-धार की भाँति तीक्ष्ण करते हैं (६, ३[५])।

इनको अक्सर विभिन्न पशुओं के साथ समीकृत किया गया है, किन्तु ऐसी अधिकांश दशाओं में निश्चित रूप से इनके व्यक्तिगत रूप की अपेक्षा इनके कार्य को ही दृष्टि में रक्खा गया है। इन्हें अक्सर एक वृषभ कहा गया है (१, ५८[५] इत्यादि)। यह शक्तिशाली ग्रीवावाले एक बलिष्ठ वृषभ हैं (५, २[१२])। एक वृषभ के रूप में यह गर्जन करते हैं (१०, ८[१]); सहस्र रेता (४, ५[३]) और ऐसी सींघों से युक्त (५, १[८]; ६, १६[३९]) हैं जिन्हें तीक्ष्ण करते हैं (८, ४९[१३]), जिन्हें हिलाते हैं, और जो इनका पकड़ा जाना कठिन बना देते हैं (१, १४०[६])। इनके एक बछड़े (वत्स) के रूप में जन्म लेने की अनेक बार चर्चा, अथवा आशय है। अक्सर इनकी अश्वों से तुलना की गई है (१, ५८[२] इत्यादि) अथवा प्रत्यक्ष रूप से अश्व ही कहा गया है (१, १४९[३]; ६, १२[६])। इनकी पूँछ, जिसे यह अश्वों की भाँति हिलाते हैं (२, ४[४]) निःसन्देह इनकी ज्वाला ही है। यज्ञकर्त्ताओं द्वारा शुद्ध कर दिये जाने पर इनकी सुअलंकृत अश्वों से तुलना की गई है (१, ६०[५] इत्यादि)।

यज्ञकर्त्ता इनका पथप्रदर्शन करते हैं (३, २७), इन्हें उद्दीप्त करते हैं, और अश्व की भाँति गतिशील बनाते हैं (७, ७१ इत्यादि)। यही वह अश्व हैं जिन्हें स्तोतागण पालना और निर्देशित करना चाहते हैं (२, ५१; ३, २७३)। इनको उस अश्व की भाँति प्रज्वलित किया जाता है जो देवों को लाता है (३, २७१४)। इन्हें यज्ञस्थल के स्तम्भ (२, २१) अथवा संस्कार के स्तम्भ के साथ सन्नद्ध किया जाता है (१, १४३७)। हवियों को वहन करके देवों के पास ले जाने के लिये इन्हें सन्नद्ध किया गया है (१०, ५१७)। एक हिनहिनाते 'अश्व से या तो इनकी तुलना की गई है (३, २६३) अथवा प्रत्यक्ष रूप से ऐसा ही कहा गया है (१, ३६८)। इन्हें एक विजित करनेवाले (८, ९११२) अथवा संकटों से बचाने वाले (४, २८) अश्व के साथ समीकृत किया गया है। इसके अतिरिक्त अग्नि एक पक्षी के समान हैं। यह आकाश के उत्क्रोश पक्षी (७, १५४) अथवा एक दिव्य पक्षी हैं (१, १६४५२)। जल में निवास करते हुये यह हंस पक्षी के समान हैं (१, ६५९)। यह वनों पर उसी प्रकार आधिपत्य स्थापित करते हैं जिस प्रकार एक पक्षी वृक्ष पर बैठता है (१, ६६२; ६, ३५; १०, ९१२)। यह पंखयुक्त हैं (१, ५८५; २, २४), इनका पथ एक उड़नमार्ग है (६, ३७. ४६ इत्यादि), और यह तीव्रगति से देवों के पास गमन करते हैं (१०, ६४)। एक बार इनका एक क्रुद्ध सर्प के रूप में वर्णन किया गया है (१, ७९१)।

इनके अतिरिक्त अग्नि की अक्सर अनेक जड़ पदार्थों से भी तुलना की गई है। सूर्य की भाँति यह भी स्वर्ण के समान हैं (२, २४; ७, ३६)। जब यह अपनी जिह्वा फैलाते हैं (६, ३४) तब यह एक कुठार की भाँति हो जाते हैं; और अन्यत्र कुठार से ही इनकी अनेक बार तुलना की गई है (१, १२७३ इत्यादि)। यह रथ के समान हैं (१, १४१८ इत्यादि) अथवा इन्हें प्रत्यक्ष रूप से एक ऐसा रथ कहा गया है (३, ११५) जो सम्पत्ति लाता है (१, ५८३, ३, १५५), अथवा जो युद्ध में दुर्जेय है (१, ६६६)। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी दूसरों द्वारा निर्देशित रथ के रूप में कल्पना की गई है क्योंकि यह यज्ञ-स्थल तक एक लदे हुये रथ की भाँति लाये जाते हैं (१०, १७६३)। इनकी धन से (१, ५८६. ६०१), अथवा वंशानुक्रम द्वारा प्राप्त धन से (१, ७३१) तुलना की गई है।

लकड़ी (२, ७६) अथवा घृत (७, ३१) इनका भोजन है, और तरल घृत इनका पेय (२, ७६; १०, ६९२)। इनके मुख में डाले गये घृत से यह पुष्ट होते हैं (३, २१५; ५, ११३ इत्यादि)। यह तेल खानेवाले हैं (अथर्ववेद १, ७२)। यह तीक्ष्ण दाँतों से वनों को खाते या चबाते हैं (१, १४३५) अथवा

उन्हें अपनी जिह्वा से खाते या काला कर देते हैं (६, ६०[१०]; १०, ७९[२])। यह सर्व-भक्षी हैं (८, ४४[२६])। इन्हें दिन में तीन बार भोजन दिया जाता है (४, १२[१], तु० की० १, १४०[२]; ७, ११[३])। कभी-कभी इन्हें वह मुख कहा गया है जिससे देवगण हविष्य को खाते हैं (२, १[१३.१४])। इनकी ज्वालायें ही वह चम्मच हैं जिनसे यह जल छिड़कते अथवा देवों की प्रतिष्ठा करते हैं (१, ७६[५]; १०, ६[४])। किन्तु अधिकतर स्वयं इनसे ही हवियों को खाने के लिये निवेदन किया गया है (३, २१[१-४]. २८[१-६])। अपने सीधे और देवोपम रूप में यह अर्पित घृत को ग्रहण करना चाहते हैं (१, १२७[१])। यद्यपि इनकी नियमित हवि ईंधन अथवा घृत[३] है, तथापि कभी-कभी, और अन्य देवों के साथ प्रायः सदैव ही, इन्हें सोमपान करने के लिये भी निमन्त्रित किया गया है (१, १४[१०]. १९[९]. २१[१-३]; २, ३६[४])। एक सूक्त में इन्हें 'सोमगोपा' (सोम का रक्षक) कहा गया है (१०, ४५[५.१२])। इन्हें यज्ञ स्थल पर आने के लिये निमन्त्रित किया गया है (१०, ९८[९]) और अनेक बार देवों के साथ इन्हें भी यज्ञीय कुशासन पर बैठा हुआ कहा गया है (३, १४[२]; ५, ११[२]. २६[५]; ७, ११[२], तु० की० ४३[३])।

स्वभावतः अग्नि की उज्ज्वलता की बहुत अधिक चर्चा की गई है। यह अद्भुत प्रकाशवाले (२, १०[२] इत्यादि), प्रदीप्त ज्वालाओंवाले (६, १०[३]), उज्ज्वल ज्वालाओंवाले (७, १५[१०] इत्यादि), स्वच्छ ज्वालाओंवाले (८, ४३[३१]) और उज्ज्वल वर्ण हैं (१, १४०[१]; ५, २[३])। इनका एक स्वर्णिम रूप है (४, ३[१]; १०, २०[९])। यह सूर्य की भाँति प्रकाशित होते हैं (१, १४९[३], ७, ३[६])। इनकी आभा उषा और सूर्य की रश्मियों, तथा वर्षा-मेघ के विद्युत के समान है (१०, ९१[४.५])। यह रात्रि के समय भी प्रकाशित होते हैं (५, ७[४])। सूर्य की भाँति यह भी अपनी रश्मियों से अन्धकार को समाप्त कर देते हैं (८, ४३[३२])। यह अन्धकार का विनाश करनेवाले और रात्रि के अन्धकार के बीच से देखनेवाले हैं (१, ९४[५]; ७, ९[२])। प्रज्वलित होने पर यह अन्धकार के द्वारों को खोल देते हैं (३, ५[१])। अग्निका जन्म होने पर अन्धकाराच्छन्न पृथ्वी और आकाश दृष्टिगत होने लगते हैं (१०, ८८[२])। उषाकाल में इन्हें प्रज्वलित किया जाता है और यही ऐसे देवता हैं जिनका 'उषर्बुध' (यद्यपि कभी-कभी देवों को सामूहिक रूप से इस उपाधि द्वारा विभूषित किया गया है) उपाधि द्वारा वर्णन किया गया है।

दूसरी ओर अग्नि का भ्रमण-पथ, मार्ग, अथवा संचार-मार्ग, और चक्रधार आदि सभी काले हैं (१, १४१[७]; २ ४[६.७]; ६, ६[१]; ७, ८[२]; ८, २३[१९]), और इनके अश्व काली लीक बनाते हैं (१, १४०[४])। वायु द्वारा प्रेरित

होकर यह वनों के बीच से अग्रसर होते हैं (१, ५८[४,५])। यह वनों पर आक्रमण और पृथ्वी के केशों को छिन्न-भिन्न करते हैं (१, ६५[८]), तथा पृथ्वी के केश (वनस्पति) को उसी प्रकार साफ कर देते हैं जिस प्रकार एक नाई दाढ़ी को (१०, १४२[४])।

इनकी ज्वालायें समुद्र की गर्जन करती हुई लहरों के समान हैं (१, ४४[१२])। इनकी ध्वनि वायु अथवा आकाश के गर्जन के समान है (५, २५[८]; ७, ३[६])। यह गर्जन करने वाले द्यौस् (१०, ४५[४]), अथवा पर्जन्य (८, ९१[५]), अथवा सिंह (३, २[११]) की भाँति गर्जन करते हैं। जब यह वन-वृक्षों पर आक्रमण करते हैं तब एक वृषभ की भाँति गर्जन करते हैं, और इनकी वनस्पतियों को आत्मसात कर लेनेवाली चिनगारियों की ध्वनि से पक्षी भयभीत हो जाते हैं (१, ९४[१०,११])। मरुतों के शब्द, आक्रामक सेना, अथवा आकाशीय वज्र के समान, इन्हें भी रोका नहीं जा सकता (१, १४३[५])।

अग्नि की ज्वालायें ऊर्ध्वगामी होती हैं (६, १५[२])। वायु द्वारा प्रेरित होकर इनकी ज्वालायें आकाश की ओर उठती हैं (८, ४३[४])। इनका धूँआ इधर-उधर उड़ता है और इनकी ज्वाला को पकड़ा नहीं जा सकता (८, २३[१])। इनका लाल धूँआ आकाश तक ऊपर उठता है (७, ३[३]. १६[३])। इनका धूँआ आकाश में फैल जाता है (६, २[६])। एम स्तम्भक (मेतृ) की भाँति यह अपने धूयें से आकाश को उपस्तम्भित करते हैं (४, ६[२])। यह अपने शिखर से आकश के पृष्ठ का स्पर्श करते हैं और सूर्य की रश्मियों में मिल जाते हैं (७,२[१])। यह अपनी जिह्वा से आकाश को आवृत्त करते हैं (८, ६१[१८]) और आकाश के जल तथा सूर्य के ऊपर-नीचे स्थित उज्ज्वल स्थानों के जलों तक पहुँचते हैं (३, २२[३])। दिवोदास की अग्नि, माता पृथ्वी से फैल कर देवों की ओर बढ़ी और आकाश के पृष्ठ पर खड़ी हुई (८, ९२[२]) 'धूमकेतु' उपाधि को अक्सर एकमात्र अग्नि से ही सम्बद्ध किया गया है।

अग्नि एक विद्युत-रथ पर (३, १४[१]) अथवा एक ऐसे रथ पर चलते हैं जो प्रदीप्त (१, १४०[१]), उज्ज्वल (१, १४१[१२]), प्रकाशमान (५, १[११]), जाज्वल्यमान (१०, १[५]), स्वर्णिम (४, १[८]), या सुन्दर (४, २[४]) है। यह रथ दो अथवा अधिक ऐसे अश्वों द्वारा खींचा जाता है जो घृत-पृष्ठ (१, १४[६]), अरुणिम (रोहित, अरुष), हरे और अरुणिम (७, ४२[२]) सुन्दर (४, २[२]), सर्वरूप (१०, ७०[२]), सक्रिय (२, ४[२]), वायु-प्रेरित (१, ९४[१०]), बुद्धि-सन्नद्ध (१, १४[६]) हैं। यह देवों को बुलाने के लिये इन्हें सन्नद्ध करते हैं (१, १४[१२]; २, ६[६]; ८, ६४[१]), क्योंकि यह एक ऐसे सारथी हैं (१, २५[३] इत्यादि) जो यज्ञ से सम्बद्ध हैं (१०, ९२[१] इत्यादि)। अपने अश्वों की सहायता से यह देवों को अपने रथ पर लाते हैं (३, ६[९])। यह उसी रथ पर बैठ कर

आते हैं जिन पर देवगण रहते हैं (३, ४[११]; ७ ११[१]); अथवा देवों से पहले भी आ जाते हैं (१०, ७०[२])। यह हवि के समीप वरुण को, आकाश से इन्द्र को, तथा वायु से मरुतों को भी लाते हैं (१०, ७०[११])।

वैदिक कवियों के साधारण दृष्टिकोण से अग्नि के पिता 'द्यौस्' हैं और इन्होंने ही अग्नि को उत्पन्न किया (१०, ४५[८])। यह द्यौस् के 'शिशु' हैं (४, १५[६]; ६, ४९[२]), और इन्हें असुर[५] के पेट से उत्पन्न हुआ कहा गया है (३, २९[४])। इन्हें अक्सर द्यौस् और पृथिवी का पुत्र कहा गया है (३, २[२]. ३[११]. २५[१]; १०, १[२]. २[७]. १४०[२])। इन्हें त्वष्टृ और जलों का, तथा साथ ही साथ, आकाश और पृथिवी का (१०, २[७] ४६[९]), अथवा यहाँ तक कि केवल त्वष्टृ का (१, ९५[२]), अथवा जलों का (१०, ९१[६]; अथर्ववेद १, ३३[१]), पुत्र कहा गया है। अन्यथा प्रसंगवश यह कहा गया है कि उषाओं ने अग्नि, और साथ ही साथ, सूर्य तथा यज्ञ को (७, ७८[३]) उत्पन्न किया, अथवा इन्द्र-विष्णु ने सूर्य और उषस् के अतिरिक्त अग्नि को भी उत्पन्न किया (७, ९९[४]), अथवा इन्द्र ने दो पत्थरों के बीच से अग्नि को उत्पन्न किया (२, १२[३], तु० की० १[१])। अग्नि को 'इला' का पुत्र (३, २९[३]) अथवा संस्कार का भ्रूण भी कहा गया है (६, ४८[५])। कभी-कभी ऐसा भी कथन है कि अग्नि को देवों ने (६, ७[१]; ८, ९१[१७]) आर्यों के लिये एक प्रकाश के रूप में उत्पन्न किया (१, ५९[२]), अथवा केवल मनुष्य मात्र के लिये निर्मित किया (१०, ४६[९]), अथवा इन्हें मनुष्यों के बीच स्थित किया (१, ३६[१०]; २, ४[३]; ६, १६[१]; ८, ७३[२])। परन्तु साथ ही साथ अग्नि देवों के पिता भी हैं (१, ६९[१], तु० की० पृ० २१)। विभिन्न दृष्टिकोण, जिन्होंने इस प्रकार के परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले वक्तव्यों को जन्म दिया, स्वयं पर्याप्त स्पष्ट हैं।

मानवत्वारोपण के क्षीण विकास के कारण अग्नि की पुराकथाएँ इनके कृत्यों के सम्बन्ध में बहुत थोड़ी ही चर्चा करती हैं। यज्ञाग्नि सम्बन्धी इनके प्रधान कार्य के अतिरिक्त इनके कृत्य प्रमुखतः इनके विभिन्न जन्मों, रूपों, और आवासों से ही सम्बद्ध किये गये हैं।

अग्नि के जन्म-सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के विवरण परस्पर असंगत नहीं हैं क्योंकि उनमें इनकी उत्पत्ति के पृथक्-पृथक् स्थानों का सन्दर्भ है। दो अरणियों[६] के घर्षण से होनेवाले इनके दैनिक पार्थिव जन्म का अक्सर उल्लेख है (३, २९[२]. २३[२-३]; ७, १[१]; १०, ७[९])। इस सम्बन्ध में अरणी ही इनके माता-पिता हैं जहाँ अरणी की ऊपरी लकड़ी पुरुष तथा नीचे की स्त्री है (३, २९[३])। अथवा दोनों ही लकड़ियाँ इनकी मातायें हैं क्योंकि इनकी दो मातायें बताई गई हैं

(१, ३१[२])[७]। दोनों लकड़ियाँ इन्हें एक ऐसे नवजात शिशु की भाँति उत्पन्न करती हैं जिसे पकड़ना कठिन है (५, ९[३·४])। सूखी लकड़ी से यह जीवित देवता जन्म लेते हैं (१, ६८[२])। जन्म लेते ही यह शिशु अपने माता पिता को ही आत्मसात कर लेता है (१०, ७९[४])। यह ऐसी माता से जन्म लेते हैं जो इनको स्तनपान नहीं करा सकती (१०, ११५[१])। घर्षण द्वारा उत्पन्न होने के इस सन्दर्भ में ही यह कहा गया है कि मनुष्यों ने इन्हें उत्पन्न किया (१, ६०[२]; ४, १[१]; ७, १[१])। जो दस कन्यायें[८] इन्हें उत्पन्न करती हैं (१, ९५[२]) वह अरणी की सीधी खड़ी ऊपरी लकड़ी को मथने के लिये व्यवहृत दस उँगलियाँ ही हैं (तु० की० ३, २३[३])। इस अग्नि-मन्थन के एक नाम 'प्रमन्थ' को, जो कि सर्वप्रथम 'कर्मप्रदीप' (१, ७[५])[१०] नामक एक बाद के पद्यबद्ध स्मृति ग्रन्थ में आता है, एक उच्छृङ्खल से साम्य के आधार पर 'प्रोमेथ्यूस' (Προμηθεύς)[११] के साथ सम्बद्ध किया गया है। फिर भी, इस बाद के शब्द में सर्वथा यूनानी निर्माण होने के सभी गुण वर्त्तमान हैं, जब कि भारतीय क्रिया 'मथ्' (मथना) को, घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करने की क्रिया व्यक्त करने के लिये, कभी भी 'प्र' के साथ नहीं, वरन् केवल 'निस्' के साथ ही संयुक्त किया गया है।

अग्नि उत्पन्न करने के लिये शक्तिशाली घर्षण की आवश्यकता के कारण ही सम्भवतः अग्नि को अक्सर शक्ति (सहसः) का पुत्र ('सूनु', 'पुत्र', एक बार 'युवन') कहा गया है।[१२] यह व्याख्या ऋग्वेद के एक ऐसे स्थल द्वारा पुष्ट होती है जिसमें कहा गया है कि 'शक्ति (सहसा) पूर्वक' घर्षण करने से मनुष्यों द्वारा अग्नि पृथ्वी पर उत्पन्न (जायते) होते हैं' (६, ४८[५])। एक बाद के ग्रन्थ के अनुसार घर्षण द्वारा अग्नि को प्रज्वलित करने का कार्य सूर्योदय के पूर्व कदापि नहीं करना चाहिये (मैत्रायणी संहिता १, ६[१०])। यज्ञ के लिये प्रति प्रातःकाल उत्पन्न होने के कारण अग्नि को उपयुक्ततः 'यविष्ठ' अथवा 'यविष्ठ्य' की बहु-प्रयुक्त उपाधि से विभूषित किया गया है, और यह उपाधि एक मात्र इन्हीं की विशिष्टता हैं। पुरानों के विपरीत इनके नवीन जन्म होते रहते हैं (३, १[२०])। वृद्ध हो जाने पर यह पुनः एक युवा के रूप में जन्म लेते हैं (२, ४[५])। इस आशय में यह वृद्ध होते ही नहीं (१, १२८[२]); और इनका नवीन प्रकाश पुराने के समान ही होता है (६, १६[२३])। कुछ अन्य देवों की भाँति, अग्नि को भी एक 'युवा' मात्र कहा गया है। परन्तु साथ ही साथ यह वृद्ध भी हैं। कोई भी हविदाता अग्नि से वृद्ध नहीं है (५, ३[५]) क्योंकि अग्नि ने प्रथम यज्ञ सम्पन्न कराया था (३, १५[४])। यह पहले की उषाओं के बाद भी प्रकाशित हुये थे (१, ४४[१०]), और पूर्वजों के यज्ञों में अग्नि के योगदान का अक्सर उल्लेख है (८, ४३[१३] इत्यादि)। इस प्रकार कभी कभी एक ही स्थल पर इन्हें

विरोधाभास के रूप में 'प्राचीन' और 'सर्वथा युवा', दोनों ही कहा गया है (१०, ४[१.२])।

अधिक सामान्यतया अग्नि को वनों से (६, ३[२]; १०, ७९[७]) पौधों के भ्रूण के रूप में उत्पन्न (२, १[१४]; ३, १[१३]), अथवा जैसा कि पौधों में वितरित हुआ (१०, १[२]), कहा गया है। ऐसा भी कहा गया है कि यह सभी पौधों में प्रविष्ट अथवा उनके पीछे रहते हैं (८, ४३[९])। जब इन्हें वृक्षों का (१, ७०[४]), अथवा वृक्षों और पौधों का भ्रूण (२, १[१]) कहा गया है, तब वहाँ वनों में वृक्षों की शाखाओं के घर्षण द्वारा उत्पन्न अग्नि का परोक्ष आशय हो सकता है।

अग्नि का पार्थिव अस्तित्व इनके 'पृथ्वी के नाभि' कहे जाने के तथ्य द्वारा भी प्रकट होता है (१, ५९[२])। उन बहुत से स्थलों पर जहाँ यह कथन आता है, इससे खुदी हुई वेदिका[१३] में यज्ञ के अग्नि-कुण्ड का ही आशय उद्दिष्ट प्रतीत होता है। वैदिक संस्कार में 'नाभि' 'उत्तरावेदि' में बने उस कुण्ड का पारिभाषिक नाम है जिसमें अग्नि प्रज्वलित की जाती है।[१४] इस शब्द का पहले का प्रयोग सम्भवतः इस आशय का द्योतक है कि देवों ने अग्नि को अमरत्व का केन्द्र अथवा 'नाभि' बनाया (३, १७[४])। ऋग्वेद में केवल दो बार आने वाले 'वेदिषद्' (वेदिका पर विराजमान) गुण से अग्नि का ही सन्दर्भ है।

अन्तरिक्षीय जलों में भी अग्नि की उत्पत्ति का अक्सर उल्लेख है। जैसा कि दिखाया जा चुका है (§२४) 'जलों का पुत्र' एक स्वतंत्र देवता ही बन गया है। अग्नि भी जलों के गर्भ हैं (३, १[१२.१३]); यह जलों में प्रज्वलित होते हैं (१०, ४५[१]; अथर्ववेद १३, १[५०]); यह एक ऐसे वृषभ हैं जो जलों की गोद में विकसित हुए हैं (१०, ८[१])। यह समुद्र से परिवेष्टित हैं (८, ९१[५])। इन्हें 'धनु' अथवा मेघ-द्वीप से उतरनेवाला (१, १४४[५]; १०, ४[५]) और उज्ज्वल स्थानों में रहनेवाला प्रकाशमान गर्जन (६, ६[२]) भी कहा गया है। ऐसे स्थलों पर अग्नि के विद्युत-रूप का ही आशय होना चाहिये। ऋग्वेद के कुछ बाद के सूक्तों (१०, ५१-३.१२४)[१५] में यह कथा है कि अग्नि जलों और पौधों में छिपे थे जहाँ से इन्हें देवों ने खोजा था। इसी कथा का ब्राह्मणों[१६] में भी अक्सर उल्लेख है। अथर्ववेद में जलों में स्थित अग्नियों का विद्युत के पथ पर चलनेवाली अग्नि से, अथवा दिव्य अग्नि का विद्युत से, विभेद स्पष्ट किया गया है (अथर्ववेद ३, २१[१.७]; ८, १[११]) और यह कहा गया है कि अग्नि पृथ्वी पर रहते हैं (अथर्ववेद १२, १[३७])। ऋग्वेद के एक स्थल पर भी यह कहा गया है कि अग्नि सभी जलधाराओं में विश्राम करते हैं (८, ३९[८], तु० की० आपस्तम्ब श्रौतसूत्र ५, २[१]); और बाद के सांस्कारिक ग्रन्थों में अग्नि का जलाशयों और जल-पात्रों के सन्दर्भ में आवाहन किया गया है। इस प्रकार प्राचीनतम वैदिक काल तक

में भी वह जल जिनमें अग्नि निहित हैं, यद्यपि वह नहीं जिनमें से यह उत्पन्न किये जाते हैं, अधिकांश स्थलों पर पार्थिव ही माने गये होंगे। औल्डेनबर्ग[१७] का विचार है कि इस सन्दर्भ में मुख्यतः पार्थिव जलों का ही अर्थ है; और तृतीय मण्डल के प्रथम सूक्त तक में विद्युत-अग्नि का आशय मानने पर आप सन्देह प्रकट करते हैं।[१८] जो कुछ भी हो, जलों में अग्नि की स्थिति सम्बन्धी धारणा वेदों में सर्वत्र प्रमुख है। जल उसी प्रकार अग्नि का गृह है जिस प्रकार आकाश सूर्य का (५, ८५[२] : तु० की० अथर्ववेद १३, १[५०]; १९, ३३[१])। इनके आवास के रूप में पौधों अथवा लकड़ी के साथ साथ जलों का भी अक्सर उल्लेख है[१९] (२. १[१] इत्यादि)।

इसके अतिरिक्त आकाश में अग्नि की उत्पत्ति की भी बहुधा चर्चा है। उच्चतम आकाशों में इनका जन्म हुआ (१, १४३[२]; ६, ८[२])। यद्यपि वस्तुतः नहीं तथापि सम्भाव्यतः उच्चतम आकाशों में इनका अस्तित्व था (१०, ५[७]); और आकाश से, अथवा सुदूर से यह मातरिश्वन् द्वारा लाये गये (§ २५)। ऐसे स्थलों पर अग्नि निश्चित रूप से विद्युत का ही प्रतिनिधित्व करते हैं; क्योंकि विद्युत को आकाश से, और साथ ही साथ, जलों से भी आनेवाला कहा गया है (अथर्ववेद ३, २१[१.७]; ८, १[११]), और एक ब्राह्मण स्थल पर (ऐतरेय ब्राह्मण ७, ७[२]) इसे 'दिव्य' और 'अप्सुमत्' दोनों ही बताया गया है। जब विद्युत का 'विद्युत' शब्द द्वारा (यह शब्द ऋग्वेद में प्रायः ३० बार आता है) अग्नि के साथ-साथ उल्लेख है तब इसकी सामान्यतया अग्नि से तुलना की गई है, अथवा अग्नि से विभेद स्पष्ट किया गया है[२०]; क्योंकि यह निःसन्देह एक देव के विपरीत भौतिक घटना मात्र है। आकाश से पृथ्वी पर अग्नि के अवतरण की पुराकथा में भी, निःसन्देह विद्युतपात द्वारा उत्पन्न अग्निकाण्ड के वास्तविक निरीक्षण के कारण ही, दिव्य अग्नि का विद्युत के साथ समीकरण निहित है। अग्नि की आकाशीय उत्पत्ति इस तथ्य में भी निहित है कि, मनुष्य द्वारा अग्नि के उत्पादन को देवों द्वारा प्रदत्त उपहार, और साथ ही साथ, मातारिश्वन् का उत्पादन माना जाता था; और अग्नि के लिये बहुप्रयुक्त उपाधि 'मनुष्यों का अतिथि' से भी यही धारणा उद्दिष्ट हो सकती है (५, १[९] इत्यादि)।

अन्य स्थलों पर अग्नि को सूर्य से समीकृत किया जाना चाहिये; क्योंकि अग्नि के एक रूप में सूर्य की धारणा असन्दिग्ध वैदिक विश्वास है। इस प्रकार अग्नि उज्ज्वल आकाश में स्थित प्रकाश हैं जो उषाकाल में जागृत होते हैं और जो आकाश के मस्तक हैं (३, २[१४])। इनका जन्म अन्तरिक्ष के उस पार हुआ था और यह सभी वस्तुओं को देखते हैं (१०, १८७[४.५])। प्रातःकाल उदित होने वाले सूर्य के रूप में इनका जन्म हुआ (१०, ८८[६])[२१]। ऐतरेय

ब्राह्मण (८, २८[१.३३]) में यह उक्ति है कि अस्त होने के समय सूर्य अग्नि में प्रवेश कर जाता है और इन्हीं से पुनः उत्पन्न होता है। उन स्थलों पर भी सम्भवतः यही समीकरण उद्दिष्ट है जिनमें यह कहा गया है कि अग्नि, सूर्य के प्रकाश अथवा उसकी रश्मियों से संयुक्त हो जाते हैं (५, ३७[१]; ७, २[१]), अथवा यह कि जब मनुष्य पृथ्वी पर अग्नि को प्रज्वलित करते हैं तब दिव्य लोग ही उन्हें प्रदीप्त करते हैं (६, २[३]), अथवा यह कि अग्नि आकाश में प्रकाशित होते हैं (३, २७[१२]; ८, ४४[२९])। फिर भी, कभी-कभी यह निर्णय कर सकना कठिन है कि वहाँ विद्युत अथवा सूर्य में से किसका आशय है। अग्नि की प्रकृति के सौर-पक्ष का अक्सर उल्लेख नहीं है क्योंकि इतनी अधिक विशिष्ट घटना होने के कारण सूर्य की सामान्यतया अग्नि के एक रूप में कल्पना कर सकना प्रायः कठिन है। अग्नि की साधारणतया उनके पार्थिव रूप में ही कल्पना है और समीकरण की अपेक्षा सूर्य से इनकी केवल तुलना ही की गई है। इस प्रकार कवि यह कहता है कि स्तोताओं के मन उसी प्रकार अग्नि की ओर उन्मुख हैं जिस प्रकार उनकी आँखें सूर्य की ओर (५, १[४])। साथ ही साथ, कभी-कभी अग्नि के कुछ परवर्ती रूपों पर भी दृष्टिपात किया गया है; अतः अधिकांश दशाओं में यह सन्दिग्ध ही है कि इनके किस पक्ष से आशय है।

ऊपर वर्णित विविध प्रकार के जन्मों के कारण अक्सर अग्नि की प्रकृति त्रिगुणात्मक मानी गई है और अनेक दशाओं में किसी न किसी प्रकार की 'तीन' की संख्या से ही इन्हें स्पष्टतः व्यक्त किया गया है। प्राचीनतम भारतीय 'त्रयी' का पर्याप्त महत्त्व है, क्योंकि वैदिककाल की अधिकांश रहस्यवादी धारणयें इसी पर आधारित हैं।[२३] अग्नि का तीन अथवा तीन-स्तरीय जन्म हुआ (१, ९५[३]; ४, १[७])। देवों ने इन्हें त्रिगुणात्मक रूप में बनाया (१०, ८८[१०])। यह त्रिगुणात्मक प्रकाश हैं (३, २६[७]); इनके तीन सर (१,१४६[१]), तीन जिह्वा, तीन शरीर, तीन स्थान हैं (३, २०[२])। 'त्रिषधस्थ' (तीन स्थानों वाला) उपाधि को प्रमुख रूप से अग्नि के साथ ही सम्बद्ध किया गया है[२४]; और एक मात्र स्थल जहाँ 'त्रिपस्त्य' (तीन आवासोंवाला) शब्द आता है (८, ३९[८]) यह अग्नि का ही गुण है। त्रयी को न तो सदैव सर्वथा समान आशय में ग्रहण किया गया है और न उसका समान क्रम से उल्लेख ही है। इस प्रकार एक कवि कहता है: 'प्रथमतः अग्नि ने आकाश से जन्म लिया, दूसरी बार हम लोगों (=मनुष्यों) से, और तीसरी बार जलों से' (१०, ४५[१], तु० की०, मन्त्र [२.३])। अन्य स्थलों पर भी अग्नि के आवास का क्रम आकाश, पृथ्वी, और जल है (८, ४४[१६]; १०, २[७].४६[९]), जब कि एक मन्त्र (१. ९५[३]), में इसी का यह विभेद है: समुद्र, आकाश, जल। कभी-कभो

पार्थिव अग्नि सर्वप्रथम आते हैं: आवासों में 'सर्वप्रथम उनका जन्म हुआ, महान आकाश के नीचे, इस अन्तरिक्ष के गर्भ में' (४, १[११]); 'अमरों ने अग्नि की तीन ज्वालायें प्रज्वलित कीं: इनमें से एक को उन्होंने मनुष्यों को व्यवहार के लिये प्रदान किया, और दो अन्य लोकों को चली गईं' (३, २[९])। एक सूत्र स्थल (आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ५, १६[४]) पशुओं में पार्थिव अग्नि, जलों में अन्तरिक्षीय अग्नि, और सूर्य में एक दिव्य अग्नि, का विभेद करता है। अक्सर पार्थिव अग्नि तृतीय क्रम पर आते हैं। यह उन तीन भ्राताओं में से एक हैं जिनमें से 'मध्य का भ्राता विद्युत (अश्नः) है और तीसरा घृत-पृष्ठ' (१, १६४[१], तु० की० १४१[२])। 'अग्नि आकाश से प्रदीप्त होते हैं, विस्तृत वायु अग्नि देव के आधीन है, मनुष्य उस अग्नि को प्रज्वलित करते हैं जो हवि को ग्रहण करने वाला और घृत का प्रेमी है (अथर्ववेद १२, १[२०], तु० की० १३, ३[२१]; १८, ४[११])।

एक बार अग्नि के तृतीय रूप को सर्वोच्च वताया गया है (१०, १[३]; तु० की० ५, ३[३]; १. ७२[२.४])। यास्क (निरुक्त ७, २८) इस बात का उल्लेख करते हैं कि उनके पूर्वगामी शाकपूणि १०, ८८[१०] में उल्लिखित अग्नि के त्रिगुणात्मक अस्तित्व को, पृथ्वी, वायु, और आकाश में स्थित मानते थे; और एक ब्राह्मण अग्नि के इस तृतीय रूप को, जो आकाश में स्थित है, सूर्य मानता है (तु० की० निरुक्त १२, १९)। ऋग्वेद में इतने स्पष्टरूप से स्वीकृत अग्नि की यह त्रिगुणात्मक प्रकृति सम्भवतः सूर्य-वायु-अग्नि (८, १८[९]) की उस उत्तरकालीन त्रयी की ही प्रतिरूप नहीं थी जिसे तीनों लोकों में वितरित कहा गया है (१०, १५८[१]; अथर्ववेद ४, ३९[१]) और जो एक अन्य मन्त्र (१, १६४[४४]) में भी निहित है, वरन् सूर्य-इन्द्र-अग्नि की उस त्रयी की भी प्रतिरूप है जो, यद्यपि ऋग्वेदिक न होते हुये भी प्राचीन है। जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों तथा भाष्यकारों का कथन है, यहाँ अग्नि वैद्युत का स्थान, वात अथवा वायु और इन्द्र ने ग्रहण कर लिया है। नामों का यह प्रतिनिधान सम्भवतः आंशिक रूप से विद्युत की अस्थिर प्रकृति के कारण और आंशिक रूप से मूर्तीकृत विद्युत के लिये अग्नि के अतिरिक्त किसी अन्य ऐसे नाम के अभाव के कारण हुआ है जिससे इसे केवल विशेषणों अथवा लाक्षणिक अभिव्यक्तियों द्वारा ही व्यक्त किया जा सका है। यज्ञाग्नि का उन तीन यज्ञाग्नियों[२५] के रूप में विभाजन के लिये, जिन्हें वैदिक संस्कार में गृह-अग्नि[२६] से सर्वथा भिन्न माना गया है और जो ब्राह्मणों[२७] के संस्कार की एक अनिवार्य विशेषता हैं, अग्नियों की उक्त त्रयी ने ही आधार प्रस्तुत किया होगा और वही इसकी व्याख्या भी कर सकती है। ऐसी दशा में सम्भवतः संस्कार ने ही पुराकथा पर प्रतिक्रिया उत्पन्न की होगी। जो कुछ भी हो, बाद के हिन्दू साहित्य ने ऋग्वेद में परिचित अग्नि के तीन रूपों

के प्रतिनिधि के रूप में तीन अग्नियों को ग्रहण कर लिया।[२८] तीन यज्ञाग्नियाँ ऋग्वेद के, अथवा सम्भवंतः और पहले के समय से परिचित रही हो सकती हैं।[२९] इस प्रकार देवों को लाने तथा तीन कुण्डों (योनिषु: २, ३६[४], तु० की० ५, ११[२]; १०, १०५[१]) में स्वयं आकर बैठने के लिये अग्नि की स्तुति की गई है।

इसमें सन्देह नहीं कि आकाश और पृथ्वी के रूप में विश्व के द्विस्तरीय विभाजन के आधार पर ही अनेक स्थलों पर अग्नि को दो जन्मों वाला कहा गया है, और यही एक मात्र ऐसा देव है जिसका 'द्विजन्मन्' के रूप में वर्णन है (१, ६०[१]. १४०[२]. १४९[२.३])। इसके एक उच्चस्थ और एक निम्नस्थ जन्म का उल्लेख है (२, ९[२]), उच्च और नीच के क्षेत्रों में इसके आवास की चर्चा है (१, १२८[३]), और पार्थिव अग्नि तथा दिव्य अग्नि के रूप में ही सामान्यतया इसका विभेद है (३, ५४[१]; १०, ४५[१०]); यद्यपि कम से कम एक स्थल पर (८, ४३[८]) आकाश में और जल में इसके जन्मों के बीच भी विभेदीकरण मिलता है। अग्नि को उनके श्रेष्ठतम आवास से आमन्त्रित किया गया है (८, ११[७]) और वहाँ से ही वह निम्नस्थ आवास में आते हैं (८, ६४[१५])। जब इन्हें उच्चतम पिता के पास से लाया जाता है तब यह पौधों में आरूढ़ हो जाते हैं (१, १४१[४])। यहाँ अग्नि की वर्षा के माध्यम से नीचे उतरने और उसके बाद उन पौधों में प्रविष्ट होने के रूप में कल्पना की गई है जिनमें से उन्हें पुनः उत्पन्न किया जाता है। जल की भाँति अग्नियाँ भी पृथ्वी पर उतरने के पश्चात पुनः उठ कर आकाश में चली जाती हैं (१, १६४[५१])। अग्नि के इन्हीं दो रूपों के विभेदीकरण पर ऐसी स्तुतियाँ आधारित हैं जिनमें कहा गया है कि अग्नि स्वयं अपने लिये यज्ञ करें (१०, ७[६]), अग्नि ही अग्नि को लायें (७, ३९[५]), अथवा देवों के साथ नीचे उतर कर अग्नि यज्ञ स्थल पर आयें (३, ६[१] इत्यादि)। इसी विभेदीकरण से सम्बद्ध यह धारणा भी है कि मनुष्यों से भिन्न एक अग्नि को देवों ने प्रज्वलित किया था[३०] (६, २[३])। यह धारणा इस मान्यता के कारण ही विकसित हुई है कि दिव्य अग्नि को किसी के द्वारा ही प्रज्वलित होना चाहिये और इसके लिये देवों को भी मनुष्यों की भाँति यज्ञ करना पड़ता है (तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण २, ३४)।

एक भिन्न दृष्टिकोण के अनुसार अग्नि को अनेक जन्मोंवाला कहा गया है (१०, ५[१])। इसमें सन्देह नहीं कि इस विविधता में अनेक पार्थिव वेदियों पर प्रज्वलित होनेवाली विभिन्न अग्नियों का ही सन्दर्भ निहित है, क्योंकि बहुधा अग्नि को प्रत्येक परिवार, गृह, अथवा आवास में स्थित बताया गया है (४, ६[८]. ७[१.३]; ५, १[५].६[८] इत्यादि)। इन्हें अनेक स्थानों पर उत्पन्न किया जाता है

(३, ५४[१९]) और इनके अनेक शरीर हैं (१०, ९८[१०])। अनेक स्थानों पर विखरा हुआ यह एक ही और वही राजा है (३, ५५[४])। अनेक स्थानों पर प्रज्वलित होने पर भी यह एक ही है (वालखिल्य १०[२])। अन्य अग्नियाँ इनसे उसी प्रकार सन्नद्ध हैं जिस प्रकार वृक्ष से उसकी शाखायें (८, १९[३३])। इस प्रकार इनका अग्नियों के साथ (७, ३[१]; ८, १८[९]·४९[१]; १०, १४१[६]) अथवा समस्त अग्नियों के साथ (१, २६[१०]; ६, १२[६]) आवाहन किया गया है।

अग्नि के आवासों अथवा जन्म स्थानों के वर्णन में अक्सर एक प्रतिनिविष्ट सा विभाजन भी मिलता है। इस प्रकार आकाश, पृथ्वी, वायु, जलों और पौधों में इनकी प्रदीप्ति का उल्लेख है (३, २२[२]) अथवा यह कहा गया है कि आकाशों, जलों, पत्थर, लकड़ियों, और पौधों से इनका जन्म हुआ (२, १[१])। इसी प्रकार की अपेक्षाकृत और विस्तृत गणनायें अक्सर अन्यत्र मिलती हैं (अथर्ववेद ३, २१; १२, १[१९]; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ५, १६[४])। जब अग्नि को चट्टान (अद्रौ) में रहनेवाला कहा गया है (१, ७०[४], तु० की० ६, ४८[५]), तब इससे सम्भवतः मेघों में निहित विद्युत का ही आशय है (तु० की० पृ० १८)। कदाचित् वहाँ भी यही स्थिति है जब इन्हें एक पत्थर (अश्मनः) से उत्पन्न (२, १[१]), अथवा इन्द्र द्वारा दो पत्थरों के बीच से उत्पन्न (२, १२[३]) कहा गया है; किन्तु यहाँ अरणी से अग्नि की उत्पत्ति का लाक्षणिक आशय भी निहित हो सकता है। जब अग्नि को, मनुष्य के हृदय में (१०, ५[१]) अथवा पशुओं, अश्वों, पक्षियों, द्विपादों और चतष्पादों में (अथर्ववेद ३, २१[२]; १२, १[१९] २[३३]; तैत्तिरीय संहिता ४, ६, १[३]) स्थित कहा गया है तब इससे निःसन्देह पशुवत-उष्णता का ही अर्थ है। ऊर्जस का स्फुलिङ्ग होने तथा प्रकृति में इतने व्यापक रूप से मिश्रित होने के कारण स्वभावतः अग्नि का सभी स्थावर-जङ्गम तथा सभी अस्तित्वयुक्त प्राणियों के गर्भ के रूप में वर्णन किया गया है (१, ७०[३]; अथर्ववेद ५, २५[७])। अग्नि की त्रिगुणात्मक प्रकृति ने तीन भ्राताओं की धारणा को जन्म दिया (१, १६४[१]); जब कि यज्ञाग्नियों की विविधता ने अग्नि के उन ज्येष्ठ भ्राताओं की धारणा का आधार प्रदान किया हो सकता है जिनका बहुवचन में उल्लेख मिलता है (१०, ५१[६])। इन ज्येष्ठ भ्राताओं की संख्या को बाद में तीन बताया गया है (तैत्तिरीय संहिता २, ६, ६[१])। देवों के उन चार होतृयों से भी कदाचित् इन्हीं का अर्थ है जिनमें से प्रथम तीन की मृत्यु हो गई थी (काठक २५, ७)[३१]। वरुण को एक बार अग्नि का भ्राता कहा गया है (४, १[२])। अन्यत्र इन्द्र को इनका यमज भ्राता बताया गया है (६, ५९[२])[३२]। वास्तव में अन्य देवों की अपेक्षा इन्द्र को अग्नि के साथ कहीं अधिक बार सम्बद्ध किया गया है, और दो साधारण अपवादों के अतिरिक्त

इन्द्र ही ऐसे देव हैं जिनके साथ अग्नि को युगल देव के रूप में प्रस्तुत किया गया है (§ ४४)। इसमें सन्देह नहीं कि इसी सम्बन्ध के कारण ऊष्णता द्वारा चट्टान को विदीर्ण (८, ४६^{१६}), और नास्तिक प्राणियों को पराभूत करनेवाले के रूप में (७, ६^{३}) अग्नि का वर्णन मिलता है। एक सम्पूर्ण सूक्त (१, ९३) में अग्नि को सोम के साथ भी संयुक्त किया गया है (§ ४४)।

अग्नि को अक्सर अन्य देवों, और मुख्यतः वरुण तथा मित्र[33] के साथ भी समीकृत किया गया है (२, १^{४}; ३, ५^{४}; ७, १२^{३})। जब यज्ञ स्थल पर जाते हैं तब यह वरुण होते हैं (१०, ८^{५})। जब जन्म लेते हैं तब वरुण होते हैं और जब प्रदीप्त होते हैं तब मित्र (५, ३^{१})। अग्नि सन्ध्या समय वरुण बन जाते हैं और प्रातःकाल उदित होकर मित्र; सवितृ बन कर यह वायु में भ्रमण करते हैं और इन्द्र बन कर मध्य से आकाश को प्रकाशित करते हैं (अथर्ववेद १३, ३^{१३})। ऋग्वेद के एक स्थल (२. १$^{३-७}$) पर इन्हें पाँच देवियों के अतिरिक्त क्रमशः एक दर्जन देवों के साथ भी समीकृत किया गया है। यह विभिन्न दिव्य रूप धारण करते हैं (३, ३८^{७}) और इनके अनेक नाम हैं (३, २०^{३})। इन्हीं में सब देवों को स्थित माना गया है (५, ३^{१}) और यह इन देवों को उसी भाँति आवृत्त कर रखते हैं जिस प्रकार तीलियों को चक्रधार (५, १३^{६})।

संस्कार से सम्बद्ध सम्भवतः अग्नि का जो प्राचीनतम प्रयोजन हो सकता था, अर्थात् दुष्टात्माओं और आक्रामक अभिचारों को भस्म करना अथवा दूर भगाना, वह वेदों के समय में भी वर्तमान था। अपने प्रकाश से अग्नि राक्षसों को भगा देते हैं (३, १५^{१} इत्यादि)[34] और इसीलिये अग्नि को 'रक्षोहन्' उपाधि से विभूषित किया गया है (१०, ८७^{१})। प्रदीप्त होने पर यह अभि-चारियों और राक्षसों को अपने लौह-दंतों से आत्मसात कर लेते हैं और ताप से झुलस देते हैं (१०, ८७$^{२.५.१४}$), तथा अपनी वक्रदृष्टि से यज्ञ की रक्षा करते हैं (वही^{९})। यह अभिचारियों की जाति से परिचित हैं और उनका विनाश करते हैं (अथर्ववेद १, ८^{४})। यद्यपि पार्थिव राक्षसों को भगाने के इस कार्य का, अग्नि के साथ-साथ इन्द्र (तथा बृहस्पति, अश्विनगण और मुख्यतः सोम) को भी श्रेय दिया गया है, तथापि मूलतः यह उसी प्रकार अकेले अग्नि का कार्य रहा होगा जिस प्रकार असुरों का वध करने का उपयुक्ततः इन्द्र का विशिष्ट कार्य अग्नि पर भी स्थानान्तरित किया गया है (७, १३^{१})। ऐसा इस तथ्य द्वारा स्पष्ट होता है कि सूक्तों और संस्कारों दोनों में ही राक्षसों का वध करनेवाले के रूप में इन्द्र की अपेक्षा निर्विवाद रूप से अग्नि को ही प्रमुखता दीगई है।[35]

किसी भी अन्य देव की अपेक्षा अग्नि ही मानव जीवन के साथ अधिक घनिष्ठरूप से सम्बद्ध हैं। मनुष्यों के आवासों के साथ इनका सम्बन्ध विशिष्टतः घनिष्ठ है। यही एक मात्र ऐसे देव हैं जिन्हें 'गृहपति' की बहुप्रयुक्त उपाधि से विभूषित किया गया है। यह प्रत्येक आवासों में रहते हैं (७, १५[२]) और अपना गृह कभी भी नहीं त्यागते (८, ४९[१९])। 'दमूनस' गुण को भी सामान्यतया इनके साथ संवद्ध किया गया है (१, ६०[४] इत्यादि)। यह गृह-देवता सम्भवतः विचारों की एक प्राचीन रीति का ही प्रतिनिधित्व करता है; क्योंकि बाद के तीन अग्नियों के संस्कार में से उस एक को, जिसमें से ही अन्य दो ('आहवनीय' अथवा पूर्वीय, और 'दक्षिण' अथवा दक्षिणीय) गृहीत हुये थे, 'गार्हपत्य', अथवा वह जो 'गृहपति' का हो, कहा गया है। इस सन्दर्भ में यह देखना भी कौतूहलवर्धक है कि ऋग्वेदिक जैसे प्राचीन काल तक में यज्ञाग्नि के स्थानान्तरित होने के चिह्न वर्तमान हैं;[३८] क्योंकि अग्नि की चारों ओर ले जाया गया है (४, ९[३]. १५[१])। यह हवि के चारों ओर चलते हैं (४, १५[३]) अथवा तीन बार यज्ञ के चतुर्दिक जाते हैं (४, ६[४-५]. १५[२]); और यह ज्यों ही अपने माता-पिता द्वारा मुक्त होते हैं त्यों ही पूर्व की ओर, और पुनः पश्चिम की ओर ले जाये जाते हैं (१, ३१[४])।

और भी, अग्नि को नित्य ही मानवीय आवासों का 'अतिथि' कहा गया है। यह प्रत्येक गृह के अतिथि (१०, ९१[२]), और बसनेवालों के प्रथम अतिथि हैं (५, ८[२])। अतः यह अमर (यह शब्द किसी भी अन्य देवता की अपेक्षा अग्नि के लिये कहीं अधिक बार व्यवहृत हुआ है) हैं, अतः इन्होंने मरणशीलों (मनुष्यों) के बीच अपना आवास बनाया है (८, ६०[१])। इन्हें मानव बस्तियों में स्थापित किया अथवा बसाया गया है (३, ५[३]; ४, ६[२])। पारिवारिक अग्नि ने ही मरणशीलों (मनुष्यों) को बसाया (३, १[१७])। यह बसनेवालों के नायक (३, २[५]) और रक्षक हैं (१, ९६[४]), और 'विश्पति' उपाधि को प्रमुखतः इन्हीं के साथ सम्बद्ध किया गया है।

अग्नि को मनुष्यों का सर्वाधिक घनिष्ठ गोत्रज (७, १५[१]; ८, ४९[१०]) अथवा केवल गोत्रज (१, २६[३] इत्यादि), अथवा एक मित्र मात्र (१, ७५[४] इत्यादि) कहा गया है। किन्तु इन्हें सर्वाधिक बार अपने स्तोताओं का पिता (६, १[५] इत्यादि), कभी-कभी भ्राता भी (८, ४३[१६]; १० ७[३] इत्यादि), और यहाँ तक कि पुत्र (२, १९), अथवा माता (६, १[५]) तक कहा गया है। इस प्रकार के शब्द उस प्राचीनतम वस्तुस्थिति का संकेत करते प्रतीत होते हैं जब अग्नि का यज्ञ से तो अपेक्षाकृत कम सम्बन्ध था, किन्तु कौटुम्बिक जीवन के केन्द्र के रूप में इसने इतना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध विकसित कर लिया था

जितना अन्य किसी भी देवता की उपासना में सरलता से उपलब्ध नहीं है।[37] गृह में अग्नि की निरन्तर उपस्थित ने इन्हें स्वभावतः किसी भी अन्य देवता की अपेक्षा अतीत से कहीं अधिक घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कर दिया है। इस कारण अपने स्तोताओं के साथ पूर्वजों के समय से ही चली आ रही अग्नि की मित्रता (१, ७१[१०]) सम्भवतः किसी भी अन्य देवता की अपेक्षा कहीं अधिक विशिष्टता-पूर्ण है। यही वह देवता हैं जिनको पूर्वजों ने प्रदीप्त किया और जिनकी वह लोग स्तुति करते थे। इस प्रकार भरत की अग्नि (२, ७[१]; ७, ८[४] इत्यादि), वध्र्यश्व की अग्नि (१०, ६९[१]), देववात की अग्नि (३,२३[३]), दिवोदास की अग्नि (८, ९२[२]) और त्रसदस्यु की अग्नि (८, १९[३२]) का उल्लेख मिलता है।[38] अग्नि के साथ समीकृत पूर्वजों के नाम कभी-कभी अंशतः उन्हीं परिवार के व्यक्तियों के नाम हैं जिनसे ऋग्वेद के स्रष्टाओं का सम्बन्ध था। वसिष्ठ की भाँति इनमें से कुछ की उत्पत्ति ऐतिहासिक प्रतीत होती है, जब कि अङ्गिरस् (§ ५४) और भृगु (§ ५१) जैसे कुछ सम्भवतः पौराणिक हैं (तु० की० § ५८)।

यज्ञ द्वारा अग्नि को मनुष्य के दैनिक जीवन के साथ और भी निकट रूप से सम्बद्ध कर दिया गया है। फिर भी, यह केवल हवियों के एक निष्क्रिय ग्रहणकर्त्ता मात्र नहीं हैं, वरन् पृथ्वी और द्युलोक के बीच एक मध्यस्थ हैं। यह हवियों को देवों तक पहुंचा देते हैं और देवगण इनके बिना आनन्दित नहीं होते (७, ११[१])। दूसरी ओर, यह देवों को यज्ञ तक लाते हैं (३, १४[२]) और यज्ञभाग उनके पास पहुँचाते हैं (७, ११[५])। यह देवो को (१, ३१[१७]; ८, ४४[३]) हवि ग्रहण करने के लिये (५, १[११] इत्यादि) लाकर कुशासन पर बैठाते हैं। यह देवों की ओर (१०, ९८[११]) और पृथ्वी की ओर जानेवाले (८, ७[२]) पथों पर जाते हैं और इन पथों से परिचित हैं (६, १६[३])। अतः इन्हें नित्य ही विशिष्ट रूप से एक ऐसा 'दूत' कहा गया है जो पथों से परिचित और यज्ञ के वाहक (१, ७२[७]), अथवा सभी आवासों में जानेवाले हैं (४, १[८]); जो द्रुतगति से उड़ते हुये (१०, ६[४]) पृथ्वी और द्युलोक के बीच (४, ७[८]. ८[४]; १०, ४[२]) अथवा देव और मनुष्य रूपी दो जातियों के बीच (४, २[२.३]) भ्रमण करते हैं; जिनको हविवाहक ('हव्य-वह' अथवा '-वाहन' शब्दों को अग्नि के साथ सदैव ही सम्बद्ध किया गया है) का कार्य करने, और स्तोताओं के सूक्त की घोषणा करने के लिये (१, २७[४]), अथवा देवों को यज्ञ-स्थल तक लाने के लिये (४, ८[२]), देवों (५, ८[६] इत्यादि) और मनुष्यों (१०, ४६[१०]) द्वारा नियुक्त किया गया है। यह देवों के (६, १५[९]) और विवस्वत् के दूत हैं (पृ० ७८); किन्तु द्युलोक के अन्तरतम स्थानों

से परिचित होने के रूप में, हविवाहक के रूप में, और देवों को लानेवाले के रूप में (४, ७[८].८[२]) इन्हें मुख्यत: मनुष्यों का ही दूत मानना चाहिये। एक बाद के ग्रन्थ में यह कथन है कि अग्नि देवों के दूत हैं, और 'काव्य उश्नस्' अथवा 'दैव्य', असुरों के (तैत्तिरीय संहिता २, ५, ८[५].११[८])। एक अन्य ग्रन्थ अग्नि का देवों के एक दूत के रूप में नहीं वरन् देवों तक जानेवाले एक ऐसे पथ के रूप में वर्णन करता हे जिससे होकर आकाश के शिखर तक पहुंचा जा सकता है (तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ४, १[६])।

यज्ञ सम्पन्न करानेवाले के रूप में वेदों में प्रमुख कार्य के फल स्वरूप पृथ्वी के पुरोहितों के एक दिव्य प्रतिरूप की भाँति ही अग्नि की प्रख्याति कर दी गई। इस कारण इन्हें अक्सर जातिवाचक रूप से 'ऋत्विज्', 'विप्र' आदि, अथवा विशिष्टत: 'पुरोहित' कहा गया है, और वास्तव में किसी भी अन्य नाम की अपेक्षा कहीं अधिक बार नित्य ही इन्हें वह 'होतृ' अथवा प्रधान पुरोहित कहा गया है जो एक साथ ही कवि और गायक दोनों होता है। यह मनुष्यों द्वारा नियुक्त (८, ४९[१]; १०, ७[५]) और देवों द्वारा नियुक्त (६, १६[१]) होतृ हैं। यह होतृयों में सर्वाधिक प्रशंसनीय और सर्वाधिक प्रमुख हैं (१०, २[१]. ९१[८])। इन्हें एक 'अध्वर्यु' (३, ५[४]) और (बृहस्पति, सोम, और इन्द्र की भाँति) एक ब्रह्मन् पुरोहित भी कहा गया है (४, ९[४])। एक उच्चतर आशय में इनमें, उपरोक्त तथा अन्य विशिष्ट नामोंवाले विभिन्न मानवीय पुरोहितों के सभी कार्य, एकत्र कर दिये गये हैं (१, ९४[६]; २, १[२] इत्यादि)। देवों की प्रतिष्ठा अथवा स्तुति करने के लिये नित्य ही इनका आवाहन किया गया है (३, २५[१]; ७, ११[३] इत्यादि), जब कि देवों को भी अग्नि की दिन में तीन बार प्रतिष्ठा करनेवाला कहा गया है (३, ४[२])। यह यज्ञ को सिद्ध करनेवाले हैं (३, ३[३]. २७[२])। यह अपनी गुह्य शक्ति द्वारा यज्ञ को सफल करते हैं (३, २७[७]), हवि को सुगन्धित बनाते हैं (१०, १५[१२]), और उस हवि को देवों तक पहुंचाते हैं जिसकी यह रक्षा करते हैं (१, १[४])। यह यज्ञ के पिता (३, ३[४]), राजा (४, ३[१]), शासक (१०, ६[३]), अधीक्षक (८, ४३[२४]), और ध्वज (३, ३[३].१०[४]; ६, २[३]; १०, १[५]) हैं। एक सूक्त (१०, ५१) में यह वर्णन है कि अग्नि ने सेवा करते-करते श्रान्त होकर यज्ञ सम्बन्धी कार्य करना अस्वीकृत कर दिया, किन्तु देवों द्वारा मनोवाञ्छित पारितोषिक प्राप्त कर लेने पर मनुष्यों का उच्च पुरोहित बना रहना स्वीकार कर लिया।[३१] पौरोहित्य कर्म अग्नि के चरित्र का सर्वाधिक विशिष्ट गुण है। वास्तव में जिस प्रकार इन्द्र एक महान योद्धा हैं उसी प्रकार यह एक महान पुरोहित। किन्तु, यद्यपि अग्नि के चरित्र का यह पक्ष आरम्भ से लेकर ऋग्वेद के अन्त तक इतना प्रमुख है,

तथापि बाद के सांस्कारिक ग्रन्थों में अन्ततोगत्वा अनन्त यज्ञात्मक प्रतीकों को जन्म देनेवाले यज्ञ-सम्बन्धी उन रहस्यात्मक अनुमानों के कारण ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से यह अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही प्रतीत होते हैं। हवि-वाहक ('हव्य-वह्' अथवा -वाहन') के रूप में अग्नि के साधारण यज्ञात्मक रूप का उस अग्नि से विभेद स्पष्ट किया गया है जो 'शव-भक्षक' (क्रव्याद् : तु० की० § ७१) है। वाजसनेयि संहिता अग्नि के तीन रूप निर्दिष्ट करती है, यथा : एक वह अग्नि जो कच्चा मांस (आमाद्) भक्षण करती है, दूसरी 'शव-भक्षण' करनेवाली, और तीसरी यज्ञात्मक अग्नि (वाजसनेयि संहिता १, १७, तु० की० १८, ५१)। तैत्तिरीय संहिता। (२, ५, ८[६]) भी तीन अग्नियाँ निश्चित करती है, यथा : एक देवों की अग्नि जो हविवाहक ('हव्यवाहन') है, दूसरी पितरों की अग्नि जो अन्त्येष्टि हवि वहन करती है (कव्यवाहन), और तीसरी असुरों की अग्नि जो राक्षसों से सम्बद्ध है (सहरक्षस्)।

अग्नि एक द्रष्टा (ऋषि) हैं, और साथ ही साथ, एक पुरोहित (९, ६६[२०]); इन्हें एक विशिष्ट द्रष्टा के रूप में प्रज्वलित किया जाता है (३, २१[३]); यह अत्यन्त उत्कृष्ट हैं (६, १४[२]); यह प्रथम अङ्गिरस् द्रष्टा हैं (१, ३१[१])। यह द्रष्टाओं में दिव्य (असुर) हैं (३, ३[४])। अग्नि यज्ञ से ठीक-ठीक परिचित हैं (१०, ११०[११]) और सभी संस्कारों को जानते हैं (१०, १२२[२])। उपयुक्त ऋतुओं से परिचित होने के कारण यह मनुष्यों की उन त्रुटियों का परिमार्जन कर देते हैं जो देवों के यज्ञ सम्बन्धी विधानों से अपरिचित होने के कारण वह कर बैठते हैं (१०, २[४.५])। यह द्युलोक के स्थानों को जानते हैं (४, ८[२.४])। यह सभी वस्तुओं को (१०, ११[१]) अपनी बुद्धि द्वारा जानते हैं (१०, ९१[३])। इन्हें समस्त ज्ञान प्राप्त हैं (३, १[१७]; १०, २१[५])। इस ज्ञान को यह उसी प्रकार आवृत्त कर रखते हैं जिस प्रकार चक्रधार पहिये को (२, ५[३])। इस ज्ञान को इन्होंने जन्म लेते ही अर्जित कर लिया (१, ९६[१]) था। यह सभी कुछ जानने वाले हैं (विश्वविद्); और 'विश्ववेदस्' (जिसे सभी ज्ञान प्राप्त हों), 'कवि', और 'कविक्रतु' (एक द्रष्टा जैसी बुद्धि वाले) आदि उपाधियों को प्रमुखतः इन्हीं के साथ सम्बद्ध किया गया है। वह 'जातवेदस्' उपाधि भी एक मात्र इन्हीं के लिये प्रयुक्त हुई है जो ऋग्वेद में १२० से अधिक ही बार आती है और जिसकी यहाँ (६, १५[१३]) 'वह जो सभी प्रजननों को जानता है' (विश्वा वेद जनिमा) के रूप में व्याख्या की गई।[४०] यह दिव्य विधानों और मनुष्यों की सृष्टियों को जानते हैं (१, ७०[१.३])। यह सभी प्राणियों को जानते और देखते हैं (३, ५५[१०]; १०, १८७[४])। यह अपने को सम्बोधित स्तुतियों भी सुनते हैं (८, ४३[२३])। अग्नि ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले भी हैं

(८, ९१[८])। ज्ञान और स्तुतियाँ इन्हीं से उद्भूत होती हैं (४, ११[३])। यह एक प्रेरक (१०, ४६[५]), श्रेष्ठ वाणी के आविष्कर्त्ता (२, ९[४]) और स्तुतियों के प्रथम आविष्कर्त्ता (६, १[१]) हैं। इन्हें वाक्पटु (६, ४[४]) और एक गायक (जारितृ) भी कहा गया है।

अग्नि स्तोताओं के महान उपकारक हैं। यह स्तोताओं की शत-लौह-प्राचीरों द्वारा रक्षा करते हैं (७, ३[७]·१६[१०], तु० की० ६, ४८[८]; १, १८९[२])। यह उनकी विपत्तियों से रक्षा करते हैं, अथवा विपत्तियों से उसी प्रकार पार करते हैं जिस प्रकार जलयान में बैठा कर समुद्र से पार किया जाता है (३, २०[४]; ५, ४[९]; ७, १२[२])। यह एक मुक्तिदाता (८, ४९[५]) और उन मनुष्यों के मित्र हैं जो इनका एक अतिथि की भाँति सत्कार करते हैं (४, ४[१०])। यह उस स्तोता को सुरक्षा प्रदान करते हैं जो इनके लिये ईंधन लाने में स्वेद-युक्त हो जाता है (४, २[६])। जो मनुष्य इनके लिये भोजन लाते हैं और इनका हवि से पोषण करते हैं उन्हें यह सहस्र नेत्रों से देखते रहते हैं (१०, ७९[५])। यह अपने स्तोताओं के शत्रुओं को सूखे तृण की भाँति भस्मसात कर देते हैं (४, ४[४]) और दुष्टों पर उसी प्रकार प्रहार करते है जिस प्रकार विद्युत अपने आघात से वृक्ष को नष्ट कर देता है (६, ८[५]. तु० की० अथर्ववेद ३, २[१] इत्यादि)। अतः युद्ध के समय इनका आवाहन किया गया है (८, ४३[२१]) जिसमें यह रथ का नायकत्व करते हैं (८, ७३[८])। जिस मनुष्य को यह युद्ध में रक्षित और प्रेरित करते हैं वह प्रचुर भोज्य पदार्थ विजित करता है और उसे कोई भी पराजित नहीं कर सकता (१, २७[७])। सभी समृद्धियाँ उसी प्रकार इनसे उद्गत होती हैं जिस प्रकार वृक्ष से शाखायें (६, १३[१])। यह समृद्धियाँ प्रदान करते हैं जो इनके पास प्रचुर मात्रा में वर्तमान हैं (१, १[३]. ३१[१०]. ३६[४])। सभी सम्पत्ति इन्हीं में केन्द्रित है (१०, ६[६]) और यह सम्पत्ति का द्वारा खोलते हैं (१, ६८[१०])। द्युलोक और पृथ्वी की (४, ५[११]) अथवा पृथ्वी, द्युलोक और समुद्र की (७, ६[७]; १०, ९१[३]) सभी समृद्धियों पर इनका आधिपत्य है। यह आकाश से वर्षा प्रदान करते हैं (२, ६[५]) और मरु-भूमि में एक जलाशय की भाँति हैं (१०, ४[१])। अतः प्रत्येक प्रकार के वरदान, जैसे भोजन, सम्पत्ति, तथा निर्धनता, सन्तान हीनता, शत्रुओं, दैत्यों आदि से मुक्ति, प्रदान करने के लिये इनकी स्तुति की गई।[२१] कौटुम्बिक कल्याण, सन्तान, और समृद्धि आदि अग्नि द्वारा प्रदत्त वरदान हैं, जब कि इन्द्र अधिकांशतः शक्ति, विजय और वैभव प्रदान करते हैं। अग्नि भूल से किये गये अपराधों को क्षमा करते हैं, अदिति के सम्मुख निरपराध घोषित करते हैं (४, १२[४]; ७, ९३[७],)

और वरुण के क्रोध से निवृत्त करते हैं (४, १[४])। यहाँ तक कि मनुष्यों को उनके पितरों द्वारा किये गये अपराधों से भी यह मुक्त करते हैं (अथर्ववेद ५, ३०[४]; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ७, १२[३.४])।

अग्नि एक दिव्य (असुर) सम्राट् (सम्राज्) हैं जो इन्द्र के समान शक्तिशाली हैं (७, ६[१])। इनकी महानता शक्तिशाली आकाश से भी अधिक है (१, ५९[५])। यह आकाश और पृथ्वी से (३, ६[२]; १०, ८८[१४]) और उन समस्त लोकों से भी बड़े हैं जिन्हें जन्म लेने पर इन्होंने व्याप्त किया (३, ३[१०])। महानता में यह अन्य सभी देवों से श्रेष्ठ हैं (१, ६८[२])। जब यह अन्धकार में स्थित होते हैं तब सभी देव भयभीत होकर इनकी स्तुति करते हैं (६, ९[७])। वरुण, मित्र, मरुद्गण और सभी देव इनकी प्रख्याति और स्तुति करते हैं (३, ९[९]. १४[४]; १०, ६९[९])। अग्नि ने प्राचीन समय के महान् कृत्य किये (७, ६[२]) । इनके पराक्रमपूर्ण कृत्यों से मनुष्य प्रकम्पित हो उठते हैं (८, ९२[३]) । युद्ध में इन्होंने देवों के लिये स्थान अर्जित किया (१, ५९[५]), और उन्हें शाप-मुक्त किया (७, १३[२])। यह सहस्रों के विजेता हैं ('सहस्रजित' [३], जो साधारणतया सोम का गुण है)। यह दस्युओं को गृहों से निष्काशित कर देते हैं और इस प्रकार आर्यों के लिये विस्तृत प्रकाश का निर्माण करते हैं (७, ५[६])। यह आर्यों के पोषक (८, ९२[१]) और अधार्मिक पणियों को पराभूत करने वाले हैं (७, ६[३])। कभी-कभी इन्हें 'वृत्रहन्', और दो या तीन बार 'पुरंदर' उपाधियों से भी विभूषित किया गया है, अन्यथा यह प्रमुखतः इन्द्र के गुण हैं (पृ० ११३)। इस प्रकार के युद्धोपम गुण, जो यद्यपि अग्नि के लिये उनके विद्युत रूप में उपयुक्त हो सकते हैं, निःसन्देह इन्द्र से ही गृहीत हुये हैं; जिनके साथ इन्हें बहुधा ही संयुक्त किया गया है।

यद्यपि अग्नि, पृथ्वी और आकाश के पुत्र हैं, तथापि इन्हें दोनों लोकों को उत्पन्न करनेवाला भी कहा गया है (१, ९६[४], तु० की० ७, ५[७]) और इनके उन विधानों का जो कभी नष्ट नहीं होते (२, ८[३]) पृथ्वी और आकाश दोनों ही पालन करते हैं (७, ५[४])। इन्होंने लोकों को विस्तृत किया (३, ६[५]; ७, ५[४]) अथवा उन्हें दो चर्मों की भाँति फैलाया (६, ८[३]) । अपनी ज्वाला अथवा धूयें से इन्होंने आकाश के 'नाक' को धारण किया (३, ५[१०]; ४, ६[२])। इन्होंने दोनों लोकों को परस्पर अलग अलग रक्खा (६, ८[३])। इन्होंने वास्तविक सूक्तों से पृथ्वी और आकाश को धारण किया (१, ६७[३])। यह लोकों के आगे खड़े होते हैं अथवा रात्रि के समय पृथ्वी के प्रधान होते हैं (१०, ८८[५.६]); किन्तु यह आकाश के मस्तक अथवा शिखर (ककुद्) भी हैं (१, ५९[२]; ६, ७[१]; ८, ४४[१६])। इन्होंने वायु को नापा और अपनी महानता से आकाश के

'नाक' का स्पर्श किया (६, ८[२])। इन्होंने अन्तरिक्षीय स्थानों और द्युलोक के प्रकाशमान क्षेत्रों को नापा (६, ७[७])। इन्होंने सूर्य को आकाश में ऊपर उठाया (१०, १५६[४])। अग्नि प्रज्वलित करने से सूर्योदय पर एक अभिचारीय प्रभाव उत्पन्न होने की धारणा ऋग्वेद में सर्वथा अनुपस्थित नहीं है।[४३] उस समय यही आशय निहित प्रतीत होता है जब कवि कहता है कि : 'हम अग्नि को प्रदीप्त करें जिससे अग्नि का अद्भुत प्रतिरूप आकाश में प्रकाशित हो' (५, ६[४])। एक ब्राह्मण स्थल पर भी यही धारणा स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है, यथा, : 'सूर्योदय के पूर्व यज्ञ करने से वह सूर्य को उत्पन्न करते हैं, अन्यथा उसका उदय न होता' (शतपथ ब्राह्मण २, ३, १[५], तु० की० तैत्तिरीय संहिता ४, ७, १३[२])। अन्यथा अग्नि को प्रज्वलित करने, और सूर्योदय को ऋग्वेद में केवल साथ साथ होनेवाली घटनायें मात्र कहा गया है : 'जब अग्नि का जन्म हुआ तब सूर्य भी दृष्टिगत हुये (४, ३[११])। अग्नि पुराकथा का यह गुण इन्द्र पुराकथा में सूर्य को विजित करने के गुण के समान है, किन्तु दोनों दशाओं में मूल दृष्टिकोण स्पष्टतः भिन्न है। और भी, अग्नि के सम्वन्ध में यह कहा गया है कि इन्होंने आकाश को तारों से अलंकृत किया (१, ६८[५])। जो कुछ उड़ता, चलता, खड़ा होता और गतिशील है उन सबका इन्होंने ही सृजन किया (१०, ८८[४])। इन प्राणियों में (३, २[१०]), पौधों में, सभी प्राणियों में, इन्होंने गर्भ स्थित किया, और पृथ्वी तथा स्त्रियों से संतानोत्पादन किया (१०, १८३[३])। एक बार यह कहा गया है कि अग्नि ने मनुष्यों की इन सन्तानों को उत्पन्न किया (१, ९६[२]); किन्तु यह उसी स्थल पर व्यक्त उस धारणा का विस्तारण मात्र है कि इन्होंने आकाश, पृथ्वी, और जलों का सृजन किया ; अतः मानव जाति के पिता होने के अग्नि सम्बन्धी विश्वास के रूप में इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।[४४] अन्ततः, अग्नि उस अमरत्व के अभिभावक (७, ७[४]) और अधिपति (७, ४[६]) हैं जिसे यह मरणशील मनुष्यों को प्रदान करते हैं (१, ३१[७])।

यद्यपि अग्नि एक भारोपीय शब्द है (लैटिन 'इग्नि—स', स्लेवोनिक 'ओग्नि') तथापि इस नाम के साथ इनकी उपासना सर्वथा भारतीय है। भारतीय-ईरानी काल में सम्भवतः अथर्वन् नामक एक पुरोहित वर्ग द्वारा प्रयुक्त विकसित संस्कार के केन्द्र के रूप में यज्ञाग्नि का महत्त्व वर्तमान था; जिसका एक शक्तिशाली, विशुद्ध, बुद्धिमान देव, और भोजन, सन्तान, बौद्धिक शक्ति, यश, आदि प्रदान करनेवाले के रूप में मूर्तीकरण और स्तवन किया गया है; जो गृह के प्रति मित्र किन्तु शत्रुओं को विनष्ट करने वाला है; और सम्भवतः इसके विभिन्न रूप, जैसे विद्युत अथवा लकड़ी से उत्पन्न, अग्नि होने की भी कल्पना है।[४५] यज्ञाग्नि

एक भारोपीय संस्था भी प्रतीत होती है,[४६] क्योंकि इटालियनों और यूनानियों, और साथ ही साथ, ईरानियों और भारतीयों में भी अग्नि के देवता को उपहार समर्पित करने का प्रचलन था। किन्तु इस अग्नि का मूर्तीकरण, यदि उस समय हुआ भी होगा, तो वह अत्यन्त छायात्मक ही रहा होगा।[४७]

'अग्-नि' शब्द सम्भवतः उस धातु से व्युत्पन्न हो सकता है जो संस्कृत में 'अज्'[४८] के रूप में आती है ('अजामि', लैटिन 'एगो', यूनानी 'ऐगो' ἄγω) जिसका इस तत्त्व की क्षिप्रता के सन्दर्भ के कारण 'चपल' अर्थ है।

दिव्य अग्नि की उपाधियों के अतिरिक्त, जो 'अपां नपात्' की भाँति अलग-अलग नाम ही बन गई हैं, अग्नि की कुछ उपाधियाँ एक अर्ध-स्वतंत्र सी प्रकृति व्यक्त करती हैं। 'वैश्वानर'[४९] उपाधि, जो ऋग्वेद में प्रायः साठ बार आती है और दो आपवादों के अतिरिक्त अग्नि तक ही सीमित है, कुछ पाँच एक फुटकर मन्त्रों को छोड़कर, ऋग्वेद के पन्द्रह सूक्तों में मिलती है और इनमें से प्रायः सभी में अनुक्रमणी की देशीय परम्परा के अनुसार 'अग्निवैश्वानर' देव को ही सम्बोधित किया गया है। यह गुण ऋग्वेद में, बिना 'अग्नि' के नाम के साथ, कभी भी नहीं आता। इसका अर्थ 'सभी आदमियों का' है, जो 'सर्वभौम अग्नि', अर्थात् अग्नि के सभी दिव्य और पार्थिव पक्षों का द्योतक है। इस प्रकार अग्नि के इस रूप को सम्बोधित सूक्तों में कभी-कभी मातरिश्वन् और भृगुओं की उस पुराकथा का सन्दर्भ है जो दिव्य अग्नि के पृथ्वी पर अवतरण से सम्बद्ध है (३, २[४]; ६, ८[४]), और अग्नि वैश्वानर को एक बार तो प्रत्यक्ष रूप से मातरिश्वन् कहा ही गया है (३, २६[२])। नैघण्टुक (५, १) में अग्नि के एक नाम के रूप में वैश्वानर का उल्लेख किया गया है। इस उपाधि पर टीका करते हुये यास्क (निरुक्त ७, २३) का यह कथन है कि प्राचीन संस्कारज्ञ (याज्ञिकाः) 'अग्नि वैश्वानर' को सूर्य मानते थे, जब कि शाकपूणि ने इसे इसी 'अग्नि' के रूप में ग्रहण किया है।[५०] बाद में (निरुक्त ७, ३१) आप स्वयं यह विचार व्यक्त करते हैं कि जो 'अग्नि वैश्वानर', स्तुतियाँ और यज्ञ भाग प्राप्त करता है, वह यही (अर्थात् पार्थिव) अग्नि है, जब कि दो उच्च (उत्तरे) प्रकाश (अर्थात् दिव्य और अन्तरिक्षीय) कभी-कभी इस उपाधि से विभूषित मात्र कर दिये गये हैं। सांस्कारिक ग्रन्थों में वैश्वानर को अग्नि के एक विशिष्ट रूप में ही व्यक्त किया गया है (आश्वलायन श्रौतसूत्र १, ३[२२]; कात्यायन श्रौतसूत्र २३, ३[१]; पंचविंश ब्राह्मण २१, १०[११]; शतपथ ब्राह्मण १, ५, १[१६])।

सामान्यतया अग्नि नाम से पृथक्, 'तनूनपात्' उपाधि ऋग्वेद में आठ बार आती है, और दो अपवादों (३, २९[११]; १०, ९२[२]) के अतिरिक्त यह सदैव उन आप्री सूक्तों के द्वितीय मन्त्र में ही मिलती है जो ऐसे पशु यज्ञों का प्रवर्त्तन

करने वाली सामाजिक अभ्यर्थनायें हैं जिनमें विभिन्न नामों और रूपों से अग्नि का आवाहन किया गया है।[51] नैघण्टुक (५, २) में यह शब्द एक स्वतंत्र नाम के रूप में आता है। यास्क (निरुक्त ८, ५) द्वारा प्रस्तुत व्याख्यायें कृत्रिम और असम्भव है।[52] लड़की और मेघ में स्वतः जनित होने के रूप में इसका अर्थ 'स्वयं का पुत्र' प्रतीत होता है। बर्गेन की व्याख्या के अनुसार यह दिव्य पिता के 'दैहिक (अर्थात् स्वयं के) पुत्र' का द्योतक है। [53] मातरिश्वन् और नराशंस से विभेद स्पष्ट करते हुये 'तनूनपात्' को 'दिव्य (असुर) गर्भ' (३, २९[11]) कहा गया है। यह कहा गया है कि 'अरुणिम व्यक्ति के तनूनपात् गृह पुरोहित' अग्नि का, उषायें चुम्बन करती हैं (१०, ९२[2], तु० की० ५, ५८[6])। तनूनपात् सुन्दर जिह्वावाले हैं (१०, ११०[2])। यज्ञभाग को देवों तक पहुँचाने के लिये इनकी स्तुति की गई है (१, १३[2]; १०, ११०[2])। यह घृत और मधु से परिपूर्ण यज्ञ को वितरित करते हैं (१, १४२[2], तु० की० १८८[2])। वरुण, मित्र, और अग्नि इनका प्रतिदिन तीनों समय यज्ञ करते हैं (३, ४[2])। (९, ५[2] से तुलना करते हुये) हिलेब्रान्ट 'अग्नि तनूनपात्' को उस 'अग्नि सोमगोपा' अथवा 'चन्द्र-अग्नि' के साथ समीकृत करते हैं जिसे आप अग्नि का ही एक विशेष रूप मानते हैं।[55]

नैघण्टुक (५, ३) में एक स्वतंत्र अभिधा के रूप में दी हुई, और ऋग्वेद में अग्नि के नाम से पृथक् रूप में आने वाली अपेक्षाकृत कुछ अधिक प्रयुक्त उपाधि 'नराशंस', अग्नि तक ही सीमित नहीं है, और दो बार यह पूषन् के साथ भी सम्बद्ध की गई है (१, १०६[4]; १०, ६४[3])।[56] आप्री सूक्तों में इसका स्थान तृतीय मंत्र में निश्चित है, और उन सूक्तों में इसका स्थान द्वितीय है जिनका पारिभाषिक नाम 'आप्र' है। नराशंस, चार हाथ-पैर वाले (१०, ९२[11]) और 'एक दिव्य पत्नी के स्वामी' (ग्नास्पति : २, ३८[10]) हैं। अपनी जिह्वा पर और हाथ में मधु लिये हुये यह यज्ञ करते हैं (१, १३[3]; ५, ५[2])। प्रतिदिन तीन बार यह यज्ञ को मधु से सिंचित करते हैं (१, १४२[3])। यह तीनों द्युलोकों और देवों का अनुलेप करते हैं (२, ३[2])। यह देवों के मस्तक पर आते हैं और यज्ञ को देवों के लिये सुखद बनाते हैं (१०, ७०[2]) इनके यज्ञों के माध्यम से स्तोतागण देवों की महानता की प्रशस्ति करते हैं (७, २[2])। सोम के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह नराशंस और 'दैव्य' के बीच जाता है (९, ८६[42]); जिसका अर्थ यही प्रतीत होता है कि वह पार्थिव और दिव्य अग्नि के बीच जाता है। तनूनपात् और मातरिश्वन् से विभेद करते हुये अग्नि को जन्म के समय नराशंस कहा गया है (३, २९[11])। बृहस्पति को समर्पित एक सूक्त (१०; १८२[2]) में रक्षा के लिये नराशंस का आवाहन किया गया है,

और एक अन्य में इसे आकाश-स्थान का यज्ञकर्त्ता कहा गया है (१, १८[९])। इस प्रकार इन दोनों स्थलों पर इसे बृहस्पति के साथ समीकृत किया गया प्रतीत होता है। 'नराशंस' प्रत्यक्षतः एक अनुपयुक्त सा यौगिक शब्द प्रतीत होता है (जिसमें षठी के बहुवचन रूप का 'म्' लुप्त हो गया है) जिसमें दो स्वराघात हैं और जो दो स्थलों पर (९, ८६[४२]; १०, ६४[३]) अव्ययों द्वार दो भागों में विभक्त हो गया है। यतः 'नरां शंस' और 'देवानां शंस' व्याहृतियाँ भी मिलती हैं (२, ३४[६]; १, १४१[११]), और एक कवि एक बार अग्नि को 'शंसम् आयोः (४, ६[११]) कहता है, अतः 'नराशंस' का 'वह जो मनुष्यों द्वारा स्तुत्य हो' के आशय में 'मनुष्यों की स्तुति' अर्थ प्रतीत होता है। बर्गेन[२७] यह विचार व्यक्त करते हैं कि अग्नि के जिस वास्तविक पक्ष का नराशंस प्रतिनिधित्व करता है वह एक द्वितीय बृहस्पति की भाँति मनुष्यों की स्तुति के एक देवता का ही रूप है।

[१] मुण्डक उपनिषद् १, २४; तु० की० त्सी० गे० ३५, ५५२ — [२] तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५०, ४२५-६; से० बु० ई० ४६, १४९° २०७ — [३] औ० वे० १०४; से० बु० ई० ४६, १२८ — [४] तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० १, १४३; से० बु० ई० ४६, १४४ — [५] ब्राड्के : द्या० ५०-१; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ३९, ६९ — [६] श्वाब : दा० टी० ७७-८; रौथ : त्सी० गे० ४३, ५९०-५ — [७] बर्गेन : ल० रि० वे० २, ५२; पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, ५० — [८] रौथ : निरुक्त, प्रस्तावना १२०; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'द्युत्रति' और 'त्वष्टृ'; वेनफ़ : ओ० अ० २, ५१० — [९] इसी विश्वकोश में जॉली, II, ८, पृ० २५ — [१०] कुन : हे० गौ०, श्रोडर का संस्करण (१८८९) ३७-९; तु० की०, त्सी० गे० ३५, ५६१ — [११] कुन : हे० गौ० १८; के० ऋ० नोट १२१; हॉ० इ० १०७ — [१२] रौथ : त्सी० गे० ४३; ५९३; औ० वे० १२१ — [१३] तु० की०, हि० वे० मा० १, १७९, नोट ४ — [१४] हॉग : ऐतरेय ब्राह्मण २, पृ० ६२ — [१५] औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ३९, ६८-७२; मैकडौनेल : ज० ए० सो० २६, १६ और बाद — [१६] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ५, ५०४ — [१७] औ० वे० ११५ — [१८] तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १, १५७-७० — [१९] औ० वे० ११३, नोट २ — [२०] वही, ११२ — [२१] अन्य स्थल यह हैं : ३, १४[४]; ८, ५६[५]; १०, ८८[११,१२]; अथर्ववेद १३, १[१३]; तैत्तिरीय संहिता ४, २, ९[४] — [२२] मूईर : सं० टे० ५, २०६; बर्गेन : ल० रि० वे० १, २१-५; मैकडौनेल : ज० ए० सो० २५, ४६८-७०; औ० वे० १०६; से० बु० ई० ४६, २३१ — [२३] तु० की० हॉ० इ० १०५ — [२४] देखिये व० ऋ०, व० स्था० — [२५] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३५६; बर्गेन : ल० रि० वे० १, २३ — [२६] औ० वे० ३४८ — [२७] तु० की० शतपथ ब्राह्मण २, १ और एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, २७४ और बाद — [२८] हॉ० इ० १०६; तु०

कॉ० लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३५६ — [29]बर्गेन : ल० रि० वे० १, २३; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३५५; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ३०, x, नोट १; ४६, ३६२; औ० वे० ३४८ — [30]बर्गेन : ल० रि० वे० १, १०३ — [31]लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ५, ५०४-५ — [32]तु० कॉ० सायण; रौथ : निरुक्त, प्रस्तावना १४०; मैक्स मूलर : ले० लै० २, ६१४ — [33]तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० ३, १३४ और बाद — [34]बर्गेन : ल० रि० वे० २, २१७ — [35]औ० वे० १२८ — [36]से० बु० ई० ४६, ३६१ — [37]औ० वे० १३२-३ — [38]मूईर : सं० टे० १, ३४८-९; तु० की० से० बु० ई० ४६, १२३. २११ — [39]मैकडौनेल : ज० ए० सो० २६, १२-२२ — [40]ह्विट्ने : अ० फा० ३, ४०९; अन्यथा पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ९४ और ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १६, १६ — [41]मूईर : सं० टे० ५, २१८ — [42]तु० की० औ० वे० २९९-३०० — [43]तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० १, १४० और बाद; औ० वे० १०९; से० बु० ई० ४६, ३३० — [44]कुन : हे० गौ० ६९ और बाद, का विचार — [45]औ० वे० १०३ — [46]नॉअर : फे० रौ० ६४ — [47]औ० वे० १०२ — [48]सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; मैक्स मूलर : फ़िज़िकल रिलीजन १९७ (तु० की० कर्स्टे : वी० मौ० ७, ९७); बार्थोलोमाई; इ० फॉ० ५, २२२ द्वारा अस्वीकृत — [49]बर्गेन : ल० रि० वे० १५३-६ — [50]रौथ : निरुक्त, प्रस्तावना ७, १९ — [51]रौथ : निरुक्त, प्रस्तावना ३६ और बाद; ११७-८; १२१-४; मैक्स मूलर : हि० लि० ४६३-६; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ८९-९५; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद १, ६ — [52]रौथ : निरुक्त, प्रस्तावना ११७; तु० की० औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, १० — [53]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ९९ और बाद — [54]हि० वे० मा० १, ३३९ — [55]वही वे० मा० ३३०-६ — [56]रौथ : प्रस्तावना ११७ और बाद ; तु० की० स्पीगेल : डी० पी० २०९ और बाद — [57]बर्गेन : ल० रि० वे० १, ३०५-८ ।

कुन : हे० गौ० १, १०५; ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३१७-८; मूईर सं० टे० १९९-२२०; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३२४-५; के० ऋ० ३५-७; बर्गेन : ल० रि० वे० १, ११-३१, ३८-४५, ७०-४, १००-१, १३९-४५; स्पीगेल : डी० पी० १४७-५३; फान श्रोडर : कु० त्सी० २२, १९३ और बाद (तु० की० बेज़ेनबर्गर : बी० १९, २३०); वी० मौ० २२५-३०; मैक्स-मूलर : फ़िज़िकल रिलीजन १४४-२०३, २५२-३०२; हार्डी : वे० पी० ६३-८; औ० वे० १०२-३३; हॉ० इ० १०५-१२ ।

§ ३६. बृहस्पति :—इस देव का ऋग्वेद में बहुत अंशों तक प्रमुख स्थान है, और ग्यारह सम्पूर्ण सूक्त इसकी स्तुति में समर्पित किये गये हैं। दो सूक्तों (४, ४९; ७, ९७) में यह इन्द्र के साथ युगल रूप में भी आया है। इसका नाम प्रायः १२० बार आता है, और इसके अतिरिक्त ब्रह्मणस्पति के रूप में लगभग ५० बार और मिलता है। इसके नाम के यह दोनों रूप कभी-कभी

एक ही सूक्त के विभिन्न मन्त्रों में एकान्तरित होते हैं (उदाहरण के लिये २, २३ में)। बृहस्पति के दैहिक गुण बहुत थोड़े हैं। यह सप्त-मुख और सप्त-रश्मि (४, ५०[४]), सुन्दर-जिह्वावाले (१, १९०[१]; ४, ५०[१]), तीक्ष्ण सीघों वाले (१०, १५५[२]), नील-पृष्ठ (५, ४३[१२]), और शत-पंखों वाले (७, ९७[७]) हैं। यह स्वर्ण-वर्ण और अरुणिम (५, ४३[१२]), उज्ज्वल (३, ६२[७]; ७, ९७[७]), विशुद्ध (७, ९७[७]), और स्पष्ट वाणी वाले हैं (७, ९७[५])। इनके पास एक ऐसी धनुष है जिसकी प्रत्यञ्चा ही 'ऋत' है और यह श्रेष्ठ वाण रखते हैं (२, २४[८]; तु० की० अथर्ववेद ५, १८[८.९])। यह एक स्वर्ण कुठार भी धारण करते हैं (७, ९७[७]) और एक ऐसी लौह कुठार से सुसज्जित हैं जिसे त्वष्टृ तीक्ष्ण करते हैं (१०, ५३[९])। इनके पास एक रथ है (१०, १०३[४]) और यह ऐसे ऋत रूपी रथ पर खड़े होते हैं जो राक्षसों का वध करता है, गाय के गोष्ठों को तोड़ता है और प्रकाश को विजित करता है (२, २३[३])। इनके रथ को अरुणिम अश्व खींचते हैं (७, ९७[६])।

उच्चतम आकाश के महान प्रकाश से बृहस्पति का सर्वप्रथम जन्म हुआ था और इन्होंने अपने गर्जन (रवेण) द्वारा अन्धकार को भगा दिया (४, ५०[४]; तु० की० १०, ६८[१२])। यह दोनों लोकों की सन्तान हैं (७, ९७[८]), किन्तु यह भी कहा गया है कि इन्हें 'त्वष्टृ' ने उत्पन्न किया (२, २३[१७])। दूसरी ओर इन्हें देवों का पिता कहा गया है (२, २६[३]), और यह कथन भी है कि इन्होंने एक लुहार की भाँति देवों को धमन द्वारा उत्पन्न किया (१०, ७२[२])।

बृहस्पति एक पारिवारिक पुरोहित[१] हैं (२, २४[९]; वाजसनेयि संहिता २०, ११; तैत्तिरीय संहिता ६, ४, १०; ऐतरेय ब्राह्मण ८, २६[४]), अन्यथा पारिवारिक पुरोहित शब्द प्रायः अग्नि की ही विशेषता है (पृ० १८३)। प्राचीन ऋषियों ने इन्हें पुरोहितों के श्रेष्ठ पद (पुरो–धा) पर प्रतिष्ठित किया (४, ५०[१])। यह सोम के पुरोहित हैं (शतपथ ब्राह्मण ४, १, २[४])। यह एक 'ब्रह्मन्' अथवा स्तुति करने वाले पुरोहित[२] भी हैं (२, १[३]; ४, ५०[८]) और एक वार तो इन्हें पारिभाषिक आशय में ही ऐसा कहा गया है (१०, १४१[३])। बाद के वैदिक ग्रन्थों में बृहस्पति, देवों के 'ब्रह्मन्' पुरोहित (पारिभाषिक आशय में) हैं।[३] इन्हें देवों की स्तुति अथवा 'ब्रह्म' तक कहा गया है (तैत्तिरीय संहिता २, २, ९[१] इत्यादि)। बृहस्पति उपासना की भावना को विकसित करते हैं और इनकी कृपा के बिना यज्ञ सफल नहीं होते (१, १८[७])। उत्तम मार्गों का निर्माण करनेवाले के रूप में यह देवों के यज्ञ तक पहुँचना सुगम बना देते हैं (२, २३[६.७])। देवों तक ने इन्हीं से अपना

यज्ञ भाग प्राप्त किया (२, २३[१]) । यह यज्ञ द्वारा देवों को जागृत करते हैं (अथर्ववेद १९, ६३[१]) । यह स्वयं ऐसे सूक्तों का उच्चारण करते हैं जिनमें इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमन्, आदि देवता आनन्द लेते हैं (१, ४०[५]) । यह ऋचाओं का गायन करते हैं (१०, ३६[५]) । इनके गीत (श्लोक) द्युलोक तक जाते हैं (१, १९०[४]) और छन्द (छन्दस्) इनकी सामग्री हैं (मैत्रायणी संहिता १, ९[२]) । यह गायकों के साथ सम्बद्ध हैं (७, १०[४]; १०, १४[३]) । यह अपने 'उन मित्रों' के साथ गाते हैं जिनका स्वर 'हंसों की भांति' है (१०, ६७[३]), । यहाँ इन मित्रों से पिछले मंत्र (१०, ६७[२]) में ही उल्लिखित अङ्गिरसों[४] (§ ५४) का अर्थ प्रतीत होता है । इन्हें एक गानेवाले (ऋक्वत्)[५] दल (गण : ४, ५०[५]) के साथ संयुक्त किया गया है । निःसन्देह इसी कारण इन्हें 'गणपति' (२, २३[१]) कहा गया है, और यही शब्द एक बार इन्द्र के लिये भी व्यवहृत हुआ है (१०, ११२[९]) ।

जैसा कि 'ब्रह्मणस्पति' नाम से व्यक्त होता है, यह देव 'स्तुतियों का स्वामी' है । द्रष्टाओं में सर्वप्रसिद्ध द्रष्टा और स्तुतियों के श्रेष्ठतम अधिराज के रूप में भी इनका वर्णन किया गया है (२, २३[१]) । 'ऋत' रूपी रथ पर आरूढ़ होकर यह देवों और स्तुतियों के शत्रुओं को विजित करते हैं (२, २३[३-८]) । यह समस्त स्तुतियों को उत्पन्न करने वाले हैं (१, १०९[२]) । यह स्तुतियों का उच्चारण करते हैं (१, ४०[५]) और मानवीय पुरोहितों को स्तुतियाँ निवेदित करते हैं (१०, ९८[२७]) । अतः बाद में इन्हें 'वाचस्पति' (वाच् का स्वामी) तक कहा जाने लगा है (मैत्रायणी संहिता २, ६[६], तु० की० शतपथ ब्राह्मण १४, ४, १[२३]) और यह उपाधि वैदिकोत्तर साहित्य[६] में बुद्धि और वाक्पटुता के देवता के रूप में बृहस्पति के लिये विशेषरूप से व्यवहृत हुई है ।

अनेक ऐसे स्थल भी हैं जहाँ बृहस्पति को अग्नि के साथ समीकृत किया गया प्रतीत होता है । इस प्रकार 'मित्र की भांति सुन्दर, स्तुतियों के अधिपति, अग्नि' का आवाहन किया गया है (१, ३८[१३]) । एक अन्य स्थल पर (२, १[३] और बाद) अग्नि को यद्यपि अन्य देवों के साथ भी समीकृत किया गया है, तथापि यह ब्रह्मणस्पति के साथ ही अधिक घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं क्योंकि यहाँ यही दो नाम 'सम्बोधन' के रूप में आते हैं । एक मन्त्र (३, २६[२] में 'मातरिश्वन्', और 'द्रुतगति से चलनेवाले) अतिथि, विद्वान पुरोहित बृहस्पति' दोनों ही अग्नि की उपाधियाँ प्रतीत होते हैं, जब कि एक अन्य (१, १९०[२]) स्थान पर 'मातरिश्वन्' बृहस्पति की उपाधि प्रतीत होता है । पुनः जहाँ नील-पृष्ठ बृहस्पति को आवासों में अपना आश्रय बनानेवाला, उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित, और स्वर्णवर्ण तथा अरुणिम कहा गया है (५, ४३[१२]) वहाँ इससे

अग्नि का ही अर्थ होना चाहिये। दो अन्य मंत्रों (१, १८[१९]; १०, १८२[२]) में बृहस्पति, अग्नि के एक रूप 'नराशंस' (पृ० १९०) ही प्रतीत होते हैं। अग्नि की भाँति बृहस्पति भी एक पुरोहित हैं, जिन्हें 'शक्ति का पुत्र' (१, ४०[२]) और 'अङ्गिरस्' (२, २३[१८]) भी कहा गया है (आङ्गिरस् एक मात्र इन्हीं की उपाधि है)। यह भी राक्षसों को भस्म (२, २३[१४]) अथवा उनका वध करते हैं (१०, १०३[४])। बृहस्पति को द्युलोक की ओर उच्चतर आवासों में जानेवाला भी कहा गया है (१०, ६७[१०])। अग्नि की भाँति, बृहस्पति के तीन आवास हैं (४, ५०[१]); यह भी गृहों के पूज्य (७, ९७[५]), और आवासों के अधिपति अर्थात् 'सदसस्-पति'[७] (१, १८[६]; इन्द्र-अग्नि को भी एक बार सदस्पती कहा गया है, १, २१[५]) हैं। दूसरी ओर, अग्नि को ब्रह्मणस्-कवि अर्थात् 'स्तुतियों का ऋषि' (६, १६[३०]) कहा गया है, और पृथ्वी तथा आकाश को स्तुतियों द्वारा अनुकूल (ब्रह्मणा) बनाने के लिए उनका आवाहन किया गया है (२, २[७])। किन्तु अपेक्षाकृत अधिक सामान्यतया बृहस्पति का अग्नि के साथ विभेद ही किया गया है (२, २५[३]; ७, १०[४]; १०, ६८[१]), क्योंकि देवों की गणनाओं में इनका अग्नि के साथ-साथ आवाहन अथवा नामकरण है (३, २०[५] इत्यादि)[८]।

गायों को मुक्त करने से सम्बन्धित इन्द्र पुराकथा में, अग्नि की भाँति बृहस्पति को भी दृढ़ रूप से अवस्थित और सम्मिलित कर दिया गया है। अङ्गिरस् बृहस्पति ने जब गोष्ठों को खोला और इन्द्र को साथ लेकर अन्धकार द्वारा आवृत्त जल स्रोतों को मुक्त किया, तब पर्वत इनके वैभव के आधीन हो गया (२, २३[१८], तु० की० १, ५६[५]·८९[१])। अपने गायकदल के साथ (तु० की० § ५४) इन्होंने गर्जन करते हुए 'वल' को विदीर्ण किया; और अपने सिंहनाद द्वारा रँभती गायों को बाहर कर दिया (४ ५०[५])। इन्होंने सम्पत्ति और गायों से परिपूर्ण महान् गोष्ठों को विजित किया; प्रकाश और जलों की कामना से अविजेय बृहस्पति अपनी ज्वालाओं द्वारा अपने शत्रुओं का वध करते हैं (६, ७३[३])। जो कुछ दृढ़ था वह शिथिल हो गया, जो शक्तिशाली था वह इनके आधीन हुआ; इन्होंने गायों को बाहर किया, स्तुतियों द्वारा 'वल' को विदीर्ण किया; अन्धकार को अवरुद्ध करके आकाश को दृष्य किया; पाषाण-मुख मधु से परिपूर्ण जिन कूपों का बृहस्पति ने अपने पराक्रम से भेदन किया वह जब प्रचुर जलधाराओं की वर्षा कर रहे थे तब उनका दिव्यों ने पान किया (२, २४[२-४])। जब अपनी अग्निमय तेजस्विता से बृहस्पति ने 'वल' की सुरक्षा को छिन्न-भिन्न कर दिया तब उन्होंने गायों की सम्पत्ति को प्रकट किया; जिस प्रकार एक अण्डे को तोड़कर खोल देते हैं उसी प्रकार इन्होंने पर्वतों से गायों

को बाहर किया; इन्होंने पाषाण से आवृत्त मधु को देखा; अपने गर्जन से इन्होंने 'वल' को भयभीत कर उसे बाहर निकाला; इन्होंने मानों 'वल' के मद को चूर्ण किया (१०, ६८[४-९])। इन्होंने गायों को बाहर निकाला और उन्हें आकाश में वितरित कर दिया (२, २४[१४])। बृहस्पति पर्वत से गायों को लाये; 'वल' की गायों को पकड़ कर इन्होंने अपने अधिकार में ले लिया (१०, ६८[५]) 'वल' पर इनकी विजय एक ऐसी विशिष्टता है कि यह एक कहावत बन गई है (अथर्ववेद ९, ३[२])। मेघों (अभ्रिय) में स्थित होकर यह अनेक गायों के पीछे जोर से गर्जन करते हैं (१०, ६८[१२], तु० की० ६७[३])। यह गायें जलों का, जिनका स्पष्ट रूप से उल्लेख है (२, २३[१८]; ६, ७३[३]) अथवा सम्भवतः उषा की रश्मियों का (तु० की० १०, ६७[५]-६८[९]) प्रतिनिधित्व कर सकती हैं।

गायों को मुक्त करने में बृहस्पति अन्धकार में प्रकाश ढूँढ़ते हैं और प्रकाश को प्राप्त करते हैं। इन्होंने उषा, प्रकाश, और अग्नि को प्राप्त किया, और अन्धकार को भगाया (१०, ६८[४-९])। दुर्ग को छिन्न-भिन्न करते हुए इन्होंने उषस्, सूर्य, और गाय को प्राप्त किया (१०, ६७[५])। इन्होंने अन्धकार को भगाया अथवा छिपाया और प्रकाश को प्रकट किया (२, २४[३]; ४, ५०[४])। इस प्रकार बृहस्पति अधिक सामान्य रूप से युद्धोपम प्रवृत्तियाँ अर्जित कर लेते हैं। इन्होंने सम्पत्ति से भरे पर्वत का भेदन किया और शम्बर के गढ़ों को खोल दिया (२, २४[२])। प्रथम-जन्मा, पवित्र, पर्वतों में बुद्धिमान, बृहस्पति अङ्गिरस् दोनों लोकों में वृषभ की भाँति गर्जन करते हैं, वृत्रों (वृत्राणि) का वध करते हैं, दुर्गों को छिन्न-भिन्न करते हैं, और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं (६, ७३[१-२])। यह शत्रुओं को भगाते और विजय अर्जित करते हैं (१०, १०३[४])। महान अथवा साधारण, किसी भी युद्ध में कोई भी इन्हें विजित नहीं कर सकता (१, ४०[८])। यह युद्ध में शत्रुओं को समाप्त करते हैं (२, २३[११])। युद्ध के समय इनका आवाहन किया गया है (२, २३[१३]) और यह एक ऐसे पुरोहित हैं जिनकी संघर्ष के समय अनेक स्तुतियाँ होती हैं (२, २४[९])।

इन्द्र के साथी और मित्र होने के कारण (२, २३[१८]- २४[२]; ८, ८५[१५]) इनका अक्सर इन्द्र के साथ ही आवाहन किया गया है (४, ५०[१०-११] इत्यादि)। इन्द्र के साथ यह सोम पान करते हैं (४, ४९[३]- ५०[१०]) और इन्द्र की ही भाँति इन्हें 'मघवन्' कहा गया है (२, २४[१२])। इन्द्र एक ऐसे देव भी हैं जिनके साथ यह युगल देव के रूप में आते है (२, २४[१२]; ४, ४९[१-६])। इस प्रकार इन्हें 'वज्रिन्' अर्थात् वज्र धारण करनेवाला कहा गया है (१, ४०[८]) और ऐसा भी कथन है कि यह असुर का बध करनेवाले इस अस्त्र (वज्र) को

चलाते हैं (अथर्ववेद ११, १०[१३])। इन्द्र के साथ साथ मरुतों के साथ भी इनका आवाहन किया गया है (१, ४०[१])। एक बार इनको, चाहे यह मित्र, वरुण, अथवा पूषन कुछ भी हों, मरुतों के साथ आने के लिये स्तुति की गई है (१०, ९८[१])। एक स्थल पर यह कहा गया है कि इन्होंने एक कूयें में पड़े 'त्रित' की स्तुति सुनकर उसे मुक्त किया (१, १०५[१७])।

बृहस्पति उस व्यक्ति पर कृपा रखते हैं जो स्तुतियाँ करता है (२, २५[१]) किन्तु जो स्तुतियों से घृणा करता है उस पर यह कोप करते हैं (२, २३[४])। पवित्र व्यक्तियों को यह समस्त संकटों; विपत्तियों, शापों और यंत्रणाओं से सुरक्षित रखते हैं और उन्हें सम्पत्ति तथा समृद्धि से परिपूर्ण करते हैं (१, १८[७]; २, २३[४-१०]) सभी वांछनीय पदार्थों से सम्पन्न (७, १०[४]. ९७[४]), यह समृद्ध, सम्पत्ति को अर्जित करनेवाले, और समृद्धि की वृद्धि करनेवाले हैं (१, १८[२])। यह जीवन को दीर्घ और व्याधियों को दूर करते हैं (१, १८[२])। इस प्रकार की उपकारी प्रकृति के कारण ही इन्हें पिता भी कहा गया है (४, ५०[६]; ६, ७३[१])।

यह दिव्य, अर्थात् 'असुर्य' (२, २३[२]), सभी देवों के (३, ६२[४]; ४, ५०[६]), और देवों में सर्वाधिक देववत हैं (२, २४[३])। एक देव के रूप में इन्होंने देवों पर व्यापक रूप से कृपा की और यह सभी वस्तुओं के स्वामी हैं (२, २४[११], तु० की० ८, ६१[१८])। अपने गर्जन द्वारा यह बलपूर्वक पृथ्वी के छोरों को अलग अलग धारण कर रखते हैं (४, ५०[१])। यह इन्हीं का अप्रतिम कृत्य है कि सूर्य और चन्द्रमा दोनों का उदय एकान्तरित होता रहता है (१०, ६८[१०])। ऐसा भी कहा गया है कि यह पौधों के विकास को उद्दीप्त करते हैं (१०, ९७[१५.१९])। बाद में बृहस्पति को कुछ तारों से भी सम्बद्ध किया गया है। इस प्रकार तैत्तिरीय संहिता (४, ४, १०[१]) में ऐसा कथन है कि यह 'तिष्य'[९] नक्षत्र-पुञ्ज के एक देवता हैं, और वैदिकोत्तर साहित्य में इन्हें बृहस्पति नक्षत्र ही माना गया है।

बृहस्पति विशुद्ध रूप से एक भारतीय देवता हैं। इनके नाम के दोनों ही रूप ऋग्वेद के प्राचीन और बाद के मण्डलों में सर्वत्र आते हैं। किन्तु किसी एक क्षेत्र विशेष के अधिपति के रूप में देवों की 'पति' के साथ बनी अभिधायें (जैसे 'वाचस्-पति', 'वास्तोष्-पति', 'क्षेत्रस्यं-पति') अपेक्षाकृत बाद की कल्पनाओं की उत्पत्ति[१०] होने के कारण यह पुराकथाशास्त्रीय सृजन—कदाचित ही ऋग्वेदिक काल के आरम्भ से और पहले का हो सकता है। 'बृहस्पति' शब्द का स्वराघात ऐसा व्यक्त करता है कि इसका यौगिक रूप अनुपयुक्त है। इसका प्रथम रूप सम्भवत: '–असू'[११] के साथ संयुक्त एक क्लीव संज्ञा हो सकती है, किन्तु इसीका अन्य समसामयिकरूप 'ब्रह्मणस्-पति', जो एक प्रकार की व्याख्या है, यह

व्यक्त करता है कि ऋग्वेद के कवि इसे 'ब्रह्मन्' की धातु से निष्कृष्ट 'बृह' संज्ञा का षष्ठी रूप[12] मानते थे।

उपरोक्त प्रमाण इस दृष्टिकोण के अनुकूल प्रतीत होते हैं कि बृहस्पति मूलतः यज्ञ सम्पन्न कराने वाले दिव्य पुरोहित के रूप में अग्नि के ही एक ऐसे पक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे, जिसने ('पति' के साथ बनी अग्नि की अन्य उपाधियाँ, जैसे 'विशाम्-पति', 'गृहपति', 'सदस्पति' आदि से भिन्न) ऋग्वेदिक काल के आरम्भ में ही एक स्वतंत्र प्रकृति विकसित कर लिया था, यद्यपि अग्नि के साथ इनका सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न नहीं हो सका है। लैङ्गलोइस[13], विलसन[14], और मैक्स मूलर[15], बृहस्पति को अग्नि का ही एक प्रकार मानने पर सहमत हैं। रौथ[16] का ऐसा विचार था कि यह पौरोहित्य-प्रधान देवता स्तुति की शक्ति का प्रत्यक्ष प्रतिरूप है। इसी प्रकार केगी[17] और औल्डेनबर्ग[18] का ऐसा विचार है कि यह पौरोहित्य कर्म का ही एक पृथक रूप है जिसने पहले के देवों के कृत्यों को भी अपना लिया है। वेबर[19] बृहस्पति को इन्द्र से पृथक किया गया उनका पुरोहित रूप मानते हैं, और हॉपकिन्स[20] भी इसी मत से सहमत हैं। अन्त में हिलेब्रान्ट[21] इन्हें पौधों का अधिपति और चन्द्रमा का एक मूर्तीकरण[22] मानते हैं जो प्रमुखतः इस प्रकाशमान पिण्ड के आग्नेय रूप का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

दिव्य 'ब्रह्मन्' पुरोहित के रूप में बृहस्पति हिन्दू त्रयी के प्रमुख देव 'ब्रह्मा' के प्रतिरूप प्रतीत होते हैं, जब कि इस शब्द का क्लीव रूप 'ब्रह्म' वेदान्त दर्शन[23] के परम ब्रह्म के रूप विकसित हो गया।

[1]तु० की० त्सी० गे० ३७, ३१६ — [2]औ० वे० ३९६, नोट १; से० बु० ई० ४६, १९० — [3]औ० वे० ३८२ — [4]रौथ का विचार है कि यह मरुद्गण हैं: त्सी० गे० १, ७७ — [5]तारे, हि० वे० मा० १, ४१६; मरुद्गण, वेदइन्टर-प्रिटेशन १० — [6]त्सी० गे० १, ७७ — [7]तु० की० हिलेब्रान्ट: वेदइन्टर-प्रिटेशन, १० — [8]मूईर: सं० टे० ५, २८३ — [9]वेबर: डी नक्षत्र, २, ३७१ — [10]रौथ: त्सी० गे० १, ७२ — [11]हि० वे० मा० १, ४०९ — [12]मैकडौनेल: कु० त्सी० ३४, २९२-६ — [13]ऋग्वेद का अनुवाद १, २४९. २५४. ५७८ — [14]ऋग्वेद का अनुवाद १, xxxvii — [15]वैदिक हिम्स, से० बु० ई० ३२, ९८ — [16]त्सी० गे० १, ७३; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश — [17]के० ऋ० ३२ — [18]औ० वे० ६६-८. ३८१-२; से० बु० ई० ४६, ९४ — [19]वाजपेय, १५ — [20]हॉ० इ० १३६; तु० की० विलसन: ऋग्वेद का अनुवाद २, ix; ग्राह्के: घा० xi — [21]हि० वे० मा० १, ४०४. ४१८-९ (तु० की० २७७); तु० की० औल्डेनबर्ग: त्सी० गे० ४९, १७३ — [22]हार्डी: वे० पी० ४६-७ भी — [23]बर्गेन: ल० रि० वे० १, ३०४; हॉ० इ० १३६।

रौथ : त्सीं० गे० १, ७२-८०; मूईर : सं० टे० ५, २७२-८३; बर्गेन : ल० रि० वे० १, २९९-३०४; के० ऋ० ७३-४; हि० वे० मा० १, ४०४-२५; लु० ऋ० फौ० ९७-८; पिशल : गौ० ऐ० १८९४, पृ० ४२०।

§ ३७. सोम :—ऋग्वेद[1] के संस्कारों में सोम यज्ञ का प्रमुख स्थान होने के कारण स्वभावतः सोम इस वेद के सर्वप्रमुख देवों में से एक हैं। नवम मण्डल के समस्त ११४ सूक्त और अन्य मण्डलों के ६ सूक्त इनकी स्तुति में समर्पित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त प्रायः चार या पाँच सूक्तांशों तथा ६ अन्य में इन्द्र, अग्नि, पूषन, अथवा रुद्र के साथ-साथ युगल देव के रूप में भी इनकी प्रख्याति है। सरल अथवा यौगिक रूपों में सोम का नाम ऋग्वेद में शताधिक बार आता है। अतः आवृत्ति के आधार पर निर्णय करने पर वैदिक देवों में महत्त्व की दृष्टि से इनका तृतीय स्थान होगा। इन्द्र अथवा वरुण की अपेक्षा सोम कहीं कम मूर्तीकृत है, और इसके पौधे तथा इसके रस की निरन्तर उपस्थिति इसके मूर्तीकरण का वर्णन करने वाले कवि की कल्पना को सीमित करती रहती है। फलस्वरूप इसके मानवीय रूप अथवा कृत्यों के सम्बन्ध में बहुत कम ही कहा गया है। इस पर आरोपित अद्भुत और वीरोचित कृत्य या तो नीरस हैं क्योंकि वह अन्य सभी महान देवों के कृत्यों के ही समान हैं, अथवा केवल गौण रूप से आरोपित कर दिये गये हैं। अन्य देवों की भाँति इसका भी 'इन्दु' अथवा सोम नाम से यज्ञ स्थल पर आने और कुशासन पर बैठ कर यज्ञभाग ग्रहण करने के लिये आवाहन किया गया है।[2] नवम मण्डल प्रमुखतः ऐसे अभिचारीय मन्त्रों से भरा है जो उस समय गाये जाते थे जब वास्तविक सोम पत्थरों से दबाया जाता था और वह ऊनी छननें से होकर लकड़ी के उन मद्यसंधान पात्रों में गिरता था जिनमें से ही इसे एक पेय के रूप देवों को कुशास्तरण पर समर्पित(१, ९४[१४]; ५, ५[३]; ८, ४३[११] इत्यादि) अथवा पुरोहितों द्वारा पान, किया जाता था। सोम-निर्माण के लिये जिन पद्धतियों का उपयोग होता था उनका वर्णन अत्याधिक विभिन्नता पूर्ण, अस्तव्यस्त कल्पनाओं से युक्त, और कहीं-कहीं ऐसी रहस्यात्मक कल्पनाओं से परिपूर्ण है कि उसकी कोई विशिष्ट व्याख्या सम्भव ही नहीं।

सोम के पुराकथाशास्त्र को, जिसका आधार एक स्थूल पार्थिव पौधे से निचोड़ कर निकाला गया रस ही है, सुबोध बनाने के लिये इस पौधे और उससे सोम निकालने की विधि का संक्षिप्त वर्णन कर देना आवश्यक है। सोम-पौधे के जिस भाग को दबाया जाता है उसे 'अंशु' कहते हैं (९, ६७[२८])। यह अंशु ही फूल कर उस प्रकार दुग्ध देते हैं जिस प्रकार गाय का थन (८, ९[१९])। अंशु से विभेद करते हुए समस्त सोम-पौधे को सम्भवतः 'अन्धस्'

कहा गया प्रतीत होता है (८, ३२[२८]; १०, ९४[८] इत्यादि)। ऐसा कहा गया है कि 'अन्धस' स्वर्ग से आता है (९, ६१[१०]) अथवा उसे उत्क्रोश पक्षी लाते हैं (५, ४५[९]; ९, ६८[६]; १०, १४४[५])। यही शब्द इसके रस के लिये भी[3] व्यवहृत हुआ है, और 'इन्दु' नामक देव ने इसका विभेद किया गया है (९, ५१[३]; १०, ११५[3])। इसके रस को सोम (जिससे पौधे का भी अर्थ है), और अधिक सामान्यतया 'रस' शब्द से व्यक्त किया गया है। एक सूक्त (१, १८७) में रस को 'पितु' (पेय) कहा गया है; इसे अक्सर 'मद' भी (मादक पेय)[४] कहा गया है। कभी-कभी 'अन्न' (खाद्य पदार्थ) द्वारा भी सोम को व्यक्त किया गया है (७, ९८[२]; ८, ४[१२]; शतपथ ब्राह्मण १, ६, ४[५])। 'मधु' शब्द, जिसका अश्विनों के सन्दर्भ में 'शहद अथवा 'मधु' अर्थ है, यहाँ भी 'मीठे पेय' के एक सामान्य आशय में, केवल दुग्ध (पयस्) और 'घृत' के लिये ही नहीं, वरन विशेषतः सोमरस के लिये व्यवहृत हुआ है (४, २७[५]; ८, ६९[६])। पुराकथाशास्त्रीय दृष्टि से 'मधु' सोम का समकक्ष है, जब कि सोम का अर्थ दिव्य पेय (अमृत)[५] है। इसके विपरीत अक्सर साधारण सोम के समकक्ष 'अमृत' का प्रयोग किया गया है (५, २[३]; ६, ३७[3] इत्यादि; वाजसनेयि संहिता ६, ३४; शतपथ ब्राह्मण ९, ५, १[८])[६]। राजा सोम को जब दबाया जाता है तब वह 'अमृत' हो जाता है (वाजसनेयि संहिता १९, ७२)। 'सोम्यम् मधु' दूसरी व्याहृति है (४, २६[५]; ६, २०[3])। लाक्षणिक आशय में सोम रस को 'पीयूष' (३, ४८[२] इत्यादि), दुग्ध (९, १०७[१२]), काएड की लहर (९, ९६[८]), अथवा मधु का रस (५, ४३[४]) कहा गया है। सर्वाधिक बार सोम के लिये व्यवहृत लाक्षणिक नाम 'इन्दु' है, और इसी आशय का दूसरा शब्द 'द्रप्स' अपेक्षाकृत कम बार प्रयुक्त हुआ है।

रस के निष्कर्षण का सामान्यतया 'सु' (दबाना) धातु से, (९, ६२[४] इत्यादि), किन्तु कभी-कभी 'दुह्' (दुहना) से (३, ३६[६ ७] इत्यादि) भी वर्णन किया गया है। यह रस मादक (१, १२५[3]. ६, १७[११] २०[६]) और 'मधुमत्' (९, ९७[१४]) होता है। इस बाद की व्याहृति का केवल 'मीठा' अर्थ है, किन्तु सोम के लिये व्यवहृत होने पर मूलतः इसका अर्थ 'मधु के मिश्रण द्वारा मीठा किया गया' रहा हो सकता है, क्योंकि कुछ स्थल इस मिश्रण का संकेत भी करते हैं (९, १७[८]. ८६[४८]. ९७[११]. १०९[२०])[७]। दबाने के उपकरण से बहते हुये सोम की एक जलधारा के लहरों से तुलना की गई है (९, ८०[५]) और उसे प्रत्यक्ष रूप से एक लहर (९, ६४[११] इत्यादि) अथवा मधु की लहर (३, ४७[१]) कहा ही गया है। संधानपात्र में एकत्र रस के सन्दर्भ में सोम को

एक सागर (अर्णव : १०, ११५[३]) और अक्सर महासागर (समुद्र : ५, ४७[३]; ९, ६४[८] इत्यादि) कहा गया है। दिव्य सोम को एक कूप (उत्स) भी कहा गया है जो गायों के उच्चतम स्थान में स्थित (५, ४५[८]), गायों के बीच और दस वल्गाओं (अर्थात् अंगुलियों : ६, ४४[२४]) से नियन्त्रित, अथवा विष्णु के उच्चतम पग में स्थित मधु का कूप है (१, १५४[५])।

इस पौधे, और साथ ही साथ, इस देव के रंग और रस को भूरा (बभ्रु) अथवा लाल (अरुण), किन्तु सर्वाधिक बार हरा (हरि) कहा गया है। इस प्रकार सोम एक अरुणिम वृक्ष की शाखा है (१०, ९४[३]); यह अरुणिम दुग्ध युक्त शाखा है (७, ९८[१]); अथवा दबा कर छनने में गिराई गई हरी शाखा है (९, ९२[१])। सोम–पौधे अथवा उसके स्थानापन्न का ब्राह्मणों में मान्य रङ्ग अरुणिम है (शतपथ ब्राह्मण ४, ५, १०[१]); और संस्कार में सोम का क्रय करने के लिये मूल्य स्वरूप जिस गाय को दिया जाता है उसे भी भूरा अथवा अरुणिम ही होना चाहिए क्योंकि सोम का यही रंग माना गया है (तैत्तिरीय संहिता ६, १, ६[७]; शतपथ ब्राह्मण ३, ३, १[१४])[८]।

हाथों द्वारा (९, ८६[३४]), दस उँगलियों द्वारा (९, ८[४]·१५[८] इत्यादि), अथवा, लाक्षणिक दृष्टि से दस ऐसी कन्याओं द्वारा जो बहने हैं (९, १[७]·६[५]), अथवा विवस्वत् की पुत्रियों (नप्ती) द्वारा (९, १४[५]) सोम के परिष्कृत होने का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार यह कहा गया है कि त्रित की कन्यायें इन्द्र के पान करने के लिए पाषाण से इस हरित पेय की बिन्दुओं को निकालती हैं (९, ३२[२]·३८[२])। सूर्य की पुत्री द्वारा भी सोम को लाने अथवा उसका परिष्कार करने की चर्चा है (९, १[६].७२[३].११३[३])[९]। कभी कभी स्तुतियों द्वारा भी इसका परिष्कृत होना कहा गया है (९, ९६[१३].११३[५])। जो पुरोहित सोम को दबाते हैं वह अध्वर्यु[१०] होते हैं (८, ४[११]·)

'अंशु' को एक पत्थर से कुचला (९, ६७[१९]) अथवा पत्थरों से दबाया जाता है (९, १०७[१०]); सोम रस को उत्पन्न करने के लिये पौधे को कुचला जाता है (१०, ८५[३])। पत्थर इसके चर्म को अलग कर देते हैं (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ७, १३[१])। पत्थरों को एक चर्मपट पर रक्खा जाता है; क्योंकि वह 'गाय की खाल पर इसका चर्वन करते हैं' (९, ७९[४])। उन्हें एक वेदी (वेदि) पर रक्खा जाता है (५, ३१[१२]): यह प्रचलन बाद के सस्कार[११] से भिन्न है। उन्हें हाथों से पकड़ा जाता है (७, २२[१]; ९, ७९[४]; अथर्ववेद ११, १[१०])। दो हाथ और दस उँगलियाँ पत्थरों को सन्नद्ध करते हैं (५, ४३[४])। इसलिये पत्थरों को दस वल्गाओं द्वारा नियन्त्रित कहा गया है (१०, ९४[८])। इन्हें सन्नद्ध कहा गया होने के कारण अश्वों से इनकी तुलना की गई है

(१०, ९४[६])। दवाने के पत्थरों का साधारण नाम 'अद्रि' (सामान्यतया 'सु' क्रिया के साथ प्रयुक्त) अथवा 'ग्रावन्' (सामान्यतया 'वद्' अर्थात् बोलना, अथवा अन्य सजातीय अर्थ की क्रियाओं के साथ सम्बद्ध किया गया है, जिसके कारण 'अद्रि' की अपेक्षा इसमें मूर्तीकरण[१२] की प्रवृत्ति अधिक व्यक्त होती है) बताया गया है। यह दोनों ही शब्द सदैव या तो एकवचन अथवा बहुवचन में आते हैं, किन्तु द्विवाचक के रूप में नहीं। पत्थरों को एक बार क्रमशः 'अश्न' (८, २[२]), 'भरित्र' (३, ३६[७]), 'पर्वत' (३, ३५[८]) और 'पर्वता अद्रयः' (१०, ९४[१]) भी कहा गया है। ऋग्वेद के समय में सोम को पत्थरों से दबाना ही सामान्य विधि थी। किन्तु उडूखल और मूसल द्वारा इसका निष्कर्षण, जिसकी सांस्कारिक ग्रन्थों में भी मान्यता है, ऋग्वेद (१, २८[१-४]) के समय में परिचित था; और पारसियों में इसी विधि के प्रचलन के कारण यह भारतीय-ईरानी काल की भी हो सकती है।

दबाये गये विन्दुओं को गिराया जाता था (९, ६३[१०] इत्यादि) और वह भेड़ के ऊन के बने छनने से होकर निकलते थे (९, ६९[९]) क्योंकि छनना सोम की मैल को हटा देता था जिससे वह स्वच्छ होकर देवों को समर्पित होने के लिये जाता था (९, ७८[१])। यह छनना, जिसका बहुधा उल्लेख है, अनेक नामों से व्यक्त हुआ है। इसे चर्म (त्वच्), बाल (रोमन्), ऊन (वार), छनना (पवित्र), अथवा पृष्ठ ('सानु' किसी उपकरण के ऊपरी भाग के रूप में) कहा गया है। इन सभी शब्दों का 'अवि' से बने विशेषण के साथ अथवा उसके बिना ही प्रयोग हुआ है। स्वयं 'अवि' शब्द का भी कभी-कभी लाक्षणिक रूप से इस आशय में व्यवहार हुआ है। छनने से होकर निकलते हुये सोम को वहुधा 'पवमान' अथवा 'पुनान' अर्थात 'स्वच्छ होकर बहने वाला' (√पू से) कहा गया है। अधिक सामान्य शब्द 'मृज्' (स्वच्छ करना) का न केवल सोम को छनने से स्वच्छ करने के लिये ही वरन् इसमें जल अथवा दुग्ध के मिश्रण के लिये भी प्रयोग हुआ है (९, ८६[११]. ९१[२])। परिष्कृत (अमिश्रित) सोमरस को कभी-कभी 'शुद्ध', किन्तु अधिकतर 'शुक्र' अथवा 'शुचि' कहा गया है (८, २[१०]; ९, ३३[२]; १, ५[५] ३०[२])। यह अमिश्रित सोम प्रायः एक मात्र वायु और इन्द्र को ही अर्पित होता था, तथा 'शुचिपा' (स्वच्छ सोम पान करने वाला) उपाधि वायु की ही विशिष्टता है (पृ० १५६)। यही बाद के उस संस्कार के भी अनुकूल है जहाँ युगल देवों के पेयों के रूप में वायु और इन्द्र-वायु के लिये स्वच्छ सोम, किन्तु मित्र-वरुण के लिये दुग्ध-मिश्रित, और अश्विनों के लिये मधु-मिश्रित सोम समर्पित किया गया है।[१३]

छनने से होकर सोम 'कलशों' में (९, ६०[३] इत्यादि); अथवा 'द्रोण[१४]'

में एकत्र होता था। सोम की धारायें द्रोणों के वनों की ओर महिषों की भाँति दौड़ती हैं (९, ३३[१]. ९२[६])। द्रोणों में बैठने के लिये यह देव एक पक्षी की भाँति उड़ता है (९, ३[१])। एक वृक्ष पर बैठे हुये पक्षी की भाँति यह हरित पदार्थ पात्रों (चमू : ९. ७२[५]) में उतरता है। द्रोण में रखकर सोम में जल मिश्रित किया जाता है। लहरों के साथ मिल कर इस पौधे का काण्ड गर्जन करता है (९, ७४[५])। गौओं को प्राप्त करने वाले वृषभ की भाँति यह गर्जन करने वाला वृषभ द्रोण-कलश की ओर जलों की गोद में दौड़ता है; गायकों द्वारा प्रेरित होने पर जलों से वेष्ठित 'इन्दु' द्रोणकलश की ओर दौड़ता है (९, ७६[५]. १०७[२६])। बुद्धिमान लोग अपने हाथों से इसका जल में दोहन करते हैं (९, ७९[४])। ऊन से छन कर और जल में क्रीड़ा करने वाले सोम दस कन्याओं द्वारा परिष्कृत होते हैं (९, ६[५])। अनेक अन्य स्थल भी सोम के साथ जल के मिश्रण का उल्लेख करते हैं (९, ३०[५]. ५३[४]. ८६[८.२५])। यह कहा गया है जल धाराओं में सोम विन्दु उज्ज्वलता फैलाते हैं (९, ७६[१])। सामान्यतया जल के मिश्रण को व्यक्त करने के लिये 'मृज्' क्रिया के प्रयोग (यथा, ९, ६३[१७]) के अतिरिक्त 'आ-धाव्' (धोना) का भी व्यवहार हुआ है (८, १[१७])। सोम तैयार करने की क्रिया में दवाना (√सु) सर्वप्रथम आता है, और उसके बाद जल का मिश्रण (७, ३२[६]; ८, १[१७]. ३१[५]; अथर्ववेद ६, २[१]) उसी प्रकार आता है, जिस प्रकार बाद के संस्कार में 'सवन' (दवाना), 'आधावन' (धोना) के पहले आता है। पात्रों में रख कर सोम के साथ दुग्ध मिश्रित किया जाता है (९, ८[६] इत्यादि)[१५] जिससे यह मीठा हो जाता है (८, २[३])[१६]। अनेक स्थलों पर जल और दुग्ध, दोनों के ही मिश्रण का उल्लेख है। इस प्रकार यह कहा गया है कि सोम जल का परिधान धारण करता है, अथवा यह कि जब यह गायों (अर्थात दुग्ध) का परिधान धारण करना चाहता है तब इसके पीछे जल की धारायें फूट पड़ती हैं (९, २[३.४])। वह लोग इसे पत्थरों से दवाते हैं, जलों से धोते हैं, और मानों गायों का परिधान पहना कर मनुष्य इसका पौधे के काण्ड से दोहन करते हैं (८, १[१७]; तु० की० २, ३६[१]; ६, ४०[२]; ९, ८६[२४-२५]. ९६[१९])।

ऋग्वेद में सोम के साथ तीन प्रकार के मिश्रणों (त्र्याशिर् : ५, २७[५]) की मान्यता है, यथा : दुग्ध-मिश्रित (गवाशिर्), दधि-मिश्रित (दध्याशिर्) और जौ-मिश्रित (यवाशिर्)। मिश्रण को लाक्षणिक रूप से परिधान (वस्त्र, वासस्, अत्क)[१७] अथवा प्रदीप्त परिधान (निर्णिज् : ९, १४[५]) कहा गया है और यह बाद का शब्द छनने के लिये भी व्यवहृत हुआ है (९, ७०[७])। अतः सोम को सुन्दरता से मढ़ा हुआ (९, ३४[४] इत्यादि) और सुअलंकृत

(९, ८१[१]) कहा गया है। यद्यपि बहुत कम, फिर भी, घृत के मिश्रण का भी उल्लेख है (९, ८२[२]); किन्तु न तो इसके और न जल के मिश्रण को ही नियमित रूप से 'आशिर्'[१८] कहा गया है।

संस्कार में एक 'आप्यायन' नामक कृत्य भी है, जिसके अन्तर्गत आधे दबे सोम काण्ड को फिर से जल में भिगाकर फूलने दिया जाता था। इस कृत्य का आरम्भ मैत्रायणी संहिता (४, ५[५]) में देखा जा सकता है। 'आ-प्या' (फूलना) क्रिया सोम के सन्दर्भ में ऋग्वेद में आती है (१, ९१[१६-८]; १०, ८५[५])[१९]; किन्तु यहाँ इससे चन्द्रमा के साथ समीकृत होने के रूप में सोम का सन्दर्भ प्रतीत होता है। फिर भी एक अन्य स्थल (९, ३१[४]) पर इसका एक सांस्कारिक प्रयोग हो सकता है। ऋग्वेद में सोम को एक सागर अथवा नदी की भाँति फैलनेवाला ('पि', 'पिन्व') भी कहा गया है (९, ६४[८]. १०७[१२])।

ऋग्वेद में सोम के दिन में तीन बार दबाये जाने का वर्णन है। इसी कारण सन्ध्याकालीन दबाने के समय ऋभुओं को आमन्त्रित किया गया है (४, ३३[११] इत्यादि)[२०], मध्याह्न के समय इन्द्र को (३, ३२[१-२]; ८, ३७[१]) और यह इन्द्र के लिए ही होता है (४, ३६[७]), जब कि प्रातःकालीन समर्पण भी इन्हीं का प्रथम पेय कहा गया है (१०, ११२[१])।

सोम के आवास (सधस्थ) का अक्सर उल्लेख है[२१]। फिर भी, एक बार इनके तीन आवासों का उल्लेख किया गया है जिनमें यह शुद्ध होने के बाद रहते हैं (९, १०३[२]), और एक अन्य स्थल (८, ८३[५]) पर इनके लिए 'त्रिषधस्थ' (तीन आवासों वाला) उपाधि व्यवहृत हुई है। यह तीन आवास इस समय भी सोमयज्ञ सम्बन्धी बाद के संस्कार में व्यवहृत तीन बड़े पात्रों के द्योतक हो सकते हैं (तैत्तिरीय संहिता (३, २, १[२]; कात्यायन श्रौतसूत्र ९, ५[१७]. ७[४]; तु० की० ऋग्वेद ८, २[८]); किन्तु बर्गेन (बर्गेन : ल० रि० वे० १, १७९) इन्हें सर्वथा पुराकथा-शास्त्रीय मानते हैं। सोम के जिन तीन जलाशयों का इन्द्र पान करते हैं (५, २९[७-८]; ६, १७[११]; ८, ७[१०])[२२] उनके सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की व्याख्या उपयुक्त हो सकती है। 'त्रिपृष्ठ' उपाधि सोम की ही विशिष्टता है। कम से कम एक बार सोमरस के लिए व्यवहृत (७, ३७[१]) इस उपाधि से सम्भवतः (जैसा कि सायण का विचार है) उसी प्रकार इसके तीन मिश्रणों का आशय हो सकता है जिस प्रकार अग्नि की 'घृतपृष्ठ' उपाधि से बहुत कुछ अग्नि में घृत छोड़ने का आशय है।[२३]

रस में जल मिश्रित करने पर आधारित, सोम के साथ जल के सम्बन्ध को अत्यधिक विविध रूपों से व्यक्त किया गया है। सोम से जल धारायें बहती हैं (९, ३१[३])। जल इनके विधानों का अनुसरण करते हैं (९, ८२[५])। यह

जलधाराओं के मस्तक पर प्रवाहित होते हैं (९, ८६^{१२})। यह जलधाराओं के स्वामी और सम्राट् (९, १५^{५}.८६^{३३}.८९^{२}), प्रेमिकाओं के स्वामी (९, ८६^{३२}), एक 'समुद्रिय' राजा और देवता हैं (९, १०७^{१६})। जल इनकी बहनें हैं (९, ८२^{३})। जलों के नायक के रूप में सोम वर्षा पर शासन करते हैं (९, ७४^{३})। यह जलों को उत्पन्न करते हैं और आकाश तथा पृथ्वी से वर्षा कराते हैं (९, ९६^{३})। यह आकाश से जलों की वर्षा कराते हैं (९, ८^{८}.४९^{१}. ९७^{१७}.१०८$^{९.१०}$) स्वयं सोम-विन्दुओं की अनेक बार वर्षा से तुलना की गई है (९, ४१^{३}.८९^{१}. १०६^{९})[२४], और यह कहा गया है कि वर्षा से भरे मेघ की भाँति सोम भी स्वच्छ मधु की धाराओं में प्रवाहित होता है (९, २^{९})। इसी प्रकार पवमान-विन्दुओं को भी आकाश से, अन्तरिक्ष से, पृथ्वी के पृष्ठ पर से, प्रवाहित होने वाला कहा गया है (९, ६३^{२७})। कुछ अन्य स्थल ऐसे भी हैं जहाँ दोहन किये गये सोम से वर्षा का तात्पर्य है (८, ७^{१०}; ९, ७४^{४}, तु० की० १०, ३०^{४})[२५]। शतपथ ब्राह्मण (११, ५, ४^{५}) अमृत को जलों के साथ समीकृत करता है। इस समीकरण ने ही उस पुराकथा को जन्म दिया हो सकता है जिसमें सोम के उत्क्रोश पक्षी द्वारा मनुष्य के पास लाये जाने का उल्लेख है (पृ० २११)[२६]। किन्तु पृथ्वी पर उतरने वाले दिव्य सोम को निश्चित रूप से केवल वर्षा के साथ मिश्रित ही माना जाता था, वर्षा के साथ समीकृत नहीं।[२६]

उल्लासप्रद लहर, इन्द्र के पेय, आकाश में जन्मे कूप को, गतिशील बनाने के लिए जलों का आवाहन किया गया है (१०, ३०^{९})। सोम वह विन्दु है जो जलों में विकसित होता है (९, ८५^{१०}.८९^{२})। यह जलों का गर्भ (९,९७^{४१}; शतपथ ब्राह्मण ४, ४, ५^{२१}) अथवा उनका पुत्र है, क्योंकि माता के रूप में सात बहनें इस नवजात शिशु और जलों के गन्धर्व के चतुर्दिक रहती हैं (९, ८६^{३६}; तु० की० १०, १३^{५}); जलों को प्रत्यक्ष रूप से इनकी मातायें ही कहा भी गया है (९, ६१^{४})। जलों अथवा गायों के बीच एक युवक के रूप में भी सोम को व्यक्त किया गया है (५, ४५^{९}; ९, ९^{५}।)

परिष्कृत हो रहे सोम रस से पात्रों में गिरते समय निकलने वाली ध्वनि का अक्सर उल्लेख है। वर्षा की ध्वनि से इसकी तुलना की गई है (९, ४१^{३})। किन्तु इन स्थितियों में भाषा सामान्यतया अत्युक्तिपूर्ण ही है। इस प्रकार यह कहा गया है छनने पर मधुर विन्दु ऐसे गिरते है मानों योद्धाओं का घोष हो (९, ६९^{६})। इस ध्वनि को नित्य ही गर्जन अर्थ वाली विभिन्न प्रकार की क्रियाओं से व्यक्त किया है, जैसे 'क्रन्द्', 'नद्', 'मा', 'रु', 'वाश्' आदि (९. ९१^{६}. ९५^{४} इत्यादि)। यहाँ तक कि 'स्तन्' क्रिया (गर्जन करना) का भी व्यवहार

किया गया है (९, ८६[९]) और यह कहा गया है कि बुद्धिमान लोग 'गर्जन करने वाले सोम-काण्ड' का दोहन करते हैं (९, ७२[६])। कुछ मंत्रों में विद्युत को भी सोम के परिष्करण के साथ सम्बद्ध किया गया है (९, ४१[३]. ८०[३]. ८४[३]. ८७[८])। यहाँ सम्भवतः दिव्य सोम के परिष्कार का आशय है, और इससे झंझावात की घटना ही उद्दिष्ट प्रतीत होती है।[२८]

जब सोम को गर्जन करनेवाला कहा गया है तब इसकी या तो एक वृषभ से तुलना की गई है अथवा प्रत्यक्षरूप से वृषभ ही कहा गया है। 'एक वृषभ की भाँति यह लकड़ी में गर्जन करता है' (९, ७[३]); 'हरित वृषभ गर्जन करता है और सूर्य के साथ प्रकाशित होता है' (९, २[६])। यतः, दुग्ध-मिश्रित अथवा बिना दुग्ध[९] के ही जलों को लाक्षणिक रूप से गायें कहा गया है, अतः जलों के साथ सोम का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा वृषभ का गायों के साथ। यह गायों के बीच एक वृषभ है (९, १६[६]. ६९[४]. ९६[७]) अथवा गायों का स्वामी है (९, ७२[४])। यह गायों के बीच विचरण करते हुए वृषभ की भाँति गर्जन करता है (९, ७१[९]) अथवा गायों को देखकर गर्जन करते वृषभ के समान है (९, ७१[७]। गायें भी इसे देख कर रंभती हैं (९, ८०[२] इत्यादि)। यह आकाश का, और साथ ही साथ, पृथ्वी तथा जल-धाराओं का वृषभ है (६, ४४[२१])। एक भैंसे (महिष) के साथ तुलना करके सोम की साहसिकता का भी उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। अतः सोम को एक 'पशु' तक कहा गया है (९, ८६[४३])। गो-जलों के बीच का एक वृषभ होने के कारण सोम जलों को गर्भित करता है (१०, ३६[८], तु० की० ९, १९[५])। यह एक 'रेतोधा' भी है (९, ८६[३९]), जो उपाधि यजुर्वेद (मैत्रायणी संहिता १, ६[९]) में विशेष रूप से चन्द्रमा के लिये व्यवहृत हुई है। इस प्रकार यह गर्भदाता है (९, ६०[४]. ७४[५])। सोम, जिसे इतनी अधिक बार एक वृषभ ('उक्षन्', 'वृषन्', 'वृषभ') कहा गया है, एक तीक्ष्ण सींघोंवाला (तिग्मशृङ्ग) है। यह उपाधि ऋग्वेद में आनेवाले छः स्थलों में से पाँच पर एक ऐसे शब्द के साथ आती है जिसका अर्थ 'वृषभ' है। इस प्रकार इन्द्र का यह मथित पेय (मन्थ) एक तीक्ष्ण सींघवाले वृषभ के समान है (१०, ८६[१५])। (अग्नि की भाँति) सोम को भी अपनी सींघें तीक्ष्ण करनेवाला कहा गया है (९, १५[४]. ७०[७])[३०]।

सोम क्षिप्र हैं (१, ४[७]) और, जिस गति से दबाया गया रस प्रवाहित होता है उसके उदाहरण के लिये, इसकी अक्सर या तो एक अश्व से तुलना की गई है अथवा एक अश्व कहा ही गया है। इस प्रकार ऐसा कथन है कि क्षिप्र अश्व की भाँति इसे दस कन्यायें परिष्कृत करती हैं (९, ६[५])। वह बिन्दु जो इन्द्र को मदमत्त बनाता है, एक हरित अश्व है (९, ६३[१७])। पात्रों में

गिरते हुये सोम की अक्सर वन की ओर उड़ते पक्षी से तुलना की गई है (९, ७२[५] इत्यादि)।

इसके पीले रंग के कारण, कवियों द्वारा सोम के जिस भौतिक गुण का वर्णन किया गया है वह इनकी उज्ज्वलता है। इनकी किरणों का अक्सर उल्लेख है, और इन्हें कभी कभी सूर्य के साथ समीकृत किया गया है। यह सूर्य के समान अथवा सूर्य के साथ प्रकाशित होते है, अथवा अपने को सूर्य की रश्मियों से परिवेष्ठित करते हैं (९, ७६[४]. ८६[३२]; तु० की० ७१[९]। यह सूर्य के रथ पर आरूढ़ होते हैं और सूर्य की भाँति सभी वस्तुओं के ऊपर स्थित हैं।[३३] यह सूर्य की रश्मियों की भाँति पृथ्वी और आकाश को व्याप्त करते हैं (९, ४१[५])। एक प्रदीप्त पुत्र के रूप में जन्म लेने पर इन्होंने अपने माता-पिता को प्रकाशित कराया (९, ९[३])। सूर्य की पुत्री इन्हें परिष्कृत करती है (९, १[६])। इस प्रकार ऐसा कहा गया है कि यह अन्धकार से युद्ध करते हैं (९, ९[७]), उसे प्रकाश से भगा देते हैं (९, ८६[२२]), अथवा अन्धकार को भगाते हुये उज्ज्वल प्रकाश का सृजन करते हैं (९, ६६[२४]. १००[८]. १०८[१२] इत्यादि)।

साधारण भोजन और पेयों से श्रेष्ठता में अधिक और प्राकृतिक शक्ति-सीमा से परे कृत्यों को सम्भव बनाने वाले सोम के उल्लासप्रद और शक्ति वर्धक प्रभाव को रहस्यमयता ने इसे दिव्य पेय का ऐसा रूप प्रदान कर दिया है जो जीवन को अमर बनाने वाला है। इसीलिये इसे पुराकथाशास्त्रीय दृष्टि से 'अमृत' कहा गया है। यह एक ऐसा अमर उद्दीपक है (१, ८४[४]) जिससे देवगण प्रेम करते हैं (९, ८५[२]) और जिसका मनुष्यों द्वारा दबा कर दुग्ध मिश्रित कर दिये जाने पर सभी देव पान करते हैं (९, १०९[१५]); क्योंकि वह लोग उल्लास चाहते हैं (८, २[१८]) और उल्लासमय बन जाते हैं (८, ५८[११])। सोम अमर है (१, ४३[९]; ८, ४८[१२]; ९, ३[१] इत्यादि); और देवगण अमरत्व प्राप्त करने के लिये इसका पान करते हैं (९, १०६[८])। यह देवों को (१, ९१[६]; ९, १०८[३]) और मनुष्यों को (१, ९१[१]; ८, ४८[३]) अमरत्व प्रदान करता है। यह अपने स्तोताओं को एक चिरन्तन और अक्षय लोक में पहुंचा देता है जहाँ चिर प्रकाश और चिर वैभव का साम्राज्य है; जहाँ राजा वैवस्वत रहते हैं वहाँ पहुंचा कर यह स्तोताओं को अमर कर देता है (९, ११३[७.८])[३४]।

स्वभावतः सोम में औषधिक शक्ति भी है। यह रुग्ण व्यक्ति के लिये औषधि है (८, ६१[१७])। इसीलिये सोम देव सभी प्रकार की रुग्णता का उपशमन करते हैं, अन्धों को दृष्टि की और लंगड़ों को चलने की शक्ति देते हैं ८, ६८[२]; १०, २५[११])। यह मनुष्यों के शरीर के रक्षक हैं और उनके

प्रत्येक अंग में वास करते हैं (८, ४८[९])। यह इस लोक में दीर्घ जीवन प्रदान करते हैं (१, ९१[६]; ८, ४८[४.७]; ९, ४[६]. ९१[६])। यहाँ तक कहा गया है कि सोम हृदयों से पाप को भगा देते हैं और मिथ्यत्व को विनष्ट करके सत्य का विकास करते हैं।

यह सोम रस वाक्-शक्ति को स्फूर्तिमय बनाता है (६, ४७[३]; ९, ८४[४]. ९५[५]. ९७[३२]) और वाच को उसी प्रकार प्रेरित करता है जिस प्रकार खेनेवाला नाव को (९, ९५[२])। निःसन्देह इसी कारण सोम को 'वाचस्-पति'[३३] (९, २६[४]. १०१[५]) अथवा वाच् का नायक ('वाचो अग्रिय' अथवा 'अग्रे) कहा गया है (९, ७[३]. ६२[२५-६]. ८६[१२]. १०६[१०])। ऐसा भी कथन है कि यह आकाश से अपनी वाणी को प्रकट करते हैं (९, ६८[८])। ब्राह्मणों में यह वर्णन है कि सोम के लिये देवगण 'वाच्' रूपी मूल्य देते हैं[३४]। सोम उत्सुक विचारों को भी जागृत करते हैं (६, ४७[३])। इनको स्तोता इस प्रकार सम्बोधित करते हैं: 'हमने सोम पान किया, हम अमर हो गये, हम प्रकाश में प्रविष्ट हुये, हमे देवों का ज्ञान हो गया' (८, ४८[३])। इसीलिये इन्हें विचारों का स्वामी तथा सूक्तों का पिता, नायक, और प्रणेता कहा गया है।[३५] यह कवियों के नायक और पुरोहितों में द्रष्टा हैं (९, ९६[६])। इनके पास द्रष्टाओं की बुद्धि है, यह द्रष्टाओं के निर्माता (९, ९६[१८]), और स्तुतियों के रक्षक हैं (६, ५२[३])। यह 'यज्ञ की आत्मा' (९, २[१०] ६[८]), देवों में एक पुरोहित (ब्रह्मा) (९, ९६[६]), और देवों को उनका यज्ञ भाग प्रदान करने वाले हैं (१०, ८५[१९])। इसी प्रकार प्रमुखतः सोम के ज्ञान का वर्णन किया गया है।[३६] यह एक मेधावी द्रष्टा हैं (८, ६८[१])। यह देव जातियों से परिचित हैं (९, ८१[२]. ९५[२]. ९७[७]. १०८[३])। यह 'लहरों को देखने वाले बुद्धिमान व्यक्ति हैं (९, ७८[२])। बुद्धि द्वारा सोम प्राणियों का पर्यवेक्षण करते हैं (९, ७१[९]), अतः यह बहुनेत्री (९, २६[५]) और सहस्र नेत्री (९, ६०[१]) भी हैं।

कार्य करने के लिये सोम ने पितरों को उद्दीप्त किया (९, ९६[११]); इन्हीं के माध्यम से पितरों ने प्रकाश और गायों को प्राप्त किया (९, ९७[३९])। यह भी कहा गया है कि सोम पितरों के साथ सम्बद्ध (८, ४८[१३]) अथवा उनके साथ रहते हैं (अथर्ववेद १८, ४[१२]; शतपथ ब्राह्मण २, ६, १[४] इत्यादि)। इसके विपरीत पितरों को सोम-प्रेमी (सोम्य : १०, १४[६]; अथर्ववेद २, १२[५]) कहा गया है।

मनुष्य पर इस पेय के उल्लासप्रद प्रभाव को स्वभावतः उन देवों पर भी

स्थानान्तरित कर दिया गया है जिन्हें सोम अर्पित किया जाता था। अन्तरिक्ष की आक्रामक शक्तियों के साथ युद्ध करते समय इन्द्र पर उद्दीपक प्रभाव उत्पन्न करने के लिये हो प्रमुखतः इनकी मादक शक्ति का व्यवहार किया गया है। वृत्र के साथ युद्ध करते समय सोम इन्द्र को शक्तिशाली बनाते हैं, इसका ऋग्वेद के असंख्य स्थलों पर उल्लेख किया गया है (८, ८१[१७] इत्यादि)। सोम से मदमत्त होकर इन्द्र सभी शत्रुओं का वध करते हैं (९, १[१०]), और जब वह इसका पान कर लेते हैं तब उन्हें युद्ध में कोई भी पराजित नहीं कर सकता (६, ४७[१])। सोम इन्द्र की आत्मा हैं (९, ८५[३])। यह इन्द्र के एक ऐसे शुभ मित्र हैं (१०, २५[९]) जो उनकी शक्ति वृद्धि करते हैं (९, ७६[२]) और वृत्र का वध करने में सहायता देते हैं (९, ६१[२२])। सोम को साथ लेकर इन्द्र ने मनुष्यों के लिये जलों को प्रवाहित, और दैत्य का वध किया (४, २८[१])। इसी प्रकार कभी-कभी सोम को इन्द्र का 'वज्र' तक कहा गया है (९, ७२[७]. ७७[१]. १११[३])। इन्द्र का रस, सोम, सहस्रविजेता वज्र बन जाता है (९, ४७[३])। वह मादक पेय ही है जो शत दुर्गों को विनष्ट करता है (९, ४८[२]) और वही वृत्र का वध करने वाला एक मादक पौधा है (६, १७[११])। इस प्रकार सोम देव को 'इन्द्र की भाँति वृत्र का वध करने वाला और दुर्गों को विनष्ट करने वाला' (९, ८८[४]) कहा गया है। इसी कारण सोम को प्रायः आधे दर्जन स्थलों पर उस 'वृत्रहन्' उपाधि से भी विभूषित किया गया है जो प्रमुखतः इन्द्र की ही उपाधि है।[१७]

जब इन्द्र ने सोम का पान किया तब सोम ने सूर्य को आकाश में उदित किया (९, ८६[२२])। इस प्रकार यह दिव्य कार्य स्वतंत्र रूप से भी सोम को आरोपित कर दिया गया है। इन्होंने सूर्य को प्रकाशित किया (९, २८[५]. ३७[४]), आकाश के प्रकाशों को प्रकाशित किया (९, ८५[९]), और सूर्य तथा जलों को उत्पन्न किया (९, ४२[१])[१८]। इन्होंने ही सूर्य को उदित किया, प्रेरित किया, प्राप्त और प्रदान किया, और उषाओं को प्रकाशित किया[१९]। यह अपने स्तोताओं को सूर्य के गुण प्राप्त कराते हैं (९, ४[५]) और उनके लिये प्रकाश को प्राप्त करते हैं (९, ३५[१])। इन्होंने प्रकाश को प्राप्त किया (९, ५९[२])। यह प्रकाश तथा आकाश को विजित करते हैं (९, ३[२])। जिस प्रकार यज्ञ-घृत तक को 'अमरत्व की वह नाभि' कहा गया है जिस पर समस्त संसार स्थित है (४. ५८[१.११]), उसी प्रकार सोम सम्बन्धी धारणा भी इतनी विस्तृत हो सकी है कि सोम को सार्वभौमिक साम्राज्य का एक ऐसा व्यक्ति कहा गया है (९, ८६[२८.२९]) जो 'दिशाओं का स्वामी' है (९, ११३[२]), जो दोनों लोकों को उत्पन्न करने जैसा महान कार्य करता है (९, ९०[१]), जो पृथ्वी और

आकाश की सृष्टि अथवा स्थापना करता है, जो आकाश को धारण करता है, और जो सूर्य में प्रकाश को स्थित करता है (६, ४४२३-४. ४७३-४)[४०]।

वृत्र के साथ युद्ध के समय इन्द्र से घनिष्ठतः सम्बद्ध होने के कारण सोम को स्वतन्त्र रूप से भी एक महान योद्धा कहा गया है। यह एक विजेता, युद्ध में अविजेय, और युद्ध के लिये ही उत्पन्न हैं (१, ९१२१)। यह योद्धाओं में सर्वाधिक वीर, भयंकरों में सर्वाधिक भयंकर, और सदैव विजयी होनेवाले हैं (९, ६६१६-७)। अपने स्तोताओं के लिये यह गायें, रथ, अश्व, स्वर्ण, आकाश, जल, एक सहस्र वरदान (९, ७८४) और सभी कुछ विजित करते हैं (८, ६८१)। इनकी वीरोचित प्रकृति का उल्लेख किये बिना ही इन्हें, नित्य ही आकाश की सभी सम्पत्ति, पृथ्वी, भोजन, मवेशी, तथा अश्वादि प्रदान करने वाला कहा गया है (९, ४५३. ४९४. ५२१ इत्यादि)। सोम को स्वयं भी कभी-कभी एक धनागार (रपि : ९, ४८३) अथवा देवों की सम्पत्ति कहा गया है (शतपथ ब्राह्मण १, ६, ४५)। सोम शत्रुओं से सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं (१०, २५७)। यह राक्षसों को भगाते हैं (९, ४९५); और कुछ अन्य देवों की भाँति, किन्तु अधिकतर इन्हें 'रक्षोहन्' उपाधि से विभूषित किया गया है। सोम ही एक मात्र ऐसे देव हैं जिन्हें दुष्टों का वध करने वाला कहा गया है (९, २८६ इत्यादि)। बाद के वैदिकोत्तर साहित्य में यह वक्तव्य मिलता है कि ऐसे ब्राह्मण जो सोम पान करते हैं क्षणमात्र में ही दूसरों का वध कर सकते हैं (मैत्रायणी संहिता ४, ८२)[४१]।

एक योद्ध होने के कारण सोम को ऐसे आयुधों से युक्त कहा गया है (९, ९६१६) जिन्हें यह एक योद्धा की भाँति अपने हाथों में धारण करते हैं (९,७६२) और जो भयंकर तथा तीक्ष्ण हैं (९, ६१३०. ९०३)। एक स्थल पर यह कहा गया है कि इन्होंने अपने दुरात्मा पिता से छीन कर अपने आयुध प्राप्त किये थे (६, ४४१२)। इन्हें एक सहस्र नोकोंवाले वाण से युक्त कहा गया है (९, ८३५. ८६४०) और इनकी धनुष द्रुतगामी है (९, ९०३)।

सोम भी उसी रथ पर चलते हैं जिस पर इन्द्र (९, ८७९. ९६२. १०३५)। यह महारथी इन्द्र के सारथी हैं (अथर्ववेद ८, ८२३)। यह एक ऐसे रथ में है (९, ३५) जो दिव्य है (९, १११३)। इनके पास अपने रथ के लिये प्रकाश (९, ८६४५) अथवा एक जलशोधन यंत्र है (९, ८३५)। यह सर्वश्रेष्ठ महारथी हैं (९, ६६२६)। इनके पास अपनी श्रेष्ठ पंखों वाली अश्वियाँ हैं (९, ८६३७) और वायु के समान एक दल (९, ८८३)।

सोम को स्वभावतः कभी-कभी इन्द्र के अन्तरंग साथी मरुतों के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। ऐसा कहा गया है कि यह दोनों आकाश के वृषभ

का दोहन करते हैं (९, १०८[११], तु० की० ५४[१]) और जन्म लेने पर शिशु को अलंकृत करते हैं (९, ९६[५७])। इन्द्र की भाँति, सोम भी मरुतों (६, ४७[५]) अथवा मरुतों के दल (९, ६६[२२]) द्वारा सेवित होते हैं। वायुओं को सोम के लिये हर्षदायक कहा गया है (९, ३१[३]), और 'वायु' इनके अभिभावक हैं (१०, ८५[५])। क्रमशः अग्नि, पूषन्, और रुद्र के साथ एक युगल देव के रूप में भी सोम आते हैं। कुछ बार इन्हें एक रहस्यमय ढंग से वरुण के साथ समीकृत किया गया है। (९, ७७[५]. ९५[४]; तु० की० ७३[३.९]; ८, ४१[८])।

एक बार ऋग्वेद (१०, ३४[१]) में सोम-पौधे को 'मौजवत' कहा गया है जिसका बाद के वक्तव्यों[४२] के अनुसार 'मूजवत् पर्वत पर उत्पन्न' अर्थ होगा। अनेक बार सोम को पर्वतों पर रहनेवाला (गिरिष्ठा)[४३] अथवा पर्वतों पर उगनेवाला[४४] (पर्वतावृध् : ९, ४६[१]) कहा गया है। पर्वतों को भी सोम-पृष्ठ (अथर्ववेद ३, २१[१०]) कहा गया है, और यह शब्द सम्भवतः यज्ञीय प्रतीकवाद के आधार पर ऋग्वेद ८, ५२[२] में दबानेवाले पत्थरों (अद्रयः) के लिये व्यवहृत हुआ है। यह सभी शब्द इस बात का संकेत करते हैं कि सोम के पौधे का आवास पार्थिव पर्वतों पर ही स्थित था (तु० की० विशेषतः ९, ८२[३])। यह अवेस्ता के उस वक्तव्य द्वारा भी पुष्ट होता है कि 'हओम' 'पर्वतों' पर उगता है।[४५] यतः सोम का पौधा वास्तव में पर्वतों पर उगता था, अतः सम्भवतः उस समय भी कवियों के मन में यही तथ्य उपस्थित रहा हो सकता है जब वह कहते हैं कि 'आकाश के नाक पर मधुभाषी मित्र पर्वतवासी वृषभ का दोहन करते हैं' (९, ८५[१०] तु० की० ९५[४])। उस समय भी पार्थिव पर्वतों का ही आशय हो सकता है जब यह कहा गया है कि 'वरुण ने अग्नि को जलों में, सूर्य को आकाश में, और सोम को पर्वतों पर स्थित किया' (५, ८५[२]), अथवा यह कि 'एक (अग्नि) को मातरिश्वन् आकाश से लाये जब कि दूसरे (सोम) को उत्क्रोश पक्षी पत्थर से लाया' (१, ९३[६])। किन्तु यहाँ संदेह की सम्भावना अधिक है, क्योंकि 'पर्वत' और 'पत्थर' दोनों का ही अक्सर पुराकथाशास्त्रीय दृष्टि से 'मेघ' अर्थ होता है (पृ०१८)।

यद्यपि सोम एक पार्थिव पौधा है, तथापि यह दिव्य भी है (१०, ११६[३]); वास्तव में इसकी उत्पत्ति और इसका आवास स्वर्गीय ही माना गया है। इस प्रकार ऐसा कहा गया है कि इस पौधे का जन्म ऊँचाई पर हुआ; और स्वर्ग में जन्मे इस पौधे को पृथ्वी पर ग्रहण किया गया (९, ६१[१०])। इस 'मादक रस' को 'स्वर्ग का शिशु' (९, ३८[५]) कहा गया है और यह उपाधि अक्सर ही सोम के लिए व्यवहृत हुई है। फिर भी, एक स्थल पर सोम को सूर्य की

सन्तान (जाः) कहा गया है (९, ९३[१]), और अन्यत्र पर्जन्य को इस शक्तिशाली पक्षी का पिता बताया गया है (९, ८२[३] तु० की० ११३[३])। अथर्ववेद में 'अमृत' की उत्पत्ति को भी पर्जन्य के बीज में स्थित किया गया है (अथर्ववेद ८, ७[२१])। जब सोम को केवल एक 'शिशु' (९, ९६[१७]) अथवा एक युवक (युवन्)' कहा गया है, तब इससे निश्चित रूप से इस तथ्य का लाक्षणिक आशय है कि, अग्नि की भाँति, यह भी निरन्तर नवीन जन्म धारण करते हैं[४६]। सोम स्वर्ग के दुग्ध (पीयूष) हैं (९, ५१[२] इत्यदि), और स्वर्ग में ही परिष्कृत होते हैं (९, ८३[२]·८६[२३] इत्यादि)। अपनी धाराओं से यह स्वर्ग के प्रिय स्थानों में प्रवाहित होते हैं (९, १२[८])। यह अपनी धाराओं द्वारा स्वर्ग से होकर अंतरिक्ष स्थानों तक प्रवाहित होते हैं (९, ३[७])। इनका स्वर्ग पर आधिपत्य है (९, ८५[९]), यह स्वर्ग में स्थित (शतपथ ब्राह्मण ३, ४, ३[१३]), अथवा स्वर्ग के स्वामी हैं (९, ८६[११·३३])। स्वर्ग के पक्षी के रूप में यह नीचे पृथ्वी पर दृष्टिपात करते हैं और सभी प्राणियों पर ध्यान रखते हैं (९, ७१[९])। सूर्य की भाँति यह सभी लोकों के ऊपर खड़े होते हैं (९, ५४[३])। परिष्कृत होकर स्वर्ग से, अन्तरिक्ष से, इनकी विन्दुयें पृथ्वी पर गिरती हैं (९, ६३[२७])[४७]; क्योंकि यह स्थानों में गमन करनेवाले हैं (रजस्तुर् : ४, ४८[४]·१०८[७])। 'स्वर्ग के प्रदीप्त प्रदेश में तृतीय पृष्ठ पर' दुग्ध से घिरी, इनकी उँगलियाँ मर्दन करती हैं (९, ८६[२७])। इनका स्थान उच्चतम स्वर्ग में (३, ३२[१०]; ४, २६[६]; ९, ८६[१५]) अथवा तृतीय स्वर्ग में स्थित है (तैत्तिरीय संहिता ३, ५, ७[१] इत्यादि)[४८]। फिर भी, अक्सर 'स्वर्ग', भेड़ के ऊन के बने छनने का एक रहस्यवादी नाम हो सकता है।[४९] उन दशाओं में भी यही स्थिति प्रतीत होती है जब सोम के सम्बन्ध में ऐसे कथन हैं कि 'यह आकाश के नाक' मेष रूपी छनने पर स्थित हैं (९, १२[४]); 'स्वर्ग के प्रकाशों में भ्रमण करते हुए मेष रूपी छनने पर स्थित हैं' (९, ३७[३]); 'आकाश में सूर्य के साथ दौड़ते हुए मेष रूपी छनने पर स्थित हैं' (९, २७[५]); अथवा जब यह भी कहा गया है कि 'वृषभ ने स्वर्ग को घेरा, राजा वेग से छनने पर जाता है' (९, ८५[९] तु० की० ८६[८])। छनने के लिये इतना अधिक बार प्रयुक्त 'सानु' शब्द 'दिवः सानु' (स्वर्ग का शिखर) का स्मरण दिलाता है। इस प्रकार के शब्द स्वभावतः पार्थिव सोम के साथ सम्बद्ध हो सकते हैं क्योंकि स्वर्ग दिव्य सोम अथवा 'अमृत' का आवास है (६, ४४[२३])।

सोम को स्वर्ग से लाया गया है (९, ६३[२७] ६६[३०]), इस विश्वास को व्यक्त करनेवाली सर्वप्रचलित पुराकथा सोम और उत्क्रोश पक्षी से सम्बन्धित है। इसे उत्क्रोश पक्षी लाया (१, ८०[२])। यह पक्षी सोम को उस उच्चतम

स्वर्ग से लाया (४, २६[६])। उत्क्रोश पक्षी सोम अथवा मधु को इन्द्र के पास लाया (३, ४३[७]; ४, १८[१३])। क्षिप्र उत्क्रोश सोम पौधे के पास उड़कर गया (५, ४५[९]); उत्क्रोश पक्षी ने इन्द्र के लिये मधुर काण्ड को तोड़ लिया (४, २०[६])। इन्द्र के लिये उत्क्रोश पक्षी इसे अन्तरिक्ष के बीच से अपने पैरों में लाया (८, ७१[९])। विचार के समान वेग से उड़ते हुये पक्षी ने लौह-दुर्ग को तोड़ा (तु० की० ४, २७[१]), और स्वर्ग में जाकर वहाँ से वज्रधर के लिये सोम ले आया (८, ८९[८])। उत्क्रोश इस पौधे को दूरस्थ स्वर्ग से लाया (९, ६८[६]. ७७[२]. ८६[२४]; १०, ११[४]. ९९[८]. १४४[४])। इस पुराकथा का सर्वाधिक पूर्ण विवरण ऋग्वेद ४, २६ और २७[५०] में मिलता है। ब्राह्मणों में अग्नि के एक रहस्यवादी पौरोहित्य नाम[५१] 'गायत्री' द्वारा सोम के लाये जाने का उल्लेख है। ऋग्वेद में नित्य ही इन्द्र के लिये सोम ले आनेवाले के रूप में उत्क्रोश पक्षी और इन्द्र में विभेद किया गया है। यहाँ केवल एक ही स्थल ऐसा है (इस पुराकथा से असम्बद्ध) जिसमें सोम अर्पण के समय बैठे हुए इन्द्र को एक उत्क्रोश पक्षी कहा गया है (१०, ९९[८])। 'स्वर्ग का उत्क्रोश' अग्नि के लिये व्यवहृत उपाधि है (७, १५[४] : अन्यथा दो बार मरुतों के लिये भी इसका प्रयोग है)। 'उत्क्रोश' शब्द को अग्नि वैद्युत अथवा विद्युत के साथ सम्बद्ध किया गया है (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १०, ५[१] तु० की० १२, १[२]), और ऋग्वेद में अग्नि को अक्सर एक पक्षी कहा गया है (पृ० १६९)। इस प्रमाण के आधार पर ब्लूमफील्ड, जो ऋग्वेद ४, २७ पर अपने पूर्वगामियों के मतों का खोजपूर्ण आलोचन करते हैं, बहुत कुछ समीचीन यह व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि उत्क्रोश पक्षी द्वारा सोम का लाया जाना मेघों (अर्थात् लौह दुर्ग) से निकल कर विद्युत के गिरने और अमृततुल्य सोम (अर्थात् मेघ काजल) की वर्षा का ही एक सरल पुराकथाशास्त्रीय विवरण है। साथ ही साथ आप ऋग्वेद के एक स्थल (१, ९३[६]) का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं जिसमें अग्नि और सोम, दोनों के उतरने का साथ-साथ उल्लेख है।[५२] इस पुराकथा का विस्तारण (सम्भवतः किसी एक कवि द्वारा संयुक्त एक अलंकरण मात्र) यह है कि जब उत्क्रोश पक्षी सोम को ले गया तब 'कृशानु'[५३] नामक एक धनुर्धर ने उस पर वार किया और उसके एक पंख को गिरा दिया (४, २७[३-४]; तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ३, २५)। ब्राह्मणों में यही विवरण और भी विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया गया है यहाँ एक पंख अथवा एक पंजे पर वार कर उसे गिराया गया कहा गया है। भूमि पर गिरकर वही पर्ण, पलाश, अथवा शल्यक वृक्ष बन गया। यहाँ के बाद इस वृक्ष ने संस्कार से सम्बद्ध एक विशेष रूप से पवित्र चरित्र विकसित कर लिया है।[५४]

ओषधिक पौधों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण यह कहा गया है कि पौधों के अधिपति के रूप में सोम का जन्म हुआ (९, ११४[२]) और सभी पौधे इन्हें अपना राजा मानते हैं[५५] (९, ९७[१८-९])। इनको 'वनस्पति' (वनों का अधिपति) उपाधि से विभूषित किया गया है (१, ९१[६]; ९, १२[७]) और यह कहा गया है कि इन्होंने ही सभी पौधों को उत्पन्न किया (१, ९१[२२])। ब्राह्मणों में पौधों को सोम के साथ सम्बद्ध किया गया है और उन्हें 'सौम्य' कहा गया है (शतपथ ब्राह्मण १२, १, १[२])[५६]। पौधों का अधिपति होने के अतिरिक्त सोम को अक्सर अन्य प्रमुख देवों की भाँति एक राजा भी कहा गया है।[५७] यह नदियों के राजा (९, ८९[२]), सम्पूर्ण पृथ्वी के राजा (९, ९७[५८]), देवों के राजा अथवा पिता (९, ८६[१०]. ८७[२]. १०९[४]), देवों और मनुष्यों के राजा (९, ९७[२४]), और ब्राह्मणों के राजा भी हैं (वाजसनेयि संहिता ९, ४०; तैत्तिरीय संहिता १, ८[१०]; मैत्रायणी संहिता २, ६[१])। निःसन्देह अक्सर इन्हें एक देवता ही माना गया है, किन्तु एक स्थल पर इनका 'देवों के लिये दबाये गये एक देव' के रूप में वर्णन है (९, ३[६.७])।

वैदिकोत्तर साहित्य में सोम नियमित रूप से चन्द्रमा का नाम है, और ऐसी मान्यता है कि देवों द्वारा पान किये जाने के कारण ही चन्द्रमा उस समय तक घटता जाता है जब तक कि सूर्य उसे पुनः परिपूर्ण नहीं कर देता। छान्दोग्य उपनिषद् (५, १०[१]) में यह वक्तव्य है कि चन्द्रमा ही सोम का राजा और देवों का भोजन है, तथा देवगण उसका पान करते हैं[५८]। ब्राह्मणों तक में चन्द्रमा के साथ सोम के समीकरण की धारणा सर्व-सामान्य हो गई है[५९]। इस प्रकार, ऐतरेय ब्राह्मण (७, ११) यह कहता है कि चन्द्रमा ही देवों का सोम है; शतपथ ब्राह्मण (१, ६, ४[५]) में यह उक्ति है कि देवों का भोजन, राजा सोम, चन्द्रमा ही है; और कौषीतकि ब्राह्मण (७, १०; ४, ४) में इस यज्ञीय पौधे अथवा उसके रस को चन्द्र-देव का प्रतीक माना गया है। ब्राह्मणों का पुराकथाशास्त्र देवों और पितरों द्वारा खाये जाने के रूप में ही चन्द्रकला की व्याख्या करता है और चन्द्रमा को अमृत से परिपूर्ण मानता है।[६०] यजुर्वेद में चन्द्रमा के रूप में सोम को भी चन्द्रमा के नक्षत्रीय गुणों से युक्त, और प्रजापति की पुत्रियों को उनकी पत्नियाँ माना गया है।[६१] इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में अनेक बार सोम का अर्थ चन्द्रमा है (७, ८१[३.४]; ११, ६[७] इत्यादि)। अधिकांश विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि ऋग्वेद के कुछ (प्रथम और दशम मण्डल के) आधुनिकतम सूक्तों में भी सोम को चन्द्रमा के साथ समीकृत किया गया है।[६२] फिर भी इनमें से अधिकांश लोगों का यही विचार है कि एक देव के रूप में वैदिक सूक्तों में सोम की केवल एक पेय के मूर्तीकरण के रूप में ही प्रख्याति है,

और चन्द्रमा के साथ इसके समीकरण को यह लोग केवल एक परवर्ती पुराकथा-शास्त्रीय विकास मानते हैं।[६३] सर्वप्रमुख ऐसे स्थल जिनमें इस समीकरण को सामान्यतया स्वीकार किया गया है, यह वही हैं जो सूर्य-कन्या सूर्या के साथ सोम के विवाह का वर्णन करते हैं (१०, ८५)।[६४] यहाँ सोम को 'तारों की गोद में पड़ा' कहा गया है (मन्त्र २), और यह कथन है कि कोई व्यक्ति उस सोम को नहीं खाता जिसे पुरोहितगण जानते हैं, और जिसका उस सोम से विभेद किया गया है जिसे वह दबाते हैं (मन्त्र ३)। चन्द्रमा की सोम प्रकृति का, इस प्रकार गुप्त रहस्य होना जो केवल ब्राह्मणों को ही ज्ञात हो, ऐसा व्यक्त करता है कि इस समय तक यह एक सर्वसामान्य धारणा नहीं बन सका था। उस पद्धति को समझ सकना कठिन नहीं है जिससे दिव्य सोम क्रमशः चन्द्रमा के साथ समीकृत हो गया। एक ओर तो सोम को निरन्तर दिव्य और प्रदीप्त, तथा कभी-कभी अन्धकार को भगाने वाला और जलों में फूलने वाला माना गया है; दूसरी ओर इसे अक्सर ही एक विन्दु (इन्दुः ६, ४४[२१])[६५] कहा गया है। अतः चन्द्रमा के साथ इसकी तुलना की धारणा सरलतापूर्वक विकसित हो सकती है। एक स्थल पर पात्रों में रक्खे सोम को जलों में चन्द्रमा जैसा बताया गया है (८, ७१[८]; तु० की० १, १०५[१]); और एक दूसरे स्थल पर गृद्ध-दृष्टि से देखते हुए समुद्र तक जाने वाले एक ऐसे विन्दु (द्रप्स) के रूप में सोम के वर्णन से (१०, १२३[८]) सामान्यतया चन्द्रमा ही उद्दिष्ट मानना चाहिये।

फिर भी, हिलेब्रान्ट अपनी वेदिशे माइथौलोजी में न केवल ऋग्वेद के अनेक अन्य स्थलों पर ही इस समीकरण को उपस्थित मानते हैं, वरन् यह विचार व्यक्त करते हैं कि समस्त नवम मण्डल में सोम को केवल चन्द्रमा ही कहा गया है (पृ० ३०९) और इससे कहीं भी साधारण पौधे का आशय है ही नहीं (पृ० ३२६)। इस प्रकार आपके विचार से समस्त नवम मण्डल में केवल चन्द्रमा को अर्पित सूक्त ही हैं।[६६] आप की यह मान्यता है कि समस्त ऋग्वेद के प्राचीन अथवा अर्वाचीन भागों में सोम का अर्थ एक ओर सोम-पौधा अथवा उसका रस है, और दूसरी ओर एक देव के रूप में केवल चन्द्रमा (पृ० २७४. ३४०. ४५०)। इनके विचार से चन्द्रमा ही सोम अथवा अमृत का आगार है, वौर चन्द्रामृत के अंश स्वरूप इस रस को निकालते समय स्तोता का इसी पेय से उद्देश्य है। हिलेब्रान्ट ऋग्वेद में सोम और चन्द्रमा का पूर्ण समीकरण मानने से भी आगे बढ़ जाते हैं। आपका यहाँ तक कहना है कि सोम के रूप में चन्द्रदेव वैदिक विश्वास और संस्कार के केन्द्र हैं (पृ० २७७) और यही सूर्य की अपेक्षा कहीं अधिक विश्व के सृजक तथा शासक हैं

(पृ० ३१३), जब कि सर्वाधिक लोकप्रिय वैदिक देवता होते हुये इन्द्र का स्थान आप चन्द्रमा[६७] के बाद ही मानते हैं (पृ० ३१५)।

इस मान्यता के विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया गया है कि ऋग्वेद के सोम सम्बन्धी अत्याधिक संदर्भों में सर्वत्र इस देव के चरित्र में तत्सम्बन्धी पौधे और उसके रस के मूर्तीकरण की धारणा स्पष्टतः और निर्विवाद रूद से वर्तमान है। दूसरी ओर, जहाँ बाद के साहित्य में चन्द्रमा और सोम का समीकरण सर्वथा स्पष्ट है, वहीं समस्त ऋग्वेद में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं जिसमें इन दोनों का समीकरण, अथवा यह धारणा वर्तमान हो कि चन्द्रमा देवों का भोजन है। केवल उन्हीं स्थलों पर जहाँ सूर्य के साथ नित्य ही सम्बद्ध सोम की उज्ज्वलता को अस्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है, चन्द्रमा का सन्दर्भ देखा जा सकता है। साथ ही साय, यह सम्भव है कि सोम-सूक्तों में कल्पनात्मक प्रतिविम्बों के धुंधले विवरणों के कारण कहीं-कहीं अमृत और चन्द्रमा का प्रच्छन्न सा समीकरण उपस्थित हो। किन्तु इस धारणा का लाक्षणिक आशय यत्र-तत्र कुछ ऐसे स्थलों पर ही निहित हो सकता है जहाँ सोम के प्रकाशमान प्रकृति की प्रख्याति है, अथवा जिनमें चन्द्रमा के बढ़ने की भावना के समानान्तर सोम के भी फूलने (आप्यायन) का उल्लेख है। किन्तु सम्पूर्ण रूप से देखने पर, सामान्यतया स्वीकृत कुछ थोड़े से बाद के अपवादों के अतिरिक्त यह निश्चित प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के द्रष्टाओं की दृष्टि में सोम देव केवल पार्थिव पौधे और उसके रस के मूर्तीकरण मात्र हैं।[६८] इसके अतिरिक्त इस बात पर कदाचित ही विश्वास किया जा सकता है कि सभी वैदिक भाष्यकार, जिनके समय में सोम और चन्द्रमा को एक माना जाता था, इस तथ्य से अपरिचित रह गये होंगे कि ऋग्वेद में भी सोम का अर्थ चन्द्रमा ही है।[६९]

यह एक असंदिग्ध तथ्य है कि भारतीय-ईरानी काल तक में सोम अथवा अवेस्ता के 'हओम' का निर्माण और उसकी प्रख्याति प्रचिलित थी। ऋग्वेद में सोम को पर्वतों अथवा किसी पर्वत विशेष पर उगनेवाला कहा गया है; अवेस्ता में इसे एक निर्दिष्ट पर्वत पर उगने वाला बताया गया है। ऋग्वेद में इसे वरुण पत्थरों पर स्थित करते हैं; अवेस्ता में इसे एक बुद्धिमान देवता 'हरैति' नामक महान पर्वत पर स्थित करता है। ऋग्वेद में उत्क्रोश पक्षी इसे लाता है; अवेस्ता में यह अपने मूल पर्वत स्थान से कुछ शुभ पक्षियों द्वारा वितरित होता है। इन दोनों ग्रन्थों में इसे पौधों का राजा कहा गया है। दोनों में ही यह एक ऐसी औषधि है जो स्वस्थ और दीर्घ जीवन प्रदान करता है, और मृत्यु को भगाता है। जिस प्रकार सोम जलों में उगता है। उसी प्रकार हओम भी 'अर्द्वि-शूर'[७०] के जलों में विकसित होता है। सोम को दबाना और

उसे देवों को अर्पित करना भारतीय-ईरानी काल के उपासना की भी प्रमुख विशेषता थी। किन्तु जहाँ ऋग्वेद में प्रतिदिन तीन बार सोम को दबाने का उल्लेख है, वहीं अवेस्ता (यस्न १०, २) में दो बार ही बताया गया है। दोनों ग्रन्थों में यह कहा गया है कि पौधे के काण्ड (अंशु = आसु) को दबाया जाता था, इसके रस का रंग पीला होता था, और उसमें दुग्ध का मिश्रण किया जाता था (यस्न १०, १३)। दोनों में दिव्य सोम का पार्थिव से, और पेय का भोजन से, विभेद किया गया है। दोनों में ही सोम का पौराणिक आवास स्वर्ग में स्थित है, जहाँ से यह पृथ्वी पर आता है। दोनों में ही सोम पेय (यज्ञाग्नि की भाँति) एक शक्तिशाली देवता और राजा के रूप में विकसित हो चुका है। जिस प्रकार सोम 'वृत्रहन्' है उसी प्रकार 'हओम' भी 'वेरेथ्रजन्' है और अस्त्रों ('वदरे' = वैदिक 'वधर्') को संचालित करता है। दोनों ही प्रकाश-विजेता (स्वर्षा = ह्वरेस) और बुद्धिमान् (सुक्रतु = हुखतु) हैं। दोनों ही दुष्टों के अभिचारों को विफल करते हैं, शत्रुओं को पराजित करते हैं, और दिव्य लोक तक पहुंचाते हैं। दोनों ही अश्व और श्रेष्ठ सन्तान प्रदान करते हैं। प्राचीन सोम निर्माताओं के नामों के सम्बन्ध में भी ऋग्वेद और अवेस्ता एक दूसरे से सहमत हैं, जिनमें इन निर्माताओं के नाम क्रमशः एक ओर 'विवस्वत्' और 'त्रित आप्त्य' हैं और दूसरी ओर 'विवंह्वन्त', 'आथ्व्य', और 'थ्रित' हैं।[71] एक ऐसे दिव्य मादक पेय की धारणा, जिसका आवास स्वर्ग में स्थित था, भारोपीय कालीन भी हो सकती है। यदि ऐसा है, तो इसे निश्चित रूप से एक प्रकार का 'मधु' (संस्कृत 'मधु', यूनानी 'मेथु' μεθυ) जैसा पदार्थ ही माना गया होगा जिसे उसके रक्षक असुर के पास से उत्क्रोश पक्षी पृथ्वी पर लाता था (इन्द्र का सोम लानेवाला उत्क्रोश पक्षी, ज्यूस के अमृत लानेवाले उत्क्रोश के, तथा उस उत्क्रोश के समान हैं जो 'ओधिन' के रूपान्तरित वेश में 'मधु' ले गया था)[72]। इसी मधु के स्थान पर, यदि यह भारोपीय था तो, भारतीय-ईरानी काल में सोम को स्थानान्तरित कर दिया गया; किन्तु वैदिक काल में यह सोम के साथ मिश्रित होकर प्रचलित रहा।[73]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से सोम = हओम का अर्थ 'दबाया हुआ रस' है और यह सु = हु (दबाना) धातु से व्युत्पन्न हुआ है।

[1]औल्डेनबर्ग : त्सॉ० गे० ४२, २४१ — [2]बर्गेन : ल० रिं० वे० १, १८२ — [3]हि० वे० मा० १, ४७ — [4]अन्न = सुरा, शतपथ ब्राह्मण १२, ७, ३[8]; तु० कौ०, हि० वे० मा० १, २६४ — [5]हि० वे० मा० १, ५१८ — [6]कुन : हे० गौ० १२८ और बाद; त्सॉ० गे० ३२, ३०१ — [7]हि० वे० मा० १, २४३-४ — [8]उ० पु० २८ — [9]उ० पु० ४६८ और बाद; औ० वे०

३८९ — [१०]हिलेब्रान्ट : वेदइन्टरप्रिटेशन १६ — [११]हि० वे० मा० १, १८२ — [१२]उ० पु० १५१ — [१३]उ० पु० २०६-७ — [१४]विन्डिश : फे० रौ० १४१ — [१५]हि० वे० मा० १, १८६ — [१६]लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, ३७८-९ — [१७]हि० वे० मा० १, २१० — [१८]उ० पु० २२९ — [१९]उ० पु० १९५ — [२०]उ० पु० २५६, नोट ३ — [२१]उ० पु० १८९ — [२२]लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ५, २६० — [२३]अन्यथा हि० वे० मा० १, ३९२-३ — [२४]विन्डिश : फे० रौ० १४० — [२५]पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ८७-८; कुन : हे० गौ० १२९. १४२. २२७; कु० त्सी० १, ५२१ और बाद; ग्री० हे० ७०, ११५; वे० बी०, १८९४, ४.१३ — [२६]हॉ० इ० १२३-४ — [२७]बर्गेन : ल० रि० वे० १, १६५ — [२८]उ० पु० १, १७०; इन स्थलों पर विद्युत को वर्षा के साथ सम्बद्ध किया गया है : १, ३९[६]; ५, ८४[३]; ७, ५६[१३]; १०, ९१[५] तु० की० ५, ८३[४]; ब्लूमफील्ड : अ० फा० ७, ४७० — [२९]बर्गेन : ल० रि० वे० १, २०४ — [३०]हि० वे० मा० १, ३४०, का यह विचार है कि यहाँ उल्लिखित सींघें चन्द्रमा की हैं — [३१]हि० वे० मा० १, ६०१ में उल्लिखित सन्दर्भ — [३२]के० ऋ०, नोट ३०८; बर्गेन : १, १९२ — [३३]बर्गेन : ल० रि० वे० १, १८५; हि० वे० मा० १, ३४९ — [३४]रौथ : त्सी० गे० ३५, ६८७; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ३६०; हि० वे० मा० १, ७९ — [३५]बर्गेन : ल० रि० वे० १, ३००, नोट २; हि० वे० मा० १, ४०३ — [३६]बर्गेन : ल० रि० वे० १, १८५-६ — [३७]कुन : हे० गौ० १०५; मैकडौनेल : ज० ए० सो० २५, ४७२ — [३८]हि० वे० मा० १, ३८७-८ — [३९]हि० वे० मा० १, ३८८ में उद्धृत सन्दर्भ — [४०]तु० की०, हॉग : त्सी० गे० ७, ५११ — [४१]त्सी० गे० ७, ३३१. ३७५ — [४२]वाजसनेयि संहिता ३, ६१ और उस पर भाष्य; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १२, ५, ११; यास्क : निरुक्त ९, ८; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन २९; हि० वे० मा० १, ६३ और बाद — [४३]दो बार विष्णु का और एक बार मरुतों का भी कहा गया है — [४४]हिलेब्रान्ट : वेदइन्टरप्रिटेशन १५ — [४५]सोम पौधे के मूल निवास के लिये देखिये रौथ : त्सी० गे० ३८, १३४-९; मैक्स मूलर : बायोग्राफीज़ ऑफ वर्ड्स (लन्दन १८८८) २२२-४२ — [४६]ज० ए० सो० २५, ४३७ — [४७]विन्डिश : फे० रौ० १४० — [४८]६, १, ६[९] भी; इन्डिशे स्टूडियन ८, ३१ में काठक २३, १०; वाजसनेयि संहिता १, २११; तैत्तिरीय ब्राह्मण १, १, ३[१०]; ३, २, १[१] — [४९]हि० वे० मा० १, ३६१, नोट ३ — [५०]रौथ : त्सी० गे० ३६, ३५३-६०. ३८४; लुडविग : मेथोड ३०. ६६; कुलिकोस्की : रेव्यू डि लिन्गुइस्टिके १८, १-९; बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ३२२ और बाद; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २०७-१६; हि० वे० मा० १, २७८-९; ब्लूमफील्ड : फे० रौ० १४९-५५; औ० वे० १८०-१; वे० बी०, १८९४, पृ० ५ — [५१]तु० की० शतपथ ब्राह्मण ३, ९, ४[१०]; कुन : हे० गौ० १३० और बाद. १४४ और बाद. १७२ — [५२]ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १६, १-२४; औ० वे० १७६. १८०, का विचार है कि पक्षी में किसी प्राकृतिक माध्यम देखने के आशय का, अथवा

सोन और मेघों के जलों में कोइ सम्बन्ध मानने का, कोई तार्किक आधार नहीं है — [५३]स्पीगेल : डी० पी० २२४ — [५४]कुन : है० गौ० १५९ और बाद, १७०, २०९; वे० बी०, १८९४, पृ० ५ — [५५]तु० की०, त्सी० गे० २५, ६४७ — [५६]हि० वे० मा० १, ३९०, नोट ४— [५७]उ० पु० ३१७-८ — [५८]ड्यूसन : सिस्टम डि वेदान्त ४१५ और बाद — [५९]वे० बी० १८९४, पृ० १६-७ — [६०]हि० वे० मा० १, २९६ — [६१]वेबर : नक्षत्र २, २७४ और बाद; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४९, ४७०; सोम के रोहिणी के साथ रहने के विषय पर, तु० की० जेकोबी फे० रौ० ७१, नोट — [६२]हि० वे० मा० १, २६९ — [६३]बर्गेन : ल० रि० वे० १, १६० — [६४]वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ५, १७८ और बाद; वे० बी० १८९४; पृ० ३४; मूईर : सं० टे० ५, २३७; एह्वी : त्सी० गे० ३३, १६७-८; जेकोबी : वही, ४९, २२७; औल्डेनबर्ग : वही, ४७८ — [६५]एह्वी : , उ० स्था० — [६६]तु० की० ब्लूमफील्ड : अ० फा० १४, ४९१-३; मैक्स मूलर : चिप्स, ४[२], ३२८-६७ — [६७]गूबरनेटिस : मिथ डि प्लान्ट्स २, ३५१, और पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ८० (तु० की० २, २४२) ने सर्वथा समीकरण मान तो लिया है किन्तु यह सिद्ध नहीं किया कि किस पद्धति से यह समीकरण सम्भव है (तु० की०, गौ० ऐ० १८८९, पृ० १०) — [६८]व्हिट्ने : प्रो० सो० १८९४, पृ० xcix और बाद; औ० वे० ५९९-६१२ — [६९]हॉ० इ० ११७ — [७०]स्पीगेल : अथर्ववेद का अनुवाद, २, lxxii और बाद; डर्मेस्टेटर : औ० आ० १४० — [७१]यस्न ix-x; तु० की० स्पीगेल : डी० पी० १७२; हि० वे० मा० १, १२१. २६५. ४५०; औ० वे० १९८; मैकडौनेल : ज० ए० सो० २५, ४८५ — [७२]औ० वे० १७६ — [७३]उ० प्र० १७८ ।

विन्डिशमैन : ऊ० सो०, पृ० १२७ और बाद; कुन : है० गौ० १०५ और बाद; व्हिट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, २९९; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ३, ४६६; वे० बी० १८९४, इ० ३, १३-१७; हॉग : ऐतरेय ब्राह्मण, प्रस्तावना, पृ० ६१-२; मूईर : सं० टे० ५, २५८-७१; बर्गेन : ल० रि० वे० १, १४८-२२५ इत्यादि; रौथ : त्सी० गे० ३५, ६८०-९२; स्पीगेल ; डी० पी० १६८-७८; हि० वे० मा० I; त्सी० गे० ४८, ४१९ और बाद; मेयर : इ० फौ० २, १६१; क्राअर : वेदिशे फ्रेगेन, फे० रौ० ६१-७; वे० पी० ६८-७४ ।

(घ) अमूर्त देवता

§ ३८. दो वर्ग :—ऋग्वेद में जिन देवों की प्रकृति अमूर्त धारणाओं पर आधारित है उनके दो वर्ग हैं । एक वर्ग के अन्तर्गत अमूर्त धारणाओं, जैसे 'काम' आदि का, प्रत्यक्ष मूर्तीकरण आता है, जो दुर्लभ होने के साथ-साथ ऋग्वेद के केवल अद्यतन सूक्तों में ही मिलता है और अनुमानात्मक कल्पना के उस विकास के कारण सम्भव हो सका है जिसे वैदिक काल में इतनी स्पष्टता से

देखा जा सकता है। दूसरे, और अधिक विस्तृत वर्ग के अन्तर्गत ऐसे देव आते हैं जिनके नाम या तो 'तृ' प्रत्यय वाली धातु से व्युत्पन्न संज्ञा, जैसे 'धातृ' (सृष्टिकर्त्ता) आदि के रूप में किसी कर्ता (कर्तृ) के, अथवा किसी गुण विशेष जैसे 'प्रजापति' (प्राणियों के अधिपति) आदि के, द्योतक हैं। वेदों की पुराकथाशास्त्रीय रचनाओं की उत्पत्ति के आधार पर देखने से इस वर्ग के देवता अमूर्त धारणाओं का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व नहीं करते वरन् प्रत्येक दशा में यह एक अथवा अधिक देवों के लिये व्यवहृत ऐसी उपाधियों से व्युत्पन्न हुये हैं जो किसी व्यवहार अथवा चरित्र के पक्ष विशेष को ही व्यक्त करती हैं। ऐसी उपाधियों ने क्रमशः पृथक हो कर अन्ततोगत्वा एक स्वतन्त्र स्थान ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार, मूलतः सूर्य की एक उपाधि 'रोहित' (जिसका स्त्रीलिङ्ग रूप 'रोहिणी' है) अथर्ववेद में 'सृष्टिकर्त्ता' के रूप में एक स्वतंत्र देवता बन गया है।

(क) *विभिन्न कर्तृ-देव* :—'तृ' प्रत्यय वाले जिन देवों के नाम कर्तृयों के द्योतक हैं उनमें सर्वप्रमुख 'सवितृ' हैं जिनका सौर-देवों के अन्तर्गत पहले ही (§ १५) वर्णन किया जा चुका है। इस प्रकार के देवों में से अधिकांश ऋग्वेद में अत्यन्त दुर्लभ रूप से ही मिलते हैं। 'धातृ', जो यज्ञ को 'धारण' करने वाले पुरोहितों की द्योतक अभिधा के रूप में कुछ स्थलों पर मिलता है, अनेक अन्य देवताओं के साथ एक अनिश्चित से उल्लेख के अपवाद के अतिरिक्त (७, ३५[३]), स्वतन्त्र देव के नाम के रूप में केवल दसवें मण्डल में प्रायः एक दर्जन बार आता है। इनमें से एक स्थल पर यह नाम इन्द्र की (१०, १६७[३]), और एक दूसरे पर विश्वकर्मन् की उपाधि है (१०, ८२[२])। विभिन्न देवों पर लोकों को धारण (√धा) करने की घटना के बहुधा आरोपण ने क्रमशः एक ऐसे पृथक देव की धारणा को उत्पन्न कर दिया है जो स्वयं भी यह विशिष्ट कार्य कर सकता है। इस प्रकार धातृ ने सामान्यतया एक ऐसे देव की भाँति स्वतन्त्र चरित्र विकसित कर लिया है जो सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, तथा वायु की सृष्टि करता है (१०, १९०[३]), और लोकों का स्वामी है (१०, १२८[७])। सूर्य को अर्पित एक सूक्त में स्पष्ट दृष्टि प्रदान करने के लिये धातृ का आवाहन किया गया है (१०, १५८[३])। सन्तान प्रदान करने के लिये विष्णु, त्वष्टृ और प्रजापति के साथ (१०, १८४[१]), और दिनों की अवधि प्रदान करने के लिए अकेले (१०, १८[५]), इनकी स्तुति की गई है। विष्णु और सवितृ के साथ (१०, १८१[१-३]) अथवा मातरिश्वन् और देष्ट्री के साथ (१०, ८५[४७]) भी इनकी एक अनिश्चित सी स्तुति है। नैघण्टुक (५, ५) में मध्यम स्थान के देवों के अन्तर्गत धातृ की गणना है, और यास्क (निरुक्त ११, १०) 'सभी

वस्तुयें प्रदान करने वाले' के रूप में, इनकी व्याख्या करते हैं। वैदिकोत्तर काल में प्रजापति अथवा ब्रह्मा के समकक्ष, धातृ विश्व के सृष्टिकर्त्ता और पालक बन गये हैं। दो स्थलों पर आने वाला एक दुर्लभ नाम 'विधातृ', 'धातृ' के अतिरिक्त, एक बार इन्द्र की (१०, १६७^{3}), और एक बार 'विश्वकर्मन्' की (१०, ८२^{२}) उपाधि है; किन्तु देवों की गणना में दो बार इसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रतीत होता है (६, ५०^{१२}; ९, ८१^{४})। इन्द्र और अन्य देवों की उपाधि के रूप में अक्सर प्रयुक्त शब्द 'धर्तृ' (प्रायः सदैव, जिसको धारण करता है उसके षष्ठी रूप के साथ ही प्रयुक्त हुआ है), एक बार 'धातृ' तथा अन्य देवों के साथ स्वतन्त्र नाम के रूप में आता है (७, ३५^{3})। इसी प्रकार, 'त्रातृ' (रक्षक), जो अधिकतर अग्नि अथवा इन्द्र, और बहुवचन में आदित्यों की उपाधि स्वरूप ही व्यवहृत हुआ है, पाँच स्थलों पर अन्य देवों के साथ 'रक्षक देव' के आशय में स्वतन्त्र रूप से आता है (१, १०६^{७}; ४, ५५$^{५-७}$; ८, १८^{२०}; १०, १२८^{७})। रौथ के विचार से इस देवता से मुख्यतः सवितृ, और 'भग' का भी, आशय है।[२] जीवन में समृद्धि के पथप्रदर्शक के रूप में एक सूक्त (५, ५०) में दो या तीन बार एक 'नायक देवता' (देव नेतृ) का आवाहन किया गया है।

(ख) त्वष्टृ :—इस प्रकार के नाम वाले 'त्वष्टृ' ही एक ऐसे देवता हैं जिनका 'सवितृ' के अतिरिक्त, किन्तु औरों की अपेक्षा, कुछ अधिक बार उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में इनका नाम प्रायः ६५ बार आता है, और उसकी आवृत्ति पारिवारिक मण्डलों में प्रायः समान रूप से वितरित है (यद्यपि सप्तम और अष्टम में यह कुछ दुर्लभ है), किन्तु अपेक्षाकृत अधिक बार यह प्रथम और दशम् मण्डलों में ही मिलता है। हाथों के अतिरिक्त, जो एक लौह-कुठार ग्रहण कर रखने की इनकी विशिष्टता का द्योतक है (८, २९^{3}), त्वष्टृ के शरीर के किसी भी अन्य अंग का उल्लेख नहीं है। एक बार इनका अपने रथ में दो अश्वों को सन्नद्ध करते हुए, और अत्यधिक प्रकाशित होते हुए, वर्णन किया गया है (६, ४७^{१९})। त्वष्टृ सुन्दर भुजाओं वाले (सुगभस्तिः ६, ४९^{९}), अथवा सुन्दर हाथों वाले (सुपाणि : प्रमुखतः इनके और सवितृ के लिये ही व्यवहृत) हैं।

यह एक कार्यकुशल व्यक्ति हैं (१, ८५^{९}; ३, ५४^{१२}), और एक कुशल शिल्पिक की भाँति विभिन्न पदार्थों का निर्माण करते हैं। वास्तव में यह शिल्पियों में सर्वाधिक कुशल और जटिल रचनायें करने में पूर्ण पटु हैं (१०, ५३^{९})। अनेक बार ऐसा कहा गया है (५, ३१^{४} इत्यादि) कि इन्होंने इन्द्र के वज्र का निर्माण (√तक्ष्) किया। ब्रह्मणस्पति की लौह-कुठार को भी यही तीक्ष्ण करते हैं (१०, ५३^{९})। इन्होंने एक नवीन पात्र बनाया

(१, २०[६]) जिसमें 'असुर' का भोजन (१, ११०[३]) अथवा देवों का पेय रक्खा गया (१, १६१[५]; ३, ३५[५])। इसी प्रकार, इनके पास ऐसे घट या पात्र हैं जिनमें देवगण पान करते है (१०, ५३[९])। अथर्ववेद (९, ४[३.६]), धन से भरा एक पात्र, और सोम से भरा एक प्याला धारण करने वाले एक वृद्ध व्यक्ति के रूप में इनका वर्णन करता है। त्वष्टृ से ही क्षिप्र अश्व उत्पन्न हुआ था (वाजसनेयि संहिता २९, ९); और त्वष्टृ ही अश्व को गति प्रदान करते हैं (अथर्ववेद ६, ९२[१])।

आगे ऋग्वेद यह भी कहता है कि त्वष्टृ ने सभी प्राणियों को रूप से सविशेष किया (१०, ११०[९])। यह गर्भाशय में गर्भ विकसित करते हैं और मनुष्य तथा पशु सभी के आकारों को प्रखर करने वाले हैं (१, १८८[९]; ८, ९१[८]; १०, १८४[१])। बाद के वैदिक ग्रन्थों में भी इसी प्रकार के वक्तव्य मिलते हैं (अथर्ववेद २, २६[१] इत्यादि), जहाँ इन्हें विशिष्टतः आकारों का सृष्टिकर्ता बताया गया है (शतपथ ब्राह्मण ११, ४, ३[३]; तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ४, ७[१])।[3] इनको स्वयं भी ऋग्वेद में किसी अन्य देवता की अपेक्षा कहीं अधिक बार सर्वरूप (विश्वरूप) कहा गया है। जीवित आकारों के निर्माता के रूप में इनका अक्सर प्रजनन के अधिपति, और सन्तान प्रदान करने वाले के रूप में, वर्णन किया गया है (३, ४[९] इत्यादि)। इस प्रकार यह कहा गया है कि इन्होंने परस्पर एक दूसरे के लिये गर्भ से पति और पत्नी को उत्पन्न किया (१०, १०[५]; अथर्ववेद ६, ७८[३])। इन्होंने अत्यधिक विविध प्राणियों को उत्पन्न किया और यही उनका पोषण करते हैं (३, ५५[१९])। पशुगण त्वष्टृ के अधीन हैं (शतपथ ब्राह्मण ३, ७, ३[११]. ८, ३[११])। वास्तव में यह सार्वभौम पिता हैं क्योंकि यह समस्त संसार को उत्पन्न करते हैं (वाजसनेयि संहिता २९, ९)।

एक सीमा तक यह मानव जाति के पूर्वज भी हैं, क्योंकि इनकी पुत्री 'सरण्यू' विवस्वत् की पत्नी के रूप में आदि यमज 'यम' और 'यमी' की मता बनती है (१०, १७[१.२], तु० की० ५, ४२[१३])। वायु को एक बार इनका जामातृ कहा गया है (८, २६[२१])। त्वष्टृ ने बृहस्पति को पुत्र रूप में प्राप्त किया (२, २३[१७])। दस उँगलियों द्वारा उत्पन्न होने के कारण अग्नि भी त्वष्टृ की सन्तान हैं (१, ९५[२]); और आकाश तथा पृथ्वी, जलों, और भृगुओं के साथ इन्होंने ही अग्नि को उत्पन्न किया (१०, २[७], ४६[९])। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन्द्र के पिता भी त्वष्टृ ही थे (पृ० १०६)। विशेषतः त्वष्टृ सोम के अभिभावक हैं और सोम को 'त्वष्टृ का मधु' कहा गया है (१, ११७[२२])। इन्हीं के घर में इन्द्र सोम पान करते है, और सम्भवतः

उसे चुरा भी लेते हैं; यहाँ तक कि सोम प्राप्त करने के लिये इन्द्र अपने इस पिता का वध तक कर देते हैं (पृ० १०६)। सर्वरूप त्वष्टृ का एक 'विश्वरूप' नामक पुत्र है, जो गायों का रक्षक है। इन गायों को प्राप्त करने के लिये इस पुत्र (विश्वरूप) के प्रति इन्द्र की आक्रामकता उसी प्रकार केन्द्रित है जिस प्रकार सोम प्राप्त करने के लिये उसके पिता (त्वष्टृ) के प्रति। यहाँ तक कि स्वयं त्वष्टृ भी इन्द्र के क्रोध से भयभीत होकर काँपने लगते हैं (१, ८०[१४]), और इन्हें इन्द्र से इसलिये हीन बताया गया है कि यह इन्द्र द्वारा किये गये पराक्रमों में से एक भी नहीं करते (१०, ४९[१०])। तैत्तिरीय संहिता (२, ४, १२[१]) यह कथा कहता है किस प्रकार इन्द्र द्वारा त्वष्टृ के पुत्र का वध कर दिये जाने पर त्वष्टृ ने इन्द्र को उनके सोम यज्ञ में सहायता देना अस्वीकृत कर दिया था, किन्तु इन्द्र ने आकर बल पूर्वक सोम पान कर लिया था। ब्राह्मण ग्रन्थ भी अक्सर इसी समान कथा का वर्णन करते हैं (शतपथ ब्राह्मण १, ६, ३[६], इत्यादि)।

सम्भवतः गर्भ[४] में इनके सृजनात्मक कर्तृत्व के कारण त्वष्टृ को दिव्य स्त्रियों (ग्नाः, जनयः) अथवा देवों की पत्नियों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध किया गया है जो बहुधा इनकी परिचारिकायें हैं (१, २२[९] इत्यादि)[५]। त्वष्टृ का प्रमुखतः सजातीय क्रियाओं वाले देव जैसे पूषन्, सवितृ, धातृ, प्रजापति, आदि के साथ ही उल्लेख है। 'सवितृ' वास्तव में उन दोनों स्थलों पर (३, ५५[१९]; १०, १०[५]) त्वष्टृ का एक गुण है जिनमें 'देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः'[६] की समान उक्ति आती है और जिनमें इस देव के सृजनात्मक अथवा उत्पादनात्मक गुण का उल्लेख है। त्वष्टृ को कौशिक सूत्र में सवितृ और प्रजापति[७] के साथ, तथा मार्कण्डेय पुराण में विश्वकर्मन् और प्रजापति के साथ, समीकृत किया गया है। बाद के पुराकथाशास्त्र में त्वष्टृ बारह आदित्यों में से एक, और महाभारत तथा भागवत पुराण में एक या दो बार सूर्य के एक रूप हैं।

ऋग्वेद कुछ अन्य ऐसे अनिश्चित से गुणों का भी उल्लेख करता है जो त्वष्टृ के चरित्र पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डालते। इन्हें प्रथम (१, १३[१०]) अथवा 'अग्रजा' कहा गया है (९, ५[९])। अङ्गिरसों के साथी के रूप में यह देवों के क्षेत्र से परिचित हैं (१०, ७०[९]), देवों के स्थान तक (२, १[५]), और आकाश तथा पृथ्वी के बीच गमन करते हैं (मैत्रायणी संहिता ४, १४[९])। यह समृद्धि प्रदान करते हैं और सभी श्रेष्ठ सम्पत्तियों से युक्त हैं (१०, ७०[९], ९२[११])। अपने स्तोताओं को धन प्रदान करने और उनके

सूक्तों से प्रसन्न होने के लिये इनका स्तवन किया गया है (७, ३४[२१])। त्वष्टृ दीर्घ जीवन भी प्रदान करते हैं (१०, १८[६]; अथर्ववेद ६, ७८[३])।

यह शब्द उस दुर्लभ 'त्वक्ष' धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिसका, कुछ नाम मात्र की निष्पत्तियों के अतिरिक्त, ऋग्वेद में केवल एक ही शाब्दिक रूप मिलता है, और जिसका सजातीय रूप 'थ्वक्ष' अयस्ता में आता है। अर्थ की दृष्टि से यह उस समान धातु 'तक्ष' से मिलता है जिसका इन्द्र के व्रज का निर्माण करने के सन्दर्भ में त्वष्टृ के नाम के साथ प्रयोग हुआ है। अतः इसका अर्थ 'निर्माणकर्त्ता' अथवा 'शिल्पकार' प्रतीत होता है।

त्वष्टृ वैदिक देव समाज के सर्वाधिक अस्पष्ट सदस्य हैं।[८] इनकी धारणा सम्बन्धी अस्पष्टता की व्याख्या करते हुए केगी[९] यह मत व्यक्त करते हैं कि, 'त्रित' और अन्य देवों की भाँति, त्वष्टृ भी अपेक्षाकृत पहले की देव जाति के ही सदस्य थे, जिन्हें वाद के देवों ने निष्कासित कर दिया। परन्तु हिलेब्रान्ट का विचार है कि त्वष्टृ वैदिक जाति के वाहर के किसी पौराणिक क्षेत्र से गृहीत हुये थे। त्वष्टृ की मूल प्रकृति के सम्बन्ध में विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं। त्वष्टृ को सवितृ कहे जाने के कारण कुन[१०] का यह विचार था कि इनका सूर्य अर्थ है, किन्तु वाद में[११] आप अपना यह मत वापस लेते प्रतीत होते हैं। लुडविग[१२] इन्हें वर्ष का एक देव मानते हैं, जब कि ओल्डेनबर्ग का विश्वास है कि यह किसी विशिष्ट क्रिया को व्यक्त करने वाला एक विशुद्ध अमूर्त शब्द है।[१३] हिलेब्रान्ट, कुन के पहले के इस मत को सम्भव मानते हैं कि त्वष्टृ का अर्थ सूर्य है।[१४] हार्डी भी इन्हें एक सौर-देव ही मानते हैं।[१५] ऋग्वेद के और पहले के समय में इस देव द्वारा सौर-प्रकृति के सृजनात्मक पक्ष का ही प्रतिनिधित्व करना वास्तव में असम्भव भी नहीं प्रतीत होता। यदि ऐसी बात है, तो ऋग्वेद के कवि भी इस बात से केवल क्षीण रूप से ही परिचित थे। स्वयं इस नाम ने ही रचनात्मक योग्यता को व्यक्त करने वाले पुराकथाशास्त्रीय उपचयनों के विकास को प्रोत्साहित किया हो सकता है, और इस कार्य को सम्भव बनाने के लिये देव समाज को एक दिव्य शिल्पिक से युक्त कर देने की स्वाभाविक इच्छा मात्र ही पर्याप्त प्रतीत होती है। बहुत कुछ इसी प्रकार बृहस्पति के रूप में एक दिव्य पुरोहित की भी कल्पना कर ली गई है।

त्वष्टृ के प्याले की 'वर्ष के पात्र' अथवा 'रात्रि के आकाश' के रूप में व्याख्या की गई है। किन्तु इन दोनों में से किसी के सम्बन्ध में भी सोम से परिपूर्ण होने और देवों द्वारा पान किये जाने की कल्पना नहीं की जा सकती। चन्द्रमा के रूप में इसकी हिलेब्रान्ट द्वारा प्रस्तुत व्याख्या, अधिक समीचीन प्रतीत होती है।

[1]मूईर : सं० टे० ५, ३९५-६; हेनरी : हा० रो०; ब्लूमफील्ड : अ० फा० १२, ४२९-४४; हॉ० इ० २०९, नोट १ — [2]रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; तु० की०, व० ऋ०; वालिस : कॉ० ऋ० ९-१० — [3]तु० की०, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'त्वष्टृ' — [4]वही — [5]मूईर : सं० टे० ५, २२९ — [6]रौथ : निरुक्त : प्रस्तावना १४४ — [7]वेबर : ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा ३९१-२ — [8]श्रोडर : ग्री० हे० ११३-६ — [9]के० ऋ० नोट १३१ — [10]कु० त्सी० १, ४४८ — [11]कुन : हे० गौ० १०९ — [12]लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ३३३-५ — [13]औ० वे० २३३ — [14]हि० वे० मा० १, ५१७ — [15]हार्डी : वे० पो० ३०-१ ।

त्सी० गे० १, ५२२; बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ३८-६४; हि० वे० मा० १, ५१३-३५; इ० फौ० १, ८; एह्नी : यम ४-१६; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, ४१६ और बाद; २४८ ।

§ ३६. *विश्वकर्मन्, प्रजापति* :—कुछ अन्य ऐसे अमूर्त देव भी ऋग्वेद में मिलते हैं जो यौगिक उपाधियों से व्युत्पन्न हुये हैं और ऋग्वेदिक काल के उत्तरार्ध में विकसित हो रहे सर्वोच्च देव का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। एक देवता के नाम के रूप में विश्वकर्मन्' ऋग्वेद में केवल पाँच बार, और सदैव दशम् मण्डल में ही, आता है। दो सम्पूर्ण सूक्त (१०, ८१-८२) इसकी प्रशस्ति में समर्पित किये गये हैं। एक बार (८, ८७[2]) इन्द्र की, और एक बार (१०, १७०[4]) 'सर्वस्त्रष्टा' के रूप में सूर्य की उपाधि के रूप में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। एक विशेषण के रूप में यह बाद के वेदों में असामान्य नहीं है, जहाँ यह प्रजापति के एक गुण के रूप में भी आता है (वाजसनेयि संहिता १२, ६१)। ऋग्वेद के दो सूक्तों में विश्वकर्मन् का इस प्रकार वर्णन है : यह सर्वद्रष्टा हैं। इनके शरीर के सब ओर नेत्र, मुख, भुजा और चरण हैं (इस दृष्टि से बाद के पुराकथाशास्त्र के ब्रह्मा, जो चतुर्भुज हैं, बहुत कुछ इनके समान हैं)। इनके पंख भी हैं। यह एक द्रष्टा, एक पुरोहित, और हम सब के पिता हैं। यह 'वाचस् पति', विचार के समान वेगवान, उदार, और सभी समृद्धियों के स्रोत हैं। यह सभी स्थानों और लोगों से परिचित हैं' और उन सबके नाम यही अकेले देवों को बताते हैं। यह बुद्धिमान, स्फूर्तिमान और 'परमा संदृक्' हैं। यह 'धातृ' और 'विधातृ' हैं। इन्होंने पृथ्वी को उत्पन्न और आकाश का अनावरण किया। ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यह शब्द प्रमुखतः सौर देव की एक उपाधि मात्र रहा हो, किन्तु बाद के ऋग्वेदिक काल में प्रायः एक ऐसे देव के नाम का प्रतिरूप बन गया (१०, ८१[3]) जिसकी धारणा का उस समय निर्माण हो रहा था, और इस नाम के कारण, 'विश्व-

कर्मन्' के रूप में ही जिसकी सृजनात्मक गुणों[1] से युक्त होने की कल्पना कर ली गई थी। ब्राह्मणों में विश्वकर्मन् को, विधाता 'प्रजापति' के साथ स्पष्ट रूप से समीकृत किया गया है (शतपथ ब्राह्मण ८, २, १[१०]·३[१३], तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ४, २२)। वैदिकोत्तर काल में देवों के शिल्पी के रूप में इनकी धारणा विकसित हो गई।

ऋग्वेद के एक स्थल (४, ५३[२]) पर 'प्रजापति', उस सवितृ की एक उपाधि के रूप में आता है जिसे आकाश को धारण करनेवाला तथा विश्व का 'प्रजापति'[२] कहा गया है; दूसरे स्थल पर यह त्वष्टृ और इन्द्र के साथ सोम की तुलना करते समय सोम की उपाधि है (९, ५[९])। अन्यथा चार बार, और सदैव दशम् मण्डल में ही, यह नाम एक स्पष्ट देव के रूप में आता है। देवता प्रजापति का प्रचुर सन्तान (प्रजाम्) प्रदान करने के लिये आवाहन किया गया है (१०, ८५[४३])। विष्णु, त्वष्टृ, और धातृ के साथ इनकी भी सन्तान प्रदान करने के लिये स्तुति की गई है (१०, १८४[१]। इन्हें, गायों को प्रचुर दुग्धवती बनाने वाला कहा गया है (१०, १६९[४])। प्रजनन और जीवित प्राणियों के रक्षक के रूप में प्रजापति का अथर्ववेद[3] में अक्सर आवाहन किया गया है। इनकी प्रशस्ति में समर्पित ऋग्वेद के एक सूक्त (१०, १२१) में इस नाम के साथ इनका केवल अन्तिम मंत्र में ही आवाहन है। इस सूक्त में, आकाश और पृथ्वी, जलों, और सभी जीवित प्राणियों के स्रष्टा के रूप में इनकी प्रख्याति है, और यह कहा गया है कि जो कुछ भी है उसके अधिपति (पति) के रूप में इनका जन्म (जात) हुआ; यह सभी गतिशील और श्वास लेने वालों के राजा हैं; यही सब देवों में श्रेष्ठ हैं; इनके विधानों का सभी प्राणी, और देवगण तक पालन करते हैं; इन्होंने ही आकाश और पृथ्वी को स्थापित किया; यही अन्तरिक्ष के स्थानों को व्याप्त और समस्त विश्व तथा समस्त प्राणियों का अपनी भुजाओं से आलिंगन करते हैं। यहाँ प्रजापति स्पष्ट रूप से सर्वोच्च देवता का ही नाम है। यद्यपि इस आशय में इनका ऋग्वेद में केवल एक बार ही उल्लेख है, तथापि अथर्ववेद और वाजसनेयि संहिता में साधारणतया, और ब्राह्मणों में नियमित रूप से, इन्हें सर्वप्रमुख देवता स्वीकार किया गया है। यह देवों के पिता हैं। (शतपथ ब्राह्मण ११, १, ६[१४]; तैत्तिरीय ब्राह्मण ८, १, ३[४] इत्यादि), और सृष्टि के आरम्भ में अकेले इन्हीं का आस्तित्व था (शतपथ ब्राह्मण २,२,४[१])। असुरों को भी इन्हों ने ही बनाया (तैत्तिरीय ब्राह्मण २, २, २[3])।[४] इन्हें ही सर्वप्रथम याज्ञिक कहा गया है (शतपथ ब्राह्मण २, ४, ४[१]; ६, २, ३[१])। सूत्रों में प्रजापति को ब्राह्मा के साथ समीकृत किया गया है

(आश्वलायन गृह्य सूत्र ३, ४ इत्यादि)। बाद में वैदिक धर्मशास्त्र के इस सर्वप्रमुख देवता के स्थान पर, उपनिषदों के दर्शनशास्त्र ने 'विश्वात्मा' अथवा परम 'ब्रह्म' की धारणा को प्रतिष्ठित कर दिया है।

मैत्रायणी संहिता (४, २[१२]) में प्रजापति के अपनी पुत्री उषस् पर ही आसक्त हो जाने की पुराकथा मिलती है। उषस् ने हिरनी का रूप धारण कर लिया, उस समय इन्होंने भी अपने को हिरन बना लिया। इस पर क्रुद्ध होकर रुद्र ने इन्हें अपनी बाण का लक्ष्य बनाया किन्तु इन्होंने (प्रजापति) रुद्र को बाण न चलाने पर पशुओं का अधिपति बना देने का वचन दिया (तु० की० ऋग्वेद १०, ६१[७])। ब्राह्मणों में इस पुराकथा का अनेक बार उल्लेख है (ऐतरेय ब्राह्मण ३, ३३; शतपथ ब्राह्मण १, ७, ४[३]; पंचविंश ब्राह्मण ८, २[१०])[५]। इस पुराकथा का आधार ऋग्वेद के वह दो स्थल (१, ७१[५]; १०, ६१[५-७]) प्रतीत होते हैं जिनमें एक पिता (जो 'द्यौस' प्रतीत होता है) की अपनी पुत्री (यहाँ प्रत्यक्षतः पृथिवी) के प्रति अनाचारेच्छा का वर्णन, और एक धनुर्धर का भी उल्लेख है।[६]

ऋग्वेद १०,१२१ के प्रथम ९ मन्त्रों के ध्रुवपद में इस देवता का मानों अज्ञात होने के रूप में प्रश्नवाचक सर्वनाम 'क' (कौन ?) द्वारा वर्णन किया गया है। दसवें मन्त्र में इसका यह उत्तर दिया गया है कि केवल 'प्रजापति' ही सभी प्राणियों को धारण करता है। इसने बाद में न केवल 'क' का प्रजापति की एक उपाधि के रूप में ही व्यवहार आरम्भ कर दिया (ऐतरेय ब्राह्मण ३, २२[७])। वरन् इसे इस सर्वोच्च देवता का एक नाम बना दिया (मैत्रायणी संहिता ३, १२[५])। तैत्तिरीय संहिता (१, ७, ६[६]) में 'क' को स्पष्ट रूप से प्रजापति के साथ समीकृत ही किया गया है।

ऋग्वेद १०, १२१ के प्रथम मंत्र में सर्वोच्च देवता को सभी प्राणियों के अधिपति, 'हिरण्यगर्भ', के रूप में व्यक्त किया गया है। ऋग्वेद में यह नाम केवल एक मात्र यहीं आता है, किन्तु अथर्ववेद और ब्राह्मण काल के साहित्य में इसका अनेक बार उल्लेख है (तु० की०, पृ० २२)। अथर्ववेद के उस स्थल (४, २[८]) पर भी हिरण्यगर्भ का ही आशय है, जहाँ यह कहा गया है कि जलों ने एक अण्डे को उत्पन्न किया जो जन्म के समय स्वर्ण-कोश में स्थित था। तैत्तिरीय संहिता (५, ५, १[२]) में हिरण्यगर्भ को स्पष्ट रूप से प्रजापति के साथ समीकृत किया गया है। बाद के साहित्य में यह प्रमुखतः ब्रह्मा की व्यक्तिगत उपाधि है।[८]

[१] मूईर : स० टे० ४, ५-११; ५, ३५४-५; वालिस् : कॉ० ऋ० ८०-५; शर्मन् : फि० हा० ३३-४० — [२] तु० की० ब्लूमफील्ड : अ० फा० १४, ४९३ — [३] देखिये सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'प्रजापति' — [४] तु० की०

मूइर : सं० टे० ५, ८०-१ — [५]मैक्स मूलर : हि० लि० ५२९; मूइर : सं० टे० ४, ४५; से० बु० ई० १२, २८४, नोट १; डेलब्रुक : फे० बौ० २४; वेबर : वे० वॉ० १८९४, पृ० ३४; गेल्डनर : फे० वे० २१ — [६]तु० कीं० बर्गेन : ल० रि० वे० २, १०९ और बाद; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, ७८ और बाद — [७]शर्मन : फि० हा० २७, नोट २; मैक्स मूलर : हि० लि० ४३३; इन्डिशे स्टूडियन २, ९४; से० बु० ई० १२, ८ — [८]मैक्स मूलर : हि० लि० ५६९ और बाद; मैक्स मूलर : ओ० रि० २९५; मूईर : सं० टे० ४, १५-१८; ५, ३५२-३५५; वालिस : कॉ० ऋ० ५०-१; हि० वे० मा० १, ३८०, नोट १, हॉ० इ० १४१-२; गेल्डनर : उ० स्था० ।

§ ४०. *मन्यु, श्रद्धा, इत्यादि* :—हमें अभी अमूर्त संज्ञाओं के दैवीकरण का अध्ययन करना शेष है। 'मन्यु' अथवा क्रोध का, जिसका मूर्तीकरण इन्द्र के भयंकर क्रोध से उद्भूत हुआ है, ऋग्वेद के दो सूक्तों (१०, ८३-८४) में आवाहन किया गया है। यह पराक्रम में दुर्जेय और अपने अस्तित्व की स्वयं रक्षा करने वाले हैं। यह अग्नि की भाँति जाज्वल्यमान एक देवता हैं; जो इन्द्र, वरुण, जातवेदस् हैं। यह वृत्र का वध करते हैं, और मरुतों को साथ लेकर, इन्द्र की भाँति ही विजय तथा सम्पत्ति प्रदान करते हैं। तपस् के साथ संयुक्त होकर यह अपने स्तोताओं की रक्षा और उनके शत्रुओं को पराभूत करते हैं।

ऋग्वेद का एक छोटा सा सूक्त (१०, १५१) 'श्रद्धा' की प्रशस्ति करता है।[१] यह कहा गया है कि इसका प्रातःकाल, मध्याह्न, और रात्रि में आवाहन किया जाता है। 'श्रद्धा' के द्वारा ही अग्नि को प्रज्वलित, और घृत को अर्पित किया जाता है। 'श्रद्धा' के द्वारा सम्पत्ति प्राप्त होती है। ब्राह्मणों में 'श्रद्धा', सूर्य की (शतपथ ब्राह्मण १२, ७, ३[११]) अथवा प्रजापति की पुत्री (तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ३, १०[१]) है। महाकाव्यों और पुराणों में इसके सम्बन्धों का और अधिक विस्तारण किया गया है। 'अनुमति' (देवों की) शब्द ऋग्वेद में मूर्तीकरण के रूप में दो बार मिलता है। कृपा करने और स्तोताओं को बहुत दिनों तक सूर्य का अवलोकन करते रहने देने के लिये इसका स्तवन किया गया है (१०, ५९[६])। इसके द्वारा प्रदत्त सुरक्षा का भी उल्लेख है (१०, १६७[३])। अथर्ववेद और वाजसनेयि संहिता में यह प्रेम की देवी और प्रजनन की अधिष्ठात्री बन गई है। इसे पूर्णमासी के पहले का दिन मान कर, बाद के संस्कार में, चन्द्रमा के साथ सम्बद्ध किया गया है।[२] 'अरमति' (भक्ति) का भी ऋग्वेद में कभी कभी मूर्तीकरण मिलता है। इस नाम का एक प्रतिरूप अवेस्ता का 'आर्मैति' है जो कि पृथ्वी और मेधा के एक प्रतिभाशाली व्यक्ति का द्योतक है;[३] किन्तु इसी आधार पर

'अरमति' का मूर्तीकरण भारतीय-ईरानी काल तक नहीं ले जाया जा सकता। 'सूनृता' (औदार्य)[४] का भी ऋग्वेद में (१, ४०[३]; १०, १४१[२]) दो या तीन बार एक देवी के रूप में मूर्तीकरण किया गया प्रतीत होता है। ऋग्वेद के एक स्थल (१०, ५९[५-६]) पर 'असुनीति' का मूर्तीकरण मिलता है और दीर्घ जीवन, शक्ति, तथा पोषण प्रदान करने के लिए इसका आवाहन किया गया है।[५] 'निर्ऋति' (विलयन) ऋग्वेद में बारह बार आता है, जहाँ मृत्यु के अधिष्ठाता के रूप में इसका मूर्तीकरण किया गया है।

अन्य मूर्तीकरण सर्वप्रथम बाद के वेदों में ही मिलते हैं। 'काम' का अथर्ववेद (९, २; १९, ५२) में दैवीकरण किया गया है। जैसा कि वैदिकोत्तर साहित्य में है, यहाँ यह प्रेम का देवता नहीं, वरन् एक ऐसा देव है जो इच्छायें पूर्ण करता है। इसके बाणों का भी, जिनसे यह हृदयों का वेधन करता है, उल्लेख है (अथर्ववेद ३, २५[१])। सर्वप्रथम जन्म लेनेवाले के रूप में इसका वर्णन है (अथर्ववेद ९, २[१९])। बहुत सम्भवतः इस काम की धारणा को उस 'काम' से उद्भूत हुआ माना जा सकता है जिसे ऋग्वेद के एक जगत्सृष्टिमीमांसात्मक (पृ० २३) सूक्त (१०, १२९[४]) में 'मन का प्रथम बीज'[६] कहा गया है। 'काल' (समय) का अथर्ववेद (१९, ५३. ५४)[७] में एक विश्वसर्जक शक्ति के रूप में मूर्तीकरण किया गया है। प्रजापति द्वारा सृजित विश्व को धारण करने वाले के रूप में एक 'स्कम्भ' की अमूर्त धारणा का भी अथर्ववेद की कल्पना में विकास हुआ है और इसकी 'सर्वदेव' के रूप में प्रशस्ति की गई है (अथर्ववेद १०, ८[२])[८]। 'प्राण' का भी दैवीकरण और प्रजापति के साथ समीकरण किया गया है (अथर्ववेद ११, ४[३२] इत्यादि)[९]। इसी प्रकार अथर्ववेद[१०] में अन्य अमूर्त धाराओं के भी मूर्तीकरण मिलते हैं। सौन्दर्य अथवा सौभाग्य के मूर्तीकरण के रूप में 'श्री' सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में आता है (११, ४, ३[१])[११]।

[१] तु० की० औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५०, ४५० और बाद — [२] त्सी० गे० ७, ६०८; इन्डिशे स्टूडियन ५, २२९ — [३] त्सी० गे० ७, ५१९; ८, ७७०; ९, ६९०-२; स्पीगेल : डी० पी० १५१, २००-३; हार्डी: वे० पां० ९१; हॉ० इ० १३६ — [४] औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ५०, ४४० — [५] किन्तु तु० की० मैक्स मूलर : ज० ए० सो० २, ४६०, नोट २ — [६] वेबर : इन्डिशे स्टूडियन ५, २२४; १७, २९०; त्सी० गे० १४, २६९; मूईर : सं० टे० ५, ४०२; शर्मनः फि० हा० ७६-७ — [७] शर्मन : फि० हा० ७८-८२; हार्डी : वे० पां० ८८ — [८] शर्मन : फि० हा० ५०-९; हॉ० इ० २०९ — [९] शर्मन : फि० हा० ३५ — [१०] शर्मन : फि० हा० १४ — [११] श्रोडर : श्री० हि० ४।

§ ४१. *अदिति* :—सर्वथा अमूर्त धारणाओं के मूर्तीकरण की, यदि ऊपर प्रस्तुत अध्ययनों की ही भाँति व्याख्या की जाय तो एक देव ऐसा भी मिलेगा जिसका ऋग्वेद में एक अस्पष्ट सा स्थान है, क्योंकि इसका नाम केवल अर्वाचीन भागों तक ही सीमित नहीं है वरन् इस ग्रन्थ में सर्वत्र आता है। यह मानते हुये कि आगे प्रस्तुत व्याख्या उचित है, इसकी अस्पष्टता का समाधान उस पद्धति द्वारा ही हो सकता है जिसके आधार पर यह मूर्तीकरण सम्भव हो सका है। अन्यथा इस देवी का, उपाधियों के रूप में, अमूर्त धारणाओं के अन्तर्गत ही वर्गीकरण करना होगा (§ ३९)।

देवी अदिति किसी भी एक अलग सूक्त का विषय नहीं बन सकी है, किन्तु ऋग्वेद में इसकी प्रसंगवश प्रख्याति है, और इसका नाम प्रायः अस्सी बार आता है। इसका अकेले अत्यन्त दुर्लभ (८, १९[१४]) ही उल्लेख है क्यों कि प्रायः नित्य ही इसका, इसके पुत्र आदित्यों के साथ, आवाहन किया गया है।

इसका कोई निश्चित दैहिक गुण नहीं है। इसे अक्सर एक 'देवी' कहा गया है जिसका कभी कभी 'अनर्वा' नाम भी मिलता है (२, ४०[६]; ७, ४०[४])। यह वहुत फैली हुई (५, ४६[६]), विस्तृत, और चौड़े स्थानों वाली देवी है (८, ६७[१२])। यह उज्ज्वल, प्रकाशमान, प्राणियों का पोषण करनेवाली (१, १३६[३] : अन्यथा केवल मित्र-वरुण के लिये ही ऐसा कहा गया है) और सभी की है (७, १०[४] : आकाश और पृथ्वी के लिये भी ऐसा कहा गया है)। प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल के समय इसका आवाहन होता है (५, ६९[३])[१]।

'अदिति', मित्र और वरुण की (८, २५[३]; १०, ३६[३]. १३२[६]), और साथ ही साथ, अर्यमन् की (८, ४७[९]) माता है। अतः इसे राजाओं की माता (२, २७[७], तु० की० मंत्र[१]). श्रेष्ठ पुत्रोंवाली (३, ४[११]), शक्तिशाली पुत्रों वाली (८, ५६[११]), वीर पुत्रोंवाली (अथर्ववेद ३, ८[३]; ११, १[११]), अथवा आठ पुत्रोंवाली (१०, ७२[८]; अथर्ववेद ८, ९[२१]) कहा गया है। एक बार इसे रुद्रों की भी माता कहा गया है, और यहाँ यह वसुओं की पुत्री, तथा (कुछ विचित्र-सा ही है) आदित्यों की बहन है (८, ९०[१५])। अथर्ववेद (६, ४[१]) इसके भ्राताओं और पुत्रों दोनों का उल्लेख करता है। एक अन्य स्थल (अथर्ववेद ७, ६[२] = वाजसनेयि संहिता २१, ५), पर इसका स्तोताओं की महान माता, 'ऋत' की अधिष्ठात्री, पराक्रमी, अनश्वर, विस्तृत रूप से फैली हुई, सुरक्षा प्रदान करनेवाली, और योग्यतापूर्वक पथप्रदर्शन करनेवाली के रूप में आवाहन किया गया है। इस प्रकार के स्थल, तथा अदिति का अपनी सन्तान आदित्यों के साथ नित्य आवाहन, यह व्यक्त करता है कि मातृत्व ही इसके चरित्र का अनिवार्य और विशिष्ट गुण है। इसकी 'पस्त्या' (४, ५५[३]; ८, २७[५]) उपाधि से भी सम्भवतः इसका मातृत्व ही उद्दिष्ट है। महाकाव्य और पुराणों के पुराकथा

शास्त्र में अदिति, दक्ष की पुत्री, और सामान्य रूप से देवों की, तथा स्पष्टरूप से विवस्वत्, सूर्य और वामन अवतार विष्णु की, माता है। वाजसनेयि संहिता (२९, ६० = तैत्तिरीय संहिता ७, ५[१४]) में इसे विष्णु की पत्नी कहा गया है।

अदिति को अनेक बार विपत्तियों (अंहस्) से रक्षा तथा पूर्ण सुरक्षा प्रदान करनेवाला कहा गया है (१०, १००; १, ९४[१५]), किन्तु अपराध अथवा पाप से मुक्ति दिलाने के लिये ही इसका अपेक्षाकृत अधिक बार आवाहन मिलता है। इस प्रकार वरुण (१, २४[१५]), अग्नि (४, १२[४]), और सवितृ (५, ८२[६]) का, अदिति के विरुद्ध अपराध करने से बचाने के लिये, आवाहन किया गया है। अदिति, मित्र, और वरुण का पाप क्षमा करने के लिये (२, २७[१४]), और अदिति तथा अर्यमन् का पाप (के बन्धनों) को शिथिल करने के लिये स्तवन किया गया है (७, ९३[७])। स्तोतागण अपने को पापरहित करने के लिये अदिति की स्तुति करते हैं (१, १६२[२२])। यह प्रार्थना की गई है कि अदिति के विधानों का पालन करने पर स्तोतागण वरुण के प्रति पाप रहित रहें (७, ८७[७]) और दुरात्मा लोग अदिति से दूर हट जांय (१०, ८७[१८])। इस प्रकार, यद्यपि अन्य देवगण, अग्नि (३, ५४[१९]), सवितृ (४, ५४[३]), सूर्य, उषस् आकाश और पृथिवी (१०, ३५[२,३]) आदि का पाप क्षमा करने के लिये आवाहन मिलता है, तथापि पापमुक्त करने की धारणा को अपेक्षाकृत कहीं अधिक घनिष्ठ रूप से अदिति, और उसके उस पुत्र वरुण के साथ ही सम्बद्ध किया गया है जिसकी पापियों को पाशबद्ध करना एक विशिष्टता है और जो पाप को एक रस्सी की भाँति खोल कर अलग कर देता है (पृ० ४८).

इसकी धारणा बहुत कुछ इसके नाम की व्युत्पत्ति से सम्बद्ध है। 'दा' (बाँधना) धातु से व्युत्पन्न 'दि-ति' (बन्धन, = यूनानी डे-सी-स, δε-σι-ς) से बना 'अदिति' शब्द मुख्यतः एक संज्ञा है जिसका अर्थ 'खोलना' या 'बन्धन हीनता' है। इस क्रिया के भूत-कर्मवाच्य रूप का, यूप से 'आबद्ध' (दित) शुनःशेप का वर्णन करने के लिये प्रयोग किया गया है (५, २[७])। अतः एक देवी के रूप में अदिति का, स्वभावतः, स्तोताओं को एक 'बद्ध' चोर की भाँति बन्धन-मुक्त करने के लिये ही आवाहन किया गया है (८, ६७[१४])। ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर इसका मूल और अमूर्तीकृत अर्थ 'स्वतंत्रता' भी निहित प्रतीत होता है। इसीलिये एक स्तोता सम्बोधित करता है : 'कौन मुझे महती अदिति देगा जिससे में पिता और माता को देख सकूँ ?' (१, २४[१])। 'यज्ञ को निर्दोष (अनागास्त्वे) और मुक्त (अदितित्वे) बनाने के लिये' आदित्यों का स्तवन किया गया है (७, ५१[१])। सम्भवतः उस समय भी

कवि का यही आशय है जब वह आकाश और पृथ्वी की, 'अदिति का सुरक्षित और असीम' वरदान देने के लिये, स्तुति करता है (१, १८५[3])। 'अदिति' शब्द अनेक बार 'असीम' के विशेषणात्मक आशय में भी आता है। इस प्रकार इसका दो बार द्यौस् के (५, ५९[८]; १०, ६३[३]), और अक्सर अग्नि के (१, ९४[१५]; ४, १[२०]; ७, ९[३]; ८, १९[१४]) गुण के रूप में प्रयोग हुआ है।

इस नाम की अनिश्चितता ने अत्यन्त सरलतापूर्वक रहस्यात्मक समीकरणों को आश्रय प्रदान किया हो सकता है; और ऋग्वेद के अपेक्षाकृत अर्वाचीन स्थलों पर मिलनेवाली देववंशावलि तथा सृष्टिविषयक अनुमानों द्वारा इसकी धारणा स्वभावतः प्रभावित हो गई है। इस प्रकार यह कहा गया है कि देवगण अदिति से, जलों से, और पृथ्वी से, उत्पन्न हुये (१०, ६३[२]; तु० की० पृ० २५)। ठीक बाद के मन्त्र में यह कथन है कि देवों की माता असीम आकाश (द्यौर् अदिति) देवों को मधु मिश्रित दुग्ध प्रदान करती है। इस प्रकार यहाँ इसे (अदिति को) आकाश के साथ समीकृत किया गया प्रतीत होता है।[2] अन्यत्र (१, ७२[९]; अथर्ववेद १३, १[३८]) 'अदिति' को पृथिवी के साथ समीकृत किया गया है और यह समीकरण तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में अक्सर मिलता है। नैघण्टुक में पृथ्वी के समानार्थी, और आकाश तथा पृथ्वी के द्विवाचक के रूप में, यह नाम दिया गया है।[3] फिर भी, ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर इसका आकाश तथा पृथ्वी के साथ-साथ उल्लेख करके इन दोनों से विभेद भी किया गया है (१०, ६३[१०] इत्यादि)[4]। एक अन्य स्थल पर (१, ८९[१०]) अदिति सार्वभौमिक प्रकृति के मूर्तीकरण का प्रतिनिधित्व करती है : 'अदिति आकाश है; अदिति वायु है; अदिति माता, पिता और पुत्र है; सभी देव और पाँच जातियाँ अदिति हैं; वह सब कुछ जिसने जन्म लिया अदिति है; सब कुछ जो जन्म लेगा वह भी अदिति ही है' (पृ० २८; तु० की० कठ उपनिषद् ४, ७)।

यद्यपि ऋग्वेद के प्राचीन पुराकथाशास्त्र में अदिति, एक आदित्य के रूप में, 'दक्ष' की माता है (२, २७[१]), तथापि एक जगत्सृष्टिमीमांसात्मक सूक्त (१०, ७२[४-५]) में इसे परस्पर प्रजनन की उस धारणा के अनुसार दक्ष की पुत्री और माता दोनों ही कहा गया है, जो ऋग्वेद में अपरिचित नहीं है (पृ०२१; तु० की १०, ९०[५])। दशम मण्डल के दो अन्य सूक्तों (५[४]. ६४[५]) में इन दोनों देवों को इस प्रकार सम्बद्ध किया गया है कि अदिति कदाचित ही दक्ष की माता हो सकती है, क्योंकि यहाँ यह दक्ष के अधीनस्थ प्रतीत होती है। यद्यपि अदिति कुछ प्रमुख देवों की माता है, तथापि अन्य स्थलों पर इसका स्थान अमहत्वपूर्ण-सा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार यह अपने पुत्र वरुण,

मित्र, और अर्यमन् के साथ, सवितृ का स्तवन करती है (७, ३८[४])। यह भी कहा गया है कि इसने इन्द्र के लिये एक सूक्त का सृजन किया (८, १२[१४], तु० की० ५, ३१[५])।

सम्भवतः प्रकाशमान आदित्यों की माता के रूप में अदिति को कभी-कभी प्रकाश से भी सम्बद्ध किया गया है। इससे प्रकाश की याचना (४, २५[३], तु० की० १०, ३६[३]), और इसके अक्षय प्रकाश की प्रख्याति, की गई है (७, ८२[१०])। उषस् को अदिति का मुख कहा गया है (१, ११३[१९])। अक्सर अदिति का ऐसे सामान्य शब्दों में वर्णन मिलता है जो अन्य देवों के लिये भी व्यवहृत हो सकते हैं। इस प्रकार अपने स्तोताओं को आशीर्वाद देने, उनकी तथा उनके सन्तानों और मवेशियों की रक्षा करने के लिये इसका आवाहन किया गया है (८, १८[६.७]; १, ४३[२])। सम्पत्ति के लिये इसकी स्तुति (७, ४०[२]), और पवित्र. अक्षय, दिव्य और अमर धन के लिये इसकी याचना, की गई है (१, १८५[३])। मरुतों द्वारा प्रदत्त महान कृपाओं की अदिति के उपाकरी कृत्यों से तुलना मिलती है (१, १६६[१२])।

ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर (१, १५३[३]; ८, ९०[१५]; १०, ११[१] इत्यादि) तथा बाद के वैदिक ग्रन्थों में भी (वाजसनेयि संहिता १३, ४३. ४९) अदिति को एक गाय कहा गया है, और संस्कारों में एक विधिविहित गाय को सामान्यतया अदिति के रूप में ही सम्बोधित किया गया है।[५] पार्थिव सोम की, अदिति के दुग्ध से तुलना की गई है (९, ९६[१५]); उस स्थल पर भी अदिति की पुत्री से दुग्ध का ही आशय[६] हो सकता है, जहाँ पात्रों में गिरते हुये सोम के सम्मुख उसे नत बताया गया है (९, ६९[३])। वहाँ भी इसी प्रकार का लाक्षणिक आशय सम्भव है जहाँ यह कहा गया है कि पुरोहितगण अदिति को गोद में रखकर अपनी दस उँगलियों से सोम का परिष्कार करते हैं (९, २६[१]. ७१[५])।

प्रमाणों का अनुसन्धान यह व्यक्त करता है कि अदिति की दो, और केवल दो ही, प्रमुख चारित्रिक विशेषतायें हैं। प्रथम इसका मातृत्व है। यह एक ऐसे वर्ग के देवों की माता है जिनके नाम इससे निर्मित मातृनामोद्गत रूप में ही व्यक्त हुये हैं। दूसरी प्रमुख विशेषता इसके नाम की व्युत्पत्ति के अनुकूल ही, दैहिक कष्ट तथा नैतिक अपराध के बन्धनों से मुक्त करने की इसकी शक्ति है। इस नाम पर आधारित रहस्यवादी कल्पना असीम समृद्धि के प्रतिनिधि के रूप में इसे एक गाय बना सकती है, अथवा इसे असीम पृथ्वी, आकाश, या विश्व के साथ समीकृत ही कर सकती है। किन्तु इस प्रकार के एक अमूर्त विचार का इतने पहले मूर्तीकरण हो जाने, और विशेषतः अदिति का आदित्यों की माता बन

जाने का, हम किस प्रकार समाधान करें ? वर्गेन[७] का विचार है कि अदिति में 'मातृत्व' का संक्रमण इस प्रकार की अभिव्यक्तियों में ढूँढ़ना चाहिये, जैसे 'द्यौर् अदितिः (असीम आकाश) के रूप में वह माता जो देवों को दुग्ध प्रदान करती है' (१०, ६३³)। इस दृष्टिकोण के अनुसार दुर्लभ और गौण विशेषणात्मक अर्थ 'असीम' को आकाश (अन्यथा जो विशिष्टतः एक पिता है) की एक उपाधि से विकसित हो कर स्वतंत्र देवी का रूप धारण कर लेनेवाला मानना होगा। यह व्याख्या बन्धन से मुक्त करने की अदिति सम्बन्धी धारणा का भी उचित समाधान प्रस्तुत करती नहीं प्रतीत होती। एक अन्य व्याख्या सम्भव है। ऋग्वेद में अनेक बार आदित्यों के लिये व्यवहृत 'अदितेः पुत्राः' (अदिति के पुत्र) व्याहृति का, पूर्व-वैदिक काल में वरुण तथा अन्य सजातीय देवों के एक प्रमुख गुण को व्यक्त करते हुये, केवल 'स्वतंत्रता के पुत्र' (सहसःपुत्राः अर्थात 'शक्ति के पुत्र' की भाँतिः पृ० २१) अर्थ हो सकता है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति अत्यन्त सरलतापूर्वक अदिति का एक माता के रूप में मूर्तीकरण सम्भव बना सकती है। इसी प्रकार स्वयं ऋग्वेद में ही इन्द्र की 'पराक्रम के पुत्र' (शवसः पृ० २१) उपाधि से उनकी माता के नाम के रूप में 'शवसी' का निर्माण हुआ है और इन्द्र की ही एक दूसरी उपाधि 'शचीपति' (पराक्रम के अधिपति) ने इस यौगिक शब्द की 'शची के पति' के रूप में व्याख्या करते हुये बाद में 'शची' का इस देव की पत्नी के रूप में मूर्तीकरण कर दिया। अदिति के पुत्र के रूप में मातृनामोद्गत शब्द 'आदित्य' का निर्माण अदिति के पुत्रों के समूह को सीमित कर सकता है। किन्तु दैवीकृत मूर्तीकरण स्वभावतः सभी बन्धनों से मुक्त अस्तित्व के इसके मूल अर्थ से सम्बन्ध भी बना रखता है और आदित्यों से गृहीत कुछ अन्य परिवर्त्तनशील गुण, जैसे उज्ज्वलता आदि भी, अर्जित कर सकता है। कुछ प्रमुख देवों की माता के रूप में अदिति का विश्व-पितर आकाश और पृथ्वी के साथ समीकरण किया जा सकता है और इस शब्द का अर्थ जगत्सृष्टि-विषयक कपल्नाओं को भी प्रोत्साहित कर सकता हैं। इस प्रकार अदिति एक सर्वथा भारतीय देवी है, और एतिहासिक दृष्टि से यह आयु में कम से कम अपने कुछ पुत्रों तक से छोटी है।

इस विचार का कि अदिति 'बन्धन से मुक्ति' की धारणा का मूर्तीकरण है, वालिस[८] और औल्डेनवर्ग[९] भी समर्थन करते हैं। मैक्स मूलर[१०] का विचार है कि, एक प्राचीन देव अथवा देवी के रूप में अदिति, खुली आखों को दिखाई पड़नेवाली पृथ्वी की सीमा से बाहर के असीम और अनन्त विस्तार, मेघों, तथा आकाश को व्यक्त करने के लिये अविष्कृत प्राचीनतम नाम है। रौथ पहले[११] 'अनुल्लङ्घनीयता, अक्षयता' आदि के अर्थ में व्याख्या करते हुये अदिति को 'अनन्त'

की देवी के मूर्तीकरण का द्योतक मानते थे। बाद में आपने आदित्यों अथवा दिव्य प्रकाश को धारण करने वाले 'चिरन्तन' सिद्धान्त के रूप में इसकी व्याख्या की है।[१२] आप इसे एक विशिष्ट नहीं वरन् केवल औपक्रमिक मूर्तीकरण मात्र मानते हैं। फिर भी, सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में आप सीमित पृथ्वी के विपरीत, आकाश की असीमता के मूर्तीकरण के रूप में, आदिति की व्याख्या करते हैं। दूसरी ओर पिशल का विश्वास है कि अदिति पृथ्वी का प्रतिनिधित्व करती है।[१३] हार्डी का भी यही मत है।[१४] कालिनेट, अदिति को द्यौस् का ही स्त्री प्रतिरूप मानते हैं।[१५] नैघण्टुक 'अदिति' को, पृथिवी, वाच्, गो, और द्विवाचक द्यावापृथिवी, के समानार्थी के रूप में रखता है। यास्क 'देवों की महान माता' के रूप में आदिति की परिभाषा करते हैं और नैघण्टुक (५, ५) का अनुसरण करते हुये इसे अन्तरिक्ष-क्षेत्र में स्थित करते हैं, जब कि आदित्यों को दिव्य क्षेत्र में, और वरुण को दोनों ही क्षेत्रों में स्थित बताते हैं।[१६]

[१] मूईर; सं० टे० ५, ३६, नोट ६८ — [२] उ० पु० ५, ३९, नोट ७३ — [३] बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ९०, के अनुसार ४, ५५ १[१] ख = ७, ६२[४] क में अदिति; 'द्यावापृथिवी' की समानार्थी है — [४] मूईरः सं० टे० ५, ४० और वाद में उद्धृत सन्दर्भ — [५] औ० वे० २०६ तु० की० ७२ — [६] अन्यथा वर्गेन : ल० रि० वे० ३, ९४ — [७] वर्गेनः ल० रि० वे० ३, ९० — [८] वालिसः कॉ० ऋ० ४५ और बाद — [९] औ० वे० २०४–७ तु० की०, से० बु० ई० ४६, २२९ — [१०] वैदिक हिम्स, से० बु० ई० ३२, २४१; तु० की० मैक्स मूलर : ले० लै० २, ६१९; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ९१ — [११] निरुक्त, प्रस्तावना, १५०–१ — [१२] त्सी० गे० ६, ६८ और बाद; इसी प्रकार के० ऋ० ५९, हिले-ब्रान्ट, अदिति पृ० २०, भी, — [१३] पिशलः वेदिशे स्टूडियन २, ८६ — [१४] हार्डी : वे० पी० ९४ — [१५] ट्रा० का० (९), १, ३९६–४१० — [१६] निरुक्त १०, ४, पर रौथ।

बेनफे : सामवेद, २१८; मूईरः सं० टे० १, २६; ५, ३५–५३.५५; बर्गेनः ल० रि० वे० ३, ८८–९८; डर्मेस्टेटर : ऑर्मज्द, पृ० ८२; रौथः इन्डिशे स्टूडियन, १४, ३९२–३; ब्लूमफील्डः त्सी० गे० ४८, ५५२, नोट १; हॉ० इ० ७२–३।

§ ४२. *दिति* :—दिति का नाम ऋग्वेद में केवल तीन बार, जिसमें से दो बार अदिति के साथ, आता है। यह कहा गया है कि मित्र और वरुण अपने रथ से अदिति और दिति को देखते हैं (५, ६२[८])। यहाँ सायण अविभाज्य पृथ्वी और उस पर स्थित अलग-अलग प्राणियों के रूप में, रौथ[१] 'चिरन्तन और नश्वर' के रूप में, और मूईर[२] 'समस्त दृश्य प्रकृति' के रूप में, इन दोनों की व्याख्या करते हैं। एक दूसरे स्थल (४, २[११]) पर 'दिति' को

प्रदान करने तथा 'अदिति' से सुरक्षित रखने के लिये अग्नि का स्तवन किया गया है। यहाँ सायण 'उदार दाता' और 'अनुदार दात' के रूप में, तथा रौथ 'सम्पत्ति' और 'विपन्नता' के रूप में, इन दोनों शब्दों की व्याख्या करते हैं। बर्गेन[3] इन दोनों शब्दों को ऊपर के लेख की देवी का ही द्योतक मानते हैं; किन्तु यह अधिक सम्भव है कि यहाँ यह दोनों 'दा' (देना) धातु से व्युत्पन्न अलग अलग शब्द हों, और इसलिये इनका अर्थ 'देनेवाला' और न 'देनेवाला' होना चाहिये। एक तीसरे स्थल (७, १५[12]) पर अदिति के बिना, किन्तु अग्नि, सवितृ, और भग के साथ-साथ, दिति का उल्लेख है और इसे वाञ्छनीय (वार्यम्) वस्तुयें प्रदान करने वाली (दा) कहा गया है। बाद की संहिताओं (वाजसनेयि संहिता १८, २२; अथर्ववेद १५, १८[4]; १६, ६[7]) में भी एक देवी के रूप में 'दिति' का 'अदिति' के साथ उल्लेख है। अथर्ववेद ७,७[1] में इसके पुत्रों का उल्लेख मिलता है। 'दैत्यगण ही इसके यह पुत्र हैं, जो वैदिकोत्तर पुराकथाशास्त्र में देवों के शत्रु वन गये हैं। एक देवी के रूप में 'दिति' का नाम केवल 'अदिति' का व्यवच्छेद मात्र प्रतीत होता है[4], जो एक निश्चित आशय व्यक्त करने के लिये उसी प्रकार 'अदिति' से निर्मित हुआ है जिस प्रकार 'सुर' से वाद में (एक त्रुटिपूर्ण व्युत्पत्ति के आधार पर) 'असुर' का निर्माण हो गया।

[1]त्सां० गे० ६, ७१ — [2]मूईर: सं० टे० ५, ४२ — [3]वर्गेन: ल० रि० वं० ३, ९७ — [4]मैक्स मूलर : से० बु० ई० ३२, २५६ ; तु० की० वालिस: क० ऋ० ४६।

(ङ) देवियाँ

§ ४३. *देवियाँ* :—वैदिक विश्वास और उपासना में देवियों का अत्यन्त नगण्य स्थान है। संसार के शासकों के रूप में यह कदाचित ही कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। इनमें से केवल एक 'उषस्' को ही कुछ महत्त्व दिया गया है; किन्तु यह भी सांख्यिक प्रतिमानों के आधार पर निर्णय करने पर तृतीय श्रेणी की ही देवी सिद्ध होती है (पृ० ३६)। साथ ही, प्रायः सभी अन्य देवों के विपरीत इसे सोम यज्ञ में भी कोई भाग नहीं दिया गया है।[1] इसके वाद सरस्वती (§ ३३) का स्थान आता है, किन्तु यह भी सबसे निम्न वर्ग के देवों के अन्तर्गत ही आती है। अलग-अलग एक एक सूक्तों में कुछ अन्य देवियों की भी प्रशस्ति मिलती है। द्योस् से कदाचित् ही पृथक, पृथिवी का एक छोटे से सूक्त में स्तवन किया गया है (§ ३४)। 'रात्रि' का भी एक सूक्त (१०, १२७) में आवाहन मिलता है। इसकी वहन उषस् की भाँति, इसे भी आकाश की पुत्री कहा गया है। अन्धकारपूर्ण नहीं वरन् तारों से प्रकाशमान रात्रि के

रूप में इसकी कल्पना है। यह अपने नेत्रों से विविधरूपों में प्रकाशित होती है। सभी वैभवों से युक्त, प्रकाश द्वारा अन्धकार को भगाते हुए, यह घाटियों और उच्च स्थानों को व्याप्त करती है। इसके आने पर, अपने घोसलों में लौटते पक्षियों की भाँति, मनुष्य भी अपने-अपने घरों को लौट आते हैं। भेड़ियों, और चोरों को दूर रखने, तथा स्तोताओं को सुरक्षित स्थान पर पहुंचने का निर्देशन करने के लिये इसका आवाहन किया गया है। रात्रि, सम्भवतः उषस् से, जिसके साथ ही एक युगल देवी[2] के रूप में इसकी अनेक मन्त्रों में स्तुति की गई है (पृ० ८९), भिन्न होने के रूप में ही एक देवी बन गई है। 'वाच्', अथवा मूर्तीकृत वाणी की भी एक ऐसे सूक्त (१०, १२५ तु० की० ७१) में प्रख्याति है जिसमें यह स्वयं ही अपना वर्णन करती है। यह सभी देवी के साथ रहती है, और मित्र-वरुण, इन्द्र-अग्नि, तथा अश्विनों को धारण करती है। नास्तिकों के प्रति यह रुद्र के धनुष को प्रेरित करती है। समुद्र में, जलों में, इसका स्थान है। यह सभी प्राणियों को आवृत्त कर रखती है। एक अन्य स्थल (८, ८९[१०-११]) पर इसे देवों की रानी और दिव्य कहा गया है।[3] नैघण्टुक (५, ५) में अन्तरिक्ष स्थान के देवों के अन्तर्गत वाच् की गणना है; और भाष्यकारों (निरुक्त ११, २७) की शब्दावली में 'माध्यमिका वाच्' (मध्यम स्थान की वाणी) ने ही मूर्तीकरण का मूल स्रोत प्रदान किया हो सकता सकता है। ब्राह्मणों में अक्सर ही वाच् सम्बन्धी इस कथा का उल्लेख है कि गन्धर्वों से सोम वापस लाने के लिये वाच् को स्त्री रूप धारण करने का मूल्य चुकाना पड़ा था (ऐतरेय ब्राह्मण १, २७)। 'पुरंधि', जिसका ऋग्वेद में प्रायः नौ बार नाम आता है, समृद्धि की देवी है।[4] इसका प्रायः सदैव 'भग'[5] के साथ, दो या तीन बार पूषन् और सवितृ के साथ, और एक बार विष्णु और अग्नि के साथ भी, उल्लेख है। 'पारेन्दि', जिसे सामान्यतया 'पुरंधि' के साथ समीकृत किया गया है, साधारणतया अवेस्ता[6] में सम्पत्ति और सम्पन्नता की देवी मानी गई है (तु० की० यष्ट ८, ३८)। फिर भी, हिलेब्रान्ट का विचार है कि 'पुरंधि' क्रियाशीलता[7] की देवी है। प्रचुरता की एक दूसरी देवी 'धिषणा' है, जिसका ऋग्वेद[8] में प्रायः एक दर्जन बार उल्लेख मिलता है। इला, जिसका ऋग्वेद में प्रायः एक दर्जन से भी कम बार उल्लेख है, दुग्ध और घृत के हवि का मूर्तीकरण है। इस प्रकार यह गाय से गृहीत समृद्धि का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिये, यद्यपि वास्तविक नाम से नहीं, इडा को ब्राह्मणों में अक्सर गाय से सम्बद्ध किया गया है; और नैघण्टुक (२, ११) में यह गाय के एक समानार्थी के रूप में ही आती है। हवि की प्रकृति के कारण 'इला' को घृत-हस्त (७, १६[8]), और घृत-पाद (१०, ७०[8]) कहा गया है। मूर्तीकरण

के रूप में यह सामान्यतया आप्री सूक्तों में ही मिलती है, जिनमें यह सरस्वती और माही अथवा भारती के साथ त्रयी का निर्माण करती है।[९] 'इलायास् पदे' (पोषण, अर्थात् यज्ञाग्नि के स्थान पर) वाक्पद द्वारा शाब्दिक अथवा मूर्तीकृत क्या आशय है, यह संदिग्ध है। अग्नि को एक बार 'इला' का पुत्र कहा गया है जो कि स्पष्टतः इनके उत्पादन स्थान को ही उद्दिष्ट करके कहा गया है (३, २९[९.१०])। पुरूरवों को भी इसका पुत्र बताया गया है (१०, ९५[१८])। इसे एक बार 'यूथ' की माता बनाया और 'उर्वशी' के साथ सम्बद्ध किया गया है (५, ४१[१९])। एक बार प्रातःकालीन यज्ञ के सन्दर्भ में इसका दधिक्रावन् और अश्विनों के साथ उल्लेख है (७, ४४[२])। शतपथ ब्राह्मण में इसे मनु की (१, ८, १[८]; ११, ५, ३[५]), और साथ ही साथ, मित्र-वरुण की (१, ८, १[२७]; १४, ९, ४[२७]; आश्वलायन श्रौत सूत्र १, ७[७]) पुत्री कहा गया है। विश्वेदेवस् को समर्पित सूक्तों में चार बार 'बृहद्दिवा' देवी का नाम आता है। इसे एक माता कहा गया है (१०, ६४[१०]) और इला (२, ३१[४]; ५, ४१[१९]), सरस्वती और राका (५, ४२[१२]) के साथ इसका उल्लेख है। 'राका' (सम्भवतः √रा, देना से) का ऋग्वेद में केवल दो बार समृद्ध और उदार देवी के रूप में उल्लेख और अन्य के साथ आवाहन किया गया है (२, ३२[७]; ५, ४२[१२])। 'सिनीवाली' का ऋग्वेद के दो सूक्तों में उल्लेख है (२, ३२; १०, १८४)। यह देवों की एक बहन, विस्तृत-नितम्बा, शोभनीय भुजाओं और उँगलियों वाली, बहुप्रसूता, परिवार की स्वामिनी है; तथा सन्तान प्रदान करने के लिये इसका स्तवन किया गया है। सरस्वती, राका, और साथ ही साथ, गंगू (जिसका केवल यहीं उल्लेख है) के साथ इसका आवाहन मिलता है। अथर्ववेद (८, ४६[३]) में सिनीवाली को विष्णु की पत्नी कहा गया है। बाद की संहितायें और ब्राह्मण एक 'कुहू' नामक देवी का भी उल्लेख करते हैं जो नव-चन्द्रमा का मूर्तीकरण है।[१०] बाद के वैदिक ग्रन्थों में राका और सिनीवाली को चन्द्रमा की कलाओं के साथ सम्बद्ध किया गया है, जहाँ इनमें से प्रथम, पूर्णमासी के वास्तविक दिन की, और द्वितीय, नव-चन्द्रमा के प्रथम दिन की, अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। यह दिखाने के लिये कोई सामग्री नहीं है कि ऋग्वेद[११] में भी कोई ऐसा सम्बन्ध मिलता है।

ऋग्वेद में कभी-कभी ही मिलने वाली कुछ अन्य देवियों की प्रसंगानुसार पहले चर्चा की जा चुकी है। मरुतों की माता 'पृश्नि' (पृ० १४७) सम्भवतः शबलीकृत मेघों का प्रतिनिधित्व करती है।[१२] धब्बे के आशय में एक विशेषण के रूप में (तु० की० ७, १०३[६.१०]), एक वचन में वृषभ तथा गाय दोनों के एक गुण के रूप में, और बहुवचन में, [illegible] के लिए सोम का

दोहन करने वाली गाय के रूप में (१, ८४[१०.११]; ८, ६[१९]. ७[१०].५८[३]) भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार इसका 'चितकबरी गाय', और अन्ततः 'चितकबरा मेघ' अर्थ हो गया। विवस्वत् के साथ विवाहित् त्वष्टृ की पुत्री के नाम के रूप में ऋग्वेद (१०, १७[२]) में एक बार 'सरण्यू' का नाम आता है। इसकी सर्वाधिक समीचीन व्याख्या वही प्रतीत होती है जो इसे सूर्य-कन्या 'सूर्या' अथवा उषस् के साथ समीकृत करती है।[१३] यह शब्द ऋग्वेद में चार बार एक विशेषण के रूप में भी आता है जिसका अर्थ 'क्षिप्र' है। यह एक साधारण संस्कृत रूप है, जो 'सरण' अथवा गति (√सृ, दौड़ना) में 'यु' प्रत्यय लगाकर, 'चरण्-यु' तथा अन्य शब्दों की ही भाँति बना लिया गया है।

महान् देवों की पत्नियों के रूप में भी देवियों का वेदों में इसी प्रकार नगण्य स्थान है। यह स्वतन्त्र चारित्रिक विशेषताओं से सर्वथा रहित, केवल ऐसी स्त्रियों को ही व्यक्त करती हैं जिन्हें इन्द्र जैसे देवगण प्राप्त करते हैं। नामों के अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में कदाचित् ही किसी अन्य बात का उल्लेख है, और नाम भी देवों के नाम में '-आनि' प्रत्यय लगाकर बनाये गये हैं। इस प्रकार 'इन्द्राणी' का अर्थ केवल 'इन्द्र की पत्नी' है।[१४] वरुणानी और अग्नायी भी ऋग्वेद में आते हैं, किन्तु दुर्लभ हैं। 'रुद्राणी' सूत्रों के पहले नहीं मिलती, किन्तु '-आनि' से बनी किसी भी अन्य देवी की अपेक्षा कर्मकाण्ड में यह निश्चितरूप से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।[१५] ऋग्वेद में एक बार अश्विनों की पत्नी को 'अश्विनी' (=सूर्या : पृ० ९५)[१६] कहा गया है। कभी कभी ऋग्वेद में उल्लिखित 'देवों' की पत्नियों (देवानां पत्नीः) को ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड के अन्तर्गत इन देवों से पृथक स्थायी स्थान प्रदान किया गया है (शतपथ ब्राह्मण १, ९, २[११])[१७]।

[१]बर्गेनः ल० रि० वे०, पृ० ९ — [२]मूईरः सं० टे० ५, १९१ ; हॉ० इ० ७९ और बाद — [३]वेबरः इन्डिशे स्टूडियन ९, ४७३ और बाद; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ३९, ५८-९; वालिस : कॉ० ऋ० ८५-६; हॉ० इ० १४२-३.२२६ — [४]पिशल : वेदिशे स्टूडियन २, २०२-१६; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १६, १९; औ० वे० ६३ — [५] तु० की० औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, १९०— [६]डर्मेस्टेटर : औ० आ० २५; से० बु० ई० ४, lxx; २३, ११; मिल्स : से० बु० ई० ३१, २५; पिशलः वेदिशे स्टूडियन, १, २०२; स्पीगेल० डो० पी० २०७-९; कालिनेट : बे० रे० २, २४५; ४, १२१ — [७]हिलेब्रान्ट : वी० मी० ३, १८८-९४. २५९-७३ [८]—पिशलः वेदिशे स्टूडियन २, ८२ और बाद ; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, १२०-२ — [९]वेबरः इन्डिशे स्टूडियन १, १६८-९; बर्गेनः ल० रि० वे० १. ३२५; श्रोडरः ग्री० हे० ५१; औ० वे० २३८.३२६; से० बु० ई० ४६, ११. १५६. [illegible] २८८; वार्नेकः कु० त्सी० २४, ५६३ — [१०] त्सी० गे० ९, lviii

— [11] इण्डिश स्टूडियन ५, २२८ और बाद — [12] तु० की० निरुक्त १०, ३९, पर रौथ, पृ० १४५ — [13] ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, १७२–८८, जहाँ इनके पूर्वगामियों के मतों का उल्लेख है — [14] औ० वे० १७२; तु० की० ल्यूमैन : कु० त्सां० ३२, २९९ — [15] औ० वे० २१९ — [16] के० ऋ०, नोट १४८; सूर्या और अश्विनों पर देखिये वेबर : इण्डिशे स्टूडियन ५, १७८–८९; वर्गेन : ल० रि० वे० २, ४८६; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, १३–२९; औल्डेनबर्ग : गौ० ऐ० ७–८; औ० वे० २४१ — [17] देवियों पर तु० की० हॉपकिन्स : प्रो० सो० १८८९, पृ० clxii; 'सरमा' पर देखिये, आगे § ६२ ।

(च) युगल देव

§ ४४. वैदिक पुराकथाशास्त्र की एक विशिष्टता अनेक देवों की युगल रूप से प्रख्याति है। ऐसे देवों के नामों को एक विशेष प्रकार से द्विवाचक यौगिक शब्दों के रूप में संयुक्त कर दिया गया है जिनसे व्यक्त दोनों देव द्विवाचक, स्वराघातों से युक्त, और कभी कभी परस्पर पृथक्य भी हैं।[1] ऋग्वेद के कम से कम साठ सूक्तों में प्रायः एक दर्जन देवों की इस प्रकार संयुक्त रूप से प्रख्याति मिलती है। इन संयोजनों में से सात में, अर्थात इनकी संख्या के आधे से अधिक में, यौगिक शब्द में इन्द्र का एक नाम अवश्य सम्मिलित किया गया है; किन्तु सूक्तों की सर्वाधिक संख्या—तेइस तथा अनेक अन्य के अंश—'मित्रावरुणा' को सम्बोधित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त ग्यारह 'इन्द्राग्नी' को, नौ 'इन्द्रावरुणा' को, लगभग सात 'इन्द्र-वायू' को, छः 'द्यावा-पृथिवी' को, दो दो 'इन्द्रा-सोमा' और 'इन्द्रा-बृहस्पती' को, और एक एक 'इन्द्रा-विष्णू', 'इन्द्रा-पूषणा', 'सोमा-पूषणा', 'सोमा-रुद्रा', और 'अग्नी-सोमा' को समर्पित किये गये हैं। कुछ अन्य युग्मों का, जिनके अन्तर्गत नौ या दस ऐसे देव भी आ जाते हैं जिनका ऊपर उल्लेख नहीं है, कुछ फूटकर मन्त्रों में आवाहन किया गया है। इनके नाम यह हैं : 'इन्द्र-नासत्या', इन्द्रा-पर्वता, 'इन्द्र-मरुतः', 'अग्नि-पर्जन्या', 'पर्जन्या-वाता' (एक बार 'वाता-पर्जन्या'), 'उषासानक्ता' अथवा (कुछ कम बार) 'नक्तोषासा', 'सूर्या-मासा' अथवा 'सूर्या-चन्द्रमसा'।

इस बात में कदाचित ही सन्देह हो सकता है कि युग्मों के इस प्रिय निर्माण का तुलनात्मक आधार 'द्यावापृथिवी', अर्थात् आकाश और पृथ्वी[2], के उस युग्म द्वारा ही प्रस्तुत हुआ होगा जो प्रारम्भिक विचारों के लिए प्रकृति में इतने अविभाज्य रूप से संयुक्त प्रतीत होते थे कि इनके वैवाहिक ऐक्य की पुराकथा पुरातन जातियों[3] में व्यापक रूप से मिलती है, और इसी कारण सम्भवतः वेदों को यह धारणा, भारोपीय जातियों के विभक्त होने के ठीक पहले के समय से भी और प्राचीन काल से प्राप्त हुई है प्रतीत होती है। स्वयं ऋग्वेद में ही यह युग्म इतना घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है कि जहाँ युगल रूप से इसका छः

सूक्तों में आवाहन है, वहीं 'द्यौस्' को अकेले एक भी सूक्त समर्पित नहीं किया गया है, और केवल तीन मन्त्रों का ही एक सूक्त पृथिवी को अर्पित है। इन दोनों को असम्बद्ध मानना कवियों के लिये इतना कठिन था कि इस सूक्त तक में अपने मेंघों से आकाश की वर्षा कराने के लिये ही पृथ्वी की स्तुति की गई है (५, ८४[3])। इसके अतिरिक्त यह द्विवाचक यौगिक शब्द एक देव के रूप में 'द्यौस्' के नाम की अपेक्षा कहीं अधिक बार आता है। 'द्यावाक्षामा' और 'द्यावाभूमी' के अपेक्षाकृत दुर्लभ पर्यायों के साथ यह (द्यावापृथिवी) प्रायः सौ बार, अथवा अन्य किसी भी युग्म को अपेक्षा कहीं अधिक बार आता है। आकाश और पृथ्वी को 'रोदसी', अर्थात् दो लोक (शब्द के लिङ्ग के कारण इन्हें दों बहनें कहा गया है, १, १८५[५]) भी कहा गया है, और यह व्याहृति ऋग्वेद में प्रायः सौ बार आती है। आकाश और पृथ्वी पिता-माता हैं जिन्हें अक्सर 'पितरा', 'मातरा', 'जनित्री' आदि कहा गया है, और अलग-अलग भी पिता और माता के रूप से संबोधित किया गया है (१, १५९[१-३]. १६०[२])। यह आदि माता-पिता हैं (७, ५३[२]; १०, ६५[८])। ऐतरेय ब्राह्मण (४, २७[५-६])[४] में इनके विवाह का उल्लेख मिलता है। इन्होंने सभी प्राणियों को बसाया और उन्हें धारण करते हैं (१, १५९[२]. १६०[२]. १८५[१])। यद्यपि यह स्वयं पादरहित हैं तथापि अपनी पादयुक्त अनेक सन्तानों को धारण करते हैं (१, १८५[२])। यह देवों के भी पिता-माता हैं; क्योंकि केवल इन्हीं के लिये 'देवपुत्रे' (देवगण जिनके पुत्र हों) उपधि व्यवहृत हुई है। इन्हें विशेषरूप से बृहस्पति के पिता-माता कहा गया है (७, ९७[८])। 'जलों' तथा 'त्वष्टृ' से इन्होंने अग्नि को उत्पन्न किया (१०, २[७])। साथ ही साथ, विभिन्न स्थलों पर स्वयं इनको ही अलग-अलग देवों द्वारा उत्पन्न बताया गया है। इस प्रकार एक कवि कहता है कि जिसने आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न किया वह देवों में अवश्य ही सर्वश्रेष्ठ शिल्पी रहा होगा (१, १६०[४]; ४, ५६[3])। यह कहा गया है कि इन्द्र ने इन्हें उत्पन्न अथवा निर्मित किया (६, ३०[५]; ८, ३६[४]; १०, २९[६]. ५४[3])। विश्व-कर्मन् ने इन्हें उत्पन्न किया (१०, ८१[२] तु० की० अथर्ववेद १२, १[६०])[५]। इन्होंने त्वष्टृ से अपना स्वरूप प्राप्त किया (१०, ११०[९])। यह 'पुरुष' के मस्तक और पैरों से उत्पन्न हुये (१०, ९०[१४])। किन्तु एक कवि यही सन्देह व्यक्त करता है कि किस प्रकार इनकी उत्पत्ति हुई और दोनों में से कौन सर्वप्रथम अस्तित्व में आया (१, १८५[१]; तु० की० पृ० २३)[६]। 'द्यावापृथिवी' के लिये व्यवहृत विभिन्न उपाधियाँ इनकी भौतिक प्रकृति द्वारा ही निष्कृष्ट हुई हैं। इनमें से एक पौरुषयुक्त वृषभ है और दूसरा विभिन्न रंगोवाली गाय (१, १६०[3]), दोनों ही 'सुरेतस्' हैं (१, १५९[२]; ६, ७०[१.२])। यह प्रचुर मात्रा में दुग्ध,

घृत और मधु प्रदान करते हैं (६, ७०[१-५])। यह अमृत भी उत्पन्न करते हैं (१, १५९[२]. १८५[३])। यह कभी वृद्ध नहीं होते (६, ७०[१])। यह महान (१, १५९[१]) और सुविस्तृत हैं (१, १६०[२])। यह एक विस्तृत और महान आवास हैं (१, १८५[६])। यह सुमुख, विस्तृत, विविध और ऐसी सीमाओं वाले हैं जो सुदूर स्थित हैं (१, १८५[६.७])। फिर भी, कभी-कभी नैतिक गुण भी इन पर आरोपित किये गये हैं। यह बुद्धिमान और पुण्य कार्यों को प्रोत्साहित करनेवाले हैं (१, १५९[१])। पिता और माता के रूप में यह प्राणियों की रक्षा करते हैं (१, १६०[२]) और उन्हें अपमान तथा दुर्भाग्य से बचाते हैं (१, १८५[१०])। यह भोजन और सम्पत्ति (६, ७०[६]; १, १५९[५]) अथवा महान यश और क्षेत्र प्रदान करते हैं (१, १६०[५])। इनका मूर्तीकरण इस सीमा तक विकसित कर दिया गया है कि इन्हें यज्ञ का नायक कहा जा सके। इतना ही नहीं, इनके सम्बन्ध में यज्ञस्थल पर आकर बैठने की (४, ५६[२.७]), द्युलोकवासियों के साथ अपने स्तोताओं के पास आने की (७, ५३[२]) अथवा यज्ञ को देवों तक पहुंचाने की (२, ४१[२०]) कल्पना की गई है। किन्तु आकाश और पृथ्वी ने कभी भी एक जीवित मूर्तीकरण, अथवा उपासना में महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त किया। यह दोनों ही देव बहुत कुछ समवर्गीय हैं। अन्यथा अधिकांश अन्य युग्मों में दोनों देवों में से एक बहुत अंशों तक प्रमुख होता है और उसी की चारित्रिक विशेषतायें दूसरे में गृहीत होती हैं। इसीलिये इन्द्र-अग्नि को संयुक्त रूप से 'वृत्रहन्' तथा 'वज्रधारी' कहा गया है। कभी-कभी युग्म के छोटे देव का ही कोई गुण दोनों के साथ संयुक्त मिलता है। इस प्रकार, इन्द्र-विष्णु को, एक साथ, विस्तृत पाद-प्रक्षेप करनेवाला कहा गया है (६, ६९[५])। इसी प्रकार, अक्सर सम्बन्धीकरण के कारण एक देव को स्वयं ऐसी उपाधियों से विभूषित कर दिया गया है जो मूलतः उसकी नहीं हैं। इसलिये जब अग्नि का अकेले ही उल्लेख है, तब भी उसे कभी-कभी वृत्र का वध करनेवाला कहा गया है। फिर भी, युग्म के दोनों सदस्यों की चारित्रिक विशेषताओं में कुछ स्थलों पर विभेद भी किया गया है।[७]

आकाश और पृथ्वी के बाद दूसरा बहु-उल्लिखित युगल नाम 'मित्र-वरुण' है। इन देवों का सम्मिलित आवाहन इन्हें अलग अलग समर्पित सूक्तों की अपेक्षा कहीं अधिक बार किया गया है। यतः मित्र की अपनी कदाचित् ही कोई वैयक्तिक विशिष्टता है, अतः इस युग्म को उन्हीं गुणों और कार्यों से युक्त किया गया है जो अकेले वरुण के हैं। इसलिये वरुण के सम्बन्ध में जो कुछ पहले कहा जा चुका है उसमें यहाँ कदाचित् ही कुछ और जोड़ना शेष रह जाता है। इस युग्म के देवों को युवा माना गया है (३, ५४[१०]; ७, ६२[५])। विभिन्न अन्य देवों को

भाँति इन्हें प्रकाशमान (चन्द्र), उज्ज्वल (शुचि), सूर्यवत (स्वर्दृश्), अरुणिम (रुद्र), और भयंकर (घोर) कहा गया है। इस यौगिक शब्द में 'मित्र' के नाम की प्राथमिकता इस बात की द्योतक हो सकती है कि मूलतः यही अधिक प्रमुख देव रहे होंगे ; फिर भी, सम्भवतः केवल यौगिक शब्द के छोटे खण्ड को पहले रखने की प्रवृत्ति के कारण भी ऐसा हुआ हो सकता है। इस युग्म का आवाहन भारतीय-ईरानी काल का हो सकता है क्योंकि अवेस्ता में 'अहुर' और 'मिथ्र' को भी इसी प्रकार संयुक्त किया गया है।[८]

दो सार्वभौमिक सम्राट्, 'इन्द्र-वरुण' (१, १७[१]) ने जनों के लिये आगार खोदे और सूर्य को आकाश में गतिशील किया (७, ८२[३])। यह लोग वृत्र का वध (६, ६८[२]), तथा युद्ध में सहायता (४, ४१[११]) और विजय (१, १७[७]) प्रदान करने वाले हैं। यह दुष्टों पर अपने शक्तिशाली वज्र से प्रहार करते हैं (४, ४१[४])। यह सुरक्षा और समृद्धि (१, १७[७.८]), यश, सम्पत्ति, और अश्वों की प्रचुर संख्या (४, ४१[२.१०]; ६, ६८[८]) प्रदान करते हैं। यह लोग दबाये हुये सोम का पान करते हैं; इनका रथ यज्ञ-स्थल तक आता है, और यज्ञस्थल पर बिछे कुशासन पर बैठकर आनन्दित होने के लिये इनका आवाहन किया गया है (६, ६८[१०.११])। कुछ स्थलों पर इस युग्म के दोनों सदस्यों की अलग-अलग चारित्रिक विशेषताओं का विभेद किया गया है। इस प्रकार वरुण का स्तोताओं पर से अपना क्रोध हटाने के लिये, और इन्द्र का स्तोताओं के लिये विस्तृत स्थान प्राप्त करने के लिये, स्तवन किया गया है (७, ८४[२])। वृत्र का वध करनेवाले युद्धकुशल इन्द्र का, शान्ति और मेधा में मनुष्यों को पोषित करनेवाले वरुण से विभेद किया गया है (६,६८[३]; ७, ८२[५.६]. ८५[३])। 'इन्द्र-अग्नि'[९] के युग्म का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है, क्योंकि किसी भी अन्य देवता के साथ की अपेक्षा अग्नि के साथ सम्मिलित रूप से इन्द्र का कहीं अधिक बार आवाहन किया गया है;[१०] जब कि, अन्यथा एक युगल देव के रूप में अग्नि को केवल एक सूक्त तथा दो फुटकर मंत्रों में सोम के साथ, और एक मन्त्र में पर्जन्य के साथ संम्बोधित किया गया है। सर्वश्रेष्ठ सोम प्रेमी, इन्द्र-अग्नि (१, २१[१]) अपने रथ पर बैठकर सोम पान के हेतु आते हैं (१, १०८[१])। एक साथ आकर सोम पान करने के लिये (७, ९३[६]; ८, ३८[४.७-९]), और यज्ञस्थल पर बिछे कुशासन पर बैठकर इस दबाये हुये पेय का पान कर आनन्दित होने के लिये (१, १०९[५]) इनको आमन्त्रित किया गया है। इन्हें अक्सर वृत्र का वध करनेवाला कहा गया है। यह वज्र से सुसज्जित हैं (६, ५९[३] इत्यादि) और इनके विद्युत तीक्ष्ण होते हैं (५, ८६[३])। यह लोग गढ़ों को ध्वस्त, तथा युद्ध में सहायता करनेवाले हैं (१, १०९[७.८])।

इन लोगों ने साथ-साथ मिलकर 'दासों' के ९९ गढ़ों को ध्वस्त किया (३, १२[६]), और युद्ध में अजेय हैं (५, ८६[२])। इन्होंने नदियों को उनके कारागार से मुक्त (८, ४८[८]), और साथ साथ मिलकर महान् पराक्रम के कार्य किये (१, १०८[५])। यह लोग उपकारी हैं (५, ८६[३])। यह सभी गुण इन्द्र की ही विशिष्टतायें हैं। इन्द्र-अग्नि, यज्ञ के दो पुरोहित भी कहे गये हैं (८, ३८[१])। यह बुद्धिमान हैं (८, ४०[३])। यह लोग आवासों के अधिपति (सदस्पति) हैं, और राक्षसों को दूर भगाते हैं (१, २१[५])। यह सभी गुण अग्नि के अधिक उपयुक्त हैं। यह दोनों देवता यमज भ्राता हैं जिनके पिता एक ही हैं (५, ५९[२])। सम्भवतः इसी घनिष्ठ सम्बन्ध को उद्दिष्ट करके इन लोगों को एक बार अश्विन्[११] कहा गया है (१, १०९[४])। यह लोग भोजन, सम्पत्ति, शक्ति, पशु, और अश्व प्रदान करते हैं (४, ६०[१३-१४])। यह लोग आकाश और पृथिवी, नदियों, और पर्वतों से भी महान हैं (१, १०९[६])। यद्यपि उस समय नहीं जब इन्हें युगल रूप से सम्बोधित किया गया है, तथापि एक बार इन दोनों देवों में विभेद भी किया गया है; यह कहा गया है कि इन्द्र तो 'दस्युओं' का वध करते हैं किन्तु अग्नि इन दस्युओं को भस्म करते हैं (६, २८[४])। इन्द्र-बृहस्पति को सम्बोधित दो सूक्तों (४, ४९; ७, ९७) में प्रमुखतः सोम पान करने का निमन्त्रण, तथा अश्वों के रूप में महान् सम्पत्ति प्रदान करने और उपासना को प्रोत्साहित करने की स्तुतियाँ हैं। 'इन्द्र-वायु' को नित्य ही सोमपान करने के लिये आमन्त्रित किया गया है (१, २३[१-२] इत्यादि)। इसके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में कुछ और नहीं कहा गया है। यह लोग अपने दल के साथ (४, ४७[२-४]), अथवा अपने स्वर्ण-आसन वाले रथ में (४, ४६[४]) बैठकर यज्ञ स्थल पर आते और यज्ञीय शिविका पर आसीन होते हैं (७, ९१[५])। यह लोग सहस्र-नेत्र, भक्ति के अधिपति (धियस्-पती : १, २३[३]), और शक्ति के अधिपति (शवसस्-पती : ४, ४७[३]) हैं। यह युद्ध में सहायता (७, ९२[४]), और अश्वों, पशुओं तथा स्वर्ण के रूप में सम्पत्ति (७, ९०[६]) प्रदान करते हैं, जो विशिष्टतः इन्द्र के युद्धोपम अभियानों अथवा उनको बहुधा आरोपित महान् दिव्य कृत्यों के ही समान हैं। इन लोगों ने मनुष्यों के लिये जलों को प्रवाहित, सप्तनदों को मुक्त, वृत्र का वध और सूर्य के चक्र को मन्द किया (४, २८[१-२]; ६, ७२[३])। इन दो उदार देवों का वास्तविक कार्य यह था कि इन्होंने अपने शत्रुओं का विनाश, और पर्वतों को तोड़ कर उनमें आवृत्त पदार्थों को मुक्त किया (४, २८[४-५])। इन लोगों ने सूर्य और प्रकाश को प्राप्त करने, अन्धकार को भगाने, सूर्य को प्रकाशित करने, आकाश को धारण करने, और पृथ्वी को विस्तृत करने जैसे प्रथम महान कार्य किये (६, ७२[१-२])।

इन लोगों ने ही रुक्ष गायों के शरीर में पका हुआ दुग्ध स्थापित किया (वही [४])। यह लोग मनुष्यों को विजयशील पराक्रम प्रदान करते हैं (वही [५])। इन्द्र-विष्णु को, जो सोम के आगार और मद के अधिपति (मदपती) हैं, सोम पान से अपने उदर को परिपूर्ण करने के लिए आमन्त्रित किया गया है। सोम से मदमत्त होकर इन दोनों देवों ने दूर दूर तक भ्रमण किया, वायु को विस्तृत किया, और आवासों के लिये स्थानों को फैलाया। सदैव विजेता, यह लोग सम्पत्ति प्रदान करते हैं और संकटों से सुरक्षित पार कर देते हैं। सभी स्तुतियों के प्रेरकों के रूप में अपने स्तोताओं के आवाहन को सुनने के लिये इनका स्तवन किया गया है (६, ६९)[१२]। इन्द्र-पूषन् का सम्मिलित रूप से एक छोटे से सूक्त (६, ५७) में आवाहन है और इनके नाम भी द्विवाचक यौगिक शब्द के रूप केवल दो ही बार आते हैं। जब इन्द्र ने महान् जलों को प्रवाहित कराया तब पूषन् उनके साथ थे। मित्र के रूप में पूषन् को साथ लेकर इन्द्र वृत्रों का वध करते हैं (६, ५६[२])। इनमें से एक सोम पान करते हैं और उन दो अश्वों द्वारा खींचे जाते हैं जिनसे वह वृत्रों का वध करते हैं, जब कि दूसरे 'करम्भ' के प्रेमी हैं और बकरों द्वारा खींचे जाते हैं। एक बार (१, १६२[२]) इन्द्र-पूषन् के उस आवास (पाथस्) का भी उल्लेख है जहाँ तक यज्ञ के अश्व को पथ प्रदर्शन करते हुए बकरा पहुंचाता है। सदैव की भाँति इन दोनों देवों का भी सुरक्षा और समृद्धि प्रदान करने के लिये स्तवन किया गया है।

सोम-पूषन् (२, ४०) अंधकार को भगाते हैं; और स्थानों को नापने वाले, इच्छा से सन्नद्ध, सप्तचक्रों तथा पञ्चवल्गाओं से युक्त रथ को तीव्र करने के लिये इनका आवाहन किया गया है। यह लोग सम्पत्ति को, आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न करने वाले, लोकों के रक्षक (तु० की० १०, १७[३]) हैं, जिन्हें देवों ने अमरत्व का केन्द्र बनाया। इनके लिये रूक्ष गायों से पका दुग्ध उत्पन्न करने के लिये इन्द्र का आवाहन किया गया है। साथ-साथ यह दोनों शत्रुओं पर विजय और सम्पत्ति तथा भोजन की प्रचुरता प्रदान करते हैं। किन्तु इनमें विभेद भी किया गया है। इनमें से एक ने उच्चाकाश में अपना आवास बनाया है, जब कि दूसरा पृथ्वी पर और वायु में निवास करता है; एक ने सभी प्राणियों को उत्पन्न किया, जब कि दूसरा सबको देखता हुआ गतिशील करता है।[१३] आवासों से व्याधि और विनाश को भगाने, अपने स्तोताओं के शरीर में सभी औषधियाँ रखने, उन्हें सभी पापों से दूर और वरुण के पाशों से मुक्त रखने के लिये, सोम-रुद्र का आवाहन किया गया है (६, ७४)। तीक्ष्ण आयुधों से युक्त इन लोगों से कृपा करने, और मनुष्य तथा पशु को समृद्धि

करने की प्रार्थना की गई है। वन्दी जलधाराओं को मुक्त करने, प्रकाश प्राप्त करने, और प्रकाशमान ग्रहों को आकाश में स्थित करने के लिये अग्नि-सोम की साथ-साथ प्रख्याति है। किन्तु इनका विभेद भी किया गया है। यह कहा गया है कि इनमें से एक को मातरिश्वन् आकाश से लाये, और दूसरे को श्येन पक्षी पर्वतों से (१, ९३)। इन दोनों की सम्मिलित सहायता तथा सुरक्षा का आवाहन, और पशु, अश्व, सन्तान, स्वास्थ्य, सुख, तथा समृद्धि प्रदान करने के लिये इनका स्तवन किया गया है (१०, १९[१]. ६६[७]) इस युग्म का अथर्ववेद में भी अनेक बार उल्लेख है। मैत्रायणी संहिता (३, ७[१]) में इन्हें 'दो नेत्र' कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण भ्राताओं के रूप में इनका उल्लेख करता है (११, १, ६[१९]) और यह भी कहता है कि सूर्य अग्नि का, तथा चन्द्रमा सोम का है (१, ६, ३[२४])। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कार में अग्नि-सोम को सोम की हवि का अंश नहीं वरन् अपूप और पशु बलियाँ ही समर्पित की जाती थीं। यह उल्लेखनीय है कि इन दो महान सांस्कारिक देवों का, जो यज्ञीय साहित्य में बहुधा ही युग्म के रूप में आते हैं, इनकी प्रशस्ति में अर्पित एक सूक्त (१, ९३) के अतिरिक्त, युग्म के रूप में केवल दो ही बार उल्लेख किया गया है, और वह भी ऋग्वेद के सर्वाधिक अर्वाचीन भाग में ही।[१४]

कुछ अन्य युग्मों का फुटकर मंत्रों में आवाहन मिलता है। अग्नि-पर्जन्य का एक स्थल (६, ५२[१६]) पर उल्लेख है। भोजन और सन्तान प्रदान करने लिये इनकी एक साथ स्तुति की गई है, किन्तु इनका विभेद भी किया गया है। ऐसा कथन है कि एक ने हवि (इलाम्) और दूसरे ने सन्तान (गर्भम्) उत्पन्न किया। पर्जन्य-वात का चार स्थलों पर आवाहन है। पृथ्वी के वृषभों के रूप में इनका, जलमय वाष्प (पुरीषाणि) को प्रेरित करने के लिये स्तवन किया गया है (६, ४९[६])। इन्द्र-वायु तथा अन्य देवों के साथ इनका वाष्पमय (पुरीषिणा) वृषभों के रूप में आवाहन है (१०, ६५[९])। एक अन्य गणना में प्रचुर भोजन प्रदान करने के लिये इनकी स्तुति की गई है (६, ५०[१२])। एक बार इनका (१०, ६६[१०] तु० की० निरुक्त ७, १०) 'गर्जन करने वाले भैंसे' (सम्भवतः द्यौस्[१५]) के साथ सम्बद्ध होने के रूप में आवाहन किया गया है। उषस् और रात्रि का अनेक बार आवाहन है। इनका प्रायः सदैव एकमात्र विष्वेदेव अथवा आप्री सूक्तों में ही उल्लेख मिलता है। यह दोनों समृद्ध देवियाँ (२, ३१[५]; १०, ७०[६]), दिव्य कन्यायें (७, २[६]; १०, ११०[६]), और आकाश की पुत्रियाँ (५, ४१[७]; १०, ७०[६]) हैं। यह दोनों दो पत्नियों के समान (१, १२२[२]) और दुग्ध से परिपूर्ण (२, ३[६]) हैं। अपने रंग को परिवर्तित करती हुई यह दोनों एक ही और

ऐसे शिशु को स्तनपान कराती हैं जो आकाश और पृथ्वी के बीच प्रकाशित होता है (१, ९६[५])। यह ऐसी दो बहने हैं जिनका मन एक किन्तु वर्ण भिन्न है, जिनका पथ एक किन्तु अन्तहीन है, जो देवों द्वारा शिक्षित हो कर निरन्तर एकान्तरित होते हुये गतिशील हैं और न तो कभी टकराती हैं और न स्थिर ही होती हैं (१, ११३[३])। यह दोनों ही ऋत् की प्रकाशमान मातायें हैं (१, १४२[७]); उज्ज्वल रश्मियों से यह प्रत्येक हवि का वहन करती (५, ४१[७]) और यज्ञ का वितान बुनती हैं (२, ३[६])। यह उपकारी हैं, इनका बहुधा आवाहन किया जाता है, और यह कुशासन पर विराजमान होती हैं (७, २[६])। यह दोनों महान और सुअलंकृत हैं (१०, ३६[१]. ११०[६]; १, १३[७]. १४२[७])। एकान्तरित रूप से प्रकट होते हुये यह सभी जीवित प्राणियों को जागृत करती हैं (२, ३१[५])।[१६] सूर्य और चन्द्रमा का पाँच बार 'सूर्यामासा' के रूप में और तीन बार 'सूर्याचन्द्रमसा' के रूप में उल्लेख है। सूर्य के नाम के साथ बने केवल यही दो यौगिक शब्द हैं।[१७] अधिकांश दशाओं में वस्तुतः प्रकाशमान पिण्डों से ही तात्पर्य है। इस प्रकार यह कहा गया है कि दोनों एकान्तरित होते हुये चलते हैं जिससे हम लोग इन्हें देख सकें (१, १०२[२])। यह बृहस्पति का ही कार्य है कि सूर्य और चन्द्रमा एकान्तरित होते हुये उदित होते हैं (१०, ६८[१०])। विधाता ने सूर्य और चन्द्रमा का निर्माण किया (१०, १९०[३])। एक कवि यह कहता है कि, 'हम अपने पथों पर उसी प्रकार चलें जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा चलते हैं' (५, ५१[१५])। फिर भी, जहाँ इस युग्म का अन्य देवों के साथ आवाहन है, वहाँ इनका औपचारिक मूर्तीकरण कर लिया गया है (१०, ६४[३]. ९२[१२]. ९३[५])। कुछ स्थलों पर सूर्य और चन्द्रमा की प्रत्यक्षतः इनके युगल रूप में ही कल्पना की गई है, यद्यपि इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है। 'यह दोनों ही खेलते हुये बालकों की भाँति यज्ञ की परिक्रमा करते हैं; एक सभी प्राणियों का पर्यवेक्षण, और दूसरा पुनः जन्म लेकर ऋतुओं का संचालन करता है (१०, ८५[१८])। इसमें सन्देह नहीं कि वरुण के दो उज्ज्वल नेत्रों (८, ४१[९]) और अमरों द्वारा निर्मित आकाश के दो नेत्रों (१, ७२[१०]) से इन्हीं का तात्पर्य है।

[१] कुनः हे० गौ० १६१ और बाद; मैक्स मूलर : ओ० रि० २९७ और बाद; हि० वे० मा० १, ९८ — [२] स्पीगेल : डी० पी० १५९; तु० की०, औ० वे० ९३. २४० — [३] टेलर : प्रिमिटिव कल्चर ३२२-८ (माइथौलोजी का अध्याय) — [४] हॉग : ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद, भाग २, ३०८ — [५] तु० की० वही २, २९९ — [६] तु० की० निरुक्त ३, २२; मैक्स मूलर : ले० लै०

२, ६०६ — [७]ऋग्वेद २, ४०$^{४.५}$; ६, ५२^{१०}. ५७^{२}. ६८^{३}; ७, ३६^{१}. ८२$^{५ ६}$. ८३^{१}. ८४^{२}. ८५^{३} — [८]मूईर : सं० टे० ५, ७०; एग्गर्स; मित्र २९-३१; औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ५०, ४६ — [९]मूईर : सं० टे० ५, २२०; मैकडौनेल : ज० ए० सो० २५, ४७० — [१०]तु० की० फे : अ० फ्रा० १७, १४ — [११]मैक्स मूलर : ले० लै० २, ६१४ — [१२]मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, १७५ — [१३]मूईर : सं० टे० ५, १८०; हि० वे० मा० १, ४५६ — [१४]औल्डेनवर्ग : हिम्स देस ऋग्वेद १, २६७; हिलेब्रान्ट : गौ० ऐ०, १८९०, पृ० ४०१; हि० वे० मा० १, ४५८-६१ — [१५]तु० की० लुडविग : ऋग्वेदका अनुवाद ४, २२८ — [१६]के० ऋ० ५२; औल्डेनवर्गः त्सी० गे० ३९, ८९; हॉ० इ० ७९ — [१७]औल्डेन-वर्ग : त्सी० गे० ५०, ६३।

(छ) देवों के समूह

§ ४५. वेदों का पुराकथाशास्त्र सामान्यतया किसी देव विशेष से सम्बद्ध देवों के कुछ निश्चित से समूहों को भी स्वीकार करता था। इनमें से सबसे बड़ा और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समूह मरुतों का है, जिनकी संख्या ऋग्वेद में विभिन्न रूप से २१ अथवा १८० (पृ० १४७) बताई गई है, और जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, इनका सदैव इन्द्र के युद्ध अभियानों में उनकी सहायता करते हुये वर्णन किया गया है (पृ० १०७)। इस समूह को 'रुद्रों' के नाम से अक्सर उनके पिता 'रुद्र' के साथ सम्बद्ध किया गया है (७, १०^{४}. ३५^{६})। ब्राह्मणों में रुद्रों का भी एक अलग समूह माना गया है और इनकी संख्या ऐतरेय तथा शतपथ ब्राह्मणों (पृ० ३४) में ग्यारह, किन्तु तैत्तिरीय संहिता (१, ४, ११^{१}) में तैंतीस बताई गई है। अपेक्षाकृत एक छोटे से समूहवाले आदित्यों को, जिनकी संख्या ऋग्वेद के दो स्थलों पर सात या आठ (पृ० ८१) और ब्राह्मणों में बारह हो जाती है, ऋग्वेद में नित्य ही या तो इनकी माता अदिति (७, १०^{४} इत्यादि) अथवा इनके प्रधान वरुण (७, ३५^{६} इत्यादि) के साथ सम्बद्ध किया गया है। देवों का यह समूह मरुतों की अपेक्षा अधिक निश्चित है क्योंकि इसके सभी सदस्यों के अलग-अलग नाम हैं। ऋग्वेद में अक्सर उल्लिखित एक तृतीय समूह उक्त दो की अपेक्षा अधिक अस्पष्ट है क्योंकि न तो इसके सदस्यों का चरित्र-चित्रण किया गया है और न उनकी संख्या का ही वर्णन है। इस समूह को विशेष रूप से इन्द्र के साथ ही सम्बद्ध माना जाता था, ऐसा उन दो स्थलों द्वारा प्रकट होता है, जहाँ आदित्यों के साथ वरुण अथवा अदिति का, रुद्रों के साथ रुद्र का, और वसुओं के साथ इन्द्र का, आवाहन किया गया है (७, १०^{३}. ३५^{६})। किन्तु बाद के वैदिक ग्रन्थों में वसुओं के

नायक अग्नि हैं[१]। एतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में इनकी संख्या आठ मानी गई है (पृ० ३४) किन्तु तैत्तिरीय संहिता (५, ५, २^{५}) में यही ३३३ हो गई है। ऋग्वेद के कुछ स्थलों (२, ३१^{३}; १०, ६६^{१२} तु० की० ७, १०^{४}.३५^{६}) पर आदित्यों, रुद्रों, और वसुओं के तीनों समूहों का साथ-साथ आवाहन किया गया है।[२] पृथ्वी के वसुओं, अन्तरिक्ष के रुद्रों, और द्युलोक के आदित्यों के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थ देवों का तीन प्रकार से विभेद करते हैं (शतपथ ब्राह्मण १, ३, ४^{१२}; ४, ३, ५^{१})। छान्दोग्य उपनिषद् (३, ६–१०) में पाँच देव-समूहों का उल्लेख है, जहाँ वसुओं को अग्नि के साथ, रुद्रों को इन्द्र के साथ, आदित्यों को वरुण के साथ, मरुतों को सोम के साथ, और साध्यों को ब्रह्मा के साथ सम्बद्ध किया गया है (तु० की० ऋग्वेद १०, ९$^{७.१६}$)[३]। इनके अतिरिक्त एक समूह अर्ध-दिव्य अङ्गिरसों का भी है जिन्हें मुख्यतः बृहस्पति के साथ (§§ ३६, ५४) और दूसरा छोटा-सा तीन ऋभुओं का जिन्हें प्रायः सदैव इन्द्र के साथ सम्बद्ध किया गया है (§ ४६)। अन्त में 'विश्वे देवाः' अथवा सर्वदेवों का एक विस्तृत देव समूह है जिसका यज्ञ में महत्त्व-पूर्ण स्थान है, क्योंकि ऋग्वेद के कम से कम चालीस सम्पूर्ण सूक्त इन लोगों को समर्पित किये गये हैं। यह एक काल्पनिक यज्ञीय समूह है जिसका प्रयोजन सभी देवों का प्रतिनिधित्व करना है, जिससे सब देवों के लिये उद्दिष्ट स्तुतियों में कोई देव छूट न जाय। किन्तु कभी-कभी सर्व-देवों को एक संकीर्ण समूह भी माना गया प्रतीत होता है, क्योंकि इनका वसुओं और आदित्यों जैसे अन्य देव-समूहों के साथ-साथ आवाहन किया गया है (२, ३^{४})[४]।

[१] इण्डिशे स्टूडियन ५, २४०; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३७०; ब्लूमफील्ड : फे० रौ १५१ — [२] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ६, १४७; तु० की० पेरी : ज० अ० ओ० सो० १६, १७८ — [३] वेबरः इण्डिशे स्टूडियन ९ ६; शर्मन : फि० हा० २३— [४] हॉ० इ० १३७. १४३, नोट १, १८२।

(ज) अवर देवता

§ ४६. *ऋभुगण* :—वेदों में उच्चतर देवों के अतिरिक्त अनेक ऐसे पौराणिक व्यक्तित्व भी मिलते हैं जिन्हें मूलतः और पूर्णतः दिव्य प्रकृति से युक्त नहीं माना गया है। इस प्रकार के लोगों में ऋभुगण सर्वप्रमुख हैं। इनकी ऋग्वेद के ग्यारह सूक्तों में प्रख्याति, और इनके नाम का सौ से अधिक बार उल्लेख है। इनकी एक त्रयी है। इस त्रयी के सदस्यों के अलग-अलग नाम, जो अक्सर आते हैं, इस प्रकार हैं : 'ऋभु' अथवा कभी-कभी 'ऋभुक्षन्' (ऋभुओं के प्रधान), 'वाज', और विभ्वन्'। इन तीनों नामों का अनेक बार साथ-साथ, कुछ बार

केवल दो का ही, और अक्सर ऋभु का अकेले भी, उल्लेख मिलता है। इनको बहुधा बहुवचन 'ऋभवः' के रूप में व्यक्त किया गया है, किन्तु इनमें से प्रत्येक के नाम का बहुवचन प्रयोग इनकी सम्पूर्ण त्रयी का द्योतक हो सकता है। कभी-कभी इन तीनों के (४, ३६[३]; ८, ४८[१]) अथवा केवल दो के ('वाजा ऋभुक्षणः' अथवा 'वाजा ऋभवः') ही बहुवचनों का साथ-साथ शब्द-बहुल रूप से इनकी त्रयी को व्यक्त करने के लिये प्रयोग किया गया है। एक वार 'वाजो विभ्वाँ ऋभवः' प्रयोग भी मिलता है (४, ३६[६])। इनसे अक्सर एक अनिश्चित से समूह का तात्पर्य प्रतीत होता है, क्योंकि सभी (विश्वे) ऋभुओं (७, ५१[३]), अथवा ऋभुओं के साथ ऋभु, और विभुओं के साथ विभ्वन् (७, ४८[२]), का आवाहन किया गया है। इस बाद के स्थल पर ऋभु और विभ्वन् की प्रत्यक्षः इनके नाम के समूहों के प्रधानों के रूप में कल्पना की गई है। एक वार तीनों ऋभुओं का ज्येष्ठ, मझले, और कनिष्ठ के रूप में विभेद किया गया है (४, ३३[५])।

ऋभुओं को प्रायः एक दर्जन वार 'सौधन्वन' (सुधन्वन् के पुत्र) पैतृक नाम से पुकारा गया है। एक वार इन्हें सामूहिक रूप से इन्द्र के पुत्र (सूनो) के रूप में भी सम्बोधित किया गया है (४, ३७[४])। इसी मन्त्र में इनका 'शवसो नपातः' के रूप में आवाहन मिलता है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानों, सर्वथा इन्द्र के लिये व्यवहृत 'शवसः सूनु' उपाधि के विपरीत, 'नपात्' (पौत्र, अर्थ भी) शब्द का यहाँ श्लिष्ट प्रयोग उद्दिष्ट है। 'शवसो नपातः' उपाधि प्रायः इन्हीं (ऋभुओं) की विशिष्टता है क्योंकि यह पाँच बार इनके लिये तथा केवल एक ही बार 'मित्र-वरुण' के लिये व्यवहृत हुई है। एक स्थल पर (३, ६०[३]) इन्हें 'मनु के पुत्र' (मनोर् नपातः) कहा गया है और इनके पितरों (पितरा) का अनेक बार उल्लेख है। एक सूक्त में यह लोग अग्नि को अपने भ्राता के रूप में सम्बोधित करते हैं (१, १६१[१,३])।

यज्ञ स्थल पर आने (४, ३४[१,३]·३७[१]) और सोम-रस का पान करने के लिये (४, ३४[४]·३६[२]; ७, ४८[१]) इनका बहुधा ही आवाहन किया गया है। उच्चाकाश में स्थित होने के कारण निम्नस्थ आवासों में आकर सोम पान करने के लिये इनकी स्तुति की गई है (४, ३७[३])। इस कार्य में इन्हें सामान्यतया इन्द्र के साथ (३, ६०[५-६]; ४, ३३[३]·३४[६]·३५[७]), कुछ बार मरुतों के साथ (१, २०[५]·१११[४]; ४, ३८[११]), और एक बार आदित्यों, सवितृ, पर्वतों और नदियों के साथ (४, ३४[८]) सम्बद्ध किया गया है। अन्य दृष्टियों से भी यह लोग इन्द्र के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। यह लोग इन्द्र-वत् हैं (४, ३७[५])। ऋभु एक नवीन इन्द्र की भाँति हैं (१, ११०[७])। इन्द्र के साथ यह भी मनुष्यों की, युद्ध में विजय प्राप्त करने में, सहायता करते हैं (४, ३७[६])।

शत्रुओं का दमन करने के लिये इन्द्र के साथ ही इनका आवाहन किया गया है (७, ४८[3])। अपनी कार्य कुशलता के आधार पर ही इन लोगों ने इन्द्र की मित्रता प्राप्त की (३, ६०[२]; ४, ३५[७.९]); क्योंकि इन्हीं लोगों ने इन्द्र के अश्वों का निर्माण किया। इनकी (ऋभुओं की) प्रशस्ति में समर्पित सूक्तों में इन्द्र के अतिरिक्त कदाचित् ही किसी अन्य देवता के साथ इनका आवाहन है, और केवल एक ही ऐसा स्थल (४, ३४[८]) है जहाँ इनके साथ इन्द्र का उल्लेख नहीं है। वास्तव में इन्द्र के साथ सम्बद्ध होना इनकी इतनी अधिक विशिष्टता है कि इनकी त्रयी के ज्येष्ठतम सदस्य की ही भाँति इन्द्र को भी 'ऋभुक्षन्' (ऋभुओं का प्रधान) कहा गया है, और यही शब्द इन्द्र के ही सहयोगी मरुतों के लिये भी दो या तीन बार व्यवहृत हुआ है। विश्वेदेव सम्बन्धी कुछ सूक्तों में कुछ अन्य देवों, और मुख्यतः त्वष्टृ के साथ भी, इन लोगों का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

ऋभुओं के दैहिक पक्ष अथवा इनके उपकरण सम्वन्धी सन्दर्भ वहुत कम हैं। यह लोग आकृति में सूर्यवत् हैं (१, ११०[४])। इनके पास एक रथ है (१, १६१[७]) जिसे अश्व खींचते हैं (७, ४८[१])। इनका रथ उज्ज्वल और इनके अश्व मोटे हैं; यह लोग धातु के शिरस्त्राण तथा सुन्दर कण्ठहार धारण करते हैं (४, ३७[४])। ऋभु के पास अनेक अश्व (अश्विन् : ४, ३७[५]) हैं। ऋभुगण विशिष्टतः 'सुहस्ताः' और दक्ष (अपस्, सौपस : ४, ३३[१.८] इत्यादि) हैं और इनकी कार्य कुशलता अतुलनीय है (३, ६०[४])। अक्सर यह कहा गया है कि अपनी अनुपम योग्यता के कारण ही इन लोगों ने देवों का पद प्राप्त कर लिया था। अपने आश्चर्यजनक कृत्यों द्वारा इन लोगों ने देवत्व प्राप्त किया (३, ६०[१])। अपने कुशल कृत्यों द्वारा यह लोग देवता और अमर बन गये, तथा श्येन पक्षी की भाँति द्युलोक में उतरते हैं (४, ३५[८])। यह लोग वायु के व्यक्ति हैं जो अपनी शक्ति से ही द्युलोक तक चले गये (१, ११०[६])। अपनी दक्ष सेवाओं के कारण यह लोग अमरत्व के पथ पर चल कर देवों के दल में सम्मिलित हो गये (४, ३५[3]), और इस प्रकार इन लोगों ने देवों की मित्रता और अमरत्व प्राप्त कर लिया (४, ३३[२.४].३५[३].३६[४])। किन्तु यह लोग मूलतः 'मनु' के पुत्र मरणशील मानव थे, जिन्होंने अपने उद्योग से ही अमरत्व प्राप्त किया (३, ६०[३]; १, ११०[४])। ऐतरेय ब्राह्मण (३, २०[२]) में ऐसा कथन है कि मनुष्य होते हुए इन लोगों ने अपने तप (तपस्) द्वारा देवों के साथ सोम पान करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। इनके कार्यों से देवगण इतने प्रसन्न हुये कि 'वज' देवों के, 'ऋभुक्षन्' इन्द्र के, और 'विभ्वन्' वरुण के शिल्पिक नियुक्त हो गये (४, ३३[९])। देवों के पास जाकर इन लोगों ने

देवों के बीच अपने कुशल कृत्यों द्वारा यज्ञ अथवा यज्ञ-भाग प्राप्त किया (१, २०$^{१.८}$.१२१$^{६.७}$)। इस प्रकार तृतीय अथवा सन्ध्याकालीन 'सवन' इनको ही समर्पित किया जाता है, जिसका अधिकार इन्होंने अपने दक्ष कार्यों द्वारा प्राप्त किया है (१, १६१^{८}; ४, ३३^{११}.३४^{४}, ३५^{१})। इस कारण कभी कभी इन लोगों का स्पष्टत: देवों के रूप में ही आवाहन किया गया है (४, ३६^{५}.३७^{१})।

उच्चनर देवों की भाँति इन लोगों की भी, समृद्धि तथा सम्पत्ति (४, ३३^{८}.३७^{५}), मवेशी, अश्व, योद्धा (४, ३४^{१०}), शक्ति, पोषण, सन्तान, कुशलता (१, १११^{२}) आदि प्रदान करने के लिए स्तुति की गई है। सोम निर्माण करने वालों को यह लोग धन प्रदान करते हैं (१, २०^{७}; ४, ३५^{६})। यह लोग जिसकी सहायता करते हैं वह युद्ध में दुर्जेय (४, ३६^{६}) होता है। युद्ध में सहायता तथा युद्ध-विजित धन प्रदान करने के लिये ऋभु और वाज का स्तवन किया गया है (१, ११५^{५})।

त्वष्टृ के लिये जिस 'तक्ष्' क्रिया का प्रयोग हुआ है उसी का सामान्यतया ऋभुओं के हस्तकौशल के सन्दर्भ में भी व्यवहार किया गया है। उन पाँचों महान हस्तकौशलों की, जिनसे यह लोग देवता बन गये, प्राय: समान रूप से सर्वत्र चर्चा की गई है, और इनमें से सभी अथवा अधिकांश का इनकी प्रशस्ति में समर्पित प्राय: सभी सूक्तों में उल्लेख मिलता है। इन लोगों ने एक ऐसे रथ का निर्माण किया (१, १११^{१}.१६१^{७}; ४, ३३^{८}.३६^{२}) जो अश्वविहीन, वल्गा-विहीन, तीन पहियों वाला, तथा अन्तरिक्षगामी है (४, ३६^{१})। उस रथ का जो चारों ओर भ्रमण करता है, इन्होंने अश्विनों के लिये निर्माण किया (१, २०^{३}.१६१^{६}; १०, ३९^{१२})। एक ऐसे मन्त्र (४, ३४^{९}) में, जहाँ इनके प्रत्येक कृत्य की अलग-अलग एक एक शब्दों द्वारा गणना कराई गई है, जब यह कहा गया है कि इन्होंने स्वयं अश्विनों का भी निर्माण किया, तब यह उक्त अभियान को व्यक्त करने का ही एक शिथिल प्रकार प्रतीत होता है।

इन लोगों ने इन्द्र के रथ में जुतने योग्य दो 'हरी' अश्वों का निर्माण किया (४, ३३^{१०} इत्यादि)। उस समय भी इस कृत्य का ही एक भिन्न सन्दर्भ प्रतीत होता है जब ऋभुओं को एक अश्व बनाने की इच्छा करने वालों, अथवा एक के बाद दूसरा अश्व बनाने वालों के रूप में व्यक्त किया गया है (१, १६१$^{३.७}$)।

इन लोगों ने एक ऐसी गाय बनाया (१, १६१^{७}; ४, ३४^{९}) जो अमृत प्रदान करती है (१, २०^{३}), तथा जो सभी को प्रेरणा देने वाली और सर्वरूप

है (४, ३३[८])। इस गाय का इन लोगों ने चर्म से निर्माण (१, ११०[८]), अथवा चर्म से निष्कर्षण (अरिणीत) किया (१, १६१[७] इत्यादि)। इन लोगों ने उसकी रक्षा की और उसके मांस का निर्माण किया (४, ३३[४])। इस गाय का इन लोगों ने बृहस्पति के लिये ही निर्माण किया ऐसा उस मन्त्र (१, १६१[६]) से व्यक्त होता है जिसमें कहा गया है कि इन्द्र ने दो अश्वों को, तथा अश्विनों ने रथ को सन्नद्ध किया, जबकि बृहस्पति सर्वरूप (गाय) को हाँक कर ले गये। माँ को अपने बछड़े से पुनः मिला देने का इनका एक साधारण सा कार्य, जिसका केवल दो बार ही उल्लेख (१, ११०[८]·१११[१]) है, सम्भवतः उपरोक्त कृत्य से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है।

ऋभुओं ने अपने उन पितरों को भी पुनः युवा कर दिया (१, २०[४]. १११[१]; ४, ३५[५]), जो क्षीण-काय और एक जीर्ण यूप के समान हो गये थे (१, ११०[८]; ४, ३३[२·३])। इन्होंने अपने इन वृद्ध माता-पिता को पुनः युवा बना दिया (१, १६१[३·७])। उपरोल्लिखित कृत्यों की संक्षिप्त गणना में (४, ३४[९]) जब केवल इतना ही कहा गया है कि इन्होंने अपने पितरों का निर्माण किया, तब वहाँ भी निःसन्देह इनके इसी कृत्य से तात्पर्य है। देवों में इनकी यह प्रशंसनीय प्रसिद्ध है कि, इन लोगों ने अपने क्षीण और जराक्रान्त माता-पिता को इस प्रकार युवा बना दिया कि वह लोग चलने में पुनः समर्थ हो गये (४, ३६[३])। इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में ऐसा कहा गया है कि यह इन्हीं का महान कार्य है कि इन्होंने आकाश और पृथ्वी का निर्माण किया। अतः, यहाँ आकाश और पृथ्वी से इनके माता-पिता का ही तात्पर्य प्रतीत होता है।

जिस कौशल का सर्वाधिक बार उल्लेख है, और जो ऐसा महानतम कार्य माना गया है जिसने ऋभुओं को त्वष्टृ के सफल प्रतिद्वन्दियों के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया, यह है, कि ऋभुओं ने त्वष्टृ द्वारा निर्मित एक प्याले से चार प्यालों का निर्माण कर दिया (१, २०[६]. ११०[३]; ४, ३५[२·३]. ३६[४])। यह प्याला देवों (१, १६१[५]; ४, ३५[५]) अथवा असुरों (१, ११०[३]) का पान करने का पात्र है। लकड़ी के बने एक प्याले से चार बनाने के लिये देवों ने अपने दूत अग्नि द्वारा ऋभुओं को बुलाया और उन्हें पुरस्कार स्वरूप यह वचन दिया कि वह लोग (ऋभुगण) भी देवों के साथ समान रूप से हवि प्राप्त करने के अधिकारी होंगे (१, १६१[१·२])। दो, तीन, अथवा चार प्याले बनाने के ऋभुओं के प्रस्ताव की त्वष्टृ ने प्रशंसा (पनयत्) की और जब उन्होंने चार प्रकाशमान प्याले देखे तब उन पर अपनी अनुमति (अवेनत्) प्रदान की (४, ३३[५·६])। किन्तु एक अन्य स्थल पर उन्होंने देवों के पान-पात्र को टुकड़ों में विभक्त कर

देने के कारण ऋभुओं का वध करने की इच्छा प्रकट की है (१, १६१[४.५]); फिर भी, इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में स्वयं ऋभुओं ने देवों के पात्र को टुकड़ों में विभक्त करने जैसी अपनी किसी भी इच्छा को अस्वीकार किया है। इनके सम्बन्ध में यही कहा गया है कि अमरों के बीच प्रसिद्धि की कामना रखते हुये इन लोगों ने खेत की भाँति एक चौड़े मुख वाले पात्र को नापा (१, ११०[५])। उस समय भी इसी कौशल का अपेक्षाकृत अनिश्चित सा सन्दर्भ है जब यह कहा गया है कि इन्होंने प्यालों का निर्माण किया (१, १६१[९]; ३, ६०[२] तु० की० ४, ३५[५])।

प्रसंगतः ऋभुओं के कौशल का इस वक्तव्य से और विस्तारण किया गया है कि इन लोगों ने स्तुति (१०, ८०[७]), यज्ञ (३, ५४[१२]), और दोनों लोकों का निर्माण किया (४, ३४[९]), अथवा यह लोग आकाश को धारण करने वाले हैं (१०, ६६[१०])।

एक दूसरी पुराकथा ऋभुओं को सवितृ के साथ सम्बद्ध करती है। ऐसा कहा गया है कि द्रुतगामी ऋभुगण वायु की गति से अन्तरिक्ष का भ्रमण करते हैं (४, ३३[१] तु० की० १, १६१[१२])। बहुत भ्रमण करने के पश्चात् यह लोग सवितृ के घर आये, और जब यह लोग 'अगोह्य' में पहुंचे तब सवितृ ने इन्हें अमरत्व प्रदान किया (१, ११०[२.३])। बारह दिनों तक तन्द्रावस्था में रहते हुये जब इन लोगों ने 'अगोह्य' के सत्कारों का आनन्द प्राप्त कर लिया तब इन्होंने विस्तुत खेतों का निर्माण और जल-धाराओं का निर्देशन किया जिसके फल स्वरूप सूखे स्थानों पर पौधे उग आये तथा नीचे के स्थानों में जल भर गया (४, ३३[७])। जब यह लोग 'अगोह्य' के गृह में तन्द्रित थे उस सम इन लोगों ने अपने कौशल से उच्च स्थानों को तृण से और गर्त्तों को जलों से परिपूर्ण कर दिया (१, १६१[११])। निद्रा से जागृत होने पर इन लोगों ने अगोह्य से यह जिज्ञासा की कि किसने इन्हें जगाया; एक वर्ष में इन लोगों ने चतुर्दिक दृष्टिपात किया (वही [१३])।

'ऋभु' शब्द 'रभ्' (पकड़ना) धातु से व्युत्पन्न हुआ है (तु० की० २, ३[८])[१], और इस प्रकार इसका अर्थ 'हस्त-कुशल' अथवा 'निपुण' है। ऋग्वेद में यह अवसर एक विशेषण के रूप में आता है और इसी अर्थ में अनेक बार इन्द्र, अग्नि, और आदित्यों के एक गुण का द्योतक है। यह जर्मन elbe और अंग्रेजी elf[२] के ही समान प्रतीत होता है। 'वाज' ('वज्' धातु से व्युत्पन्न) का 'शक्तिशाली',[३] और 'विभ्वन्' ('वि', और 'भू' धातु से व्युत्पन्न) का 'श्रेष्ठ' (कलाकार), अर्थ है। इस प्रकार ऋभुओं के नाम, तथा

ऋग्वेद में इनके सम्बन्ध में उपलब्ध विवरण, इसी बात को व्यक्त करते हैं कि इनकी अनिवार्य प्रकृति कुशल शिल्पियों जैसी ही थी।

यह स्पष्ट है कि आरम्भ से ही इन्हें देवता नहीं माना गया है। इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ने इन लोगों की मूल प्रकृति को किसी प्रकार प्रभावित किया, अथवा नहीं, यह सन्दिग्ध है। यह भी अनिश्चित है कि इनके पैतृक नाम 'सौधन्वन' से किसका तात्पर्य है, क्योंकि 'सुधन्वन्' शब्द ऋग्वेद में केवल दो बार रुद्र और मरुतों के एक गुण के रूप में ही आता है। फिर भी, यही सर्वाधिक सम्भव है कि इनके पिता-माता, जिनका इतना अधिक बार उल्लेख है, आकाश और पृथ्वी[5] को ही व्यक्त करते हैं। यह धारणा कि यह लोग उर्वरता उत्पन्न करते हैं, सवितृ अथवा अगोह्य (वह सूर्य 'जिसे छिपाया नहीं जा सकता')[6] के गृह में इन लोगों के बारह दिनों के प्रवास से सम्बन्धित है। इसलिये अनेक विद्वान[7] इन लोगों को तीनों ऋतुओं[8] का जनक मानते हैं, जो मकर संक्राति के समय बारह दिनों तक स्थिर रहते हैं। त्वष्टृ का प्याला सम्भवतः चन्द्रमा का द्योतक है और इसे जिन चार में ऋभुगण परिवर्तित कर देते हैं वह चन्द्रमा के ही चार पक्षों को व्यक्त करते हैं। सम्पूर्ण रूप से देखने पर यही सम्भव प्रतीत होता है कि ऋभुगण मूलतः ऐसे पार्थिव अथवा अन्तरिक्षीय शिल्पी माने गये हैं जिनकी कुशलता ने क्रमशः, अलौकिक दक्षता व्यक्त करने वाली अनेक पुराकथाओं को आकर्षित कर लिया है। किन्तु ऋग्वेद द्वारा प्रस्तुत प्रमाण किसी निश्चित निष्कर्ष की सम्भावना के लिये कदाचित ही पर्याप्त हैं।

[1] तु० की० वाकारनॉगल : अल्टिन्डिशे ग्रामेटिक, पृ० ७० — [2] ग्रुगमैन : ग्रुन्ड्रिस २, २९८; तु० कां०, कुन्न : त्सी० ४, १०३-२०; वाकरनॉगल : कु० त्सी० २४, २९७ — [3] बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४०७ के अनुसार 'धन' — [4] तु० की० औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, १९१ — [5] कुन : ए० १३४; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ३६६ — [6] वे० बी० १८९४, ३७, नोट ३; बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ५२ के अनुसार 'जिससे कुछ भी न छिपाया जा सके' अर्थ है — [7] त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन, उ० स्था०; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद, ३, ३३५; के ऋ० ५३-४; हि० वे० मा० १, ५१५; हार्डी : वे० पी० १०० — [8] वेबर : उ० स्था०, के अनुसार यह लोग भूत, वर्तमान, और भविष्य के समय के सूजक हैं; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४१२, के अनुसार यह तीन प्राचीन कुशल याज्ञिक हैं जिन्होंने अमरत्व प्राप्त कर लिया था और जिनकी संख्या यज्ञाग्नि की त्रयी से सम्बद्ध है।

तु० की० रौथ : त्सी० गे० २, १२६; मूइर : सं० टे० ५, २२६-७; गे० के० री० ११९; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद १, १०३; बर्गेन : ल० रि० वे०

२, ४०३-१३; ३, ५१-५; श्रोडर : ग्री० हे० १०८·११०; वालिस : कॉ० ऋ० २४-६; मेयर : जर्मनिशे माइथौलोजी १२४; औ० वे० २३५-६ (तु० की० श्रोडर : वी० मौ० ९, २५३)।

§ ४७. *अप्सरस्* :—अप्सरस् एक प्रकार की ऐसी दिव्यांगना की द्योतक है जो ऋग्वेद तक में अपने भौतिक आधार से सर्वथा पृथक हो गई प्रतीत होती है। इस ग्रन्थ में इसके सम्वन्ध में उपलब्ध सामग्री अत्यन्त कम है, क्योंकि इसका नाम केवल पाँच बार ही आता है। उच्चतम द्युलोक में अप्सरस् अपने प्रेमी (जिसे पिछले मन्त्र में 'गन्धर्व' कहा गया है) को देख कर मुस्कराती है (१०, १२३[५])। वसिष्ठ अप्सरस् से ही उत्पन्न हुये थे (७, ३३[१२]), और ऐसा कथन है कि वसिष्ठ-गण अप्सरसों के निकट बैठे थे (वही[९])। समुद्र के अप्सरसों का सोम की ओर वहते हुए वर्णन किया गया है (९, ७८[३]), जिससे सोम रस में मिश्रित किये जाने वाले जल का ही सन्दर्भ प्रतीत होता है। अर्ध-दिव्य शक्ति-सम्पन्न और लम्वे केशों वाले तपस्वी को अप्सरसों तथा गन्धर्वों के पथ पर विचरण कर सकने की क्षमता से युक्त बताया गया है (१०, १३६[६])। गन्धर्व की जलों में स्थित पत्नी 'अप्या योषा' से भी निःसन्देह अप्सरसों का ही आशय है (१०, १०[४])।

अथर्ववेद में अप्सरसों के सम्बन्ध में कुछ अधिक विवरण मिलता है। इनका आवास जलों में स्थित है, जहाँ से यह एक क्षण में ही आती और जाती रहती हैं (अथर्ववेद २, २[३])। मनुष्यों के निकट से, नदी में अथवा जलों के तट पर चले जाने के लिये इनकी स्तुति की गई है (अथर्ववेद ४, ३७[३])। विश्वावसु गन्धर्व के साथ रहने वाली देवी का, मेघों, विद्युत, और तारों से सम्वद्ध होने के रूप में वर्णन है (अथर्ववेद २, २[४])। अप्सरसों को स्पष्ट रूप से गन्धर्वों की पत्नियाँ कहा गया है (अथर्ववेद २, २[५]) और गन्धर्वों के साथ इनके सम्वन्ध ने बाद की संहिताओं (वाजसनेयि संहिता ३०, ८; अथर्ववेद ८, ९[९], इत्यादि)[१] में सूत्रवत् प्रकृति विकसित कर ली है। शतपथ ब्राह्मण (११, ५, १[४]) में अप्सरसों को एक प्रकार के जलीय पक्षी (आतयः : तु० की० ऋग्वेद ९, ५[९]) का रूप धारण कर लेने वाला कहा गया है। वैदिकोत्तर साहित्य में इन्हें अक्सर वन में स्थित जलाशयों और नदियों, मुख्यतः गंगा में रहने वाली कहा गया है। यह समुद्र में स्थित वरुण के प्रासाद में भी मिलती हैं।[२] इस शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ सम्भवतः 'जलों में विचरण करने वाली' है।[३]

उपरोक्त प्रमाण ऐसा व्यक्त करते हैं कि अप्सरस् सम्बन्धी प्राचीनतम धारणा के अन्तर्गत यह एक ऐसी जलीय दिव्यांगना है जिसे ऋग्वेद तक में गन्धर्व

नामक एक अर्ध-देवता की पत्नी मान लिया गया है। बाद की संहिताओं में अप्सरसों का क्षेत्र पृथ्वी और विशेषतः वृक्षों तक फैल गया है। इन्हें न्यग्रोध और अश्वत्थ वृक्षों पर रहने वाला कहा गया है जहाँ इनकी वंशी और झल्लरियों की ध्वनि गुंजती रहती है (अथर्ववेद ४, ३७[४])। अन्यत्र इन वृक्षों तथा उदुम्बर और प्लक्ष के वृक्षों को भी, गन्धर्वों और अप्सरसों का आवास बताया गया है (तैत्तिरीय संहिता ३, ४, ८[४]। इस प्रकार के वृक्षों पर रहने वाले गन्धर्वों और अप्सरसों से, गुजरते हुए वैवाहिक जलूस (बारात) पर अनुग्रह करने के लिये स्तुति की गई है (अथर्ववेद १४, २[९])[४]। शतपथ ब्राह्मण (११, ६, १) में अप्सरसों को नृत्य, गायन और क्रीड़ा में रत बताया गया है। वैदिकोत्तर ग्रन्थ तो पौराणिक तथा वास्तविक पर्वतों तक को इन दोनों प्रकार के प्राणियों का प्रिय आवास बताते हैं।[५] अथर्ववेद इनके एक इस गुण की भी चर्चा करता है कि अप्सरसों को पासों का खेल अत्यन्त प्रिय है (अथर्ववेद २, २[५] इत्यादि); किन्तु इनके द्वारा मुख्यतः मानसिक व्यतिक्रम उत्पन्न कर देने के भय से इनके विरुद्ध अभिचारों का प्रयोग किया गया है (अथर्ववेद २, ३[५] इत्यादि)।

अतीव सुन्दरी[६] (तु० की० शतपथ ब्राह्मण १३, ४, ३[७.८]) अप्सरसों के प्रेम का न केवल गन्धर्व ही वरन् कभी कभी मनुष्य तक आनन्द लेते हैं (तु० की० १०, ९५[९])। कम से कम एक अप्सरस् की मनुष्य के साथ सम्बद्ध हो जाने की एक पुराकथा वैदिक साहित्य में मिलती है। यहाँ अनेक अन्य अप्सरसों के केवल नाम का भी उल्लेख है। अथर्ववेद तीन के नाम की चर्चा करता है, यथा: उग्रजित्, उग्रंपश्या, और राष्ट्रभृत् (अथर्ववेद ६, ११८[१.२]), जब कि वाजसनेयि संहिता में अनेक अन्य के अतिरिक्त उर्वशी और मेनका का भी उल्लेख है (वाजसनेयि संहिता १५, १५–१९)। शतपथ ब्राह्मण (३, ४, १[२२]) भरतों[७] के राज-परिवार की पूर्वजा शकुन्तला (शतपथ ब्राह्मण १३, ५, ४[१३]), तथा साथ ही साथ उर्वशी (शतपथ ब्राह्मण ११, ५, १[१]) की भी चर्चा करता है।

इनमें से जो केवल एक नाम ऋग्वेद में आता है, वह है 'उर्वशी'। इस ग्रन्थ में इसे एक अप्सरस् ही माना गया है ऐसा इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि एक मन्त्र में वसिष्ठ को उर्वशी से उत्पन्न और दूसरे मन्त्र में एक अप्सरस् से उत्पन्न कहा गया है (७, ३३[११.१२])। इसका एक बार जलधाराओं के साथ आवाहन किया गया है (५, ४१[१९])। अन्यथा इसके नाम का केवल दो बार, एक बाद के ऐसे अस्पष्ट सूक्त में उल्लेख[८] है (१०, ९५[१०.१७]) जिसमें इसके तथा इसके प्रेमी, इला के पुत्र पुरूरवस्, के बीच वार्तालाप का

विवरण है। इसे यहाँ जलीय (अप्या), अन्तरिक्ष को व्याप्त करने वाली, और अन्तरिक्ष में गमन करने वाली (यही गुण १०, १३९[५] में एक दिव्य गन्धर्व के लिये भी व्यवहृत हुआ है) कहा गया है। ऐसा कथन है कि इसने मनुष्यों के बीच चार शरद् ऋतुयें व्यतीत कीं (मन्त्र १६), और पुनः आने के लिये इसकी स्तुति की गई है (मन्त्र १७)। प्रत्यक्षतः यह प्रार्थना अस्वीकृत कर दी गई; किन्तु पुरूरवस् को यह वचन दिया गया कि उसकी सन्तान देवों की आराधना करेगी जब कि स्वयं वह (पुरूरवस्) स्वर्ग में आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करेगा (मन्त्र १८)। इस सूक्त के अनेक मन्त्र शतपथ ब्राह्मण (११, ५, १) में वर्णित एक क्रमबद्ध कथा के ऐसे सूत्र बन गये हैं जो ऋग्वेद के आशय के मिथ्याग्रहण पर आधारित विवरणों को ही प्रस्तुत करते हैं। यहाँ यह कहा गया है कि उर्वशी नामक अप्सरस्, इला के पुत्र पुरूरवस् के साथ एक ऐसे सूत्र में आबद्ध हुई जिसका स्थायित्व इस वचन पर आधारित था कि वह पुरूरवस् को कभी नग्न नहीं देखेगी। गन्धर्वों ने कुचक्र रच कर रात्रि के समय कोलाहल उत्पन्न किया, जिसके फलस्वरूप पुरूरवस् नग्नावस्था में ही उठ खड़े हुये और विद्युत की चमक में उर्वशी ने उन्हें देख लिया। उसी क्षण उर्वशी अर्न्तध्यान हो गई। उसे खोजते हुये पुरूरवस् इधर-उधर फिरते रहे। अन्ततोगत्वा उन्होंने कमल पुष्पों से भरे एक सरोवर में अन्य अप्सरसों के साथ जलीय पक्षी के रूप में उर्वशी को भी तैरते हुये देखा। उर्वशी ने उनके सम्मुख अपने को प्रकट किया और उनकी विनती के फलस्वरूप एक वर्ष बाद एक रात्रि के लिये उनके साथ रहने का वचन दिया।[९] पुरूरवस् नियत समय पर आये और दूसरे ही दिन गन्धर्वों ने एक विशेष प्रकार से अग्नि उत्पन्न करके उन्हें एक गन्धर्व बन जाने का वरदान दिया। १०, ९५ के अतिरिक्त पुरूरवस् का नाम, जिसका अर्थ 'ज़ोर से बुलाना' है, ऋग्वेद के केवल एक ही अन्य स्थल (१, ३१[४]) पर आता है जहाँ यह कहा गया है कि धर्मात्मा मानव (मानवे) पुरूरवस् के लिये अग्नि ने आकाश से गर्जन (वाशय) कराया। फिर भी, इस शब्द का यहाँ एक विशेषणात्मक आशय हो सकता है। कुछ विद्वानों[१०] ने पुरूरवस् और उर्वशी की क्रमशः सूर्य और उषस् के रूप में व्याख्या की है।

[१]देखिये सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'गन्धर्व' — [२]होल्त्समैन : त्सी० गे० ३३, ६३५, ६४१ — [३]यास्क : निरुक्त ५, १३, ने 'अप्-सारिणी' से व्याख्या की है; तु० की० मेयर : इन्डोजर्मनीशे माइथेन १, १८३; श्रोडर : ग्री० हे० १०; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ७९ तु० की० १८३ और बाद; लुडविग : मेथोड ९१; अन्यथा वेबर : इण्डिशे स्टूडियन १३, १३५, ग्रासमैन : व० ऋ०, वरी : बी० बी० ७, ३३९ — [४]हास : इन्डिशे स्टूडियन ५, ३९४;

१३, १३६; मेयर : उ० पु० १३ — [५]होल्त्समैन : त्सी० गे० ३३, ६४० और बाद; श्रोडर : उ० पु० ६७; मैनहार्ट : वा० फे० १, ९९ और बाद — [६]महाकाव्य काल में अप्सरायें नियमित रूप से दिव्य नर्तकियाँ बन गई हैं। — [७]तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १८९–२०१; होल्त्समैन : त्सी० गे० ३३, ६३५ और बाद; ल्यूमैन : त्सी० गे० ४८, ८०–२; ब्राड्के : वही ४९८ और बाद — [८]तु० की० औल्डेनवर्ग : से० बु० ई० ४६, ३२३ — [९]इनके 'आयु' नामक एक पुत्र हुआ : तु० की० कुन : हे० गौ० ६५.७१; इन्डिशे स्टूडियन १, १९७; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १, २८३; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३२४; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, २८ — [१०]वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १९६; मैक्स मूलर : चिप्स ४[२], १०९ और बाद।

लासन : इ० आ० १, ४३२, नोट २; कुन : हे० गौ० ७१–८; रौथ : निरुक्त १५५-६; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद २, ४८८; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ९०–६; श्रोडर : उ० पु० १, २३–३९ (तु० की०, वी० मौ० ९, २५३); औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ३७, ८१; ३९, ५२, नोट ४. ७३–६; गौ० ऐ० १८९०, ४२० और बाद; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १, २४३–९५; हॉ० इ० १३७।

§ ४८. *गन्धर्व* :—जैसा कि दिखाया जा चुका है, ऋग्वेद तक में गन्धर्व नामक पुरुष प्राणी अथवा प्राणियों को अप्सरस् अथवा अप्सरसों के साथ सम्बद्ध किया गया है। ऋग्वेद में आनेवाले बीस स्थलों में से केवल तीन बार ही इस शब्द का बहुवचन प्रयोग मिलता है, जब कि अथर्ववेद में आनेवाले बत्तीस में से प्रायः आधे बार यह बहुवचन में ही प्रयुक्त हुआ है। कुछ बार 'गन्धरेव'[१] (एक विशालकाय राक्षस) के रूप में अवेस्ता में भी इस नाम का केवल एकवचन रूप मिलता। यह इस बात का संकेत करता है कि केवल एक व्यक्ति से ही गन्धर्वों का क्रमशः एक वर्ग के रूप में विकास हुआ होगा। बाद की संहिताओं में देवों, पितरों और असुरों के साथ-साथ इनके भी एक स्पष्ट वर्ग का उल्लेख किया गया है (अथर्ववेद ११, ५[२]; तैत्तिरीय संहिता ७, ८, २५[२])। यजुर्वेद की कुछ शाखाओं में इनकी संख्या २७ निश्चित की गई है, किन्तु अथर्ववेद में इसे ६३३३ तक बताया गया है (अथर्ववेद ११, ५[२])[२]। यह तथ्य कि इनकी धारणा भारतीय-ईरानी काल की है, इनकी अस्पष्टता का कुछ अंशों तक समाधान कर देता है। इसके अतिरिक्त, ऋग्वेद में उपलब्ध प्रमाण इतने अल्प और अस्पष्ट हैं कि उनके आधार पर इनकी मूल प्रकृति के सम्बन्ध में कोई भी निश्चित निष्कर्ष निकालना कठिन है। यह उल्लेखनीय है कि यह नाम दूसरे और सातवें मण्डलों में केवल एक एक बार ही मिलता है, जब कि आठवें में यही दो बार इन्द्र के एक विरोधी व्यक्ति के रूप में आता है। कभी-कभी यह शब्द केवल एक अभिधा[३] मात्र ही प्रतीत होता है, ... 'विश्वावसु' (सभी श्रेष्ठ

पदार्थों से युक्त) उपाधि संयुक्त मिलती है (९, ८६[३६]; १०, १३९[४.५]; अथर्ववेद २, २[४]; वाजसनेयि संहिता २, ३)। एक सूक्त में गन्धर्व के वाचक के रूप में अकेले यह उपाधि व्यवहृत हुई है (१०, ८५[२१.२२] तु० की० [४०.४१]); और बाद की संहिताओं, ब्राह्मणों, तथा वैदिकोत्तर साहित्य में भी, यह अक्सर किसी एक गन्धर्व के नाम के रूप में ही आती है।

ऋग्वेद में गन्धर्व को अन्तरिक्ष अथवा आकाश के उच्च क्षेत्रों में स्थित माना गया प्रतीत होता है। यह स्थानों को नापनेवाला है (१०, १३९[५])। यह वायु के अगाध स्थानों में मिलता है (८, ६६[५])। यह दिव्य है और आकाश के 'नाक' पर सीधा खड़ा होता है (१०, १२३[७])। यह वह प्रेमी है जिसे देखकर अप्सरस् मुस्कराती है (वहीं[५])। इसका आवास द्युलोक में स्थित है (अथर्ववेद २. २[१.२]),। देवों के कृपापात्र गन्धर्वों के साथ रहते हैं (अथर्ववेद ४, ३४[३])। कुछ स्थलों पर गन्धर्व को, दिव्य प्रकाश के किसी रूप के साथ, घनिष्ठतः सम्बद्ध कियां गया है। इस प्रकार वरुण के दूत स्वर्ण-पंखोंवाले पक्षी-रूपी सूर्य के साथ (१०, १२३[६]), सूर्य-पक्षी के साथ (१०,११७[२]), सूर्य-अश्व के साथ (१, १६३[२]), सूर्य के साथ समीकृत सोम के साथ (९, ८५[१२]) इसे सम्बद्ध किया गया है। इसे चन्द्रमा की कक्षा के २७ तारों (वाजसनेयि संहिता ९, ७), और विशेषतः रोहिणी के साथ (अथर्ववेद १३, १[२३]) भी सम्बद्ध किया गया है। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०, १२३) में यह सम्भवतः इन्द्र-धनुष[४] के साथ भी सम्बद्ध है। वाजसनेयि संहिता (१८, ३८ और बाद) में अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और वायु के साथ गन्धर्वों की गणना है। वैदिकोत्तर साहित्य में मरीचिका के विभिन्न नामों में से एक नाम 'गन्धर्वों का नगर'[५] भी है।

इसके अतिरिक्त गन्धर्वों को ऋग्वेद में अक्सर (प्रमुखतः नवम् मण्डल में) सोम के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। यह सोम के स्थान की रक्षा करता है और देव जाति को सुरक्षित रखता है (९, ८३[४] तु० की० १, २२[१४])। सोम के सभी रूपों का अवलोकन करता हुआ यह आकाश के 'नाक' पर खड़ा होता है (९, ८५[१२])। पर्जन्य और सूर्य की पुत्री के साथ गन्धर्व भी सोम को संवृद्ध करते हैं (९, ११३[३])। गन्धर्वों के मुख से देवगण अपने पेय का पान करते हैं (अथर्ववेद ७, ७३[३])। मैत्रायणी संहिता (३, ८[१०]) में यह कथन है कि गन्धर्व गण देवों के लिये सोम की रक्षा करते थे किन्तु उसकी चोरी हो जाने देने के कारण दण्डस्वरूप उन्हें सोम के पास से बहिष्कृत कर दिया गया। निःसन्देह सोम के साथ इस सम्बन्ध के कारण ही गन्धर्व को पौधों का ज्ञांता कहा गया है (अथर्ववेद ४, ४[१])। सोम के एक प्रबल रक्षक के रूप में ही सम्भवतः गन्धर्व

ऋग्वेद में एक ऐसे आक्रामक व्यक्ति के रूप में आता है जिसका अन्तरिक्ष क्षेत्र में इन्द्र ने भेदन किया (८, ६६[५]) अथवा जिस पर विजय प्राप्त करने के लिये इन्द्र का आवाहन किया गया है (८, १[११])। एक बाद के ग्रन्थ में गन्धर्व विश्वावसु से बचकर आने के लिये सोम की स्तुति की गई है (तैत्तिरीय संहिता १, २, ९[१])। यह भी कहा गया है कि सोम, गन्धर्वां के बीच रहता था, अथवा गन्धर्व विश्वावसु ने उसे चुरा लिया था, किन्तु इसका गन्धर्वों से 'वाच्' देवी के मूल्य पर पुनः क्रय किया जा सका क्योंकि गन्धर्व लोग स्त्रियों के प्रेमी थे (ऐतरेय ब्राह्मण १, २७; तैत्तिरीय संहिता ६, १, ६[५]; मैत्रायणी संहिता ३, ७[3])। गन्धर्वों की आक्रामक प्रवृत्ति सम्बन्धी धारणा प्राचीन प्रतीत होती है, क्योंकि अवेस्ता (यष्ट ५, ३८), में श्वेत 'हओम' के आवास, 'वोरुकष' में रहनेवाले आक्रामक 'गन्डरेव' से युद्ध करके 'केरेसास्प' ने उसे पराजित किया था। इसके अतिरिक्त, धनुर्धर 'कृशानु', जो सोम ले जाने वाले श्येन पक्षी पर बाण चलाता है (ऋग्वेद ४, २७[3]), एक गन्धर्व[६] ही प्रतीत होता है, और तैत्तिरीय आरण्यक (१, ९[3]) में उसे स्पष्ट रूप से ऐसा ही कहा भी गया है।

गन्धर्व को कभी कभी जलों के साथ सम्बद्ध किया गया है। 'जलों में स्थित गन्धर्व' और 'जलीय दिव्यांगना' को क्रमशः 'यम' तथा 'यमी' के पिता-माता कहा गया (१०, १०[४])। जल में गिराये गये सोम को 'जलों का गन्धर्व' कहा गया है (९, ८६[३६])। अप्सरसों के साथ सम्बद्ध, गन्धर्वों को भी; अथर्ववेद में जलों में रहनेवाला बताया गया है (अथर्ववेद २, २[३]; ४, ३७[१२])। अवेस्ता में 'गन्डरेव' गर्त्त का वह अधिपति है जो जलों में रहता है (यष्ट १५, २८)।

जलीय दिव्यांगना के साथ गन्धर्व का सम्बन्ध विशिष्टतः विवाह का द्योतक है। इसी कारण इसे विवाह-समारोह के साथ सम्बद्ध किया गया है, और अविवाहित कन्याओं के सम्बन्ध में ऐसा कथन है कि वह गन्धर्व, तथा साथ ही साथ, सोम और अग्नि' की भी होती हैं (१०, ८५[४०-१])। विवाह-सूत्र में आबद्ध हो जाने के आरम्भिक दिनों में गन्धर्व विश्वावसु को पति का प्रतिद्वन्दी माना गया है (वही[२२])। गन्धर्वों का यह स्त्री-प्रेम बाद की संहिताओं में प्रमुख है (तु० की० मैत्रायणी संहिता ३, ७[3])। इस प्रकार गन्धर्व और अप्सरायें उर्वरता के अधिपति माने गये हैं; और सन्तान के आकांक्षियों द्वारा इनकी स्तुति की गई है (पञ्चविंश ब्राह्मण १९, ३[२])।

दिव्य गायकों के रूप में गन्धर्वों की धारणा का, जो महाकाव्यों और बाद में मिलती है, ऋग्वेद में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता (तु० की० १०, १७७[२]·११[२])।

ऋग्वेद में इनके दैहिक स्वरूप के केवल दो या तीन ही सन्दर्भ मिलते हैं। यह लोग वायु-केशी हैं (३, ३८[६])। गन्धर्वों के पास प्रदीप्त आयुध हैं (१०, १२३[७])। अथर्ववेद (मुख्यतः ४, ३७; ८, ६[१] और बाद) इस दिशा में अधिक निश्चित है। यहाँ इन्हें 'अतिलोमश' तथा अर्ध-पशु कहा गया है जो अनेक दृष्टियों से मनुष्यों के लिये हानिकारक हैं। फिर भी, अन्यत्र इन्हें सुन्दर कहा गया है (शतपथ ब्राह्मण १३, ४, ३[७.८])। ऋग्वेद इतना और जोड़ देता है कि गन्धर्व सुरभित परिधान धारण करते हैं (१०, १२३[७]), जब कि अथर्ववेद (१२, १[२३]) में पृथ्वी की गन्ध को गन्धर्वों तक उठने वाला कहा गया है।

उक्त कथन 'गन्ध' से इस शब्द के निष्पन्न हुए होने की सम्भावना व्यक्त करता है। किन्तु यदि यह ठीक भी हो, तो भी, इस प्रकार की व्युत्पत्ति इसकी मूल धारणा पर कोई प्रकाश नहीं डालेगी। इस नाम को यूनानी Κένταυρος (केन्टॉरस) के साथ तक समीकृत किया गया है; किन्तु इस समीकरण का औचित्य सिद्ध करने लिये व्यावहारिक व्युत्पत्तिशास्त्र की सहायता[७], और साथ ही यूनानी शब्द[८] में υ के संदिग्ध से सन्निवेष को स्वीकार करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इन दोनों की धारणाओं में भी कोई परस्पर समानता नहीं है। प्रमाणों की समीक्षा के आधार पर गन्धर्वों की मूल प्रकृति के सम्बन्ध में यही कहना सम्भव प्रतीत होता है कि यह उज्ज्वल और दिव्य प्राणी थे, जिनको कभी कभी अपनी प्रेमिका अप्सरसों के साथ जलों में रहने वाला माना गया है। फिर भी, विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न अनुमान प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ लोग गन्धर्वों को 'वायवीय आत्मायें'[९] मानते हैं। दूसरों का यह विचार है कि गन्धर्व इन्द्र-धनुष का[१०], अथवा चन्द्रमा के एक दिव्य पुरुष का[११], अथवा सोम का[१२], अथवा उदित होते हुए सूर्य का[१३], अथवा एक मेघ-आत्मा का[१४], प्रतिनिधित्व करते हैं।

[१] यष्ट ५, ३७; १९, ४१; तु० की० स्पीगेल: डी० पी० २७६; वार्थोलोमाइ : त्सी० गे० ४२, १५८ — [२] वेबर : वे० बी० १८९४, पृ० ३४ — [३] हि० वे० मा० १, ४२७ — [४] बर्गेन और हिलेब्रान्ट द्वारा अमान्य; तु० की०, औ० वे० २४६, नोट १ — [५] देखिये सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०, 'गन्धर्व-नगर', '-पुर' — [६] कुन : हे० गौ० १५१–२; वेबर : वे० बी० १८९४, ७–९ (तु० की० १८८८, पृ० १३, नोट); 'कृशानु' के लिये, तु० की० वेबर : इन्डिशे स्टूडियन भी २, ३१३–४; कुन : कु० त्सी० १, ५२३ में; रौथ : त्सी० गे० ३६, ३५९; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३० और बाद; स्पीगेल : डी० पी० २२३–४; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १६, २०; औ० वे० १८१ — [७] श्रोडर : ग्री० हे०, ७३; मेयर : इन्डो० माइथेन १६४ और बाद — [८] तु० की० ब्रुगमैन :

ग्रुन्ड्रिस, १, ४८१ — [9]मैनहार्ट २०१; मेयर : उ० पु० १, २१९ और बाद; श्रोडर : उ० पु० ७१; हि० वे० मा० १, ४४६ — [10]रौथ : निरुक्त प्रस्तावना, १४५; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद २, ४००; ड्यूसन : फिलॉसफी डेस वेद २५३; फर्स्टे : वी० मौ० ९, १६४ — [11]सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ४, १५८; ह्वॉ० ई० १५७ — [12]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३८ और बाद — [13]वालिस : कॉ० ऋ० ३४, ३६ तु० की०, लु० ऋ० फो० १०१ — [14]कुन : हे० गौ० १५३।

कुन : कु० त्सी० १, ५१३ और बाद; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, ९०; ५, १८५-२१०; १३, १३४ और बाद; मेयर : उ० पु० ११-२.१६-८.२३.५५. १७९; बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ६४-७; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ७७-८१; स्पीगेल : डी० प्री० २१०-१५; हि० वे० मा० १. ४२७-६६; औ० वे० २४४-९; त्सी० गे० ४९, १७८-९।

§ ४६. *रक्षक देवता* :—'वास्तोष् पति' का नाम ऋग्वेद में केवल सात बार आता है और तीन मन्त्रों के एक छोटे से सूक्त (७, ५४) में इसकी प्रशस्ति है। इसका यहाँ, प्रवेश को अनुकूल बनाने, व्याधियों को दूर करने, मनुष्य और पशु को आशीर्वाद देने, पशुओं और अश्वों के रूप में समृद्धि प्रदान करने, तथा सदैव ही रक्षित रखने के लिए, आवाहन किया गया है। उक्त सूक्त के ठीक बाद वाले सूक्त के प्रथम मन्त्र (७, ५५[1]) में इसका व्याधियों को नष्ट करने वाले ऐसे व्यक्ति के रूप में वर्णन किया गया है जो सभी रूप धारण कर सकता है। एक बार (७, ५४[2]) इसे सोम के साथ समीकृत और 'इन्दु' के रूप में संबोधित किया गया है। विश्वदेव को अर्पित एक सूक्त के एक मन्त्र (५, ४१[8]) में इसका त्वष्टृ के ठीक बाद आवाहन, और सम्भवतः एक महान् शिल्पी के रूप रूप में इसे त्वष्टृ के ही साथ समीकृत भी किया गया है। एक अन्य मन्त्र (८, १७[14]) में इसे एक दृढ़ स्तम्भ, और सोम दबाने वालों का एक कवच कहा गया है, तथा इन्द्र के साथ समीकृत भी किया गया प्रतीत होता है। दशम् मण्डल के एक मात्र स्थल पर जहाँ इसका उल्लेख है, इसे विधानों का एक ऐसा पालनकर्ता कहा गया है जिसे स्तुति (ब्रह्म) के साथ साथ देवों ने निर्मित किया था (१०, ६१[7])। गेल्डनर[1] के अनुसार, यहाँ रुद्र से तात्पर्य है, क्योंकि तैत्तिरीय संहिता (३, ४०, १०[3]) में 'वास्तोष्पति' इसी देवता की उपाधि है। यद्यपि इस स्थल पर इसे अनेक देवों के साथ समीकृत किया गया है, तथापि ऐसा मानने के लिये पर्याप्त कारण नहीं हैं कि यह नाम मूलतः उपाधि के रूप में (अग्नि के लिये 'गृहपति' की भाँति) किसी भी एक देव के साथ सम्बद्ध था। गृह्य सूत्र (अश्वलायन गृह्य सूत्र २, ९[9]; शाङ्खायन गृह्यसूत्र ३, ४;

पारस्कर गृह्यसूत्र ३, ४[७]) यह निर्देश करते हैं कि नूतन गृह में प्रवेश करने के समय वास्तोष्पति का स्तवन करना चाहिये। यह निर्देश तथा इस देव की प्रशस्ति में समर्पित उक्त सूक्त इस बात का संकेत करते हैं कि सरल अर्थों में यह आवासों का एक रक्षक देवता है,[२] जैसा कि स्वयं इसके नाम के अर्थ 'आवासों का अधिपति' से भी व्यक्त होता है। इस प्रकार यह साधारण कोटि की उस देव-शृंखला के अन्तर्गत आता है जो पुरातन विश्वासों में, वृक्षों और पर्वतों जैसे प्राकृतिक तत्वों में तक में चेतन रूप से निहित, अवस्थित, अथवा उनके अधिष्ठाता, माने जाते थे।

'क्षेत्रस्य पति' भी इसी कोटि के अन्तर्गत आता है, जो खेतों का रक्षक देवता है। ४, ५७ के प्रथम तीन मंत्रों में इसका, पशु तथा अश्व प्रदान करने, और साथ ही साथ आकाश, पृथ्वी, पौधों, और जलों को मधु से परिपूर्ण करने के लिये आवाहन किया गया है।[3] सर्वदेवों को समर्पित सूक्त (७, ३५[१०]) के एक मंत्र में सवितृ, उषस् और पर्जन्य के साथ इसकी भी समृद्धि प्रदान करने के लिये स्तुति की गई है। इसी प्रकार के एक अन्य सूक्त (१०, ६६[१३]) में स्तोता इसे अपना समीपवासी बनाने की कामना करता है। गृह्य सूत्रों में यह निर्देश है कि किसी खेत की जुताई के समय इसका यज्ञ अथवा स्तवन करना चाहिये (आश्वलायन गृह्य सूत्र २. १०[४]; शाङ्खायन गृह्य सूत्र ४, १३[५])। कृषि-देवों को सम्बोधित सूक्त के एक मन्त्र में (४, ५७[६]) प्रचुर अन्न और समृद्धि प्रदान करने के लिये 'सीता' का आवाहन किया गया है। सीता बाद में (पारस्कर गृह्य सूत्र २, १७[९]) इन्द्र की पत्नी के रूप में आती है (सम्भवतः इसलिये कि ऋग्वेद में इन्द्र को एक बार 'उर्वरापति' कहा गया है : ८, २१[3] तु० की० ४, ५७[७]), और 'सावित्री' पैतृक नाम धारण करती है (तैत्तिरीय संहिता २, ३, १०[१])। उपरोल्लिखित सूत्र के एक स्थल पर, 'खलिहानों के हार से युक्त' के रूप में वर्णित 'उर्वरा' के आशीर्वाद का आवाहन किया गया है।

[१] के० वे० २१ ; वास्तोष्पति = अग्नि, वालिस : कॉ० ऋ० २२ — [२] तु० की० ब्लूमफील्ड : से० बु० ई० ४२; ३४३-४ — [3] ड्रिस्लर मेमोरियल, २४१, में पेरी के विचार से इसका सम्भवतः 'पूषन्' से तात्पर्य है। तु० की०, और० वे० २५४-५।

४—पौराणिक पुरोहित और नायक

§ ५०. मनु :—'मनु' अथवा 'मनुओं' की अभिधा का अक्सर ही 'मनुष्य' के आशय में प्रयोग होने के कारण कभी कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि ऋग्वेद में इसे कहाँ व्यक्तिवाचक संज्ञा माना जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि इस बाद के आशय में यह प्रायः बीस बार मनु के रूप में और कदाचित

इतनी ही बार मनुओं के रूप में आता है। मनु को पाँच बार एक पिता, और इसमें से दो बार निश्चित रूप से 'हमारे पिता' (२, ३३[१३] इत्यादि, तु० की० § ९) कहा गया है। यज्ञकर्त्ताओं को मनुओं का 'विशः' (४, ३७[३] इत्यादि), और अग्नि को मनु की सन्तानों के बीच रहने वाला (१, ६८[४]) कहा गया है। मनु ही यज्ञ-प्रथा के आरम्भकर्त्ता थे; क्योंकि अग्नि प्रज्वलित करने के बाद सात पुरुहितों के साथ इन्हों ने ही सर्वप्रथम देवों को हवि समर्पित की (१०, ६३[७])। मनु का यज्ञ वर्तमान यज्ञ का प्रारूप है, क्योंकि इस बाद के यज्ञ की मनुओं द्वारा देवों को समर्पित यज्ञ से तुलना की गई है (१, ७६[५])। इस प्रकार की तुलनाओं को अक्सर क्रियाविशेषण शब्द 'मनुष्वत्' (मनुओं की भाँति) द्वारा व्यक्त किया गया है। यज्ञकर्त्ता भी अग्नि को उसी प्रकार यज्ञ का साधन बनाते हैं जिस प्रकार मनुओं ने बनाया था (१, ४४[११])। वह मनुओं की ही भाँति अग्नि को प्रज्वलित करते हैं (५, २१[१] इत्यादि)। मनुओं की ही भाँति वह भी उसी अग्नि का आवाहन करते हैं जिसे मनु ने प्रज्वलित किया था (७, २[३])। उसी भाँति सोम अर्पित करते हैं जिस भाँति मनु ने किया था (४, ३७[३])। सोम से उसी प्रकार प्रवाहित होने की स्तुति की गई है जैसे वह किसी समय मनु के लिये प्रवाहित होता था (९, ९६[१२])। मनु ने सभी लोगों के प्रकाश के हेतु अग्नि की स्थापना की (१, ३६[१९])। मनु का अनेक प्राचीन यज्ञकर्त्ताओं, जैसे अङ्गिरस् और ययाति के साथ (१, ३१[१७]), भृगु और अङ्गिरस् के साथ (८, ४३[१३]), अथर्वन् और दध्यञ्च् के साथ (१, ८०[१६]), दध्यञ्च्, अङ्गिरस्, अत्रि, और कण्व के साथ (१, १३९[९]) भी उल्लेख मिलता है। ऐसा कहा गया है कि देवों (१, ३६[१०]), मातरिश्वन् (१, १२८[२]), मातरिश्वन् और देवों (१९, ४६[९]), और काव्य उशना[१] (८, २३[१७]) ने मनु को अग्नि प्रदान अथवा मनु के यज्ञ के लिये उसे प्रतिष्ठित किया था। उक्त अंतिम चार स्थलों पर इस शब्द का सम्भवतः केवल 'मानव' का अभिधात्मक अर्थ ही प्रतीत होता है।

इन्द्र के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उन्होंने मनु विवस्वत् (वाल० ४[१]) अथवा मनु सांवरणि (वाल० ३[१]) के साथ बैठ कर सोमपान किया था, अथवा वृत्र-युद्ध में अपनी शक्ति-वृद्धि के लिये मनुओं के सोम, तीन जलाशयों का, पान कर लिया था (५, २९[७])। ऐसा भी कथन है कि सोम को मनु के पास एक पक्षी लाया था (४, २६[४])। तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में मनु का अक्सर धार्मिक संस्कारादि करनेवाले के रूप में भी वर्णन किया गया है।

ऋग्वेद तक में मनु को विवस्वत् का पुत्र माना गया प्रतीत होता है; क्योंकि एक बार (वाल० ४[१] तु० की० ३[१]) इसे मनु वैवस्वत् (तु० की० पृ० ७८)

कहा गया है। अथर्ववेद (८, १०[२४]), शतपथ ब्राह्मण (१३, ४, ३[३]), और साथ ही साथ वैदिकोत्तर साहित्य में भी मनु नियमित रूप से 'वैवस्वत' पैतृक नाम धारण करते हैं। यम भी विवस्वत् का एक पुत्र और मरणशीलों (मनुष्यों) में प्रथम है। इस प्रकार मानव जाति के पूर्वज के रूप में 'मनु' केवल 'यम' का ही एक द्वितीय वाचक है।[२] किन्तु मनु को पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाले मनुष्यों में प्रथम माना गया है, जब कि 'यम', मृत मनुष्यों में सर्वप्रथम के रूप में दूसरे लोक में मृतकों के राजा बन गये। इसीलिये शतपथ ब्राह्मण (१३, ४, ३[३-५]) में मनु वैवस्वत का मनुष्यों के शासक के रूप में और यम वैवस्वत का (मृत) पितरों के शासक के रूप में वर्णन किया गया है। यास्क (निरुक्त १२, १० में) सूर्य (आदित्य) के रूप में विवस्वत् की, और सरण्यू की स्थानापन्न 'सवर्णा' (तु० की० १०, १७[२]; पृ० २३८) के पुत्र के रूप में मनु की व्याख्या करते हैं और इसकी गणना (निरुक्त १२, ३४) दिव्य क्षेत्र के दिव्य प्राणियों के अन्तर्गत करते हैं (नैघण्टुक ५, ६)।

शतपथ ब्राह्मण (१, ८, १[१-१०]) उस कथा का वर्णन करता है कि किस प्रकार सभी प्राणियों को वहा ले गये प्रलय जल से एक नौका में मनु एक मत्स्य (वैदिकोत्तर साहित्य के पुराकथाशास्त्र में यह मत्स्य विष्णु का एक अवतार है) द्वारा बचा लिये गये थे। यह कहा गया है कि इसके बाद अपनी उस इडा नामक पुत्री के माध्यम से ही मनु मानव जाति की प्रथम सन्तान के जनक हुये, जो उन्हीं की हवि से उत्पन्न हुई थी। यह कथा अथर्ववेद तक के समय में भी ज्ञात थी, ऐसा इसी संहिता के एक स्थल द्वारा व्यक्त होता (अथर्ववेद १९, ३९[८])।[३] प्रलय-जल की पुराकथा अवेस्ता में भी आती है, और यह भरोपीय भी हो सकती है।[४] सामान्यतया इसे एक सेमिटिक स्रोत[५] से गृहीत माना गया है किन्तु यह मान्यता अनावश्यक प्रतीत होती है।[६]

[१]एक प्राचीन ऋषि और याज्ञिक, देखिये § ५८ (ख) — [२]सम्भवतः केवल आर्यों के ही पूर्वज के रूप में, क्योंकि अनेक स्थलों पर इसका द्यौस् से विभेद किया गया है, तु० की० मूईर : सं० टे० १, १७४; स्पीगेल : ऑ० पी० २७२ — [३]हॉ० इ० १६० — [४]फे० रौ० २१३-६ — [५]वर्नोफ़ : भागवत पुराण, भूमिका li-liv; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १६० और बाद ; स्पीगेल : ऑ० पी० २७१-४; ओ० वे० २७६ नोट — [६]मैक्स मूलर : इन्डिया, १३३-८; हॉ० इ० १६०

कुन : हे० गौ० २१; कु० त्सी० ४, ९१; कार्सेन : कु० त्सी० २, ३२; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १, १९४; त्सी० गे० ४, ३०२; १८, २८६; रौथ : त्सी० गे० [illegible] और बाद; कु० त्सी० १२, २९३; १९,

१५६; अस्कोली : कु० त्सां० १७, ३३४; मूइर : ज० ए० सो० १८६३, ४१०–१६; १८६५, २८७ और वाद; मूइर : सं० टे० १, १६२–९६; बर्गेन : ल० रि० वे० १, ६२–७०; औ० वे० २७५–६; हॉ० इ० १४३।

§ ५१. *भृगु-गण* :—'भृगु' एक ऐसा नाम है जो ऋग्वेद में 'भृगुवत्' क्रिया विशेषण के रूप में दो बार आने के साथ साथ इक्कीस बार और मिलता है। यह केवल एक बार ही एक वचन में आता है और इसलिये पौराणिक व्यक्तियों के एक वर्ग का ही द्योतक प्रतीत होता है। बारह बार अग्नि को समर्पित सूक्तों में उल्लिखित भृगुओं को प्रमुखतः मनुष्यों के पास तक अग्नि पहुँचाने के कार्य से सम्बद्ध किया गया है। मातरिश्वन् भृगु के पास अग्नि को एक धनागार के रूप में लाये (१, ६०[१]), अथवा उन्होंने गुप्त अग्नि को भृगुओं के लिये प्रज्वलित किया (३, ५[१०])। मातरिश्वन् और देवों ने अग्नि को मनु के लिये निर्मित किया, जब कि भृगुओं ने शक्ति से अग्नि को उत्पन्न किया (१०, ४६[९])। भृगुओं ने अग्नि को जलों में स्थित पाया (१०, ४६[२]); जलों में अग्नि की स्तुति करते हुये इन लोगों ने अग्नि को 'आयु' अथवा मनुष्य के आवासों में स्थित किया (२, ४[२] तु० की० [४])। इन लोगों ने मित्र की भाँति अग्नि को लड़की में अच्छी तरह स्थित किया (६, १५[२]) अथवा मनुष्यों के बीच एक धनागार के रूप में रक्खा (१, ५८[६])। अग्नि भृगुओं का उपहार है (३, २[४])। मन्थन करते हुये इन लोगों ने स्तुति द्वारा अग्नि का आवाहन किया (१, १२७[७])। प्रशस्ति गीतों से इन लोगों ने अग्नि को लकड़ी में (४, ७[१]) प्रकाशित किया (१०, १२२[५])। यह लोग अग्नि को पृथ्वी की नाभि (१, १४३[४]) तक लाये (तु० की० पृ० १७४)। जहाँ अथर्वन् ने संस्कारों और यज्ञों की स्थापना की, वहीं भृगुओं ने अपनी योग्यता से अपने को देवों के रूप में प्रकट किया (१०, ९२[१०])। इनकी योग्यता को, जो प्रमुखतः अग्नि उत्पन्न करने के रूप में व्यक्त होती है, प्रसंगानुसार कलात्मक कहा गया है। इस प्रकार ऐसा कथन है कि स्तोतागण इन्द्र अथवा अश्विनों के लिये उसी भाँति स्तुतियों का निर्माण करते हैं जिस प्रकार भृगुओं ने एक रथ का निर्माण किया (४, १६[२०]; १०, ३९[१४])।

यह एक प्राचीन जाति के लोग हैं; क्योंकि स्तोतागण अङ्गिरसों और अथर्वनों के साथ साथ इनकी अपने सोम-प्रेमी पितरों के रूप में चर्चा करते हैं (१०, १४[६]), और अग्नि का उसी प्रकार आवाहन करते हैं जिस प्रकार भृगु (भृगुवत्), अङ्गिरसादि और मनु ने किया था (८, ४३[१३])। स्तोतागण इन्द्र से अपनी स्तुतियाँ उसी प्रकार सुनने का आवाहन करते हैं जिस प्रकार उन्होंने यतियों और भृगुओं की स्तुतियाँ सुनी थीं (८, ६[१८]), अथवा उस

प्रकार सहायता करने की स्तुति करते हैं जिस प्रकार उन्होंने यतियों, भृगुओं और प्रस्कण्वों की सहायता की थी (८, ३[९])। द्रुह्यु और तुर्वंश के साथ साथ भृगुओं का भी राजा सुदास् के शत्रुओं के रूप में उल्लेख है (७, १८[६])। उक्त अन्तिम तीन स्थलों पर इनका नाम एक ऐतिहासिक जाति के लोगों का द्योतक है। समस्त तैंतीस देवों, मरुतों, जलों, अश्विनों, उषस् और सूर्य के साथ भृगुओं का भी सोमपान करने के लिये आवाहन किया गया है (८, ३[५८])। इनकी सूर्य से तुलना की गई है और यह कहा गया है कि इनकी अपनी सभी कामनाएँ तृप्त हो गई थीं (८, ३[१६])। एक स्थल (९, १०१[१३]) उस समय एक अज्ञात पुराकथा से सम्बद्ध किया गया है जब स्तोता कृपणों को उसी भाँति दूर भगाने की इच्छा व्यक्त करता है जिस प्रकार भृगुओं ने (मखम् नामक) राक्षस को भगाया था।

इस प्रकार ऋग्वेद में भृगुगण कभी भी वर्तमान पुरोहितों के नहीं, वरन् ऐसे प्राचीन याज्ञिकों और पूर्वजों के द्योतक हैं जिनके 'भृगु' उसी प्रकार प्रधान हैं जिस प्रकार 'अङ्गिरस्' अङ्गिरसों के, अथवा वसिष्ठ वसिष्ठों के।

अग्नि के अवतरण और मनुष्यों तक उसके पहुंचाने की पुराकथा प्रमुखतः मातरिश्वन् और भृगुओं से सम्बद्ध है। किन्तु जहाँ मातरिश्वन् उसे विद्युत के रूप में आकाश से लाते हैं, वहीं भृगु उसे लाते नहीं, वरन् केवल यही माना गया है कि यह लोग पृथ्वी पर यज्ञ की प्रतिष्ठा और सम्पादन के लिये उसे प्रदीप्त करते हैं।

बाद के वैदिक साहित्य में भृगु, एक जाति का प्रतिनिधित्व करने वाले एक द्रष्टा के नाम के रूप में आता है (अथर्ववेद ५, १९[१]; ऐतरेय ब्राह्मण २, २०[७])। यह (भृगु) प्रजापति के वीज से एक स्फुलिङ्ग की भाँति उत्पन्न होता है, और वरुण द्वारा दत्तक ले लिये जाने के कारण 'वारुणि' पैतृक नाम प्राप्त करता है (ऐतरेय ब्राह्मण ३, ३४[१] तु० की० पञ्चविंश ब्राह्मण १८, ९[१])। शतपथ ब्राह्मण (११, ६, १[१])[२] में इसे स्पष्ट रूप से वरुण का पुत्र कहा ही गया है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'भृगु' शब्द का अर्थ 'प्रकाशमान' है, जैसा कि 'भ्राज् (प्रकाशित होना) धातु से निष्पन्न होता है। बर्गेन[३] के विचार से इस बात पर कदाचित ही सन्देह किया जा सकता है कि मूलतः 'भृगु' अग्नि का ही एक नाम था; जब कि कुन[४] और बार्थ[५] इस मत पर सहमत हैं कि अग्नि के जिस रूप का यह प्रतिनिधित्व करता है वह विद्युत है। कुन[६] और वेबर[७] अग्नि-पुरोहितों के रूप में भृगुओं को यूनानी (φλεγύαι) के साथ समीकृत करते हैं।

[१] तु० की० औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, २४३ — [२] वेबर : त्सी० गे० ९, २४० और वाद — [३] बर्गेन : ल० रि० वे० १, ५२-६; तु० की० हॉपकिन्स :

ज० अ० ओ० सो० १६, २८० — [४]कुन : हे० गॉ० ९-१४ — [५]ब्रा० १० — [६]कुन : हे० गौ० २१-२ — [७]त्सी० गे० ९, २४२; मूईर : सं० टे० १, १७०; औ० वे० १२३; हॉ० इ० १६८।

§ ५२. अथर्वन् :—'अथर्वन्' का नाम ऋग्वेद में चौदह वार, जिसमें से तीन बार बहुवचन रूप में, आता है। साथ ही यह अथर्ववेद में भी अनेक वार मिलता है। सामान्यतया अथर्वन् एक प्राचीन पुरोहित के रूप में ही आता है। इसने अग्नि का मन्थन किया (६, १६[१३]), और पुरोहितगण अग्नि का उसी प्रकार मन्थन करते हैं जिस प्रकार अथर्ववन् ने किया था (६, १५[१७])। अथर्वन् द्वारा उत्पन्न अग्नि, विवस्वत् के दूत वन गये (१०, २१[५])। अथर्वन् ने सर्वप्रथम यज्ञों से व्यवस्था स्थापित की, जब कि भृगुओं ने अपनी योग्यता से अपने को देवों के रूप में प्रकट किया (१०, ९२[१०])। यज्ञ द्वारा अथर्वन् ने सर्वप्रथम पथों को विस्तृत किया; उसके वाद सूर्य उत्पन्न हुये (१, ८३[५])। पिता मनु और दध्यञ्च् के साथ-साथ अथर्वन् ने तप किया (१, ८०[१६])। अथर्वन्, और साथ ही साथ त्रित, दध्यञ्च्, और मातरिश्वन् की इन्द्र सहायता करते हैं (१०, ४८[२])। अथर्वन की भाँति दिव्य ज्वाला से मूर्खों को भस्म करने के लियें राक्षस-विनाशक अग्नि का आवाहन किया गया है (१०, ८७[१२])। अथर्ववेद कुछ और गुणों की चर्चा करता है। अथर्वन् इन्द्र के लिये एक पात्र में सोम लाये (अथर्ववेद १८, ३[५४])। वरुण ने इन्हें एक दिव्य गाय प्रदान किया (अथर्ववेद ५, ११; ७, १०४)। अथर्वन् देवों के साथी और सम्वन्धी हैं, तथा द्युलोक में रहते हैं (अथर्ववेद ४, १[७] इत्यादि)। शतपथ ब्राह्मण में अथर्वन् को एक प्राचीन गुरु कहा गया है (१४, ५, ५[२२].७, ३[२८])।

बहुवचन में अथर्वनों की अङ्गिरसों, नवग्वों, और भृगुओं के साथ-साथ पितरों के रूप में गणना कराई गई है (१०, १४[६]) यह लोग द्युलोक में रहते और देवता कहे जाते हैं (अथर्ववेद ११, ६[१३])। यह लोग एक अभिचारीय ओषधि द्वारा राक्षसों का विनाश करते हैं (अथर्ववेद ४, ३७[७])।

ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर 'अथर्वन्' शब्द का 'पुरोहित' जैसा अभिधात्मक अर्थ प्रतीत होता है। इस प्रकार यह सूक्तों के स्रष्टा बृहद्दिव का एक गुण है (१०, १२०[९] तु० की०[८])। इसी आशय में उस समय यह अग्नि की एक उपाधि है, जब अथर्वन् पर हवि अर्पित करते हुये एक द्रष्टा का वर्णन किया गया है (८, ९[७])। उस समय भी इस शब्द का अर्थ पुरोहित ही है, जब यह कहा गया है कि अथर्वन् सोम का मिश्रण करते हैं (९, ४[२]), अथवा यह कि अथर्वन् एक यजमान से सौ गायें प्राप्त करते हैं (६, ४७[२४])। इस शब्द का मूल आशय यही था ऐसा इस तथ्य द्वारा सिद्ध होता है कि अवेस्ता में इसका

सजातीय शब्द 'आथ्रवन्' भी 'अग्नि-पुरोहित' का द्योतक है, और इसका व्युत्पत्ति-जन्य आशय भी यही है; क्योंकि 'आतर्' ('आथर्' के लिये) अर्थात अग्नि, वही है जैसा कि वैदिक 'अथर्'[१]-, और जो 'अथर्-यु', अर्थात् ज्वालामय (७, १[१] में अग्नि के लिये कहा गया) में भी आता है। ऐसी दशा में निश्चित रूप से यह प्राचीन नाम पुराकथाशास्त्रीय आशय में एक अर्ध-दिव्य प्रकृति की एक प्राचीन पुरोहित जाति के लिये व्यवहृत हुआ होगा और एकवचन में सामान्यतया इसी जाति के प्रधान का प्रतिनिधित्व करता रहा होगा।

[१] ब्रुगमैन : ग्रुन्डिस २, ३६०; तु० की०, ब्लूमफ़ील्ड : सें० बु० ई० ४२, xxiii, नोट २; बार्थोलोमाइ : इ० फ़ो० ५, २२१, 'आतर्' और 'अथर्वन्' के सम्बन्ध को अस्वीकृत करते हैं। — तु० की० लासन : इ० आ० १, ५२३; कुन : हे० गौ० १०; इन्डिशे स्टूडियन १, २८९ और बाद; मूइर : सं० टे० ९, १६०; वर्गेन : ल० रि० वे० १, ४९; हॉ० इ० १६०, नोट १।

§ ५३. दध्यञ्च् :—दध्यञ्च् का, जो कि अथर्वन् का पुत्र है (६, १६[१४]; १, ११६[१२]. ११७[२२]), ऋग्वेद में नौ बार, और केवल एक अपवाद के अतिरिक्त, केवल नवम्, दशम् तथा मुख्यतः प्रथम मण्डलों में ही उल्लेख है। यह एक द्रष्टा है जिसने अग्नि प्रज्वलित किया था (६, १६[१४]), और अथर्वन् अङ्गिरस्, मनु, तथा अन्य प्राचीन याज्ञिकों के साथ इसका उल्लेख है (१, ८०[१६]. १३९[९])।

अश्विनों ने अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् को एक अश्व का सर समर्पित किया, जिस पर दध्यञ्च् ने उन्हें त्वष्टृ के मधु का स्थान वता दिया (१, ११७[२२])। अश्व के सर के साथ दध्यञ्च् ने अश्विनों को मधु का स्थान बताया (१, ११६[१२])। अश्विनों ने दध्यञ्च् का हृदय जीत लिया; इस पर अश्व का सर उनसे बोला (१, ११९[९])। इन्द्र को भी इस पुराकथा के साथ सम्बद्ध किया गया है। क्योंकि यह कहा गया है कि पर्वतों में छिपे अश्व के सर को खोजते हुये जब उन्होंने उसे 'सर्यणावत्' में पाया तव दध्यञ्च् की अस्थि से निन्यान्वे वृत्रों का वध किया (१; ८४[१३.१४])। त्रित के लिये असुर के पास से गायों को प्राप्त करने के अतिरिक्त इन्द्र ने दध्यञ्च् (और) मातरिश्वन् को गोष्ठ प्रदान किये (१०, ४८[२])। यह सम्भवतः वही गोष्ठ हैं जिन्हें दध्यञ्च् सोम की शक्ति से खोलते हैं (९, १०८[४])। यह उल्लेखनीय है कि उस एक मात्र प्राचीन स्थल (६, १६[१४]) पर, जहाँ दध्यञ्च् का नाम आता है, यह एक प्राचीन अग्नि-पुरोहित अथर्वन् का पुत्र और स्वयं भी अग्नि प्रज्वलित करने वाला ही है। अन्यथा यह प्रमुखतः सोम के गुप्त आवास के साथ, तथा गायों को मुक्त करने में इन्द्र के साथ ही सम्बद्ध है। इसके अश्व के सर, तथा इसके दध्यञ्च् नाम के कारण इसे कदाचित् ही 'दधिक्रा' नामक अश्व से सर्वथा पृथक किया जा सकता है।

'दध्रि-अञ्च्' का व्युत्पत्तिजन्य आशय 'दधिवत् दुग्ध' के 'प्रेमी' अथवा 'रखनेवाले'[१] का द्योतक हो सकता है। वर्गेन के विचर से उत्पत्ति में 'दध्यञ्च्' का सोम से कोई भी अनिवार्य अन्तर नहीं है।[२] फिर भी, किसी निश्चित निष्कर्ष का औचित्य सिद्ध करने के लिये प्रमाण अपर्याप्त हैं। किन्तु यह अनुमान सर्वथा असम्भाव्य नहीं प्रतीत होता कि दध्यञ्च् मूलतः अग्नि के विद्युत रूप का ही प्रतिनिधित्व करता था। इस प्रकार अश्व का सर इसकी गति को, वाणी जिससे वह बोलता है गर्जन को, और इसकी अस्थियाँ वज्र को व्यक्त करेंगी। सोम के गुप्त आवास से इसका सम्बन्ध, दिव्य सोम के साथ श्येन पक्षी के सम्बन्ध के समान होगा। इसका नाम भी झंझावात के दधिवत घनीभूत प्रभाव को व्यक्त करता है। वैदिकोत्तर साहित्य में यह नाम सामान्यतया 'दधीच' के रूप में आता है, और महाभारत में ऐसा कथन है कि—वृत्र का वध करने के लिये इसी की अस्थियों से वज्र का निर्माण किया गया था।[३]

[१]वर्गेन : ल० रि० वे० २, ४५७ — [२]वर्गेन : ल० रि० वे० २, ४५८ — [३]सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० — तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४५६-६०; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद २, ८४; पेरी : ज० अ: ओ० सो० ११, १३८; लु० रि० फौ० १२०-२. ऑर्टेल : ज० अ० ओ० सो० १८, १६-१८; आदि भी।

§ ५४. अङ्गिरसादि[१] :—ऋग्वेद में इस नाम की साठ से अधिक आवृत्तियों में से प्रायः दो-तिहाई स्थलों पर इसका बहुवचन रूप ही आता है। इस शब्द से व्युत्पन्न कुछ अन्य शब्द-रूप भी यहाँ प्रायः तीस बार मिलते हैं। एक सम्पूर्ण सूक्त (१०, ६२) अङ्गिरसों की, एक समूह के रूप में, प्रशस्ति करता है।

अङ्गिरसादि आकाश[२] के पुत्र हैं (३, ५३[७]; १०, ६७[२] तु० की० ४, २[१५])। यह लोग ऐसे द्रष्टा हैं जो देवों के पुत्र हैं (१०, ६२[४])। एक 'अङ्गिरस्' को इन सभी का पूर्वज मान कर इन लोगों को 'अङ्गिरस् के पुत्र' भी कहा गया है (१०, ६२[५])। कविगण इन लोगों को 'पिता' (वही[२]), 'हमारे पिता' (१; ७१[३]), अथवा 'हमारे प्राचीन पिता' (१, ६२[२]) के रूप में व्यक्त करते हैं। एक बार इन लोगों का अथर्वनों और भृगुओं के साथ पितरों के रूप में उल्लेख है (१०, १४[६]), और इन्हें विशेषतः यम के साथ सम्बद्ध किया गया है (वही[३-५])। इन लोगों को अन्य दिव्य व्यक्ति-समूहों, जैसे आदित्यों, वसुओं, मरुतों (७, ४४[४]; ८, ३५[१४]), अथवा आदित्यों, रुद्रों, वसुओं, और साथ ही साथ अथर्वनों (अथर्ववेद ११, ८[१३]) के साथ भी

अपेक्षाकृत सामान्य आशय में सम्बद्ध किया गया है। इन लोगों को सोम समर्पित किया जाता है (९, ६२[९]) और देवों की ही भाँति इनका आवाहन किया गया है (३, ५३[७]; १०, ६२)। यह लोग 'ब्रह्मन्' पुरोहित हैं (७, ४२[१])। इन लोगों ने लकड़ी में छिपे 'अग्नि' को प्राप्त (५, ११[६]) और यज्ञ के प्रथम विधान का विचार किया (१०, ६७[२])। यज्ञ के द्वारा ही इन लोगों ने अमरत्व और इन्द्र की मित्रता प्राप्त की (१०, ६२[१])।

अङ्गिरसों को इन्द्र के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध किया गया है। इन लोगों के लिये इन्द्र ने गायों को प्रकट किया (८, ५२[3]), गोष्ठों को खोला (१, ५१[3]. १३४[४]), और 'वल' का मर्दन करने के बाद (८, १४[९]) छिपाई हुई गायों को बाहर निकाला। इन लोगों को साथ लेकर इन्द्र ने 'वल' का भेदन किया (२, ११[२०]) और गायों को बाहर निकाला (६, १७[६])। इन लोगों के नेता के रूप में इन्द्र को दो बार 'अङ्गिरस्तम' अथवा प्रधान 'अङ्गिरस्' कहा गया है (१, १००[१]. १३०[3])। (इन्द्र को प्रेरित करने वाले के रूप में) सोम को भी एक बार अङ्गिरसों के लिये गोष्ठों को खोलने वाला कहा गया है (९, ८६[२3])। गायों की मुक्ति सम्बन्धी पुराकथा में, अङ्गिरसों के गायन एक विशिष्टता हैं (इन लोगों की प्रशस्तियों पर ही प्रसन्न होकर इन्द्र ने 'वल' का वध किया (२, १५[८]), और गोष्ठों को तोड़ा (४, १६[१८]); 'वल' का वध किया और उसके गढ़ों को खोला (६, १८[५]); अथवा अन्धकार को भगाया, पृथ्वी को विस्तृत, और आकाश के निचले स्थानों को स्थापित किया (१, ६२[५])। इन लोगों के गायन में इतनी अधिक विशिष्टता है कि अपने विविध गायनों सहित मरुतों को भी अङ्गिरसों के समान बताया गया है (१०, ७८[५]), और अङ्गिरसों के गायनों सहित हवि अर्पित करते हुए देवों का आवाहन किया गया है (१, १०७[२])। वास्तविक पुरोहितों द्वारा इन्द्र को सम्बोधित सूक्तों की भी अनेक बार अङ्गिरसों के सूक्तों से तुलना की गई है (१, ६२[१.२] इत्यदि)। प्रसंगतः गायों की पुराकथा में अङ्गिरसों की अपेक्षा इन्द्र का एक कम महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिये यह कहा गया है कि इन्द्र को साथ ले कर अङ्गिरसों ने गायों और अश्वों के स्थानों को रिक्त किया (१०, ६२[७])। यहाँ इन्द्र की सर्वथा उपेक्षा करते हुए उनके विशिष्ट कार्यों का श्रेय प्रत्यक्षतः स्वयं अङ्गिरसों पर ही संक्रमित हो गया है। संस्कारों द्वारा अङ्गिरसों ने गायों को बाहर निकाला और 'वल' का भेदन किया (वही [२]); सूर्य को आकाश में ऊपर उठाया और माता पृथ्वी को विस्तृत किया (वही [3])। संस्कार (ऋत) द्वारा इन लोगों ने पर्वत को विदीर्ण और गायों के साथ घोष किया (४, ३[११])। गायन करते हुए इन लोगों ने गायों को प्राप्त किया (१, ६२[२])। इन लोगों ने अपने

गायनों से पर्वतों को तोड़ा और प्रकाश को प्राप्त किया (१, ७२[२])। इन्द्र के लिये 'सरमा' द्वारा पणियों की गायों को प्राप्त करने की घटना के साथ भी अङ्गिरसो को सम्बद्ध किया गया है (१०, १०८[८-१०])। ऐसा कथन है कि गायों का पता लगाने में 'सरमा' ने इन्द्र और अङ्गिरसों की सहायता की थी (१, ६२[३] तु० की० ७२[८])। अकेले अङ्गिरसों के सम्बन्ध में भी यह वर्णन है कि इन लोगों ने पणि की गायों और अश्वों को प्राप्त किया था (९, ८३[४])। वृहस्पति को भी, जिन्हें इसी पुराकथा के साथ सम्बद्ध किया गया है, (१०, १०८[६-११]) पर्वतों का भेदन और गायों को प्राप्त (६, ७३[१]), अथवा 'भग' की भांति गायों को प्रदान करते समय (१०, ६८[२]) 'अङ्गिरस्' उपाधि से विभूषित किया गया है।

बृहस्पति को उस समय प्रत्यक्ष रूप से अङ्गिरस् ही कहा गया है जब वह इन्द्र के साथ गायों को बाहर निकालते तथा जलों को मुक्त करते हैं (२, २३[१८])। अन्यथा एकवचन में आने वाले प्रायः सभी स्थलों पर 'अङ्गिरस्' अग्नि की उपाधि है, और अग्नि ही प्रथम अङ्गिरस्' द्रष्टा (१, ३१[१]), प्राचीन 'अङ्गिरस्' (१०, ९२[१५]), अथवा 'अङ्गिरसों' में प्राचीनतम (१, १२७[२]) और सर्वाधिक स्तुतिप्रेरक (६, ११[३]) हैं। अग्नि को अनेक बार प्रधान 'अङ्गिरस्' भी कहा गया है (१, ७५[२] इत्यादि)। फिर भी, यह शब्द एक या दो बार इन्द्र, उषस्, और सोम के लिये व्यवहृत हुआ है। जब पूर्वजों की एक गणना में 'प्राचीन अङ्गिरस्' का उल्लेख है (१, १३९[९]), अथवा जब सन्दर्भ यह व्यक्त करता है कि 'अङ्गिरस्वत्' रूप द्वारा 'अङ्गिरस् की भाँति' का एकवचन आशय निहित है (१, ४५[३]), तब कभी-कभी अग्नि के प्रत्यक्ष आशय के बिना ही, अङ्गिरस् केवल एक प्राचीन पुरोहित का ही द्योतक है। एक स्थल पर (१, ३१[१७]), जहाँ कवि यह कहता है कि, 'हे अग्ने ! उसी प्रकार हमारे पास आओ जिस प्रकार मनुष्यों के तथा अङ्गिरस् के पास आये थे, हे अङ्गिरस्', तब यह नाम पूर्वज और अग्नि दोनों का ही द्योतक है।

ऋग्वेद अनुक्रमणी में उपलब्ध परम्परा के अनुसार अङ्गिरसों को निश्चित रूप से एक वास्तविक पुरोहित-परिवार ही माना गया होगा, क्योंकि इसी परिवार के सदस्यों को नवम मण्डल के सृजन का श्रेय दिया गया है।[३] अथर्ववेद के एक नाम के रूप में इसी वेद (अथर्ववेद १०, ७[२०]) और बाद (शतपथ ब्राह्मण ११, ५, ६[७] इत्यादि))[४] में आनेवाले 'अथर्व-अङ्गिरसः' यौगिक शब्द द्वारा भी पुरोहित-परिवारों का ही आशय उद्दिष्ट प्रतीत होता है।

सम्पूर्णतः यही सम्भव प्रतीत होता है कि—अङ्गिरसों को मूलतः देवों और

मनुष्यों के बीच स्थित उच्चतर व्यक्तियों की एक जाति माना जाता था जो उस अग्नि के सेवक थे जिन्हें इतनी अधिक बार आकाश और पृथ्वी के बीच का दूत कहा गया है (पृ० १८२)। इन लोगों के चरित्र में पौरोहित्य एक बाद का विकास है।[५] यह लोग सम्भवतः आकाश की ओर जाने वाले दूत के रूप में अग्नि की ज्वालाओं के मूर्तीकरण हो सकते हैं (तु० की० ऋग्वेद ७, ३[३])। यह दृष्टिकोण यूनानी 'एँगेलोस (ἄγγελος, दूत) के साथ 'अङ्गिरस्' के व्युत्पत्ति-जन्य सम्बन्ध द्वारा पुष्ट होता है।[६] फिर भी, वेबर का यह विचार है कि यह लोग मूलतः भारतीय-ईरानी काल से ही पुरोहित थे।[७]

[१]कुन : हे० गौ० १०; मूइर : सं० टे० ५, २३; व० ऋ०; बर्गेन : ल० रि० वे० १, ४७-८; २, ३०८-२१; वालिस : कॉ० ऋ० ६९-७२; औ० वे० १२७-८ — [२]तु० की० ब्राडके : द्या० ४५ — [३]तु० की० वेबर : हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लिटरेचर, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ३१ — [४]तु० की० ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १७, १८०-२; से० बु० ई० ४२, xvii–xxvii — [५]तु० की० रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३०९; तु० की० हार्डी : वे० पी० १०९; औ० वे० १२७ — [६]ब्रुगमैन : ग्रुन्ड्रिस २, १८८; हॉ० इ० १६७ — [७]इन्डिशे स्टूडियन १, २९१; और बाद।

§ ५५. *विरूप-गण :*[१]—अङ्गिरसों के ही साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध विरूपगण भी हैं, जिनके नाम का तीन बार बहुवचन में उल्लेख है। अङ्गिरस् और विरूप लोग आकाश के पुत्र हैं (३, ५३[७])। विरूपगण, द्रष्टा, अङ्गिरस् के पुत्र और अग्नि से, आकाश से उत्पन्न हैं (१०, ६२[५.६])। अङ्गिरस् का आवाहन करने वाले एक मंत्र के ठीक बाद के मंत्र (८, ६४[६]) में एक बार एक 'विरूप' नामक व्यक्ति का नाम आता है जो अग्नि की प्रशस्ति गाता है। एक ही मन्त्र (१, ४५[३]) में 'अङ्गिरस्वत्' के अतिरिक्त 'प्रियमेधवत्' और 'अत्रिवत्' के प्रयोग से ऐसा व्यक्त होता है कि इसी मन्त्र में क्रियाविशेषण 'विरूपवत्' (विरूप की भाँति) में भी इसी नाम का एकवचन आशय निहित है। अपने पैतृक नाम के रूप में एक बार यह नाम एक ऐसे मन्त्र में आता है (१०, १४[५]) जिसमें अङ्गिरसों और विरूपों के साथ-साथ यम का आवाहन किया गया है। यतः सामान्य रूप से बहुधा इस शब्द का केवल एक विशेषणात्मक आशय में 'विभिन्न रूपों वाला' अर्थ है, और जब यह एक नाम है, तब सदैव अङ्गिरस् अथवा अङ्गिरगों के साथ ही आता है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह अङ्गिरसों की एक उपाधि से अधिक कदाचित ही कुछ और रहा होगा।

(*ख*) *नवग्वादि :*[२]—ऋग्वेद में इन लोगों का नाम सब मिला कर चौदह बार, जिसमें से छह बार अङ्गिरसों के साथ-साथ, आया है। नवग्वों को

'हमारे प्राचीन पितृगण' (६, २२[२]), अथवा अङ्गिरसों, अथर्वनों, और भृगुओं के साथ 'हमारे पितृगण' (१०, १४[६]) कहा गया है। अङ्गिरसों की ही भाँति इन लोगों को भी इन्द्र, सरमा, और पणियों के गायों की पुराकथाओं के साथ सम्बद्ध किया गया है। (१, ६२[३.४]; ५, ४५[७]; १०, १०८[८])। नवग्वों को मित्रों के रूप में साथ लेकर इन्द्र ने गायों को खोज निकाला (३, ३९[५])। सोम दवाते हुए यह लोग गीतों द्वारा इन्द्र की प्रशस्ति करते हैं; इन लोगों ने गायों के गोष्ठों को तोड़ कर खोल दिया (५, २९[१२])। एक सूक्त में ऐसा वर्णन है कि इन लोगों ने सोम दवाने वाले पत्थरों के साथ दस मास तक गायन किया था (५, ४५[७.११])। बहुवचन रूप में दो बार आने वाले स्थलों पर 'नवग्व' शब्द केवल एक विशेषण मात्र, और इनमें से एक बार अग्नि की रश्मियों का गुण है (६, ६[३])। तीन बार यह एकवचन रूप में भी मिलता है, जहाँ यह अङ्गिरस् (४, ५१[४]; १०, ६२[६]) अथवा दध्यञ्च् (९, १०८[४]) की एक उपाधि प्रतीत होता है। प्रत्यक्षः इसका अर्थ 'नौ (के समूह में) जाने वाला'[3] प्रतीत होता है, और बहुवचन संज्ञा के रूप में यह नौ प्राचीन पुरोहित पूर्वजों का द्योतक है।

(ग) *दशग्वादि*[3] :—ऋग्वेद में यह नाम सात बार आता है, जिसमें से तीन बार एकवचन में मिलता है, और केवल दो ही स्थल ऐसे हैं जहाँ यह नवग्वों के साथ सम्बद्ध नहीं है। दशग्वादि ही वह लोग थे जिन्होंने सर्वप्रथम यज्ञ किया (२, ३४[१२])। इन्द्र ने नवग्वों के साथ गायों को खोजा और दस दशग्वों के साथ सूर्य को प्राप्त किया (३, ३९[५])। नवग्वों और दशग्वों को साथ लेकर इन्द्र ने पर्वत और 'वल' को विदीर्ण किया (१, ६२[४])। नवग्व और दशग्व लोग इन्द्र की प्रशस्ति करते हैं और इन लोगों ने गायों के गोष्ठ को तोड़ कर खोल दिया (५,२९[१२])। 'नवग्व अङ्गिर' और सप्तमुख 'दशग्व' पर उषस् प्रकाशित होती है (४, ५१[४])। नवग्व के साथ उल्लिखित दशग्व को एक बार प्रधान 'अङ्गिरस्' कहा गया है (१०, ६२[६])। एक स्थल पर यह वर्णन है कि इन्द्र ने दशग्व की सहायता की थी (८, १२[२])। नवग्व से केवल संख्यात्मक ही विभेद होने के कारण सम्भवतः इस नाम की नवग्व के आधार पर ही कल्पना कर ली गई प्रतीत होती है।

(घ) *सप्त-ऋषि*:[४]—प्राचीन द्रष्टाओं को 'सात ऋषियों' के एक निश्चित संख्यात्मक समूह के रूप में व्यक्त किया गया है, जिनका, यद्यपि, ऋग्वेद में केवल चार बार ही उल्लेख मिलता है। एक कवि इनको 'हमारे सप्तर्षि पितृगण' के रूप में व्यक्त करता है (४, ४२[८])। इन्हें दिव्य कहा गया है (१०, १३०[७]), और एक अन्य स्थल (१०, १०९[४]) पर 'सात प्राचीन ऋषियों' को देवों के

साथ सम्बद्ध किया गया है। इनके संख्या की प्रेरणा (२, १[२] में वर्णित) उन सात कर्मकाण्डी पुरोहितों से प्राप्त हुई हो सकती है जिनके ही, ऐसी दशा में, यह लोग प्रतिरूप माने गये होंगे। शतपथ ब्राह्मण में प्रत्येक को एक-एक नाम देकर इनका वैयक्तीकरण भी कर दिया गया है (शतपथ ब्राह्मण १४, ५, २[६]; बृहदारण्यक उपनिषद् २, २[६])। इसी ब्राह्मण (२, १, २[४] तु० की० ८, १, १०) में इन लोगों को सप्तर्षि नक्षत्र-पुञ्ज के सात तारे माना गया है और यह कहा गया है कि यह लोग मूलतः ऋक्ष अथवा रीछ थे।[५] इस समीकरण में असन्दिग्धता नहीं प्रतीत होती क्योंकि एक तो इन दोनों की संख्याओं में समानता है, और, दूसरे 'ऋषि' और 'ऋक्ष' की ध्वनियाँ भी समान हैं; साथ ही ऋग्वेद में 'ऋक्ष' का अर्थ तारा (१, २४[१०]), और रीछ (५, ५६[३]), दोनों ही है।

नवग्वों के साथ इन्द्र की प्रशस्ति करने वाले सात पुरोहितों (विप्राः) के रूप में (६, २२[२] तु० की० ३, ३१[५]; ४, २[१५]), अथवा उन सात होतृयों के रूप में जिनके साथ मनु देवों को प्रथम हवि समर्पित करते हैं (१०, ६३[७]), सम्भवतः सात प्राचीन होताओं के एक ही समूह का तात्पर्य है। इसी प्रकार ऋग्वेद में प्रायः एक दर्जन बार उल्लिखित 'दो दिव्य होता' (दैव्या होतारा) भी पारिभाषिक नामों के ही दो पुरोहितों के दिव्य प्रतिरूप प्रतीत होते हैं।[७]

— [१]व० ऋ०, व० स्था० 'विरूप'; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३०७, नोट ४ — [२]बर्गेन : ल० रि० वे० २, १४५-६, ३०७-८ — [३]तु० की० यास्क : निरुक्त, ११, १९; बर्गेन : ल० रि० वे० २, १४५ : 'नौ गायों वाला' — [४]रौथ : सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २३६; औ० वे० २७६-८ — [५]वेबर : इन्डिशे स्टूडियन, १, १६७; एग्लिङ्ग : से० बु० ई० १२, २८२, नोट २ — [६]तु० की० हॉपकिन्स : ज० ए० सो० १६, २७७; औ० वे० ३८३-४; से० बु० ई० ४६, १८९·३२२ — [७]औ० वे० ३९१; से० बु० ई० ४६, ११; तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० १, २३४-५।

§ ५६. *अत्रि* :—यह प्राचीन काल के द्रष्टाओं में से एक हैं जिनका ऋग्वेद में बहुधा उल्लेख मिलता है। यहाँ एकवचन रूप में यह नाम प्रायः चालीस बार आता है और छह बार बहुवचन प्रयोग इन्हीं के वंशजों का द्योतक है। अत्रि को पाँच जातियों में से एक का द्रष्टा कहा गया है (१, ११७[३]) और मनु तथा मानव जाति के अन्य पूर्वजों के साथ इनका उल्लेख है (१, ३९[९])।

ऐसा कथन है कि अग्नि ने अत्रि (७, १५[५]) तथा अन्य प्राचीन द्रष्टाओं (१, ४५,[३]; १०, १५०[५]) की सहायता की थी। इन्द्र ने भी अत्रि की स्तुतियाँ सुनी, (८, ३६[७]), और अत्रि तथा अङ्गिरसों के लिये गाय के गोष्ठों

को खोला (१, ५१[३])। फिर भी, अत्रि को प्रमुखतः अश्विनों के एक आश्रित के रूप में ही व्यक्त किया गया है, और इनकी विशिष्ट पुराकथा भी अश्विनों के ही साथ सम्बद्ध है। अश्विनों ने अत्रि को अन्धकार से मुक्त किया (६, ५०[१०] ७, ७१[५])। अश्विनों ने इनको (५, ७८[४]) इनके दल के सभी व्यक्तियों के साथ (१, ११६[८]-११७[३]) एक गर्त से बचाया और एक दुष्ट दैत्य के अभिचारों को विनष्ट किया (१, ११७[३])। जिस गर्त में यह गिर पड़े थे और जिसमें से अश्विनों ने इनकी रक्षा की, वह तप्त था, किन्तु अश्विनों ने इन्हें एक शक्तिवर्धक पेय पिला दिया (१, ११६[८]-११८[७])। अश्विनों ने जलते हुये गर्त (ऋबीस) अथवा इनके आवास (गृह) को सह्य बना दिया (१०, ३९[९]; ८, ६२[७]); उन लोगों ने अग्नि में भस्म होने से इन्हें बचाया (८, ६२[८])। उन लोगों ने तप रहे अत्रि को बचाया (१०, ८०[३]); उन लोगों ने शीतलता पहुँचा कर तप्त अत्रि की रक्षा की (१, ११९[६]; ८, ६२[३]) और दहकते ताप को उनके लिये सह्य बना दिया (१, ११२[७])। यह भी कथन है कि एक बार जराक्रान्त अत्रि को अश्विनों ने पुनः युवा बना दिया था (१०, १४३[१.२])।

एक सूक्त में यह कहा गया है कि जब स्वर्भानु नामक दैत्य ने सूर्य को छिपा दिया तब अत्रि ने सूर्य को प्राप्त करके उसे आकाश में पुनः स्थित कर दिया (५, ४०[६.८])। किन्तु दूसरे ही मन्त्र (९) में इस कृत्य को अत्रियों पर सामूहिक रूप से आरोपित किया गया है। अत्रि द्वारा सूर्य को प्राप्त करने और उसे आकाश में स्थित करने का अथर्ववेद (१३, २[४.१२.३६]) में भी उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में अत्रि एक ऐसे पुरोहित हैं जिन्होंने अन्धकार को भगाया (४, ३, ४[२१]), और जो 'वाच्' से उत्पन्न (१, ४, ५[१३]) अथवा उसी के समान हैं (१४, ५, २[५])।

ऋग्वेद में इस नाम का बहुवचन रूप नियमित रूप से किसी सूक्त के अन्तिम अथवा उत्तरार्ध के ही किसी मन्त्र में मिलता है। यहाँ अत्रि गण द्रष्टाओं के ऐसे परिवार के द्योतक हैं जो सूक्तों की रचना करता है (५, ३९[५] इत्यादि)। सम्पूर्ण पञ्चम मण्डल के प्रणयन का अत्रि परिवार को ही श्रेय दिया गया है, और एकवचन में मिलने वाली इस नाम की समस्त संख्या का चतुर्थांश इसी मण्डल में मिलता है।

सम्भवतः अद्' (भोजन करना) धातु से व्युत्पन्न हुए इस शब्द का उसी प्रकार 'भक्षण करना' आशय है जिस प्रकार दैत्यों का वर्णन करने के लिए ऋग्वेद में बहु-प्रयुक्त एक अन्य सजातीय विशेषण शब्द 'अत्रिन्' का भी यही आशय निहित है। सम्भवतः इसी आशय में एक बार स्वयं 'अत्रि'[१] शब्द

भी अग्नि के एक गुण के रूप में प्रयुक्त हुआ है (२, ८^{५})। बर्गेन[२] का तो यहाँ तक विचार है कि यद्यपि अत्रि एक पुरोहित बन गया है, तथापि मूलतः यह अग्नि के ही किसी रूप का द्योतक था। अत्रि का नाम चार बार 'सप्तवध्रि' के नाम के साथ, अथवा दूसरे ही मन्त्र में उसके पहले आता है। सप्तवध्रि अश्विनों का आश्रित और एक ऐसा द्रष्टा था जिसको कारामुक्त करने के लिए अश्विनों का आवाहन किया गया है (५, ७८$^{५.६}$) और यह कहा गया है कि इसने अपनी स्तुतियों से अग्नि की धार को तीक्ष्ण किया था (८, ६२^{८})। अत्रि सप्तवध्रि के लिए अश्विनों ने तप्त गर्त को सह्य बना दिया (१०, ३९^{९})। अतः यह दोनों ही सम्भवतः समान हैं।[3]

[१] तु० की० औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, ३५·२१४ — [२] बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४६७-७२ — [३] उ० पु० ४६७; वॉनैक : त्सी० गे० ५०, २६६— तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, द० स्था० 'अत्रि', भी; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१३; वॉनैक : त्सी० गे० ५०, २६६-८७।

§ ५७. *कण्व, इत्यादि* :—एक प्राचीन द्रष्टा और उसके वंशजों के रूप में ऋग्वेद में कण्व का नाम लगभग साठ बार आता है। इसके एकवचन और बहुवचन रूपों का प्रयोग प्रायः समान रूप से वितरित है। कण्व को नृषद् का का पुत्र कहा गया है (१०, ३१^{११}), और यह 'नार्षद' पैतृक नाम धारण करते हैं (१, ११७^{८}; अथर्ववेद ४, १९^{२})। मनु और अङ्गिरस् जैसे प्राचीन पूर्वजों की एक गणना में इनका भी उल्लेख है (१, १३९^{९})। देवों ने कण्व तथा अन्य लोगों को अग्नि प्रदान की और इन लोगों ने अग्नि प्रज्वलित करके उससे आशीर्वाद प्राप्त किया (१, ३६$^{१०.११.१७}$)। युद्ध में अग्नि ने कण्व, तथा तथा साथ ही साथ, अत्रि, त्रसदस्यु, और अन्य लोगों की सहायता की (१०, ५०^{५})। अग्नि को कण्वों का प्रधान और मित्र कहा गया है (१०, ११५^{५})। इन्द्र ने कण्व, त्रसदस्यु, तथा अन्य लोगों को स्वर्ण और पशु प्रदान किये (बाल० १^{१०}·२^{१०})। तुर्वश और यदु के साथ साथ कण्व को भी मरुतों ने सम्पत्ति प्रदान की (८, ७^{१८})। अश्विनों द्वारा कण्व की अनेक बार सहायता करने की चर्चा है (१, ४७^{५}·११२; ८, ५^{२५}·८^{२०})। जब अश्विनों ने उनकी सहायता की तब यह दृष्टिहीन थे (८, ५^{२३})। अश्विनों ने ही इन्हें दृष्टिदान दिया (१, ११८^{७})।

ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के अधिकांश सूक्तों के प्रणयन का श्रेय कण्व-परिवार को दिया गया है और कविगण यहाँ इन्हें 'कण्वों' के रूप में व्यक्त करते हैं। अतः एक परिवार के रूप में यह नाम ऐतिहासिक है। परन्तु जिस पूर्वज का नाम वास्तव[१] में इन पर स्थानान्तरित कर दिया गया था वह

ऋग्वेद में इनके समकालीन के रूप में कहीं भी नहीं आता। रौथ का विचार है कि अङ्गिरस्[२] की भाँति इनकी उत्पत्ति भी पौराणिक ही है, और बर्गेन यह विचार व्यक्त करते हैं कि अन्धे कण्व रात्रि के समय के सूर्य, अथवा अधिक सामान्य रूप से, गुप्त अग्नि अथवा सोम को ही व्यक्त करते हैं।[३]

'कण्व' पैतृक नाम के साथ सम्बोधित कण्व के एक वंशज 'मेध्यातिथि' (८, २[४०]) का ऋग्वेद में नौ बार, और कभी कभी पूर्वजों की गणना में कण्व के साथ भी उल्लेख मिलता है (१, ३६[१०.११.१७])। इस नाम का अर्थ 'जिसके पास एक यज्ञीय अतिथि (अर्थात् अग्नि) आया हो' प्रतीत होता है। प्रियमेध, जिनका नाम चार या पाँच बार और कण्व के साथ साथ ही आता है (८, ५[२५]) एक अतीत के व्यक्तित्व हैं, किन्तु इनके वंशज अक्सर अपने को बहुवचन 'प्रियमेधों' के रूप में व्यक्त करते हैं।[४]

[१]ऑल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१६-७ — [२]सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'कण्व' — [३]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४६५ — [४]ऑल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१७।

§ ५८. (क) कुत्स[१] :—इन्द्र की पुराकथा से सम्बद्ध इस योद्धावत् व्यक्ति का ऋग्वेद में लगभग चालीस बार उल्लेख है। यह नाम केवल एक बार ही बहुवचन में गायकों के एक ऐसे परिवार का द्योतक है जो इन्द्र को एक सूक्त सम्बोधित करते हैं (७, २५[५])। कुत्स को चार बार आर्जुनेय ('अर्जुन' का पुत्र) पैतृक नाम से सम्बोधित किया गया है (१, ११२[२३] इत्यादि)। इनके एक पुत्र का उल्लेख है जिसकी दासों के विरुद्ध युद्ध में इन्द्र ने सहायता की थी (१०, १०५[११])। कुत्स युवा और प्रदीप्त हैं (१, ६३[३])। एक ऐसे द्रष्टा हैं जिन्होंने एक गर्त में गिर जाने पर इन्द्र से सहायता की याचना की थी (१, १०६[६])। कुत्स भी उसी रथ पर रहते हैं जिस पर इन्द्र (४, १६[११]; ५, २९[९]) और इन्द्र इनकी सहायता करते हैं (५, ३१[८]; ८, १[११]) अथवा इन्हें अपना सारथी बनाते हैं (२, १९[६]; ६, २०[५])। कुत्स भी इन्द्र के समान हैं (४, १६[१०]) और अक्सर द्विवाचक यौगिक शब्द 'इन्द्राकुत्सा' के रूप में इनका इन्द्र के साथ ही स्तवन, तथा इस युग्म का अपने रथ पर आने के लिए आवाहन किया गया है (५, ३१[९])।

उस शत्रु का, जिसके विरुद्ध कुत्स को इन्द्र के साथ सम्बद्ध किया गया है, नाम शुष्ण है। इन्द्र ने कुत्स के लिये शुष्ण का वध किया (१, ६३[३].१२१[९]; ४, १६[१२]; ६, २६[३]), शुष्ण के विरुद्ध कुत्स की सहायता की (१, ५१[६]), शुष्ण को कुत्स के अधीन बनाया (७, १९[२]), अथवा कुत्स और देवों के साथ सम्बद्ध हो कर शुष्ण को पराजित किया (५, २९[९])। शुष्ण के विरुद्ध कुत्स के

साथ युद्ध करने के लिये (६, ३१[3]), अथवा कुत्स को शुष्ण का वध करने वाला बनाने के लिये (१, १७५[4]) इन्द्र का आवाहन किया गया है। यहाँ तक कि कुत्स के लिये इन्द्र, देवों (४, ३०[2-5]) अथवा गन्धर्वों (८, १[11]) के विरुद्ध भी युद्ध करते हैं। शुष्ण के साथ संघर्ष के परिणाम स्वरूप सूर्य का चक्र चुरा लिया गया (१, १७५[4]; ६, ३१[3])। शत्रुओं द्वारा दबाये जा रहे कुत्स के लिये इन्द्र ने सूर्य के चक्र को तोड़ दिया (४, ३०[4]), जब कि स्वयं कुत्स को उन्होंने एक दूसरा रथ प्रदान किया (५, २९[10])। सूर्य को अवरुद्ध कर देने का यह कौशल (तु० की० १, १२१[10]; १०, १३८[3]), मानव सुख के लिये सूर्य को प्राप्त करने की इन्द्र सम्बन्धी पुराकथा का, एक अर्ध-ऐतिहासिक युद्ध-घटना की स्मृतियों पर स्थानान्तरण प्रतीत होता है। यह कहा गया है कि सूर्य को विजित करने में इन्द्र ने अपने सारथी कुत्स के लिये विस्तृत स्थानों का निर्माण किया (६,२०[5])। दैत्यों का मर्दन करने तथा सूर्य के चक्र को अग्रसर करने के लिये कुत्स के साथ इन्द्र का आवाहन किया गया है (४, १६[12])। एक स्थल पर यह कथन है कि शुष्ण के अतिरिक्त अन्य शत्रुओं, जैसे तुग्र, स्मदिभ, और वेतसुओं, आदि को भी इन्द्र ने कुत्स के अधीन किया (१०, ४९[4])।

जिस कुत्स की इन्द्र सहायता, अथवा जिससे प्रेम, करते हैं (१, ३३[14]) कभी-कभी इन्द्र के शत्रु के रूप में भी आता है। इस प्रकार इन्द्र ने कुत्स आयु, और अतिथिग्व के योद्धाओं को मार गिराया (२, १४[7]); आयु, कुत्स और अतिथिग्व को यातना दी (वाल० ५[2]); इन तीनों को तूर्वयाण नामक एक युवक राजा के हाथ समर्पित कर दिया (१, ५३[10]), अथवा इसी राजा के लिये इन तीनों को विदीर्ण कर के पृथ्वी पर गिरा दिया (६, १८[13])। यह कुत्स के ऐतिहासिक चरित्र को व्यक्त करता प्रतीत होता है, क्योंकि वैदिक कवियों द्वारा प्रकाश के देवता को सदैव एक मित्र, तथा अन्धकार के दैत्य को सदैव एक शत्रु ही मान लेना सर्वथा स्वाभाविक है। परम्परा द्वारा भी ऋग्वेद के प्रथम और नवम् मण्डल के अनेक सूक्तों के प्रणयन का श्रेय अङ्गिरसों के परिवार के कुत्स नामक एक द्रष्टा को दिया गया है। फिर भी, बर्गेन, का विचार है कि कुत्स सर्वथा पौराणिक, और मूलतः अग्नि (अथवा सोम) का एक रूप था जो कभी-कभी सूर्य का प्रतिविधित्व करता हुआ प्रतीत होता है। नैघण्टुक (२, २०) में 'वज्र' के एक पर्याय के रूप में 'कुत्स' का उल्लेख है।

(ख) काव्य उशना :[2]—प्राचीन द्रष्टा 'उशना' का ऋग्वेद में ग्यारह बार उल्लेख है। इसे दो बार एक 'कवि' कहा गया है, और पाँच बार 'काव्य' उपाधि से विभूषित किया गया है। यह विशिष्टतः बुद्धिमान् हैं; क्योंकि रव करने वाली सोम-बुद्धि की उशना के साथ तुलना है (९, ९७[7]) और इसी बुद्धि के कारण

सोम का उशना के साथ समीकरण (९, ८७[3]) किया गया है। काव्य उशना ने यज्ञ के होतृ के रूप में अग्नि की स्थापना की (८, २३[17])। उसी सूक्त में, जिसमें यज्ञ के प्रवर्त्तक अथर्वन् द्वारा सूर्य के पथ के निर्माण का उल्लेख है, यह कहा गया है कि इन्होंने गायों को इधर ला दिया (१, ८३[5])। यह इन्द्र के एक अश्रित हैं (६, २०[11]), जिनके साथ इन्द्र ने आनन्द किया (१, ५१[11])। इन्द्र को, उशना, और साथ ही साथ, कुत्स तथा अन्य के साथ अपना समीकरण करते हुये व्यक्त किया गया है (४, २६[1])। जब कुत्स को साथ लेकर इन्द्र ने शुष्ण को पराजित किया तब यह भी इन्द्र के साथ सम्बद्ध थे (५, २९[9])। वृत्र का वध करने के लिये उशना ने इन्द्र के वज्र का भी निर्माण किया (१, १२१[12]; ५, ३४[2] तु० की० १, ५१[10])।

(ग) ऐतिहासिक अथवा अर्ध-ऐतिहासिक चरित्र वाले अनेक अन्य प्राचीन द्रष्टाओं का भी ऋग्वेद में उल्लेख है। इस प्रकार के लोगों के अन्तर्गत गोतम, विश्वामित्र, वामदेव, भारद्वाज, और वसिष्ठ[3] आते हैं, जिन्हें अथवा जिनके परिवारों को क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे, छठवें, और सातवें मण्डलों के प्रणयन का श्रेय दिया गया है। अगस्त्य भी ऐसे ही एक अन्य द्रष्टा हैं जिनका ऋग्वेद में अनेक बार उल्लेख है।[4] प्राचीन काल के न्यूनाधिक ऐतिहासिक योद्धाओं के अन्तर्गत सुदास्, पुरुकुत्स और इनके पुत्र त्रसदस्यु, तथा साथ ही साथ, दिवोदास अतिथिग्व, आदि राजा आते हैं[5]।

सम्भवतः दो या तीन अपवादों के अतिरिक्त प्रस्तुत अध्याय में वर्णित मनुष्यों अथवा विशिष्ट परिवारों के पूर्वजों में से सर्वाधिक पौराणिक व्यक्तित्व भी या तो प्राचीन काल के वास्तविक व्यक्ति प्रतीत होते हैं, अथवा वर्तमान मनुष्यों के प्रथम पूर्वजों का प्रतिनिधित्व करने के लिये उन्हें वस्तुतः अतीत में प्रक्षिप्त कर दिया गया है। ऐसे पूर्वजों पर आरोपित कृत्य अंशतः ऐतिहासिक स्मृतियाँ, अंशतः कारण-मीमांसात्मक पुराकथायें, और अंशतः काव्यात्मक सृजन हैं। देवों के साथ सम्बद्ध करके इन्हें अक्सर सूर्य को विजित करने जैसे ऐसे पुराकथाशास्त्रीय कार्यों में भाग लेने वाला बना दिया गया है जिन पर प्रकृति का विधान आधारित है। इन पुरोहितोपम पूर्वजों के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है उसके अधिकांश का उद्देश्य पौरोहित्य कला और शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करना है, और इसलिये अलौकिक आधार पर ही इनका विवरण दिया गया है। इस बात की सम्भावना नहीं है कि यह प्रकृति की शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, वरन् ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल पृथ्वी पर आ गये धुंधले से देवगण ही हैं।[6]

[1]कुन : इ० गौ० ५४ और बाद; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३३३-८, पेरी : ज० अ० ओ० सो० ११, १८१; पिशल : वेदिशे स्टूडियन १; २४ गेल्डनर :

वेदिशे स्टूडियन २, ३५. १६३ और बाद; त्सी० गे० ४२, २११; औ० वे० १५८-६०; ज० अ० ओ० सो० १८, ३१-३ — [2]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३३८-४१; स्पीगेल : डी० पी० २८१-७ — [3]तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० १, ५०-२; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २०३ और बाद; ऑर्टेल : ज० अ० ओ० सो० १८, ४७-८ — [4]तु० की०, त्सी० गे० ३४, ५८९- और बाद; ३९. ६५-८ — [5]औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, १९९-२४७; हॉ० इ० १११ — [6]तु० की० ग्रुप्पे : डी० मा० १, २३८ और बाद; औ० वे० २७३-४।

९—पशु और जड़ पदार्थ

§ ५९. *सामान्य विशेषतायें* :—वेदों के पुराकथाशास्त्रीय सृजनों में पशुओं का बहुत अंशो तक समावेश है। अपेक्षाकृत उस पुरातन काल से चले आ रहे अनेक ऐसे चिह्न अब भी वेदों में मिलते हैं, जिनके अन्तर्गत मनुष्य और पशु के बीच इतनी स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं थी (§ ६५) और देवों का पशु रूपों से युक्त होना भी सम्भव माना जाता था। स्वयं उच्चतर वैदिक देवों की प्रकृति मानवत्वारोपित होने के कारण वेदों के ऐसे अलौकिक प्राणी जिनका रूप पशुवत है, एक निम्नकोटि के अन्तर्गत आते हैं, और यह या तो पशु की उपयोगिता के आधार पर, जैसे गाय आदि के रूप में अर्ध-दिव्य, अथवा उसकी हानिकारक प्रकृति के आधार पर जैसे सर्प आदि के रूप में असुर हैं। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार मनुष्य ने अपने साथ अनेक उपयोगी पशुओं को सम्बद्ध कर लिया है, उसी प्रकार मानवत्वारोपित महान् देवगण भी स्वभावतः उसी प्रकार के एक दिव्य पशु-समाज से घिरे हुये हैं। अन्ततः, संस्कारों में वास्तविक पशुओं को देवों की पुराकथाशास्त्रीय धारणाओं के साथ सम्बद्ध किया गया है। यह सभी एक प्रकार से प्रतीकात्मक प्रतिनिधि मात्र हैं जिनका प्रयोजन उस समय ऐसे देवों को प्रभावित करने का माध्यम प्रदान करना है जिनके किसी पक्ष के साथ इनकी कोई समानता है। पूज्य-भूतवस्तु के प्रति अनुरक्ति का यह दृष्टिकोण सम्भवतः दृष्य पदार्थों के साथ देवों का समीकरण करने की अपेक्षाकृत अधिक पुरातन धारणा का ही विदर्ण-सा अवशेष है। फिर भी, वैदिक काल में इस प्रकार की पशु-पूजनानुरक्ति का जो स्थान है वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है, क्योंकि द्युलोक में रहने वाले और अदृष्य रूप से यज्ञ-स्थल पर आने वाले शक्तिशाली देवों से सम्बन्धित एक उच्चतर धारणा के साथ इस प्रकार पशुओं के रूप में देवों को व्यक्त करने की पद्धति की अनुकूलता और संगति नहीं रह जाती।

§ ६०. *अश्व*[1] :–(*क*) *दधिक्रा* :— देवों का रथ खींचनेवाले अलौकिक अश्वों के अतिरिक्त वैदिक पुराकथाशास्त्र में अनेक अन्य दिव्य अश्व भी आते हैं। इनमें से सर्वाधिक उल्लेखनीय 'दधिक्रा' हैं, जिनकी ऋग्वेद के चार, कदाचित

अर्वाचीन[२], सूक्तों में प्रख्याति है (४, ३८–४०; ७, ४४)। यहाँ इनके नाम का बारह बार उल्लेख है, और यह दस बार मिलनेवाले अपने ही विस्तारित नाम 'दधिक्रावन्' के साथ एकान्तरित भी हुआ है। यह नाम अन्य वैदिक ग्रन्थों में कदाचित ही कभी आता है। दधिक्रा के अश्व ही होनेकी इस सीमा तक विशिष्टता है कि नैघण्टुक (१, १४) में अश्व के एक पर्याय के रूप में यही शब्द दिया गया है। यह क्षिप्र (४, ३८[२.९].३९[१]) और रथों के अग्रभाग में चलने वाले प्रथम अश्व हैं (७, ४४[४])। यह रथों का पराभव करने वाले (रथतुर्) ऐसे अश्व हैं जो वायु के समान वेगवान हैं (४, ३८[३])। मनुष्यगण इनकी क्षिप्रता की प्रशंसा करते हैं; और जब यह निम्नगामी ढालों पर दौड़ते हैं तब प्रत्येक 'पूरु' भी इनकी स्तुति करते हैं (वही[९.३])। यह टेढ़े पथों को भी सरलता से पार करते हैं (४, ४०[४])। इन्हें पंख-युक्त माना गया है। यह पक्षी के समान हैं और इनके पंखों की एक पक्षी अथवा उड़ते हुये श्येन पक्षी के साथ तुलना की गई है (४, ४०[२.३])। इन्हें एक झपटते हुए श्येन पक्षी के समान और प्रत्यक्षतः श्येन पक्षी ही कहा गया है (४, ३८[५.२])। एक स्थल पर (४, ४०[५]) इन्हें प्रकाश में रहने वाले हंस, वायु में रहने वाले 'वसु', वेदी पर पुरोहित, और गृह के अतिथि, भी कहा गया है—यह सभी उपाधियाँ अग्नि के ही विविध रूपों के लिये प्रयुक्त हो चुकी हैं।

दधिक्रा एक योद्धा हैं जो दस्युओं को विदीर्ण करते हैं, और स्वयं एक विजेता हैं (४, ३८[१-३.७])। जब यह एक सहस्र लोगों के विरुद्ध युद्ध करते हैं तब इनके विरोधी आकाशीय गर्जन की भाँति इनसे भयभीत होते हैं; यह युद्ध में सम्पत्ति विजित करते हैं और प्रतिद्वन्दिताओं में शत्रुगण इनको देख कर चीत्कार करने लगते हैं (वही [८.५.४])। अपने को एक हार बना कर (क्रत्वान) यह धूल को उड़ाते हुये अपनी भौंहों से उसे बिखेरते हैं (वही [६.७])। यह सभी जातियों के हैं, पाँच जातियों को उसी प्रकार अपनी शक्ति से व्याप्त करते हैं जिस प्रकार जलों को अपने प्रकाश से सूर्य; यह एकत्र हुये पदार्थों का निरीक्षण भी करते हैं (वही [२.१०.४])। मित्र-वरुण ने उन्हें उसी प्रकार यह विजेता अश्व दिया जिस प्रकार पूरुओं को प्रकाशमान अग्नि (४, ३९[२] तु० की० ३८[१.२]); उन लोगों ने हमें मनुष्यों के लिये वरदान स्वरूप दधिक्रा नामक अश्व प्रदान किया (वही[५])।

दधिक्रावन् नामक अश्व की उस समय स्तुति की गई है जब उषस् के प्रकट होने के समय अग्नि प्रज्वलित होती है (४, ३९[३])। इनका उषस् के साथ आवाहन किया गया है (वही[१].४०[१])। उषस् से दधिक्रावन् की ही भाँति यज्ञ की ओर उन्मुख होने के लिये प्रार्थना की गई है (७, ४१[६])। नियमित रूप से उषस् के साथ, प्रायः इतनी ही बार अग्नि के साथ, इससे कुछ कम बार अश्विनों और सूर्य के साथ, तथा कभी-कभी कुछ अन्य देवों के साथ भी, इनका आवाहन

किया गया है (३, २०[१-५]; ७, ४४[१-४]; १०, १०१[१]); किन्तु दधिक्रा का पहले आवाहन किया गया है (७, ४४[१])।

अनिश्चित[३] होने के कारण व्युत्पत्तिजन्य अर्थ द्वारा दधिक्रा की मूल प्रकृति पर कुछ और अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। इस यौगिक शब्द का दूसरा भाग 'क्र' (बिखेरना) धातु का एक उपरूप हो सकता है। ऐसी दशा में सूर्योदय के समय प्रकट होने वाले तुषार के लाक्षणिक आशय में, रौथ और ग्रासमैन[४] के अनुसार, इस शब्द का 'दधि बिखेरना' अर्थ होगा। इन दोनों विद्वानों के विचार से एक अश्व के रूप में दधिक्रा, परिक्रमा करते हुये सूर्य मण्डल का प्रतिनिधित्व करता है। यह दृष्टिकोण इस तथ्य द्वारा पुष्ट होता है कि दधिक्रा को सर्वाधिक घनिष्ठ रूप से जिस देवी के साथ सम्बद्ध किया गया है वह उषस् है। साथ ही इससे भी, कि सूर्य की अक्सर एक अश्व अथवा पक्षी के रूप में कल्पना है (पृ० ५७) और कभी-कभी योद्धा-वत् भी माना गया है (वही)। इस वक्तव्य को, कि मित्र और वरुण ने दधिक्रा प्रदान किया था, इन्हीं देवों के नेत्र के रूप में सूर्य की धारणा के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। बर्गेन का विचार है कि दधिक्रा के नाम से विद्युत का आशय है, किन्तु यह (दधिक्रा) सामान्य रूप से अग्नि का ही, उनके सौर और विद्युत रूपों सहित, प्रतिनिधित्व करते हैं।[५] फिर भी, लुडविग[६], पिशल[७], ब्राड्के[८], और औल्डेनबर्ग[९] इस विचार से सहमत है कि दधिक्रा एक देव नहीं, वरन् दौड़ने अथवा आक्रमण करने वाला एक ऐसा वास्तविक अश्व था जिसे दिव्य आदर प्रदान कर दिया गया था।

यह पहले ही कहा जा चुका है (पृ० २७०) कि नाम, और सम्भवतः प्रकृति में भी दध्यञ्च, दधिक्रा के साथ संयुक्त है, क्योंकि उसे एक अश्व के सर वाला कहा गया है।

(ख) तार्क्ष्य :—दधिक्रा से बहुत कुछ सम्बद्ध ही तार्क्ष्य भी हैं जिनके नाम का ऋग्वेद में केवल दो बार (१, ८९[६]; १०, १७८[१]) उल्लेख है। तीन मन्त्रों का एक अर्वाचीन सूक्त (१०, १७८) इनकी प्रशस्ति में समर्पित किया गया है। यहाँ इनका एक देव-प्रेरित शक्तिशाली अश्व (वाजिन्), रथों का पराभव करने वाले (तु० की० ६, ४४[५]), क्षिप्र, और युद्ध की ओर द्रुतगति से अग्रसर होने वाले के रूप में वर्णन है। इन्द्र के एक उपहार के रूप में इनका आवाहन किया गया है। दधिक्रा के लिये व्यवहृत शब्दों में ही (४, ३८[१०]) इनके सम्बन्ध में भी यह कथन है कि इन्होंने उसी प्रकार पाँच जातियों को व्याप्त किया जिस प्रकार अपने प्रकाश से सूर्य जलों को व्याप्त करते हैं। मुख्यतः एक अश्व के रूप में ही इनकी धारणा का विकास हुआ था, ऐसा इनकी उपाधि 'अरिष्टनेमि' (जिसका चक्रधार ठीक हो) द्वारा व्यक्त होता है

(मन्त्र[२]; ३, ८९[६])। वाजसनेयि संहिता (१५, १८) में यह उपाधि 'तार्क्ष्य' और 'गरुड़' के साथ-साथ एक स्वतन्त्र नाम के रूप में मिलती है। नैघण्टुक (१, १४) में 'तार्क्ष्य' शब्द 'अश्व' के एक पर्याय के रूप में आता है। फिर भी, एकाध बाद के वैदिक ग्रन्थों में 'तार्क्ष्य' को एक पक्षी कहा गया है; और महाकाव्यों तथा बाद के साहित्य में इन्हें विष्णु के वाहन द्रुतगामी गरुड़ पक्षी के साथ समीकृत किया गया है। सम्पूर्णतया यही सम्भव प्रतीत होता है कि मूलत: तार्क्ष्य एक दिव्य अश्व के रूप में सूर्य का ही प्रतिनिधित्व करते थे[१०]। यह शब्द ऋग्वेद में एक बार (८, २२[७]) उल्लिखित 'त्रासदस्यव' पैतृक नाम से युक्त 'तृक्षि' नामक एक मनुष्य के नाम से व्युत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर फॉय का विश्वास है कि 'तार्क्ष्य' वास्तव में त्रसदस्यु के परिवार के 'तृक्षि' नामक व्यक्ति का दौड़ में प्रयुक्त होने वाला ('दधिक्रा' की भाँति) अश्व था।

(*ग*) *पैद्व*:—यह एक अन्य पौराणिक अश्व है जिसे अश्विनों द्वारा 'पेदु' के पास लाये जाने की चर्चा है (१, ११९[१०]; ७, ७१[५]), और इसी कारण इसे 'पैद्व' कहा गया है (१, ११६[६]; ९, ८८[४])। जैसा कि 'अघाश्व' (जिसके पास एक हीन कोटि का अश्व हो) के रूप में 'पेदु' के वर्णन से स्पष्ट है, अश्विनों द्वारा प्रदत्त इस उपहार का उद्देश्य एक हीन कोटि के अश्व के स्थान पर श्रेष्ठ अश्व प्रदान करना था (१, ११६[६])। इस अश्व को अनेक बार 'श्वेत' कहा गया है (१, ११६[६] इत्यादि)। यह प्रशंसनीय हैं (१, ११९[१०]; १०, ३९[१०]; तु० की० ४, ३८[२]) और मनुष्यों द्वारा इनका (१, ११६[६]) 'भग' की ही भाँति (१०, ३९[१०]) आवाहन किया गया है। इनकी इन्द्र से तुलना की गई है (१, ११९[१०]) और 'अहिहन्' कहा गया है (१, ११७[९] ११८[९] तु० की० ९, ८८[४]), अन्यथा यह उपाधि केवल इन्द्र की ही विशेषता है। यह युद्ध में दुर्जेय और विजेता हैं, जो द्युलोक चाहते हैं (१, ११९[१०])। इस दशा में भी प्रमाण, जिस सीमा तक कुछ व्यक्त कर सकते हैं, पेदु के इस अश्व की सूर्य के प्रतीत के रूप में व्याख्या के ही अनुकूल प्रतीत होते हैं।[१२]

(*घ*) *एतश* :—'एतश' शब्द, जो कुछ बार 'क्षिप्र' अर्थ के विशेषण के रूप में भी आता है, ऋग्वेद में अधिकतर 'अश्व' का ही द्योतक है। बहुवचन में यह सूर्य के अश्वों को व्यक्त करता है (७, ६२[२]; १०, ३७[३]·४९[७])। प्राय: एक दर्जन बार यह एकवचन व्यक्तिवाचक नाम के रूप में भी आता है, जहाँ सदैव सूर्य के साथ सम्बद्ध और कभी-कभी सूर्य के चक्र के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। सवितृ ही वह अश्व (एतश) हैं जिन्होंने पार्थिव क्षेत्रों को नापा (५; ८१[३])। क्षिप्र देव एतश सूर्य के उज्ज्वल रूप को वहन करते हैं (७, ६६[१४])। रथ में

सन्नद्ध होकर एतश सूर्य के चक्र को गतिशील करते हैं (७, ६३[२]); यही सूर्य के चक्र को लाये (१, १२१[१३]; ५, ३१[११]); इन्द्र ने सूर्य के अश्व (एतश) को प्रेरित किया (८, १[११] तु० की० ९, ६३[८])। सूर्य के साथ दौड़ की एक प्रतिस्पर्धा में इन्द्र ने एतश की सहायता की थी (१, ६१[१५])। इस पौराणिक प्रतिस्पर्धा के यत्र-तत्र कुछ थोड़े से सन्दर्भों से ऐसा विदित होता है कि पहले पीछे रहते हुये एतश ने सूर्य के खोये हुये पहिये को लेकर उनके रथ में सन्नद्ध कर दिया था; इसके बाद वह आगे बढ़ गया, और अन्त में स्वयं सूर्य ही इसे अपने रथ के आगे रहने का आदर प्रदान करते हुये प्रतीत होते हैं।[१३] इस पुराकथा की संतोषजनक व्याख्या प्रस्तुत कर सकना असम्भव प्रतीत होता है। फिर भी, इस बात पर कदाचित ही सन्देह किया जा सकता है कि एतश सूर्य के अश्व का प्रतिनिधित्व करता है!

(ङ) *सूर्य और अग्नि के प्रतीक के रूप में अश्व*:—'अश्व' सूर्य का प्रतीक है, ऐसा ऋग्वेद के उस स्थल द्वारा व्यक्त होता है जहाँ उषस् को एक श्वेत अश्व का नायकत्व करते हुये बताया गया है (७, ७७[३])। यही तथ्य एक अन्य स्थल द्वारा भी प्रतिभासित होता है जहाँ यह कहा गया है कि यज्ञीय अश्व का देवों ने सूर्य से निर्माण किया।[१४] सोम-संस्कार के एक विशिष्ट रूप में भी अश्व सूर्य के प्रतीक के रूप में ही आता है।[१५]

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है (पृ० ५७) क्षिप्र और द्रुतगामी देव अग्नि को भी एक अश्व कहा गया है। संस्कारों में अश्व अग्नि का प्रतीक होता है। एक अश्व को इसीलिये खड़ा कर दिया जाता है जिससे वह उस स्थान को देखता रहे जहाँ घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न की जाती है। जब अग्नि पूर्व दिशा की ओर प्रकट होती है तब उसे आगे चलने वाले अश्व के पथ पर रख दिया जाता है।[१६] अग्नि-वेदिका के निर्माण-संस्कार में अश्व को इस मन्त्र द्वारा सम्बोधित किया जाता है: 'द्युलोक में तुम्हारा उच्चतम जन्म हुआ, अन्तरिक्ष तुम्हारी नाभि है, पृथ्वी पर तुम्हारा आवास है' (वाजसनेयि संहिता ११, १२)। इस प्रकार संस्कार की शतपथ ब्राह्मण में अश्व द्वारा अपने साथ ही अग्नि को भी ले आने के रूप में व्याख्या की गई है।[१७] यही ब्राह्मण जलों अथवा मेघों से उतरे हुए अश्व के रूप में विद्युत की चर्चा करता है (शतपथ ५, १, ४[५]; ७, ५, २[१८])।

[१]तु० की० गूबरनेटिस: ज़ूऑलाजिकल माइथौलोजी, १, २८३ और बाद — [२]आर्नाल्ड: कु० त्सी० ३४, ३०३ — [३]तु० की० वाकरनाँगल: अल्टिन्डिशे ग्रामेटिक पृ० १५ — [४]रौथ: सेन्टपीटर्स बर्ग कोश, व० स्था०; तु० की०, हॉ० इ० ५५, नोट ५ — [५]बर्गेन: ल० रि० वे० २, ४५६–७; तु० की० मैकडौनेल: ज० ए० सो० २५, ४७१; मैक्स मूलर: से० बु० ई० ४६, २८२ —

[6]लुड्विग : ऋग्वेद का अनुवाद, ४, ७९ — [7]पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, १२४; तु० की० हिलेब्रान्ट : वेदइन्टरप्रिटेशन १७–१८ — [8]त्सी० गे० ४२, ४४७–९.४६२–३ — [9]औ० वे० ७१; से० बु० ई० ४६, २८२ — [10]सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४९८; ग्रिफिथ : सामवेद का अनुवाद, ६९, नोट १ — [11]कु० त्सी० ३४, ३६६–७ — [12]तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० २, ५१-२ — [13]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३३०–३; औ० वे० १६९ और बाद; तु० की० पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, ४२; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन और बाद — [14]तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ६, ३५ इत्यादि; कुन : हे० गौ० ५२; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १३, २४७, नोट ३; डी नक्षत्र २, २७० — [15]औ० वे० ८१ — [16]औ० वे० ७७ — [17]औ० वे० ८०।

§ ६१. (क) [1]वृषभ :—ऋग्वेद में इन्द्र को नियमित रूप से एक वृषभ कहा गया है, और यही शब्द अपेक्षाकृत कुछ कम बार अग्नि, तथा कभी-कभी द्यौस् (पृ० ३९) आदि जैसे अन्य देवों के लिये भी व्यवहृत हुआ है। अथर्ववेद (९, ४[1]) में वृषभ को इन्द्र के रूप में सम्बोधित किया गया है, और शतपथ ब्राह्मण (२, ५, ३[18]) में वृषभ को इन्द्र का एक रूप[1] ही कहा गया है। अवेस्ता में वृषभ, इन्द्र के प्रतिरूप 'वेरेथ्रघ्न' के एक अवतार के रूप में आता है।[2] वैदिक यज्ञ-संस्कारों में से एक में वृषभ, रुद्रदेव का भी प्रतिनिधित्व करता है।[3] मुद्गल और मुद्गलानी की एक अस्पष्ट और अत्यन्त विवादास्पद पुराकथा में भी एक वृषभ आता है (ऋग्वेद १०, १०२)[4]।

(ख) गाय :—पृथ्वी पर अत्याधिक उपयोगिता के कारण, स्वभावतः गाय का वैदिक पुराकथाशास्त्रीय धारणाओं के अन्तर्गत बहुत अधिक महत्त्व हो गया है। उषस् की रश्मियों का ऐसी गायों के रूप में मूर्तीकरण किया गया है,[5] जो उसका रथ खींचती हैं (पृ० ८८)। वर्षा मेघ का उस गाय के रूप में मूर्तीकरण है, जो एक (विद्युत) बछड़े की माता है (पृ० १८, २१)। इस मेघरूपी गाय का मरुतों की माता पृश्नि[6] के रूप में वैयक्तीकरण कर दिया गया है (वाजसनेयि संहिता २, १६) और इसके दुग्ध (६, ४८[22]) तथा थन का अनेक बार उल्लेख है (तु० की०, पृ० २३८)। दानशील मेघ निःसन्देह ऐसी विविध रंगों वाली गायों के प्रतिरूप हैं जो श्रेष्ठों के द्युलोक में सभी प्रकार की कामनाओं को पूर्ण (कामदुघा) करते हैं (अथर्ववेद ४, ३४[8]), और वैदिकोत्तर काव्य[7] में इतनी अधिक बार उल्लिखित समृद्धि की गाय (कामदुह्) के पूर्वगामी हैं। दुग्ध और घृत की हवि के मूर्तीकरण, इडा में भी, गाय मान लेने की प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं (पृ० २३६)। अदिति को भी कभी-कभी एक गाय कहा गया है (पृ० २३२)। देवों को अक्सर 'गोजाताः' कहा गया है।

फिर भी, इन्द्र द्वारा पर्वत से गायों के मुक्ति की पुराकथा में ही गाय का सर्वाधिक व्यवहार हुआ है (पृ० १११, ११४)।

स्वयं पार्थिव गाय ने भी ऋग्वेद में पर्याप्त अंशों तक पवित्रता अर्जित कर ली है, क्योंकि इसे अदिति, और एक देवी के रूप में सम्बोधित किया गया है; साथ ही कविगण भी अपने श्रोताओं पर यही प्रभाव उत्पन्न करते हैं कि इसका वध नहीं करना चाहिये (८, १०[१५-१६] तु० की० वाजसनेयि संहिता ४, १९·२०)। गाय की अवध्यता इसकी 'अघ्न्या' (अवध्य) उपाधि द्वारा भी व्यक्त होती है जो ऋग्वेद में सोलह बार मिलती है (इसका पुल्लिङ्ग रूप 'अघ्न्य' केवल तीन बार ही आता है)। अथर्ववेद में एक पवित्र पशु के रूप में गाय की पूजा को पूर्ण मान्यता प्राप्त हो गई है (अथर्ववेद १९, ४५·)[८]। शतपथ ब्राह्मण (३, १, २[२१]) में यह कहा गया है कि जो गोमांस खाता है वह एक कुख्यात व्यक्ति के रूप में पुनः (पृथ्वी पर) जन्म लेता है; यद्यपि इस ग्रन्थ में अतिथियों के लिये गोमांस पकाने की स्वीकृति प्रदान की गई है (शतपथ ब्राह्मण ३, ४, १[२])[९]।

[१]तु० की० मैत्रायणी संहिता १, १०[१६]; तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ६, ७[४]; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र ८, ११[१९]—[२]औ० वे० ७६, नोट २—[३]औ० वे० ८२ —[४]ज० ए० १८९५ (६), ५१६-४८, में अन्तिम बार हेनरी ने (अपने पूर्वगामियों के सन्दर्भ में) इसकी विवेचना की है — [५]तु० की० ग्रुप्प : उ० पु० १, ७७ — [६]तु० की० रौथ : निरुक्त, प्रस्तावना १४५; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० — [७]कुन : हे० गौ० १८८ — [८]हॉ० इ० १५६; तु० की० ब्लूमफील्ड : से० बु० ई० ४२, ६५६ — [९]वे० बो० १८९४; पृ० ३६; हॉ० इ० १८९; तु० की विन्टर्नित्ज़ : हौ० ३३।

§ ६२. *अज, इत्यादि*:—ऋग्वेद में अज अथवा बकरे को विशेषतः पूषन् के साथ, उनका रथ खीचने वाले के रूप में, सम्बद्ध किया गया है (पृ० ६५)। इसी ग्रन्थ में दिव्य प्राणी के रूप में एक पैरवाला बकरा, 'अज एकपाद' भी आता है (§ २७)[१]। बाद के वैदिक साहित्य में बकरे को अनेक बार अग्नि के साथ सम्बद्ध अथवा समीकृत किया गया है।[२]

वैदिक पुराकथाशास्त्र में *गदहा*, मुख्यतः अश्विनों का रथ खींचने वाले के रूप में आता है (पृ० ९३)।[३]

ऋग्वेद में *कुत्ता*[४] भी, 'यम' के 'सारमेय' नामक दो शबल श्वानों के पुराकथाशास्त्रीय रूप में मिलता है। 'सारमेय' नाम ऐसा व्यक्त करता है कि यह कुत्ते, इन्द्र के दूत सरमा[५] (पृ० ११९) के वंशज[६] माने गये हैं। ऋग्वेद में,

यद्यपि, कोई ऐसी सामग्री नहीं है जिससे प्रत्यक्षः यह दिखाया जा सके कि यहाँ 'सरमा' को एक कुतिया माना गया है, तथापि बाद के वैदिक साहित्य में यह ऐसी ही है, और यास्क (निरुक्त ११, २५) ने भी इसका 'देवों की कुतिया' (देवशुनी) के रूप में ही वर्णन किया है।

वाराह ऋग्वेद में, रुद्र, मरुद्गण, और वृत्र[७] की एक लाक्षणिक उपाधि के रूप में आता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह पशु विधाता प्रजापति द्वारा, जलों से पृथ्वी को ऊपर उठाने के लिये धारण किये गये एक स्वरूप को व्यक्त करता हुआ सर्जनात्मक प्रकृति विकसित कर लेता है। इसका ही एक परवर्ती विकास विष्णु का वाराह अवतार है।[८]

बाद की संहिताओं में कछुये को 'जलों के अधिपति' के रूप में अर्ध-दिव्य स्थिति तक उठा दिया गया है (वाजसनेयि संहिता १३, ३१)[९], अथवा 'कश्यप' के रूप में यह अथर्ववेद में अक्सर प्रजापति के समान अथवा समकक्ष आता है जहाँ इसे 'स्वयम्भू' उपाधि से विभूषित किया गया है (अथर्ववेद १९, ५३[१०])[१०]। ऐतरेय ब्राह्मण (८, २१[१०]) में यह कहा गया है कि विश्वकर्मन् ने कश्यप को पृथ्वी का वचन दिया था। शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति का अपने को एक कछुये के रूप में परिवर्तित कर लेने का वर्णन है (७, ४, ३[५]) और इसी रूप में यह सभी प्राणियों की सृष्टि करते हैं (७, ५, १[१])[११]। विधाता द्वारा धारण किया गया यह रूप वैदिकोत्तर पुराककथाशास्त्र में विष्णु[१२] का कश्यप अवतार बन गया है। तैत्तिरीय संहिता (२, ६, ३[३]) में 'पुरोडाश' के कश्यप बन जाने का उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद के एक अर्वाचीन सूक्त (१०, ८६) में इन्द्र के प्रियपात्र के रूप में एक बन्दर आता है, जिसे उसकी दुष्टता के कारण इन्द्राणी ने बहिष्कृत कर दिया था, किन्तु अन्ततोगत्वा वह पुनः प्रियपात्र बन गया (§ २२, पृ० १२०)।

वर्षा द्वारा जागृत मेंढक ऋग्वेद ७, १०३, में गाय और दीर्घ जीवन प्रदान करने वाले के रूप में स्तुति की वस्तु बन गये हैं, और इन्हें अभिचारीय शक्तियों से युक्त माना गया प्रतीत होता है।[१३] फिर भी, मैक्स मूलर[१४] द्वारा ब्राह्मणों पर किये गये व्यंग के रूप में ही इस सूक्त की व्याख्या की गई है। बर्गेन ऋतुवैज्ञानिक घटना के रूप में मेंढकों की व्याख्या करते हैं।[१५]

[१]औ० वे० ७२; से० बु० ई० ४६, ६२; ब्लूमफील्ड : से० बु० ई० ४२, ६२५-६६४, जिनके विचार से 'अज एकपाद' निश्चित रूप से सूर्य है। आप यह धारणा तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १, २[८] ('अज एकपाद पूर्व में उदित हुये' इत्यादि) के आधार पर प्रस्तुत करते हैं; किन्तु यह स्थल ऋग्वेदिक धारणा की व्याख्या के लिये समीचीन नहीं है — [२]औ० वे० ७८ — [३]वे० बी० १८९४,

पृ० २६, नोट २ — [४]तु० की० हॉपकिन्स : डॉग इन दि ऋग्वेद, अ० फा०, १८९४, १५४–५, ब्लूमफील्ड : से० बु० ई० ४२, ५०० — [५]तु० की० ह्विटने : संस्कृत ग्रामर[२], १२२६ — [६]उ० पु० ११६६ b; वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक, § ५२ (क); के० ऋ०, नोट १४९; त्सी० गे० १३, ४९३–९; १४, ५८३ — [७]तु० की० कुन: हे० गौ० १७७–८; ए० १३६; इन्डिशे स्टूडियन १, २७२, नोट; हॉपकिन्स : ज० अ० ओ० सो० १७, ६७ — [८]मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, १७८–८९ — [९]तु० की० इण्डिशे स्टूडियन १३, २५० — [१०]तु० की० शर्मन : फिं० ह्वा० ८१ — [११]तु० की० इन्डिशे स्टूडियन १, १८७ — [१२]मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, १६६–७ — [१३]औ० वे० ७०; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १७, १७३–९ — [१४]मैक्स मूलर : हि० लि० ४९४–५; तु० की० मूइर : सं० टे० ५, ४३६ — [१५]बर्गेन : ल० रि० वे० १, २९२ इत्यादि; तु० की०, हॉ० इ० १००–१ ।

§ ६३. *पक्षी*:—वैदिक पुराकथाशास्त्र में पक्षियों को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। सोम की अक्सर एक पक्षी से तुलना की गई है अथवा उसे पक्षी[१] ही कहा गया है (पृ० २०२)। विशेषतः अग्नि को अक्सर पक्षी के समान अथवा प्रत्यक्षतः एक पक्षी[२], और एक बार आकाश का श्येन पक्षी (पृ० १६९)[३] कहा गया है। सूर्य की भी अक्सर एक पक्षी के रूप में कल्पना है (पृ० ५७)[४], और उसे दो बार 'गरुत्मत्'[५] नाम दिया गया है। यह तथ्य भी, कि वैदिकोत्तर पुराकथाशास्त्र में विष्णु का वाहन पक्षियों का प्रधान, 'गरुड' है, सम्भवतः इसी समान धारणा पर आधारित है (तु० की० पृ० ७२)। वेदों में पक्षी का प्रमुख व्यवहार 'श्येन' के रूप में ही किया गया है जो इन्द्र के लिये सोम ले जाता है, और जो विद्युत् का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रतीत होता है।[६] काठक में स्वयं इन्द्र श्येन पक्षी के रूप में सोम अथवा 'अमृत' ले जाते हैं। इसी प्रकार, अवेस्ता में वेरेथ्रघ्न ही पक्षियों में सबसे वेगवान 'वारघ्न' का रूप धारण करते हैं, और जर्मनिक पुराकथाशास्त्र में अपने को एक श्येन पक्षी के रूप में परिवर्तित करके 'ओधिन' नामक देवता 'मधु' के साथ देवों के क्षेत्र में उड़ जाते हैं (पृ० २१६)[७]।

अमांगलिक पक्षियों तथा पशुओं को भी अक्सर उन्हीं देवों के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है जिन्हें इनको भेजने वाला माना गया है। इस प्रकार ऋग्वेद में उलूक और कपोत को यम का दूत कहा गया है (§ ७७)[८]। सूत्रों में उलूक 'दुष्टात्माओं का दूत' है; जब कि रक्तरंजित हिंसक पशु और मांसभक्षक गृद्ध को यम[९] का दूत कहा गया है। ऋग्वेद में एक

मांगलिक पक्षी का एक बार शुभ संकेत देने के लिये आवाहन किया गया है (२, ४२[३])।

— [१]तु० की० बेनफे : सामवेद शब्दानुक्रमणिका, व० स्था० 'श्येन' — [२]ब्लूमफील्ड : फे० रौ० १५२ — [३]कुनः हे० गौ० २९ — [४]ग्राड्के : त्सी० गे० ४०, ३५६ — [५]व० ऋ०, हॉ० इ० ४५ — [६]ग्री० ११ · [७]औ० वे० ७५ — [८]तु० की०, त्सी० गे० २१, ३५२ और बाद; ब्लूमफील्ड : से० बु० ई० ४२, ४७४ — [९]औ० वे० ७६ ।

§ ६४. अनिष्टकर पशु :--ऐसे पशु सामान्यतया या तो दैत्यों के रूप में आते हैं अथवा आसुरी प्रवृत्तियाँ व्यक्त करते हैं । ऋग्वेद में कभी कभी दैत्यों को जातिवाचक शब्द 'मृग'[१] (जंगली पशु) द्वारा व्यक्त किया गया है (१, ८०[७]; ५, २९[४]· ३२[३])। एक दैत्य को, जिसका तीन बार उल्लेख है (२, ११[१८]; ८, ३२[२६]·६६[२]) 'और्णवाभ' कहा गया है; दूसरे को, जिसका केवल एक बार ही उल्लेख है (२, १४[५]) 'उरण' नाम दिया गया है ।

इस आशय में सर्वाधिक सामान्य रूप से व्यवहृत पशु रूप, सर्प[१] (अहि = अवेस्ता का 'अज़्हि')[२] है । साधारणतया यह उस वृत्र नामक दैत्य की एक अन्य उपाधि है जिसने सम्भवतः अपने भक्ष्य को सर्प की भाँति पाश में लपेट लेने वाले और मनुष्य के एक भयङ्कर शत्रु के रूप में अपना यह नाम (§ ६८) अर्जित कर लिया है ।[३] वृत्र-हन् इन्द्र के सम्बन्ध में, जो 'अहि-हन्' भी हैं, यह कहा गया है कि इन्होंने सर्प का वध किया (८, ८२[२] तु० की० ४, १७[१])। अहि और वृत्र का समीकरण उस स्थान पर और भी स्पष्ट है जहाँ यह शब्द परस्पर एकान्तरित होते हैं (१, ३२[१·२·७-१४]), और 'सर्पों में प्रथम-जन्मा' (वही [३·४]) से 'वृत्र सर्वाधिक वृत्र' के अतिरिक्त और किसी का भी अर्थ हो ही नहीं सकता (वही [५])। इसके विपरीत, अनेक स्थलों पर यह दोनों शब्द समानाधिकरण के रूप में भी आते हैं, जहाँ इनका अनुवाद 'सर्प वृत्र'[४] किया जा सकता है । जिस स्थल पर 'अहि' का अकेले ही उल्लेख है, वहाँ इस पर इन्द्र की विजय का परिणाम वही है जो वृत्र की दशा में होता है, अर्थात् इसका वध कर लेने पर इन्द्र जलों को प्रवाहित, सप्तधाराओं को मुक्त, अथवा गायों को विजित करते हैं ।[५] जलों का भी सर्प द्वारा आवृत्त होने के रूप में वर्णन है, और इस क्रिया को अन्य के अतिरिक्त 'वृ' धातु से व्यक्त किया गया है (२, १९[२])। इसी प्रकार सर्प द्वारा इनके ग्रसित (√ग्रस्) होने का भी उल्लेख है (४,१७[१]; १०, १११[९])। अहि विद्युत्, गर्जन, और झंझावात जैसे शस्त्रों से युक्त है (१, ३२[१३])। यह प्रतीत है, क्योंकि मरुतों को 'अहिभानवः' (अहि के समान प्रकाशमान) कहा गया है (१, १७२[१])। 'अहि' शब्द अग्नि के लिये भी

व्यवहृत हुआ है, और अग्नि का 'प्रवल वात की भाँति, क्रुद्ध सर्प' के रूप में वर्णन किया गया है (१, ७९)[१]। एक बार किसी शत्रु को, अहि को समर्पित कर देने के लिये सोम का स्तवन किया गया है (७, १०४[९])। इस शब्द के बहुवचन का अक्सर दैत्यों की एक ऐसी जाति को व्यक्त करने के लिये प्रयोग किया गया है (९, ८८[४]; १०, १३९[६]), जिसमें 'अहि' ने ही सर्वप्रथम जन्म लिया (१, ३२[३.४])।

फिर भी, 'अहि बुध्न्य' नामक एक दिव्य प्राणी के रूप में भी सर्प आता है (§ २६) जो अहि वृत्र के चरित्र के उपयोगी पक्ष का ही प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है।

बाद की संहिताओं में 'गन्धर्वों तथा अन्य के समकक्ष सर्प (सर्पाः) भी, एक अर्ध-दिव्य वर्ग के रूप में मिलते हैं। इन्हें पृथ्वी में, वायु में, और आकाश में रहने वाला कहा गया है (वाजसनेयि संहिता १३, ६; तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १ ७)। इनका अथर्ववेद[६] में भी अक्सर उल्लेख मिलता है, जहाँ एक सूक्त (११, ९) की कभी कभी कुछ सर्प देवताओं[७] का आवाहन करने वाले के रूप में व्याख्या की गई है। सूत्रों में पृथ्वी, वायु और आकाश के सर्पों के लिये हवि का विधान है (आश्वलायन गृह्य सूत्र २, १[९]; पारस्कर गृह्य सूत्र २, १४[९]); देवों, पौधों और दैत्यों इत्यादि के साथ साथ सर्पों को भी सन्तुष्ट किया गया है (शाङ्खायन गृह्य सूत्र ४, ९[३].१५[४]; आश्वलायन गृह्य सूत्र ३, ४[१]), और इनके लिये रक्त भी गिराया जाता है (आश्वलायन गृह्य सूत्र ४, ८[२७])। हानिकर प्रवृत्ति के कारण, इस प्रकार की उपासनाओं में सर्प की प्रकृति स्वभावतः ऐसी आसुरी मान ली गई है जिसका उपशमन आवश्यक है। इसी आशय में कभी कभी चींटियों को भी हवि समर्पित की गई है (कौशिक सूत्र ११६)।

[१]तु० की० बेनफे: गौ० ऐ० १८४७, पृ० १४८४; गूबरनेटिस: जूओलौजिकल माइथौलोजी २, ३९२-७; विन्टरनित्ज़: डर सर्पबलि, वियना, १८८८ — [२]स्पीगेल: डी० पी० २५७ — [३]तु० की० स्पीगेल: डी० पी० २६१ — [४]बर्गेन: ल० रि० वे० २, २०४ — [५]ग्रिफिथ: ऋग्वेद का अनुवाद, १, १३३, नोट १; मैकडौनेल: ज० ए० सो० २५, ४२९ — [६]वेबर: ज्योतिष, ९४; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'सर्प' — [७]तु० की० ब्लूमफील्ड: से० बु० ई० ४२, ६३१-४।

§ ६५. *प्रागैतिहासिक धारणाओं के चिह्न*:—इस पुरातन धारणा का, कि मनुष्य मूलतः पशु से भिन्न नहीं होता, कुछ चिह्न ऐसे प्राणियों के प्रति विश्वास के रूप में वर्तमान हैं जिनमें मानव और पशु दोनों के ही गुण देखे जा सकते हैं। इस प्रकार के प्राणियों का प्रतिनिधित्व करने वाले मानव-

व्याघ्र (वाजसनेयि संहिता ३०, ८; शतपथ ब्राह्मण १३, २, ४[२])[१], और वह 'नाग' हैं जिनकी आकृति तो मनुष्यों जैसी है किन्तु वास्तव में यह सर्प हैं, और इनका इस नाम से सर्वप्रथम सूत्रों[२] में उल्लेख मिलता है आश्वलायन गृह्य सूत्र ३, ४[१])। यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि बाद की सर्प-पूजा का वृत्र-सर्प की पुराकथा से भी कोई सम्बन्ध रहा हो सकता है। किन्तु इसका विकास कदाचित् आदिवासियों के प्रभाव के कारण ही हुआ होगा; क्योंकि एक ओर इसका ऋग्वेद में कोई चिह्न नहीं है, किन्तु दूसरी ओर यह अनार्य भारतीयों में व्यापक रूप से प्रचिलित थी। अतः इसमें सन्देह नहीं कि आर्यगण जब सर्पों के इस देश[३] में पहले-पहल फैले तब उन्होंने यहाँ के मूलनिवासियों में इस उपासना पद्धति को व्यापक रूप से प्रचिलित पाया होगा।

इसी प्रकार, ऋग्वेद में ऐसे विश्वासों के भी कुछ चिह्न देखे जा सकते हैं जिनके अनुसार मानव जाति, अथवा कोई कबीला, या परिवार विशेष, पशुओं अथवा पौधों से उद्गत हुआ माना गया है। 'कश्यप', जो एक द्रष्टा (९, ११४[२]) और पुरोहित-परिवार (ऐतरेय ब्राह्मण ७, २७) का नाम है, अथर्ववेद और बाद के वैदिक साहित्य में अक्सर एक ऐसी सर्जक शक्ति के रूप में आता है जिसे प्रजापति के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध अथवा समीकृत किया गया है। शतपथ ब्राह्मण (७, ५, १[५]) में प्रजापति एक 'कूर्म' (कछुआ) के रूप में आते हैं। यहाँ यह कहा गया है कि यतः 'कूर्म' भी 'कश्यप' के समान है, 'अतः मनुष्य गण ऐसा कहते हैं कि सभी प्राणी 'कश्यप' के पुत्र हैं।' ऋग्वेद (७, १८[६.१९]) जातियों के नाम के रूप में 'मत्स्यगण'[५] 'अज-गण', शिग्रु-गण' आदि का उल्लेख करता है। वैदिक पुरोहित-परिवारों के नाम के रूप में गोतम[६] (वृषभ), वत्स (बछड़े), शुनक (श्वान), कौशिक (उलूक) और माण्डुकेय[७] (माण्डूक-पुत्र) आदि भी आते हैं। 'संवर्ण' को, (ऋग्वेद ५, ५३[१०] में आने वाला एक नाम), जिससे कुरु-वंशीय राजा अपने को उद्गत मानते हैं, महाकाव्य में 'ऋक्ष' (रीछ)[८] कहा गया है। फिर भी, पशुओं का नाम ऋग्वेद में कहीं भी पशुओं से उद्गत मानवजाति के विश्वास का द्योतक भी है, इस पर हॉपकिन्स सन्देह व्यक्त करते हैं।[९]

[१]तु० की० विष्णु का नृसिंह अवतार — [२]तु० की० विन्टरनित्ज़ : सर्प-बलि, ४३ — [३]औ० वे० ६९, नोट २ — [४]सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था०; इन्डिशे स्टूडियन ३, ४५७-४५९ — [५]मनु, २, १९ में भी उल्लिखित — [६]'गो' का अतिशयवाचक — [७]देखिये सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० — [८]औ० वे० ८५-६; ब्लूमफील्ड ज० अ० ओ० सो० १५, १७८, नोट — [९]प्रो० सो० १८९४, पृ० cliv.

§ ६६. *दैवीकृत पार्थिव पदार्थ (क)* :—प्रकृति के अधिकतर अन्तरिक्षीय, तथा दिव्य, और स्वयं पृथ्वी के धरातल के अनेक प्राकृतिक तत्त्वों और कृत्रिम पदार्थों को भी देवता मान लिया गया है। जड़ पदार्थों की उपासना को प्रमुख रूप से मनुष्य के लिये उपयोगी[1] कहा गया है। इनकी धारणा विश्व-देवैक्यवादी नहीं है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ को एक एक पृथक् देवता माना गया है,[2] और इनके प्रति एक प्रकार की उपासनानुरक्ति की ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

नदियों का, जिनका देवियों के रूप में मूर्तीकरण किया गया है, पहले ही वर्णन किया जा चुका है (§ ३३)।

पर्वतों का, जिन्हें ऋग्वेद में दिव्य रूप से चेतन माना गया है, देवों के रूप में प्रायः बीस बार बहुवचन और चार बार एकवचन में आवाहन किया गया है। देवों के रूप में यह कभी भी अकेले नहीं, वरन् केवल अन्य प्राकृतिक पदार्थों, जैसे जल, पौधे, वृक्ष, आकाश और पृथ्वी (७, ३४²³ इत्यादि) अथवा सवितृ, इन्द्र, तथा अन्य देवों (६, ४९¹⁴ इत्यादि) के साथ ही आते हैं। पौरुषयुक्त, सुदृढ़, और समृद्धि में आनन्दित होलेवालों के रूप में इनका आवाहन किया गया है (३, ५४²⁰)। पर्वत का तीन बार इन्द्र के साथ युगल यौगिक शब्द 'इन्द्रापर्वता' के रूप में भी आवाहन मिलता है (१, १२२³. १३२⁶)। इस युग्म को महान रथ पर आरूढ़ कहा गया है, और यज्ञस्थल पर आने के लिये इनका आवाहन है (३, ५३¹)। यहाँ 'पर्वत' एक पर्वत-देवता प्रतीत होता है जिसे मानवत्वारोपण के आधार पर इन्द्र का साथी मान लिया गया है।

पौधों (ओषधि) का भी दिव्यों के रूप में मूर्तीकरण किया गया है। ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण और वृहत सूक्त (१०, ९७)[3] मुख्यतः इनकी उपशमन करने की शक्ति[4] की प्रशस्ति में समर्पित है। इन्हें मातायें और देवियाँ कहा गया है (मन्त्र ⁴) और सोम का, सभी वृक्ष जिसके अधीन हैं, इनके राजा के रूप में वर्णन किया गया है। एक अन्य ग्रन्थ में ओषधि के रूप में प्रयुक्त होने वाली किसी भी जड़ी को 'माता पृथ्वी पर उपजी देवी' कहा गया है (अथर्ववेद ६, १३६¹)। सन्तान प्राप्त करने के मार्ग में इनकी वाधा को दूर करने के लिये पौधों को पशु-बलि तक समर्पित की गई है (तैत्तिरीय संहिता २, १, ५³)।

बड़े वृक्षों को भी, जिन्हें 'वनस्पति' (वनों के अधिपति) कहा गया है, कुछ बार वहुवचन में (७, ३४²³; १०, ६४⁸) अथवा एकवचन में (१, ९०⁸; वाल० ६⁴) प्रमुखतः जलों और पर्वतों के साथ साथ ही देवों के रूप में सम्बोधित किया गया है। बाद के ग्रन्थों में बारातों[5] द्वारा पथ में मिलने वाले बड़े वृक्षों को समर्पित अर्चनाओं का उल्लेख मिलता है (तु० की० पृ० २५६-)।

अरण्यानी के नाम से एक देवी मानकर सम्पूर्ण वन का भी देवी के रूप में ऋग्वेद (१०, १४६) में आवाहन मिलता है। यहाँ इसे अकृषित खाद्य-सामग्री से परिपूर्ण और पशुओंकी माता कहा गया है। रात्रि की नीरवता में वनों में सुनाई पड़ने वाली विभिन्न प्रकार की विचित्र ध्वनियों का एक अद्भुत रूप में वर्णन किया गया है। फिर भी, पौधे, वृक्ष, और वन्य देवों का न केवल ऋग्वेद में ही वरन् अथर्ववेद और साधारण गृह्य-संस्कारों में भी अत्यन्त अमहत्त्वपूर्ण स्थान है, जब कि बौद्ध साहित्य में इन्हें किसी अन्य निम्नकोटि के देवता की अपेक्षा मानव जीवन के साथ कहीं अधिक घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध किया गया है।[६]

(ख) उपकरण:—मूर्तीकरण और उपासना के योग्य जड़ पदार्थों के एक अन्य समूह के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के यज्ञीय उपकरण आते हैं। इनके दैवीकरण को बार्थ[७] ने 'सांस्कारिक विश्वदेवैक्यवाद[८]' जैसी एक भ्रामक संज्ञा प्रदान की है। इन उपकरणों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'यज्ञ-यूप' है जिसका ऋग्वेद (३, ८) में 'वनस्पति' और 'स्वरु' नामों से दैवीकरण और आवाहन किया गया है। यहाँ वृक्ष का कुठार से भली प्रकार कटे होने के रूप में वर्णन है, जिसका पुरोहितों ने अनुलेप और अलंकरण कर दिया है, पुरोहितों द्वारा स्थापित यह यूप देवता होते हैं और देवों की भाँति अन्य देवों के पास जाते हैं (मन्त्र ६.९)। आप्री सूक्त[१०] के दसवें और ग्यारहवें मन्त्रों में यह वर्णन किया गया है कि यूप का तीन वार घृत से अनुलेप, और अग्नि के पास स्थापित करके हवि को देवों तक पहुँचाने के लिये इसका आवाहन किया जाता है। इन्हीं सूक्तों के अन्य मन्त्रों में यज्ञीय तृण (बर्हिस्) को दो बार (२, ३[४]; १०, ७०[४]) देवों के रूप में, और अनेक बार यज्ञस्थल के द्वारों की देवियों के रूप में (देवीर् द्वारः) सम्बोधित किया गया है।

दबाने वाले पत्थरों ('ग्रावन्', और 'अद्रि' भी) का तीन सूक्तों (१०, ७६. ९४.१७५) में दैवीकरण मिलता है। इन्हें अमर, अजर, और आकाश से भी शक्तिशाली कहा गया है।[११] दबाते समय यह अश्वों अथवा वृषभों के समान होते हैं और इनकी वाणी की ध्वनि आकाश तक पहुँचती है। दैत्यों और विनाश को भगाने, तथा सम्पत्ति और सन्तान प्रदान करने के लिये इनका आवाहन किया गया है। ऋग्वेद के दो मन्त्रों (१, २८[५.६]) मे तीव्र प्रतिध्वनि करने तथा इन्द्र के लिये सोम दबाने के लिये मूसल और उद्खल का भी आवाहन है।

यज्ञ के 'उच्छिष्ट' भाग को (अथर्ववेद ११, ७)[१२], और साथ ही साथ

विभिन्न यज्ञीय 'चमसों'[१३] को अथर्ववेद में सर्वोच्च प्रकार की दिव्य शक्तियों से युक्त बताया गया है।

'शुन' और 'सिरा' नामक कृषि-उपकरणों का भी ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में आवाहन मिलता है (४, ५७[५-८]), और संस्कारों में एक अपूप इनको भी समर्पित किया गया है (शतपथ ब्राह्मण २, ६, ३[५])।

अन्ततः, आयुधों का भी कभी कभी दैवीकरण किया गया है। ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण सूक्त (६, ७५) युद्ध के विभिन्न उपकरणों, जैसे कवच, धनुष, तरकस, और बाण, आदि की प्रशस्ति में समर्पित है। बाण को दिव्य मान कर सुरक्षा प्रदान करने और शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिये उसका स्तवन किया गया है (मन्त्र[११.१५.१६])। विपत्तियों, शत्रुओं, और दैत्यों को दूर भगाने के लिये 'दुन्दुभि' का आवाहन किया गया है (मन्त्र[२९-३१])। अथर्ववेद के भी एक सम्पूर्ण सूक्त (५, २०) में इसकी प्रख्यति मिलती है।[१४]

(ग) प्रतीक:—बाद के वैदिक साहित्य में अक्सर भौतिक पदार्थों का देवों के प्रतीकों के रूप में उल्लेख मिलता है। उस समय भी ऋग्वेद के एक स्थल पर इसी प्रकार की किसी वस्तु (सम्भवतः एक प्रतिमा) का ही आशय निहित प्रतीत होता है जब कवि यह कहता है कि, 'मेरे इस इन्द्र को कौन दस गायों के मूल्य पर क्रय करेगा? जब वह अपने शत्रुओं का वध कर ले तब मु इसे लौटा सकता है' (४, २४[१०]; तु० कौ० ८, १[५])। प्रतिमाओं[१५] का सन्द ब्राह्मणों और सूत्रों[१६] के बाद के अंशों में मिलना आरम्भ हो जाता है।

अनेक सांस्कारिक कृत्यों में सूर्य के आकार और गति दोनों का ही प्रतिविधित्व करते हुये प्रतीकों के रूप में पहियों का प्रयोग मिलता है। इस आशय में इसका वाजपेय यज्ञ[१७], यज्ञीय अग्नि स्थापित करने के समारोह, और अयन कालीन उत्सवों[१८] में प्रयोग किया गया है। फिर भी, वैदिकोत्तर पुराकथाशास्त्र में विष्णु के आयुधों में से एक 'चक्र'[१९] भी है।

सूर्यास्त के पश्चात् पानी खींचते समय सूर्य के प्रतीक के रूप में स्वर्ण अथवा उल्काओं का व्यवहार किया गया है (शतपथ ब्राह्मण ३, ९, २[९])। सूर्यास्त के पहले की अपेक्षा बाद में यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के समय भी स्वर्ण का यही प्रयोजन होता था (शतपथ ब्राह्मण १२, ४, ४[६]), और अग्निवेदिका का निर्माण करते समय उस पर एक सोने की तश्तरी सूर्य का प्रतिनिधित्व करने के लिये रख दी जाती थी (शतपथ ब्राह्मण ७, ४, १[१०])[२०]।

जैसा कि दो स्थलों पर 'शिश्नदेवाः' (जिनके देवता का रूप शिश्नवत् हो) शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है, प्राचीनतम वैदिक काल में भी परिचित शिश्न-

पूजा में प्रतीकों का ही आशय निहित रहा होगा। फिर भी, इस प्रकार की उपासना ऋग्वेद के धार्मिक विचारों के प्रतिकूल रही होगी; क्योंकि 'शिश्नदेवाः' को यज्ञ स्थल तक न आने देने के लिये इन्द्र का स्तवन किया गया है (७, २१[५]), और यह कहा गया है कि जब इन्द्र ने सौ द्वारों वाले दुर्ग की सम्पत्ति को विजित किया उसी समय 'शिश्नदेवाः' का वध भी किया (१०, ९९[३])। वैदिकोत्तर काल में शिश्न अथवा 'लिङ्ग' शिव की सर्जनात्मक शक्ति का प्रतीक बन गया और आज भी भारत में व्यापक रूप से इसकी पूजा होती है।[२१]

[१]हॉ० इ० १६६ — [२]हॉ० इ० १३५ — [३]तु० की० रौथ : त्सी० गे० २५, ६४५-८ — [४]तु० की० डर्मेस्टेटर : हा० ए० ७४-६ — [५]औ० वे० २५२; वृक्ष-पूजा भी सूत्रों में मिलती है, जहाँ यह कहा गया है कि नव-विवाहित दम्पति 'उदुम्बर' की पूजा और उसका आशीर्वाद प्राप्त करते हैं : विन्टरनित्ज़ : हॉ० १०१-२ — [६]औ० वे० २५९-६१ — [७]ग्री० ३७, नोट — [८]हॉ० इ० १३५ — [९]तु० की० औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, १२.=५३-५ — [१०]तु० की० रौथ : निरुक्त xxxvi, प्रस्तावना ११७-८.१२१-४; मैक्स मूलर : हि० लि० ४६३-६; वेबर : इन्डिशे स्टूडियन १०, ८९-९५; ग्रासमैन : ऋग्वेद का अनुवाद १, ६; के० ऋ० नोट १२६; औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६. ९-१० — [११]हि० वे० मा० १, १५१ — [१२]मूइर : सं० टे० ५, ३९६; शर्मन : फि० हा० ८७-८ — [१३]मूइर : सं० टे० ५, ३९८ — [१४]रौथ : फे० वौ० ९९ — [१५]वॉलेनसेन (त्सी० गे० ४७, ५८६) द्वारा ऋग्वेद १, १४५[४.५] में अग्नि की प्रतिमा का आशय मानने का तर्क अनिर्णायक है। — [१६]वेबर : ओमिना उन्ट पोर्टेन्टा ३३७.३६७ और बाद; इन्डिशे स्टूडियन ५, १४९; के० ऋ० नोट ७९ (क); हॉ० इ० २५१ — [१७]वेबर : वाजपेय २०.३४ और बाद — [१८]औ० वे० ८८, नोट ४ — [१९]ब्राड्के : त्सी० गे० ४०, ३५६ — [२०]औ० वे० २५५-६१. ८७-९२ — [२१]श्रोडर : वी० मौ० ९, २३७; हॉ० इ० १५०

६—असुर और राक्षस

§ ६७. (क) असुर :—उपकारी देवों के विपरीत ऐसे अनिष्टकर प्राणियों का भी एक वर्ग है जिन्हें विभिन्न नामों से पुकारा गया है। समस्त वैदिक साहित्य में 'असुर' उन दिव्य दैत्यों का नाम है जिन्हें उनके पौराणिक संघर्षों में नित्य ही देवों का शत्रु माना गया है, और जो वर्तमान मनुष्यों के शत्रुओं के रूप में अत्यन्त दुर्लभ रूप में ही आते हैं (उदाहरण के लिये अथर्ववेद ८, ६[५]; कौशिक सूत्र ८७[१६]; ८८[१])। फिर भी, इस वाद के आशय में यह शब्द कुछ बार ऋग्वेद में भी मिलता है और केवल चार बार बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। देवत्व-विहीन असुरों को छिन्न-भिन्न करने के लिये इन्द्र का

आवाहन किया गया है (८, ८५[१])। अन्यथा असुरों का केवल दसवें मण्डल में ही सामान्य रूप से देव जाति के शत्रुओं के रूप में उल्लेख मिलता है। यह कहा गया है कि देवों ने असुरों को विदीर्ण किया (१०, १५७[४])। अग्नि एक ऐसे सूक्त के निर्माण करने का वचन देते हैं जिससे देवगण असुरों का विनाश कर सकेंगे (१०, ५३[४])। यहाँ तक कहा गया है कि देवों ने भयंकर असुरों पर विश्वास किया (१०, १५१[3])। यह शब्द तीन बार एक असुर विशेष की उपाधि के रूप में भी आता है। भेड़ियों जैसे असुर के योद्धाओं का जलते हुये पत्थर से भेदन करने के लिये बृहस्पति का स्तवन किया गया है (२, ३०[४])। इन्द्र ने मायावी असुर पिप्रु के दुर्गों को ध्वस्त किया (१०, १३८[3]) और इन्द्र–विष्णु ने असुर वर्चिन् के १,००,००० योद्धाओं का वध किवा (७, ९९[५])। उस 'असुरहन्' उपाधि में भी दैत्यों का ही आशय है, जो तीन बार आती है और इन्द्र (६, २२[४]), अग्नि (७, १३[१]) और सूर्य (१०, १७०[२]) के लिये व्यवहृत हुई है। मुख्यतः इन्द्र और वृत्र के रूप में एक देवता और एक असुर के बीच युद्ध की अपेक्षाकृत प्राचीनतर ऋग्वेदिक धारणा बाद में क्रमशः देवों और असुरों के दो परस्पर विरोधी और संघर्षरत दलों के रूप में विकसित हो गई है। ब्राह्मणों में नियमित रूप से यही दृष्टिकोण मिलता है। इन ग्रन्थों में वर्णित इन संघर्षों की एक नवीन और बहुधा उपलब्ध विशेषता यह है कि आरम्भ में देवगण ही पराजित होते हैं और बाद में भी केवल कौशल पूर्वक ही विजय प्राप्त कर पाते हैं। इस धारणा का सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण देवों के लिये वामन रूप में विष्णु का तीन पाद-प्रक्षेप है।[१]

ब्राह्मणों में असुरों को अन्धकार से सम्बद्ध किया गया है (शतपथ ब्राह्मण २, ४, २[५])[२]। दिन को देवों का, तथा रात्रि को असुरों का बताया गया है (तैत्तिरीय संहिता १, ५, ९[२])। फिर भी, दैत्यों को नित्य ही प्रजापति की सन्तान, और मूलतः देवों के समान तथा समकक्ष कहा गया है।[3] सम्भवतः इसी कारण अनिष्टकर प्राणियों को कभी-कभी 'देव' शब्द के अन्तर्गत मान लिया गया है (तैत्तिरीय संहिता ३, ५, ४[१]; अथर्ववेद ३. १५[५])।

अथर्ववेद और उसके बाद 'असुर' का अर्थ केवल 'दानव' ही है। किन्तु ऋग्वेद में यह प्रमुख रूप से देवों की उपाधि है, और अवेस्ता में 'अहुर' (=असुर) सर्वोच्च देवता का नाम है। इस प्रकार इस शब्द से स्पष्टः देवों का ही आशय होना अधिक प्राचीन है। इस आशय के 'दानव' अर्थ में संक्रमित हो जाने की व्याख्या का प्रयास उन राष्ट्रीय संघर्षों के आधार पर किया गया है जिनके परिणामस्वरूप असुरों अथवा वैदिकेतर जातियों के देवों को ही वैदिक भारतीयों के लिये दानव बन जाना मान लिया गया है।[४] फिर भी इस दृष्टिकोण

को पुष्ट करने के लिये कोई परम्परागत प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यह व्याख्या सम्भवतः स्वयं वेदों[५] में ही मिलने वाले निम्नलिखित विकास पर आधारित है। 'देव' की तुलना में 'असुर' के अपने पुराने आशय में एक विशिष्ट प्रकार के अर्थ की छाया निहित है। इसका विशेषरूप से वरुण अथवा 'मित्र-वरुण'[६] के लिये व्यवहार किया गया है, जिनकी 'माया' अथवा 'गुह्य-शक्ति' का विशिष्टतः वर्णन है।[७] किन्तु 'अभिचार' के आशय में 'माया' शब्द का आक्रामक प्राणियों[८] के लिये भी प्रयोग किया गया है और यह 'असुर' के अपकारक आशय के साथ घनिष्ठरूप से सम्बद्ध है (१०, १२४[५]·१३८[३])[९]। इसलिये वैदिक कवियों की दृष्टि में 'असुर' का अर्थ निश्चित रूप से 'गुह्य शक्तियों वाला'[१०] ही रहा होगा, और इस रूप में इसका प्रमुखतः आक्रामक व्यक्तियों के लिये ही व्यवहार किया गया होगा। ऋग्वेद के एक सूक्त (१०, १२४) में इसके दोनों ही आशय निहित प्रतीत होते हैं।[११] ऋग्वेदिक काल के अन्तिम चरण में देवों के लिये इस शब्द का व्यवहार बहुत कुछ अप्रचिलित हो चला था। उच्चतर आसुरी शक्ति के वाचक के रूप में एक सामान्य शब्द की आवश्यकता ने सम्भवतः इस प्रवृत्ति में सहायता की होगी, तथा एक सर्वसामान्य औपक्रमिक व्युत्पत्ति[१२] ने ऐसी शक्ति के लिये इस नकारात्मक शब्द (असुर) को मान्यता प्रदान करते हुये 'सुर' (देवता) (जो सर्वप्रथम उपनिषदों में ही मिलता है)[१३] शब्द का अविष्कार कर दिया होगा।

(ख) *पणि-जन* :—पणि-जन ऊपरी वायुमण्डल में स्थित ऐसे दैत्य-समूह हैं जो प्रमुखतः इन्द्र के (६, २०[४]·३९[२]) और गौणतः इन्द्र के मित्रों, जैसे सोम, अग्नि, बृहस्पति तथा अङ्गिरसों के भी शत्रु हैं। प्रायः उन सभी स्थलों पर जहाँ इन दैत्यों का नाम आता है, इनकी गायों का या तो स्पष्ट रूप से उल्लेख है (१०, १०८; ६, ३९[२]) अथवा पणियों की सम्पत्ति के रूप में लाक्षणिक आशय निहित है (२, २४[६]; ९, १११[२])। उस समय भी इसी प्रकार का एक सन्दर्भ है जब यह कहा गया है कि अग्नि ने पणियों के द्वार खोले (७, ९[२])। एक स्थल पर यह वर्णन है कि देवों ने पणियों द्वारा गाय में छिपाये हुये घृत को प्राप्त किया (४, ५८[४])। पणि-जन अपेक्षाकृत शक्तिशाली हैं क्योंकि ऐसा कहा गया है कि पराक्रम में यह लोग इन्द्र से आगे नहीं हैं (७, ५६[१०]) और मित्र-वरुण की महानता को भी नहीं प्राप्त कर सके हैं (१, १५१[९])।

यह नाम ऋग्वेद में प्रायः सोलह बार बहुवचन में मिलता है, किन्तु चार बार समस्त समूह के प्रतिनिधि के रूप में एकवचन में भी आया है। इस प्रकार ऐसा वर्णन किया गया है कि इन्द्र अथवा अग्नि-सोम ने पणि के पास से गायों का छीना (१०, ६७[६]; १, ९३[४]), अथवा भेड़िये रूपी अतिभक्षक पणि को मार

गिराने के लिये सोम का आवाहन किया गया है (६, ५१^{१४})। 'पणि' शब्द अपेक्षाकृत अधिक वार आता है; और यहाँ बहुवचन की अपेक्षा एकवचन रूप में 'कृपण' के आशय में, विशेषतः यज्ञीय उपहारों के सन्दर्भ में ही मिलता है। इसी आशय से ऐसे 'दैत्यों' का वह पुराकथाशास्त्रीय अर्थ विकसित हो गया जो प्रमुखतः आकाश की सम्पत्ति को छिपा लेते हैं।[३४]

(ग) *'दास'* अथवा इसी का समानार्थी 'दस्यु' शब्द भी अन्तरिक्षीय दैत्यों का वाचक है। इसका इतिहास वृत्र (§ ६८) के इतिहास के सर्वथा प्रतिकूल है। गौरवर्ण आर्य विजेताओं के विपरीत, प्रमुखतः श्यामवर्ण भारतीय आदिवासियों के द्योतक यह लोग ऋग्वेद में अक्सर पुराकथाशास्त्रीय स्तर तक उठ गये हैं क्योंकि यहाँ ऐतिहासिकता और पौराणिकता के बीच की विभाजन रेखा स्पष्ट नहीं है। मुख्यतः अलग-अलग 'दासों' की दशा में ऐसी ही स्थिति है, क्योंकि इनमें से कुछ के नाम (उदाहरण के लिये 'शुष्ण') एक पुराकथाशास्त्रीय व्याख्या सम्भव बना देते हैं, यद्यपि कुछ अन्य, (जैसे 'इलीविश')[३५] अनार्य लोगों के ही नाम प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार एकवचन (२, १२^{१०}, इत्यादि) और (अधिकतर दस्यु का) बहुवचन (१, १०१^{५}) दोनों ही ऐसे शत्रुओं के द्योतक हैं जिनका इन्द्र ने विनाश किया। कभी-कभी यह नाम वृत्र के साथ-साथ भी आते हैं (६, २३^{२}, इत्यादि)। इसलिये इन्द्र को अक्सर 'दस्युहन्' भी कहा गया है (१, १००^{१२}, इत्यादि) और इनके साथ संघर्ष को अनेक बार 'दस्युहत्या' की संज्ञा दी गई है (१, ५१$^{५.६}$, इत्यादि)। अपने अलग-अलग आश्रितों के लिये इन्द्र ने '३०,००० दासों को निद्रित (वध) किया (४, ३०^{२१}), एक सहस्र दस्युओं को बाँधा (२, १३^{९}), अथवा दध्यञ्च् (और) मातरिश्वन् के लिये दस्युओं से गाय के गोष्ठों को विजित किया (१०, ४८^{२})। जब इन्द्र की सहायता का आर्य और दास दोनों ही प्रकार के शत्रुओं के विरुद्ध आवाहन किया गया है (१०, ३८^{३}, इत्यादि), अथवा जब यह कहा गया है कि इन्द्र आर्यों और दस्युओं अथवा दासों में विभेद करते हैं (१, ५१^{८}; १०, ८६^{१९}), तब निश्चित रूप से पार्थिव शत्रुओं का ही आशय है। उस समय भी सम्भवतः यही आशय है जब आर्यों के पक्ष में इन्द्र दस्युओं से युद्ध करते हैं (६, १८^{३}·२५^{२}))। आर्यों द्वारा बहुधा ही दासों के बन्दी बना लिये जाने के कारण 'दास' शब्द का ऋग्वेद में दो या तीन बार (७, ८६^{७}; वाल० ८^{३}) साधारण नौकर या दास के अर्थ में प्रयोग हुआ है, और वैदिकोत्तर संस्कृत में यही इसका साधारण अर्थ है।[३६] दूसरी ओर, द्युलोक तक पहुँचने का प्रयास करने वाले जिन दस्युओं को

इन्द्र ने नीचे गिरा दिया (८, १४[१४] तु० की० २, १२[१२]), जिस दस्यु को उन्होंने द्युलोक से भस्म कर दिया (१, ३३[७]), जिसे उन्होंने जन्म के समय विनष्ट कर दिया (१, ५१[६]; ८, ६६[१-३]), अथवा जिसके विरुद्ध उन्होंने देवों की सहायता की (१०, ५४[१]), निश्चित रूप से दैत्य ही रहे होंगे। उस समय भी यही स्थिति है जब तुषार और अन्धकार को छिन्न-भिन्न करते हुये इन्द्र, दस्यु पर आक्रमण करते हैं (१०, ७३[५]), अथवा जब दस्युओं का वध करने के पश्चात् सूर्य और जलों को विजित करते हैं (१, १००[१८]), अथवा जब देवों और दस्युओं का परस्पर शत्रु होने के रूप में विभेद किया गया है (३, २९[९])। जलों के पति उस 'दास' से भी एक दैत्य का ही अर्थ है (१, ३२[११]; ५, ३०[५]; ८, ८५[१८]) जिस पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् इन्द्र ने जलों को एक श्रेष्ठ पति की पत्नियाँ बहाया (१०, ४३[८]) । वृत्र की ही भाँति (१, १७४[२]) दासों के जिन सात दुर्गों को 'शारदीय' कहा गया है (६, २०[१०] तु० की० ७, १०३[९]) वह निश्चित रूप से अन्तरिक्षीय हैं। यतः 'दास' और 'दस्यु' शब्दों का प्रमुखतः 'अनिष्टकर शत्रु' और इसके बाद ही 'दैत्य'[१७] अर्थ है, अतः इनका 'असुर' अनुवाद करना ही अधिक सुविधाजनक है। अक्सर इन्द्र के साथ युद्ध करने वाले पृथक्-पृथक् असुरों के नामों के साथ जातिवाचक शब्द के रूप में इन शब्दों को संयुक्त कर दिया गया है। इस रूप में इनका 'नमुचि (५, ३०[७-९], इत्यादि), शम्बर (४, ३०[१४], इत्यादि) शुष्ण (७, १९[२], इत्यादि), कभी-कभी पिप्रु (८, ३२[२]; १०, १३८[३]), चुमुरि और धुनि (२, १५[९]; ७, १९[४]), वर्चिन् (४, ३०[१५]; ६, ४७[२१]), नववास्त्व (१०, ४९[६.७]), एक बार त्वाष्ट्र (२, ११[१९]) और अहि नामक सर्प (२, ११[२]) के साथ प्रयोग किया गया है।

[१]मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, १६८–७७ — [२]हॉ० इ० १८७ — [३]मूइर : सं० टे० ४, ५२·५८–६२; ५, १५·१८·२२·२३० — [४]तु० की० ब्राड्के : द्या० १०९ — [५]अन्यथा ब्राड्के : द्या० १०६ — [६]उ० पु० १२० और बाद — [७]बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ८१ तु० की० गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन १, १४२ — [८]बर्गेन : ल० रि० वे० ३, ८० — [९]अथर्ववेद : तु० की०, औ० वे० १६४, नोट २ — [१०]औ० वे० १६२–५; तु० की० हर्मेस्टेटर : औ० आ० २६९ और बाद। ब्राड्के : द्या० ८६, के अनुसार भारतीय-ईरानी अर्थ 'अधिपति' था — [११]औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ३९, ७०, नोट २ — [१२]व्युत्पत्ति के लिये तु० की० ब्राड्के : त्सी० गे० ४०, ३४७–९ — [१३]तु० की० सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० स्था० 'सुर' — [१४]तु० की०, औ० वे० १४५; अन्यथा हि० वे० मा० १, ८३ और बाद — [१५]तु० की० वाकरनॉगल : अल्टिन्डिशे ग्रामेटिक १, xxii — [१६]तु० की० मूलतः 'दास' = बन्दी 'दास' — [१७]तु० की० मैक्स मूलर : हि० लि० १०९–१३।

§ ६८. (क) वृत्र[१] :—अन्तरिक्षीय दैत्यों में निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सर्वाधिक उल्लिखित 'वृत्र' का नाम है, जो इन्द्र का प्रमुख शत्रु है और जिसके संबंध में यह कहा गया है कि इसी के वध के लिए इन्द्र जन्म लेते और विकसित होते हैं (८, ७८[५]; १०, ५५)। इसीलिये इन्द्र की सबसे विशिष्ट उपाधि 'वृत्रहन्' है। इस यौगिक शब्द (वृत्र-हन्) का ऋग्वेद के दो स्थलों पर विश्लेषण किया गया है : 'वृत्र-हन् वृत्र का वध करें' (८, ७८[३]), और 'वृत्र-हन् वृत्रों का वध करो' (८, १७[९])। वृत्र के साथ इन्द्र के संघर्ष को अक्सर 'वृत्रहत्या' और कभी कभी 'वृंत्रतूर्य द्वारा भी व्यक्त किया गया है।

यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि वृत्र का रूप सर्पवत् माना जाता था (§ ६४)। अतः इसके हाथ और पैर नहीं हैं (१, ३२[७]; ३, ३०[८])[२]। इसके सर का, जिसका इन्द्र भेदन करते हैं (१, ५२[१०]; ८, ६[६]·६५[२]), और इसके जबड़ों का, जिस पर इन्द्र वज्र-प्रहार करते हैं (१, ५२[६]), अनेक बार उल्लेख है। कभी कभी इसकी फुंफकार का भी उल्लेख मिलता है (८, ८५[७]; ५, २९[४] तु० की० १, ५२[१०]·६१[१०]; ६, १७[१०])। गर्जन (१, ८०[१२]), और साथ ही साथ, विद्युत्, तुषार तथा झंझावात (१, ३२[१३]) इसके अधीन हैं।

वृत्र की माता को 'दानु' कहा गया है और उसकी एक गाय से तुलना है (१, ३२[९])। यह नाम उस 'दानु' शब्द के ही समान प्रतीत होता है जिसका अनेक वार क्लीव लिङ्ग में 'जलधारा' के अर्थ में, और एक वार स्त्रीलिङ्ग में आकाश के जलों[३] के द्योतक के रूप में प्रयोग किया गया है। इसी शब्द का पुल्लिङ्ग रूप, प्रत्यक्षत मातृनामोद्गत आशय में, वृत्र अथवा सर्प के लिये (२, १२[११]; ४, ३७[७]), और साथ ही साथ, 'और्णवाभ' नामक दैत्य (२, ११[१८]) और इन्द्र द्वारा वधित सात दैत्यों (१०, १२०[६]) के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। नियमित मातृनामोद्गत शब्द 'दानव' का पाँच बार इन्द्र द्वारा युद्ध किये गये और निश्चित रूप से वृत्र के ही समतुल्य एक दैत्य के द्योतक के रूप में प्रयोग किया गया है। इन्द्र ने कुटिल 'दानव' की माया को छिन्न भिन्न कर दिया (२, ११[१०]); उन्होंने फुंफकारते हुये 'दानव' पर (५, २९[४]), जलों की मुक्ति के लिये (५, ३२[१]) प्रहार किया।

वृत्र का एक गुप्त (निण्य) आवास है, जहाँ से इन्द्र द्वारा मुक्त होनेपर जल-धारायें दैत्य को वहाती हुई बाहर निकल पड़ती हैं (१, ३२[१०])। वृत्र जलाशायी हो गया (१, १२१[११]; २, ११[१९]) अथवा अन्तरिक्ष स्थान (रजस्) के तल (बुध्न) में जलों से आवृत्त हो गया (१, ५२[६])। जब इन्द्र ने जलों को प्रवाहित किया उस समय वृत्र का एक शिखर (शानु) पर पड़े होने के रूप में (१, ८०[५]) अथवा इन्द्र द्वारा बहुत ऊँचाई से नीचे गिरा दिये जाने के रूप में (८, ३[१९])

वर्णन है। वृत्र के पास अनेक दुर्ग है जिन्हें उसका वध करते समय इन्द्र ध्वस्त करते हैं (१०, ८९[७])। दुर्गों की संख्या निन्यान्वे बताई गई है (७, १९[५]; ८, ८२[२])।

इसमें सन्देह नहीं कि 'वृ-त्र' शब्द 'वृ' (आवृत्त करना, ढँकना[४]) धातु से व्युत्पन्न हुआ है। कविगण अनेक बार यह कहते हैं कि वृत्र ने जलों को आवृत्त कर लिया (अपो वरिवांसम् : २, १४[२], इत्यादि; अथवा 'वृत्वी' : १, ५२[६]), अथवा यह नदियों को आवृत्त करने वाला (नदी-वृत्) है (१, ५२[२]; ८, १२[२६] तु० की० ६, ३०[४]; ७, २१[३]); यह सभी स्पष्ट रूप से इस नाम की व्युत्पत्ति के ही आधार पर प्रयुक्त हुये हैं। वहाँ भी प्रत्यक्षतः व्युत्पत्ति का ही चमत्कार पूर्ण प्रयोग किया गया है जब यह कथन है कि 'इन्द्र ने आवृत्त करने वाले को आवृत्त किया' (वृत्रम् अवृणोत् : ३, ४३[३]), अथवा यह कि 'वृत्र का वध करते में इन्द्र ने जलों के कारागार को अनावृत्त (अप वृ) किया (१, ३२[११].५१[४])। एक अन्य स्थल पर भी इसी प्रकार की धारणा निहित है जहाँ (मेघ) पर्वत का वृत्र के उदर में स्थित होने का वर्णन है और इन्द्र गुफाओं (वव्रि) में छिपाई जल-धाराओं को प्रहार कर मुक्त करते हैं (तु० की० १, ५७[६])। वृत्र को जलधाराओं को परिसीमित (परिधि) करने वाला भी कहा गया है (३, ३३[६])।

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि इन्द्र की 'वृत्रहन्' उपाधि को वैदिक कवि केवल 'वृत्र का वध करने वाले' के ही नहीं वरन् 'वृत्रों' का वध करने वाले के अर्थ में भी ग्रहण करते थे। यह बहुवचन, जो ऋग्वेद में अक्सर ही और सदैव क्लीव लिङ्ग में आता है, कभी-कभी ऐसे स्थलों पर भी मिलता है जहाँ विभिन्न दैत्यों के अलग-अलग नामों का उल्लेख है (७, १९[४]; १०, ४९[६])। वृत्र के साथ इन्द्र के युद्ध का परिणाम ऐसे जलों (७, ३४[३]) अथवा नदियों (८, ८५[१८]) की विमुक्ति है जो आवृत्त (वृतान्) हैं (४, ४२[७])। जन्म लेते ही इन्द्र का प्रमुख कार्य इन वृत्रों तथा दैत्यों का वध करना (६, २९[६]) और उनका विनाश करना है जिनके लिये ही देवों ने उनको उत्पन्न किया (३, ४९[१])। दध्यञ्च् की अस्थियों से इन्होंने उसी प्रकार ९९ वृत्रों का वध किया (१, ८४[१३]) जिस प्रकार वह वृत्र के ९९ दुर्गों को ध्वस्त करते हैं (७, १९[५])।

'वृत्रों' शब्द से, जो नियमित रूप से 'हन्' क्रिया के साथ प्रयुक्त हुआ है, पार्थिव शत्रुओं का भी आशय है, जैसा कि उस समय स्पष्ट होता है जब 'आर्यों' और 'दासों' का वृत्रों के ही दो प्रकारों के रूप में विभेद किया गया है (६, २२[१०], ३३[३])। इसके अतिरिक्त भी अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ यह मानव शत्रुओं के लिये भी उतना ही उपयुक्त रूप से व्यवहृत हो सकता है जितना दिव्य दैत्यों के लिये। फिर भी, इसका अर्थ केवल एक ऐसा 'विरोधी' मात्र नहीं जो 'अमित्र'

अथवा 'शत्रु' हो (तु० की० ६, ७३[२]), वरन् इसका प्रयोग बहुत कुछ उसी प्रकार वृत्र दैत्य को ध्यान में रख कर किया गया है जिस प्रकार अंग्रेजी शब्द Fiend अपने वर्तमान प्रयोग में जब मनुष्य के लिये व्यवहृत होता है तब उसमें 'दैत्यत्व' का भी कुछ आभास रहता है। अर्थों का यह सम्बन्ध उस 'दास' अथवा 'दस्यु' के सर्वथा विपरीत है जिसका पहले 'शत्रु' और बाद में 'दैत्य' अर्थ विकसित हुआ। वृत्र का बहुवचन प्रयोग, और जैसा कि यह सदैव क्लीव लिङ्ग में ही है, व्यक्तिवाचक नाम 'वृत्र' से निष्पन्न नहीं वरन् इसके 'अवरोध' और बाद में 'अवरोधक' जैसे एक अपेक्षाकृत प्राचीनतर अर्थ पर ही आधारित है। अवेस्ता में 'वेरेथ्र' का अर्थ 'विजय' है, जो वस्तुतः 'अवरोध' का ही एक परवर्ती विकास है।

ब्राह्मणों में 'वृत्र' की उस चन्द्रमा के रूप में व्याख्या की गई है जिसे सूर्य के साथ समीकृत इन्द्र, अमावस्या के दिन पूर्णतया निगल जाते हैं।[५]

(ख) वल[६] :—यह शब्द ऋग्वेद में लगभग चौबीस बार आता है, और नियमित रूप से इन्द्र अथवा उनके मित्र, मुख्यतः अङ्गिरसादि (ऽ ५४) द्वारा गायों को मुक्त करने से सम्बद्ध है। 'वल' गायों का रक्षक है, जिसका इन्द्र ने उस समय वध किया जब उसने 'पणि' की गायें चुरा लिया (१०, ६७[६] तु० की० ६, ३९[२])। जब बृहस्पति इसकी गायें ले गये तब यह उन गायों के लिये विलाप करता है (१०, ६८[१०] तु० की० ६७[६])। इसके पास ऐसे दुर्ग हैं जिनको इन्द्र बलपूर्वक खोलते हैं (६, १८[५]); ऐसी प्राचीरें हैं जिनका इन्द्र भेदन करते हैं (१, ५२[५]); और एक ऐसा अविच्छिन्न शिखर है जिसे इन्द्र विच्छिन्न करते हैं (६, ३९[२])। तैत्तिरीय संहिता (२, १, ५[१]) यह उल्लेख करता है कि 'वल' की गुफा (बिल) को खोल कर इन्द्र ने श्रेष्ठ पशुओं को बाहर कर दिया और सहस्रों अन्य पशु भी उनके पीछे बाहर निकल आये। फिर भी, अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ अब भी इस शब्द (वल) का मूर्तीकरण नहीं हो सका है। ऐसी दशाओं में इसका प्रमुख अर्थ 'गुफा' अथवा 'आवरण' ('वृ', अर्थात् 'ढकना', धातु से) प्रतीत होता है। इस प्रकार यह शब्द दो बार (१, ६२[४]; ४, ५०[५]) अन्तरिक्षीय जलों के आगार, 'फलिग' (८, ३२[२५]) के साथ समानाधिकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, और नैघण्टुक (१, १०) में 'मेघ' का पर्यायवाची है। यह कहा गया है कि इन्द्र ने गायों को बाहर किया और 'वल' को खोला (अप वर्) (२, १४[३]) अथवा गायों से परिपूर्ण (१, ११[५]) 'वल' के द्वार को खोला (अपावर्) तु० की० १·३२[११])। पञ्चविंश ब्राह्मण (१९, ७) यह उल्लेख करता है कि असुरों की गुफा (वल) पत्थर से बन्द होती थी। अनेक स्थलों पर इस शब्द

का प्राथमिक अथवा मूर्तीकृत, कोई भी अर्थ हो सकता है (१, ५२[५]; २, १२[३]; ३, ३४[१०])। सम्भवतः इन्द्र की 'वलंरुज' (वल को तोड़ने वाला) उपाधि में, जो कि 'वृत्रखाद' (वृत्र का विनाश करने वाला) के ठीक बाद आती है, उक्त बाद का ही अर्थ निहित है (३, ४५[२] तु० की० २, १२[३])। मूर्तीकृत अर्थ का संक्रमण उस स्थल (३, ३०[१०]) पर व्यक्त होता है जहाँ 'वल' को गायों का ऐसा 'व्रज' (गोष्ठ) कहा गया है जो इन्द्र के प्रहार के पूर्व ही भयभीत होकर खुल जाता है (वि आर)। इसका मूर्तीकरण पूर्णतया विकसित नहीं हो सका है ऐसा इन्द्र तथा अन्य देवों की उस समय की क्रिया द्वारा प्रकट होता है जब वह 'वल' पर आक्रमण करते हैं। इस आक्रमण को सामान्यतया 'भिद्' (भेदन करना) से, और कभी कभी 'दृ' (विस्फारित करना) अथवा 'रुज्' (तोड़ना) से ही व्यक्त किया गया है, न कि (जैसा वृत्र की दशा में है) 'हन' (वध करना) से। 'भिद्' क्रिया और 'वल' के नाम का सम्बन्ध उस 'वलभिद्' शब्द में सुरक्षित है, जो वैदिकोत्तर साहित्य में इन्द्र की एक बहु-प्रयुक्त उपाधि है। यहाँ 'वल' को 'वृत्र' का भ्राता माना गया है और यह दोनों ही इन्द्र की यौगिक उपाधि 'वल-वृत्र-हन्' (वल और वृत्र का वध करने वाला) में परस्पर सम्बद्ध किये गये हैं।

(ग) इन्द्र के शत्रु, अन्य दैत्य :—'अर्बुद' का ऋग्वेद में सात बार और सदैव इन्द्र के एक विपक्षी के रूप में उल्लेख है। यह एक मायावी प्राणी है जिसकी गायों को इन्द्र ने बाहर कर दिया (८, ३[१८])। इन्द्र ने इसे नीचे गिरा दिया (२, ११[२०]·१४[४] तु० की० ८, ३२[३]), इसे अपने पैरों से कुचला (१, ५१[६]), हिम से इसका वेधन किया (८, ३२[२]) अथवा इसके सर को काट दिया (१०, ६७[१२])। दो या तीन बार इसका 'वृत्र' (अथवा 'अहि') के साथ उल्लेख है और चरित्र की दृष्टि से भी यह वृत्र का सजातीय ही प्रतीत होता है।[७]

त्वष्टृ का पुत्र, विश्वरूप[८] एक तीन सर वाला दैत्य है जिसका त्रित और इन्द्र दोनों ने ही वध किया और उसकी गायें छीन लिया (१०, ८[८-९])। दो या तीन स्थलों पर इसका केवल इसके पैतृक नाम 'त्वाष्ट्र' द्वारा ही उल्लेख है, जहाँ अश्वों और पशुओं से सम्पन्न होने के रूप में इसका वर्णन है (१०, ७६[३]) और यह कहा गया है कि इन्द्र ने इसे त्रित को समर्पित कर दिया था (२, ११[१९]; तु० की०, पृ० ११४, १२६)। तैत्तिरीय संहिता (२, ५, १[१]) में यद्यपि विश्वरूप, असुरों के साथ सम्बद्ध है, तथापि इसे देवों[९] का एक पुरोहित कहा गया है। महाभारत (५, २२ और बाद) में त्वष्टृ के तीन-सर वाले इस पुत्र, और वृत्र को समान माना गया है।

स्वर्भानु[१०] एक 'आसुर' प्राणी है, जिसका ऋग्वेद के एक ही सूक्त (५, ४०)

में चार बार उल्लेख है। इसका अन्धकार से सूर्य को आच्छादित कर देने वाले के रूप में वर्णन किया गया है। इन्द्र ने इसके अभिचारों के विरुद्ध युद्ध किया और 'अत्रि' ने सूर्य के नेत्र को पुनः आकाश में स्थित कर दिया। ब्राह्मणों में भी इस असुर का अनेक बार उल्लेख मिलता है। वैदिकोत्तर पुराकथाशास्त्र में 'राहु' ने इसका स्थान ग्रहण कर लिया है। इस नाम का अर्थ 'सूर्य के प्रकाश को रोकनेवाला' प्रतीत होता है।

उरण नामक एक दैत्य का इन्द्र ने वध किया, और इस दैत्य का केवल एक बार (२, १४[४]) ही निन्यान्वे हाथों से युक्त होने के रूप में वर्णन किया गया है।

[१]श्रील : हर्क्यूल, ८७-९९; बर्गेन : ल० रि० वे० २, १९६-२०८; औ० वे० १३५-६; त्सी० गे० ५०, ६६५ और बाद — [२]तु० की० 'अग्नि' ४, १[११] में, और तु० की० २, २[३] भी — [३]बर्गेन : ल० रि० वे० २, २२०; तु० की० औल्डेनबर्ग : से० बु० ई० ४६, १२३; सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश और व० ऋ० के अनुसार यह शब्द परस्पर भिन्न हैं — [४]पेरी : ज० अ० ओ० सो० ११, १३५; वृत्र = 'अवरोधक', हॉ० इ० ९४ — [५]हॉ० इ० १९७ — [६]सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश; व० ऋ०, व० स्था० 'वल'; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३१९-२१ — [७]तु० की०, व० ऋ० — [८]तु० की०, हि० वे० मा० १, ५१९·५३१-२ — [९]तु० की० मूइर : सं० टे० ५, २३०-२— [१०]इन्डिशे स्टूडियन ३, १६४ और बाद; लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ५, ५०८; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ४६८; औल्डेनबर्ग : त्सी० गे० ४२, २१३; हि० वे० मा० १, ४६४·५०७, नोट १; लैनमैन : फे० रौ० १८७-९०।

§ ६९. *प्रमुख दास*–(*क*) *शुष्ण*[१] :—यह दानव, जिसका ऋग्वेद में लगभग चालीस बार उल्लेख है, उस 'कुत्स' का प्रमुख शत्रु है जिसके लिये, अथवा जिसके साथ, इन्द्र इसका वध करते हैं (४, १६[१२]; ५, २९[९], इत्यादि)। यह सींघ-युक्त है (१, ३३[१२])। इसके पास अण्डे (८, ४०[१०-११]), अथवा 'अण्डज' (तु० की० १०, २२[११]) हैं, जिससे ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह एक सर्प है। फुफकार मारने वाले के रूप में (श्वसन : १, ५४[५])[२] इसका वर्णन मिलता है। छह बार इसे एक 'अशुष' कहा गया है, अन्यथा यह शब्द केवल एक बार ही अग्नि के लिए व्यवहृत हुआ है और सम्भवतः इसका अर्थ 'भक्षण करने वाला'[3] है। इसके पास अनेक सुदृढ़ दुर्ग (१, ५१[११]), अथवा एक दुर्ग (४, ३०[१३]) है, जो गतिशील है (८, १[२८])। शुष्ण के दुर्गों को ध्वस्त करके इन्द्र जलों को मुक्त करते हैं (१, ५१[११])। शुष्ण को विदीर्ण करके जलों के आगार (क्रिवि) को प्राप्त (वाल० ३[८]),

अथवा शुष्ण की सन्तान का विनाश करके दिव्य (स्वर्वती:) जलों को विजित (८, ४०[१०]) करते हैं। शुष्ण का नाम चार बार 'कुयव' (फसल अथवा अन्न को खराब करने वाला) उपाधि के साथ-साथ आता है। उन दो स्थलों पर भी जहाँ इस शब्द का एक दानव के नाम के रूप में स्वतन्त्र रूप से उल्लेख है (१, १०३[८]·१०४[३]) इसी शुष्ण का आशय हो सकता है। इन्द्र और शुष्ण के बीच संघर्ष का परिणाम सदैव जलों की ही मुक्ति नहीं वरन् गायों की प्राप्ति (८, ८५[१७]) अथवा सूर्य का विजित होना (तु० की० § ५८) भी है। इन्द्र के साथ अपने संघर्ष में शुष्ण अन्धकार में चलता है, 'कुहरे का पुत्र (मिहो नपात्), और एक दानव है (५, ३२[४])। काठक (इन्डिशे स्टूडियन ३, ४६६) में शुष्ण को एक ऐसा दानव कहा गया है जिसके पास 'अमृत' है।

उपरोक्त प्रमाण इस बात का संकेत करते प्रतीत होते हैं कि किसी मानव शत्रु का द्योतक होने की अपेक्षा शुष्ण आरम्भ से ही एक अवर्षण का दानव है। यह अर्थ इस शब्द के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ द्वारा भी पुष्ट होता है जिसके अनुसार यह या तो 'फूत्कार करने वाला' (श्वस्, शुष्, धातु से) अथवा 'तप्त करने वाला' ('शुष्', सुखाना, से) होगा।

(ख) *शम्बर*:— ऋग्वेद में इस दानव का नाम लगभग बीस बार आता है। इसका अन्य दानवों, मुख्यत: शुष्ण, पिप्रु (१, १०१[२]·१०३[८]; २, १९[६], ६, १८[८]) और वर्चिन् के साथ उल्लेख है। असुर और शम्बर के विरुद्ध युद्ध में मरुतों ने इन्द्र को शक्तिशाली बनाया था (३, ४७[४])। जब इन्द्र ने शम्बर को काट कर गिराया तब उन्होंने आकाश के शिखर को प्रकम्पित कर दिया (१, ५४[४])। इन्द्र ने शम्बर को पर्वतों पर रहते हुए पाया (२, १२[११]) और उसे पर्वत से मार कर नीचे गिरा दिया (१, १३०[७]; ६, २६[५])। उन्होंने कुलितर के पुत्र, शम्बर नामक दास को महान् पर्वत से मारकर नीचे गिरा दिया (४, ३०[१४])। उन्होंने उच्च स्थान पर रहने वाले उस शम्बर को नीचे गिराया जो अपने को एक छोटा देवता ही समझने लगा था (७, १८[२०])। अक्सर यह कहा गया है कि शम्बर के पास दुर्ग भी हैं जिनकी संख्या नब्बे (१, १३०[७]), साधारणतया निन्यान्बे (२, १९[६], इत्यादि), अथवा एक सौ (२, १४[६], इत्यादि) है। 'शम्बर' शब्द एक बार क्लीव बहुवचन में भी आता है जहाँ इसका अर्थ 'शम्बर के दुर्ग'[४] है। यह कहा गया है कि बृहस्पति ने इन दुर्गों को तोड़ कर सम्पत्ति से परिपूर्ण पर्वत में प्रवेश किया (२, २४[२])। अतिथिग्व के लिये (१, ५१[६]), किन्तु सामान्यतया दिवोदास के लिये (२, १९[६], इत्यादि), और कभी-कभी दोनों के लिये ही (१, १३०[७]; ४, २६[३]), इन्द्र ने

शम्बर को पराजित किया। यह दोनों ही बहुधा एक ही व्यक्ति के नाम माने जाते हैं[५] किन्तु बर्गेन[६] इस पर सन्देह व्यक्त करते हैं।

(ग) पिप्रु :–यह दानव, जिसका ऋग्वेद में ग्यारह बार उल्लेख है, इन्द्र के आश्रित (वाल० १[१०]) उस 'रिजिश्वन्' का शत्रु है जो इन्द्र को सोम समर्पित करता है और जिसकी इन्द्र युद्ध में सहायता करते हैं (५, २९[११]; १०, ९९[११])। रिजिश्वन् के साथ (१, १०१[१.२]; १०, १३८[३]) अथवा उसके लिए (४, १६[१३]; ६, २०[७]) इन्द्र ने पिप्रु को विजित किया। यह दानव, जो 'अहि' जैसा ही मायावी है, अनेक ऐसे दुर्गों का स्वामी है जिन्हें इन्द्र छिन्न-भिन्न करते हैं (१, ५१[५]; ६, २०[७])। जब इन्द्र ने पिप्रु नामक दास तथा कुछ अन्य दुर्लभ रूप से वर्णित प्राणियों का वध किया, तब उन्होंने जलों को गिराया (८, ३२[२])। जब सूर्य ने आकाश के मध्य में अपना रथ खोल दिया तब उस समय आर्यों ने दास के एक प्रतिद्वन्दी की कल्पना की, यथा: रिजिश्वन् के साथ इन्द्र ने पिप्रु नामक मायावी असुर के दुर्गों को ध्वस्त किया (१०, १३८[3])। उन्होंने इस वन्य पशु (मृगय) पिप्रु को रिजिश्वन् को समर्पित, ५०,००० काले लोगों को पराजित, और दुर्गों को विदीर्ण किया (४, १६[१३])। रिजिश्वन् के साथ उन्होंने उन लोगों को भगा दिया जिनकी सन्तानें काली थीं[७] (१, १०१[१])। पिप्रु को एक असुर और दास दोनों ही कहा गया होने के कारण इस बात पर सन्देह है कि यह ऐतिहासिकता पर आधारित किसी मानव शत्रु का ही प्रतिनिधित्व करता है, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है[८], अथवा किसी और का। 'पर्' अथवा 'पृ' धातु की एक आम्रेडित निष्पत्ति (√सन् से 'सि-ष्ण्-उ' की भाँति)[९] के रूप में यह नाम एक संस्कृत शब्द जैसा ही प्रतीत होता है जिसका सम्भवत: 'प्रतिरोधी', या 'विपक्षी' अर्थ है।

(घ) नमुचि[१०] का ऋग्वेद में नौ बार, तथा इसके अतिरिक्त अनेक बार वाजसनेयि संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, और शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में इसके लिये एक बार 'आसुर' उपाधि का प्रयोग किया गया है (१०, १३१[४]; शतपथ ब्राह्मण १२, ७, १[१०]), और बाद के वैदिक ग्रन्थों में तो इसे असुर ही कहा गया है। ऋग्वेद के तीन या चार स्थलों (५, ३०[७.८] इत्यादि) पर इसे 'दास', और एक बार 'मायावी' (१, ५३[७]) भी कहा गया है। नमुचि को पराजित करते समय दो बार इन्द्र के साथ आश्रित के रूप में 'नमी साप्य' को सम्बद्ध किया गया है (१, ५३[७]; ६, २०[६])। अनेक अन्य दानवों की भाँति नमुचि का भी इन्द्र ने वध किया (२, १४[५]; ७, १९[५]), अथवा उसे मार कर नीचे गिरा दिया (१, ५३[७])। वृत्र और नमुचि का वध करते हुये इन्द्र ने सौ दुर्गों को ध्वस्त किया (७, १९[५])। इस संघर्ष की

विशिष्टता यह है कि इसमें इन्द्र, नमुचि के सर को मरोड़ कर (√मथ्) पृथक् कर देते हैं (५, ३०[८]; ६, २०[६]), जब कि वृत्र के सर का वह भेदन (√भिद्) करते हैं। अन्यथा ऐसा भी वर्णन मिलता है कि इन्द्र ने नमुचि के सर को ऐंठ (वर्तय) दिया (५, ३०[७]), अथवा जल के फेन से उसे मरोड़ कर पृथक् कर दिया (८, १४[१३])। ब्राह्मण ग्रन्थ भी इन्द्र द्वारा जलों के फेन से ही नमुचि के सर को पृथक् करने का उल्लेख करते हैं।[११] ऋग्वेद के एक स्थल (१०, १३१[४-५]) पर यह वर्णन मिलता है कि इन्द्र ने दानव नमुचि के पास बैठ कर सोम पान किया और उस समय अश्विनों ने उनकी सहायता, तथा सरस्वती ने उनका उपचार किया (तु० की० पृ० १६५)।

पाणिनि (६, ३, ७५) के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति 'न–मुचि' (जो जाने न दे) है। ऐसी दशा में इसका अर्थ 'जलों को रोक रखनेवाला असुर' होगा।[१२]

(ङ) *धुनि और चुमुरि*[१३]:—चुमुरि नामक दास का दस बार, और केवल एक अपवाद के अतिरिक्त सदैव 'धुनि' के साथ ही उल्लेख है। इन दोनों के सम्बन्ध की घनिष्ठता इनके नामों के एक बार द्विवाचक यौगिक रूप में साथ-साथ आने से भी व्यक्त होती है (६, २०[१३]। इन्द्र ने इन्हें निद्रित किया (२, १५[९]; ६, २०[१३]; ७, १९[४]), और अकेले चुमुरि के सम्बन्ध में भी यही कथन है (६, २६[६])। शम्बर, पिप्रु, शुष्ण सहित इनका भी इन्द्र ने मर्दन किया, जिससे इनके दुर्ग ध्वस्त हो गये (६, १८[८])। इन्हें इन्द्र ने उस दभीति के लिये निद्रित अथवा विजित किया (१०, ११३[९]) जिसने इन्द्र के लिये सोम दबाया था (६, २०[१३]) और जिसे उसकी आस्था के कारण देवों ने पुरस्कृत किया था (६, २६[६])। इन दोनों दैत्यों के उल्लेख के बिना ही यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने दभीति के लिये ३०,००० दासों को निद्रित किया (४, ३०[२१]) और उन्हीं के लिये बिना रस्सी के ही दस्युओं को बाँध दिया (२, १३[९])।

'धुनि' का अर्थ 'गर्जन करने वाला' (√ध्वन्) है, और यह शब्द ऋग्वेद में अक्सर ही एक विशेषण के रूप में 'गर्जन करते हुये' के आशय में प्रयुक्त हुआ है। इसके विपरीत चुमुरि बहुत कुछ एक गृहीत आदिम नाम प्रतीत होता है।[१४]

(च) *वर्चिन्, तथा अन्य असुर*:- वर्चिन् का चार बार और सदैव शम्बर के साथ ही उल्लेख है। इसे एक 'असुर' (७, ९९[५]), किन्तु शम्बर और इसे साथ-साथ दास कहा गया है (६, ४७[२१])। यह उल्लेख है कि इन्द्र ने शम्बर के सौ दुर्गों को ध्वस्त किया और वर्चिन् नामक दास के

१,००,००० योद्धाओं को छिन्न-भिन्न अथवा उनका वध किया (२, १४[६]; ४, ३०[१५])। इस नाम का अर्थ 'प्रकाशमान' (वर्चस् से) प्रतीत होता है।

अनेक अन्य का, जिनका नाम केवल एक एक बार ही आता है, वल, शुष्ण, नमुचि और अन्य दैत्यों के साथ इन्द्र द्वारा पराभूत होने वालों के रूप में उल्लेख है। ऐसों के नाम 'दभीक', रुधिक्रा, (२, १४[३.५]), अनर्शनि[१५], सृबिन्द (८, ३२[२]), और इलीविश (१, ३३[१२]) हैं। इन सभी के व्यक्तित्व में सम्भवतः प्रमुख ऐतिहासिक पार्थिव शत्रुओं का आभास निहित है। इनमें से अन्तिम दो के नाम अनार्य प्रतीत होते हैं। ऐसा भी सम्भव नहीं प्रतीत होता कि मूलतः अलग-अलग दैत्यों को ऐसे भी नाम दे दिये गये होंगे जो वृत्र, वल और शुष्ण जैसी अभिधाओं के विपरीत किसी आसुरी गुण के द्योतक नहीं हैं।

[१]कुन : हे० गौ० ५२ और बाद; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३३३-८; गेल्डनर : वेदिशे स्टूडियन २, १६३ और बाद; हि० वे० मा० १, ५१६; औ० वे० १५५. १५८-६१ — [२]तु० की० वृत्र के लिये व्यवहृत √श्वस् और 'श्वसथ' — [३]तु० की०, औ० वे० १५९ — [४]सम्भवतः क्लीव बहुवचन 'वृत्राणि' के प्रभाव द्वारा — [५]सेन्ट पीटर्सवर्ग कोश; व० ऋ०; औल्डेनवर्ग : त्सी० गे० ४२, २१० — [६]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३४२-३ — [७]व० ऋ०, व० स्था० 'कृष्णगर्भ' — [८]लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ३, १४९; ब्राड्के : द्या० ९५; औ० वे० १५५ — [९]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३४९, किन्तु 'परिपूर्ण करनेवाले' अथवा 'बचानेवाले' के आशय में — [१०]लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ५, १४५; बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३४५-७; लैनमैन : ज० ए० सो०, बंगाल, ५८, २८-३०; संस्कृत रीडर ३७५ ख; ब्लूमफील्ड : ज० अ० ओ० सो० १५, १४३-६३; औल्डेनवर्ग : गौ० ना० १८९३, ३४२-९; औ० वे० १६१ — [११]ब्लूमफील्ड : ज० अ० सो० १५, १५५-६ — [१२]तु० की० कुन : कु० त्सी० ८, ८० — [१३]बर्गेन : ल० रि० वे० २, ३५०; औ० वे० १५७ — [१४]वाकरनॉगल : आल्टिन्डिशे ग्रामेटिक, १. xxii — [१५]तु० की० जोहानसन : इ० फौ० ३, ४५; पेरी : ज० अ० ओ० सो० ११, १९९-२०५, जो इन्द्र से युद्ध करने वाले सभी असुरों का अध्ययन करते हैं।

§ ७० (क) रक्षस् :— मनुष्यों के शत्रुओं, पार्थिव दैत्यों अथवा राक्षसों[१] के लिये ऋग्वेद में निश्चित रूप से सर्वाधिक बार 'रक्षस्' शब्द का ही व्यवहार हुआ है। इसका एकवचन और बहुवचन, दोनों में ही (पचास से अधिक बार), और सदैव किसी ऐसे देवता के सन्दर्भ में उल्लेख किया गया है, जिसका या तो रक्षसों का विनाश करने के लिये आवाहन किया गया है अथवा रक्षस्-विनाशक के रूप में प्रशस्ति है। रक्षसों का वर्णन करनेवाले ऋग्वेद के दो सूक्तों (७, १०४; १०, ८७) में अपेक्षाकृत कम प्रचलित शब्द 'यातु' अथवा

(जिनका ठीक-ठीक अर्थ 'ऐन्द्रजालिक' है), या तो 'रक्षस्' के साथ एकान्तरित, अथवा कुछ मन्त्रों में, उसी के आशय में प्रयुक्त हुये प्रतीत होते हैं। यतः यह बाद का शब्द सामान्य रूप से दुष्टात्माओं मात्र का द्योतक है (मुख्यतः यजुर्वेद में), अतः यहाँ 'रक्षस्' सम्भवतः जाति का द्योतक है और 'यातु' उसकी किसी उपजातिका ।[3]

इन दानवों के, विविध प्रकार के, कुत्ते, गृद्ध, उलूक और अन्य पक्षियों जैसे रूप होते हैं (७, १०४.[२०-२२])। पक्षी बन कर यह रात्रि के समय चारों ओर उड़ते हैं (वही[१८])। भ्राता, पति, अथवा प्रेमी का वेश बदल कर यह स्त्रियों के पास जाते हैं और उनकी संतानों को नष्ट कर देना चाहते हैं (१०, १६२[५])। एक कुत्ते अथवा बन्दर के वेश में भी यह स्त्रियों की प्रतीक्षा में पड़े रहते हैं (अथर्ववेद ४, ३७[११])। इस प्रकार गर्भावस्था तथा प्रसव के समय यह विपत्तिकारक होते हैं (अथर्ववेद ८, ६)। विवाह के समय यह वधू के आस-पास मँडराते हैं, और इसीलिये छोटे-छोटे डण्डे हवा में उछाले जाने का प्रचलन है जिससे वह रक्षसों की आँखें फोड़ दें (मानव गृह्य सूत्र १, १०)। अथर्ववेद रक्षसों की आकृति का अत्यन्त विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। इनका अधिकांशतः मानवीय आकार होता है, और इनके सर, नेत्र, हृदय, तथा अन्य अंगों का उल्लेख है। किन्तु इनमें अक्सर कोई न कोई दानवी विरूपता भी होती है, जैसे तीन सर, दो मुख, रीछों जैसी ग्रीवा, चार नेत्र पाँच पैर, उँगली-विहीन, पैर पीछे की ओर मुड़े हुये, अथवा हाथ पर सींगें, इत्यादि (अथर्ववेद ८, ६; हिरण्यकेशि गृह्य सूत्र २, ३[७])। नीले और पीले, अथवा हरे दैत्यों का भी उल्लेख है (अथर्ववेद १९, २२[४-५])।[४] इनका पुरुष और स्त्री के रूप में वर्णन किया गया है; इनके परिवार और यहाँ तक कि इनमें राजा भी होता है (अथर्ववेद ५, २२[१२]; हिरण्यकेशि गृह्य सूत्र २, ३[७])। यह मरणशील होते हैं (अथर्ववेद ६, ३२[२] इत्यादि)।

यातुधान लोग मनुष्यों और अश्वों का मांस भक्षण करते हैं, और गायों का दूध पी जाते हैं (१०, ८७[१६-१७])। अपनी माँस और रक्त की क्षुधा तृप्त करने के लिये रक्षस् सामान्यतया मनुष्य के भीतर प्रवेश करके उन पर आक्रमण करते हैं। अपने स्तोताओं के भीतर इनके प्रवेश (आ विश्) को रोकने के लिए अग्नि का आवाहन किया गया है (८, ४९[२०]), और अथर्ववेद (७, ७६[४]) मनुष्यों के भीतर प्रवेश करने वाले एक ऐसे दानव का वर्णन करता है जो चारों ओर उड़ता फिरता है। प्रमुखतः इन दुष्टात्माओं की, खाते अथवा पीते समय, विशेषरूप से मुख से (अथर्ववेद ५, २९[६-८]), तथा अन्य मार्गों से भी (अथर्ववेद ८, ६[३]), शरीर के भीतर प्रवेश करने वालों के रूप में कल्पना की

गई प्रतीत होती है। जब एक बार यह शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं तब मनुष्य के मांस को विदीर्ण करते हुए उसे व्याधिग्रस्त कर देते हैं (अथर्ववेद ५, २९[९.१०])। यह भी कहा गया है रक्षस्‌गण विक्षिप्ति उत्पन्न कर देते हैं और मनुष्य की वाक्‌शक्ति का अपहरण कर लेते हैं (अथर्ववेद ६, १११[३]; हिरण्यकेशि गृह्य सूत्र १, १५[५])। यह मानवीय आवासों पर आक्रमण करते हैं (कौशिक सूत्र १३५[१])। इस प्रकार की कुछ दुष्टात्माओं का संध्या समय आवासों के चतुर्दिक नर्तन करते हुए, गदहों की भाँति चीत्कार करते हुये, वनों में कोलाहल और अट्टहास करते हुए, अथवा खोपड़ी की अस्थि से पान करते हुए वर्णन किया गया है (अथर्ववेद ८, ६[१०.११.१४]; हिरण्यकेशि गृह्य सूत्र २,३[७])।

संध्या अथवा रात्रि ही रक्षसों के विचरण का समय है (७, १०४[१८])[५]। पूर्व दिशा में इनकी कोई शक्ति नहीं चलती क्योंकि उदित होता हुआ सूर्य इन्हें भगा देता है (तैत्तिरीय संहिता २, ६, ६[३])। गिरती हुइ उल्का को रक्षस् का मूर्तिमान स्वरूप माना गया है (कौशिक सूत्र १२६[९])। इन दुष्टात्माओं के विशेष रूप से विचरण का समय भी अमावस्या की रात्रि ही होता है (अथर्ववेद १, १६[१]; ४, ३६[३])।

यज्ञों पर इनका विशेष रूप से आक्रमण हो सकता है। अतः ऋग्वेद ऐसे रक्षसों की, जो दिव्य यज्ञों में विघ्न उत्पन्न कर देते हैं, तथा ऐसे यातुओं की, जो हवि को इधर-उधर फेंक देते हैं, चर्चा करता है (७, १०४[१८.२१])। यह स्तुतियों से घृणा करते हैं (१०, १८२[३])। यज्ञ को अभिशापों से सुरक्षित रखने के लिए और इनको भस्म कर देने के लिए अग्नि की स्तुति की गई है (१, ७६[३])। अथर्ववेद में एक ऐसा अभिचारीय मन्त्र है जिससे यातुधानों और रक्षसों की माया के माध्यम से शत्रुओं के यज्ञ को निष्फल किया जा सकता है (अथर्ववेद ७, ७०[२])। यह दुष्टात्मायें पूर्वजों की आत्माओं के रूप में आकार पितृ-यज्ञ में भी बाधा उत्पन्न करती हैं (अथर्ववेद १८, २[२८] तु० की० वाजसनेयि संहिता २, २९)[६]। वैदिकोत्तर साहित्य में यज्ञ का विध्वंस करने वालों के रूप में रक्षसों (यहाँ इन्हें 'राक्षस' कहा गया है) सम्बन्धी धारणा और भी परिचित हो गई है।

अन्धकार को भगानेवाले तथा यज्ञ के अधिपति होने के कारण, स्वभावतः अग्नि ही एक ऐसे देवता हैं जो इन दुष्टात्माओं के सर्वाधिक विरोधी हैं और इन्हें भस्म करने, भगाने, अथवा नष्ट करने के लिए अक्सर अग्नि का ही आवाहन किया गया है (१०, ८७[३-६], इत्यादि)[७]। अपने इस रूप में अग्नि को (तथा कुछ अन्य देवताओं को भी) 'रक्षोहन्' (रक्षसों का वध करने वाला) उपाधि से विभूषित किया गया है।

यह दुष्टात्मायें केवल स्वेच्छा से ही नहीं वरन् मनुष्यों के बहकाने से भी क्षति पहुँचाती हैं। इसीलिए ऋग्वेद 'रक्षोयुज्' (रक्षसों को सन्नद्ध करने वाला) की चर्चा (६, ६२[९]), और अभिचारियों के 'रक्षसों' तथा 'यातुओं' का उल्लेख करता है (७, १०४[२३]; ८, ६०[२०])। दूसरों के अभिचार से पीड़ित व्यक्ति अग्नि यविष्ठ का यज्ञ करके अपने को रक्षसों से मुक्त कर सकता है (तैत्तिरीय संहिता २, २, ३[२])। अथर्ववेद के एक सूक्त (२, २४) में दैत्यों को उन्हीं शत्रुओं का भक्षण करने के लिये आदेश दिया गया है जिन्होंने उन्हें भेजा है। दैत्यों के एक नाम के रूप में 'रक्षस्', पुलिङ्ग तथा क्लीव दोनों ही लिङ्गों में मिलता है। क्लीव लिङ्ग में इसका अर्थ 'क्षति' भी है। यह उस 'रक्ष्' (क्षति पहुँचाना)[८] धातु से व्युत्पन्न हुआ हो सकता है जो अथर्ववेद में केवल एक ही शाब्दिक रूप में आती है (तु० की० 'ऋक्ष' अर्थात् क्षतिकारक भी); फिर भी, सम्भवतः यह साधारण 'रक्ष्' (रक्षित करना) धातु से ही सम्बद्ध हो सकता है।[९] ऐसी दशा में इसका 'वह जिससे रक्षा करना चाहिए' ही अर्थ होगा। किन्तु बर्गेन का विचार है कि मूलतः यह दिव्य सम्पत्ति के (लोभी) 'रक्षक' का द्योतक रहा होगा।

(ख) पिशाच :—रक्षसों के एक तृतीय महत्त्वपूर्ण वर्ग को 'पिशाच' कहा गया है। यह नाम ऋग्वेद में केवल एक बार ही 'पिशाचि' के रूप में एक-वचन में आता है (१, १३३[५])। यहाँ 'पिशङ्गभृष्टिम्' और 'अम्भृणम्' (जल मय) 'पिशाचि' का मर्दन करने तथा सभी रक्षसों पर प्रहार करने के लिए इन्द्र का आवाहन किया गया है। तैत्तिरीय संहिता (२, ४, १[१]) में असुरों, रक्षसों, और पिशाचों के तीन आक्रमक वर्गों को क्रमशः देवों, मनुष्यों और पितरों का विरोधी कहा गया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पिशाचों को विशेषतः मृतकों के साथ ही सम्बद्ध माना जाता था। इन्हें अवसर कच्चा माँस अथवा शव भक्षण करने वाला (क्रव्याद्) कहा गया है (अथर्ववेद ५, २९[९] इत्यादि)। इस 'क्रव्याद्' शब्द को 'पिशाच' का पर्यायवाची भी माना जा सकता है।[१०] रुग्ण व्यक्ति के उस मांस को, जिसका पिशाच भक्षण कर लेते हैं, पुनः प्रदान करने के लिये अग्नि का स्तवन किया गया है (अथर्ववेद ५, २९[५])। इस प्रकार यह पिशाच एक प्रकार के वेताल ही रहे होंगे। जलों में प्रकाशित होने (अथर्ववेद ४, २०[९]·३७[१०])[११], अथवा मानव-आवासों और ग्रामों में निवास करनेवालों के रूप में भी पिशाचों का वर्णन किया गया है (अथर्ववेद ४, ३६[८])।

दानवों का एक अपेक्षाकृत अवर वर्ग उन 'अरातियों'[१२] का है जिनका ऋग्वेद में बारह बार और बाद के वैदिक ग्रन्थों में अवसर ही उल्लेख है।

यह अनुदारता (अ-राति) का मूर्तीकरण है और इस शब्द के लिङ्ग के कारण सदैव स्त्रीलिङ्ग में ही मिलता है। स्त्री और पुरुष दोनों ही रूपों में, क्षतिकारक दैत्यों का एक 'द्रुह्' नाम वर्ग भी है जिसका ऋग्वेद में प्रायः एक दर्जन बार उल्लेख किया गया है। यह भारतीय-ईरानी काल का ही प्रतीत होता है क्योंकि 'द्रुज' के रूप में इनका नाम अवेस्ता में भी मिलता है (§ ५, पृ० १३)।

विभिन्न प्रकार के राक्षसों की धारणा सामान्यतया एक अनिर्दिष्ट से दल के रूप में ही मिलती है, किन्तु कभी-कभी इनके युग्मों की भी कल्पना की गई है। इसी द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत 'किमीदिन्' नामक एक वर्ग आता है जिसका ऋग्वेद में ही उल्लेख है (७, १०४[२३]; १०, ८७[२४])।[१३]

दैनिक जीवन में मनुष्य को घेर रखनेवाली इन दुष्टात्माओं की प्रकृति क्षति पहुँचाना है। इनके विभिन्न उप-प्रकार अलग-अलग ऐसी क्षतियाँ पहुँचाते हैं जिनको सामान्यतया इनके नाम के आधार पर ही व्यक्त किया गया है। सम्पूर्ण रूप से यह सभी, प्राकृतिक शक्ति अथवा घटना से सम्बद्ध हैं, और कम से कम अंशतः ही, मृत शत्रुओं[१४] की प्रेतात्माओं से ही उद्गत माने गये प्रतीत होते हैं। उपरोल्लिखित दैत्यों से अपेक्षाकृत कम वैयक्तीकृत, तथा सम्भवतः अधिक विकसित विचार धारा के फलस्वरूप, व्याधि, सन्तानहीनता, अपराध, आदि के एक प्रकार के स्पर्शाव्यक्त पदार्थ के रूप में वायु में उड़ती हुई ऐसी आक्रामक शक्तियों की भी कल्पना की गई है जो सांसर्गिक रोग उत्पन्न कर देती हैं, तथा जिनको शत्रुओं पर स्थानान्तरित कर देना अभिचार के प्रमुख कार्यों में से एक है।[१५]

फिर भी इन पार्थिव दुष्टात्माओं में से कुछ हानिकारक नहीं होतीं। इनमें से कुछ को फसल में सहायता, अथवा वधू के लिये दीर्घ जीवन प्रदान करने वाला, जब कि कुछ अन्य को 'अर्बुदि' के नायकत्व में शत्रुओं को भयग्रसित करते हुये युद्ध में सहायता करने वाला माना गया है (अथर्ववेद ३, २४. २५[१]; १४, १[४५]; ११, ९[१२])।

[१]बर्गेन : ल० रि० वे० २, २१६-१९; औ० वे० २६२-७३ — [२]अवेस्ता में 'यातु' = 'अभिचार' और 'अभिचारीय' : स्पीगेल : डा० पी० २१८-२२ — [३]तु० की० औ० वे० २६३, नोट १ — [४]हॉपकिन्स : अ० फा० १८८३, पृ० १७८ — [५]औ० वे० २६९ — [६]तु० की० कैलेन्ड : आ० आ०, पृ० ३.४— [७]तु० की० हिलेब्रान्ट : त्सी० गे० ३३, २४८-५१ — [८]सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश, व० ऋ० — [९]तु० की० बर्गेन : ल० रि० वे० २, २१८; ह्विट्ने : संस्कृत रूट्स. व० स्था० 'रक्ष्' — [१०]औ० वे० २६४ नोट — [११]तु० की० रौथ : फे० बौ० ९७-८ — [१२]तु० की० हिलेब्रान्ट : उ० स्था० — [१३]वेबर : इण्डिशे

स्टूडियन १३, १८२ और बाद — ओ० वे० ६०-२; तु० की० रौथ : फे० वौ० ९८ — [15] तु० की० ऋग्वेद १०, १०३[12]; कौशिक सूत्र १४, २२; इन्डिशे स्टूडियन १७, २६९।

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः (१०।१६।१३

७—परलोकवाद

§ ७१. *मृतक संस्कार* :—वैदिक सूक्तों में मृत्यु सम्बन्धी बहुत कम सन्दर्भ मिलते हैं। जहाँ भी द्रष्टाओं ने इसका उल्लेख किया है वहाँ वह सामान्यतया यही इच्छा व्यक्त करते हैं कि यह उनके शत्रुओं को ही ग्रसित करे, और अपने लिये वह इस पृथ्वी पर दीर्घ जीवन की कामना करते हैं। प्रमुखतः किसी की अन्त्येष्टि के अवसरों पर ही मृत्यूपरान्त जीवन ने उनके ध्यान को आकर्षित किया है। मृतकों को गाड़ना और जलाना, दोनों ही विधियाँ साथ-साथ प्रचलित थीं। ऋग्वेद का एक सूक्त (१०, १६) जलाने की विधि से तथा एक अन्य सूक्त का कुछ अंश (१०, १८[10-13])[1] गाड़ने की विधि से अन्त्येष्टि का वर्णन करता है। एक बार 'मिट्टी के घर' की भी चर्चा की गई है (७, ८९[1])। अग्नि में जलाये गये पितरों का, और ऐसों का भी, जिन्हें आग में नहीं जलाया गया (अर्थात् गाड़ा गया), उल्लेख मिलता है (१०, १५[14]; अथर्ववेद १८, २[34])। किन्तु मृतकों को परलोक पहुंचाने के लिये उनके शव को जला देना ही अधिक प्रचलित प्रथा थी। बाद के संस्कार (तु० की० आश्वलायन गृह्य सूत्र ४, १) व्यवहारतः केवल इसी विधि से परिचित थे; क्योंकि वयस्कों की अस्थियों तथा राखों के अतिरिक्त केवल छोटे शिशुओं तथा सन्यासियों के शव को ही गाड़ा जाता था।[2]

इसलिये अन्त्येष्टि संस्कार के साथ ही परलोक जीवन का पुराकथाशास्त्र विशेष रूप से सम्बद्ध किया गया है। अग्नि शव को परलोक में पितरों और देवों तक ले जाते हैं (१०, १६[1-4]. १७[3])। अग्नि मरणशली प्राणी को उच्चतम अमरत्व के पद पर पहुँचा देते हैं (१, ३१[7])। अग्नि रूपी दिव्य पक्षी के माध्यम से ही मनुष्यगण सूर्य के उच्चतम स्थानों तक, उच्चतम द्युलोक में, पुण्यात्माओं के लोक में जाते हैं, जहाँ प्राचीन और सबसे पहले जन्म लेनेवाले द्रष्टा गण जा चुके हैं (वाजसनेयि संहिता १८, ५१-२)। अग्नि गार्हपत्य मृतकों को पुण्यात्माओं के लोक में पहुँचाते हैं (अथर्ववेद ६, १२०[1])। अग्नि मृतक के शव को भस्म करने के पश्चात् उसे पुण्यात्माओं के लोक में रख देते हैं (अथर्ववेद १८, ३[71])। देह को आत्मसात कर लेने वाले (क्रव्याद्) अग्नि का उस अग्नि से विभेद किया गया है जो हवि को देवों तक पहुँचाते हैं (१०, १६[9])। शव को यथावत रखने, तथा उस बकरे (अज)[3] को जो

उसका एक भाग है, भस्म कर देने के लिये अग्नि का स्तवन किया गया है (१०, १६^{४})। पूषन् के भाग के रूप में एक बकरे को यज्ञ के अश्व के साथ आगे-आगे चलने के लिये छोड़ दिया जाता है जिससे वह उच्चतम् आवासों में हवि के पहुंचने के पूर्व ही देवों से उसकी घोषणा कर सके (१, १६२$^{२-४}$. १६३$^{१२-१३}$)। संस्कारों (आश्वलायन गृह्य सूत्र ४.२; कात्यायन श्रौत सूत्र २५, ७^{१९}) के अनुसार शव को काले बकरे की खाल पर रक्खा जाता है, और यदि किसी पशु की बलि भी दी जाती है तो वह या तो गाय अथवा बकरा ही होता है।[५] पक्षी, पशु, चींटी अथवा सर्प द्वारा पहुंचाई गई किसी भी क्षति का उपशमन करने के लिये अन्त्येष्टि के समय अग्नि और सोम की भी स्तुति की जाती है (१०, १६^{६})।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि धूम के साथ-साथ ही मृतक द्युलोक को जाता है (आश्वलायन गृह्य सूत्र ४, ४^{७})।[६] द्युलोक का पथ अत्यन्त लम्बा है, जिस पर पूषन् मृतकों की रक्षा और सवितृ उनका पथ प्रदर्शन करते हैं (१०, १७^{४})। हवि में समर्पित बकरे को. जो मृतक के पहले ही जा कर पितरों को मृतक के सम्बन्ध में घोषणा करता है, आकाश के तृतीय 'नाक' तक पहुंचने के लिये गहन अन्धकार से हो कर जाना पड़ता है (अथर्ववेद ९, ५$^{१-२}$; तु० की ८, १^{८})।

परलोक में व्यवहार के लिये मृतक को वस्त्र और अलंकार भी दिये जाते थे, तथा इस प्रचलन के उद्देश्य को वेदों में भी स्वीकार किया गया है (अथर्ववेद १८, ४^{३१})। ऐसे चिह्न भी वर्तमान हैं (ऋग्वेद १०, १८$^{८-९}$) जो यह व्यक्त करते हैं कि एक बार पति के शव के साथ ही उसकी विधवा पत्नी तथा उसके आयुधों तक को जला दिया गया था।[७] शव के साथ लड़की का एक गट्ठर (कूदी) भी सन्नद्ध कर दिया जाता था जिससे उसके गमन-पथ का चिह्न समाप्त हो जाय, और इस प्रकार मृत्यु के लिये, जीवितों के लोक में पुनः लौट आने का मार्ग ढूंढ़ पाना कठिन हो जाय (अथर्ववेद ५, १९^{१२} तु० की० ऋग्वेद १०, १८^{२}. ९७^{१६})।[८]

[१] रौथ : त्सी० गे०, ८, ४६७-७५; तु० की० श्रोडर : वी० मौ० ९, ११२-३; हॉपकिन्स : प्रो० सो० १८९४, पृ० cliii; कैलेण्ड : आ० वे०, § ४९-५० — [२] रौथ : त्सी० गे० ९, ४७१; मैक्स मूलर : वही० i-lxxxii; हॉ० इ० २७१-३ — [३] 'अज' को कुछ लोग 'अजन्में भाग' (अ-ज) के अर्थ में ग्रहण करते हैं — [४] हिलेब्रान्ट : त्सी० गे० ३७, ५२१ — [५] मैक्स मूलर : त्सी० गे० ९, iv, v. xxx. xxxii — [६] तु० की० छान्दोग्य उपनिषद् ५, १०^{3}; बृहदारण्यक उपनिषद् ६, १^{१९} — [७] वेबर : इन्डिशे स्ट्रीफेन १, ६६;

हिलेब्रान्ट : र्त्सा० गे० ४०, ७११; औ० वे० ५८६-७ — [6]रौथ : फे० वो० ९८-९; ब्लूमफील्ड : अ० फा० ११, ३५५; १२, ४१६।

§ ७२. **आत्मा** :—ऐसा विश्वास किया जाता है कि अग्नि अथवा 'शवगर्त' (क़ब्र) केवल मृत शरीर को ही विनष्ट करते हैं, क्योंकि मृत व्यक्ति के वास्तविक व्यक्तित्व को अनश्वर ही माना गया है। यह वैदिक धारणा उस पुरातन विश्वास पर आधारित है कि आत्मा में शरीर से अपने को अचेतनावस्था तक में अलग कर लेने की शक्ति होती है और व्यक्ति की मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। इसीलिये एक सम्पूर्ण सूक्त (१०, ५८) में प्रत्यक्षतः मृतवत् पड़े सुप्त व्यक्ति की आत्मा (मनस्) से, बाहर भ्रमण कर रहे स्थानों से पुनः शरीर में लौट आने की स्तुति की गई है। बाद में विकसित पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वेदों में कोई संकेत नहीं मिलता; किन्तु एक ब्राह्मण में यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् संस्कारादि नहीं करते वह मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते हैं, और बार बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते हैं (शतपथ ब्राह्मण १०, ४, ३[१०])। 'प्राण' और 'आत्मन्' (जो अनेक बार 'वात' के समानान्तर आशय में प्रयुक्त हुआ है) के अतिरिक्त चेतना के सिद्धान्त को व्यक्त करने वाले अन्य शब्द 'असु' और 'मनस्' हैं। 'असु' दैहिक शक्ति (१, ११३[१६]·१४०[८]), यहाँ तक कि पशुओं की दैहिक चेतना (ऐतरेय ब्राह्मण २, ६), का द्योतक है। 'मनस्' विचार तथा संवेग का स्थान है, जिसे ऋग्वेद तक में (८, ८९[५]) हृदय (हृद्)[1] में स्थित माना गया है। अनेक स्थल, मुख्यतः अथर्ववेद में, यह व्यक्त करते हैं कि जीवन और मृत्यु, 'असु' अथवा 'मनस्' के अस्तित्व अथवा प्रस्थान पर निर्भर करते हैं; और 'असुनीति', 'असुनीत' आदि शब्दों से अग्नि द्वारा मृत व्यक्ति की आत्मा का इस और परलोक के बीच पथप्रदर्शन करने का तात्पर्य है (१०, १५[४]· १६[२])[2]। अन्त्येष्टि संस्कार सम्बन्धी मूल पाठ कभी मृत व्यक्ति के 'असु' अथवा 'मनस्' का नहीं, वरन् केवल स्वयं व्यक्ति का ही 'पिता', 'पितामह', आदि के रूप में आवाहन करते है। अतः 'आत्मा' को एक छाया मात्र नहीं, वरन् ऐसा माना गया है कि वह अपनी वैयक्तिकता सुरक्षित रखती है। यद्यपि अपने शरीर का परित्याग कर देने पर ही मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है (शतपथ ब्राह्मण १०, ४, ३[९]) तथापि भावः स्थिति की, जो देहवत् ही होती है, पुराकथा में शव का महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि परलोक जीवन में भी शरीर का अस्तित्व होता है (१०, १६[५]; अथर्ववेद १८, २[२६])। फिर भी, एक ऐसे शरीर को, जिसमें किसी प्रकार की भी अपूर्णता न हो (अथर्ववेद ६, १२०[३]) कदाचित् ही एक भौतिक शरीर माना गया हो सकता है। अतः उसे

अग्नि की शक्ति से परिष्कृत (तु० कौ० १०, १६[६]) और बहुत कुछ बाद की भारतीय धारणा के 'सूक्ष्म शरीर' जैसा ही माना गया होगा। मृत्यूपरान्त जीवन के सम्बन्ध में शव के महत्त्व का इस तथ्य द्वारा संकेत मिलता है कि मृत व्यक्ति की अस्थियों को, जिन्हें सूत्रों के अनुसार शव को जलाने के बाद एकत्र कर लिया जाता था, हानि पहुँचाना एक कठोर अपराध माना गया है (शतपथ ब्राह्मण ११, ६, ३[११]; १४, ६, ९[२८])। ऋग्वेद के एक स्थल (१०, १६[३]) पर मृत व्यक्ति के नेत्रों को सूर्य के पास, तथा उसकी आत्मा को वायु के पास जाने का आवाहन किया गया है। किन्तु मृत व्यक्ति को दूसरे लोक में ले जाने वाले के रूप में अग्नि का वर्णन करने वाले मन्त्रों के मध्य में आने के कारण यह सम्भवतः पुरुष (१०, ९०[१३]) सम्बन्धी उस कल्पना पर ही आधारित एक आकस्मिक धारणा मात्र हो सकती है जिसमें यह कहा गया है कि पुरुष का नेत्र सूर्य बन गया तथा उसका श्वास वायु। इसी स्थल पर (और १०, ५८[७] में भी) जब यह कहा गया है कि आत्मा जलों अथवा पौधों के पास चली जाती है, तब इस धारणा में सम्भवतः जन्मान्तर[3] सिद्धान्त के भी चिह्न निहित हो सकते हैं।

जिस पथ से होकर पितृगण गये हैं (१०, १४[७]) उससे होकर मृत व्यक्ति की आत्मा देवों के समान वैभव से युक्त होकर (अथर्ववेद ११, १[३७]) एक रथ में अथवा उड़कर (अथर्ववेद ४, ३४[४]), अथवा उन पंखों पर जिनसे अग्नि रक्षसों का वध करते हैं (वाजसनेयिसंहिता १८, ५२), चिरन्तन प्रकाश के क्षेत्र में जाती है (९, ११३[७])। मरुतों द्वारा ऊपर की ओर प्रेरित, मन्द वायु के सुखद झोंकों के साथ, वर्षा से शीतल होती हुई वह आत्मा अपना प्राचीन शरीर पुनः प्राप्त कर लेती है (अथर्ववेद १८, २[२१-६]) और इस प्रकार वैभव-सम्पन्न होकर उच्चतम द्युलोक में 'यम' के साथ आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए पितरों से मिल जाती है (१०, १४[८.१०].१५४[४.५])। इसे पुनः घर लौट आना (अस्तम : १०, १४[८]) कहा गया है। यम द्वारा यह उस समय एक विश्राम स्थान प्राप्त कर लेती है (१०, १४[९]), जब यम उसे अपना समझ लेते हैं (अथर्ववेद १८, २[३७])।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार साधारण विश्वास यह है कि इस संसार को छोड़ने के पश्चात् मृत व्यक्ति उन दो अग्नियों के बीच होकर जाता है, जो दुष्टों को तो भस्म कर देती हैं किन्तु पुण्यात्माओं को जाने देती हैं।[४] यह पुण्यात्मायें या तो पितरों की ओर जाने वाले पथ से, अथवा सूर्य की ओर जाने वाले पथ से अग्रसर होती हैं (शतपथ ब्राह्मण १, ९, ३[२], इत्यादि)[५]। परम्ब्रह्म को जाननेवाले लोगों के लिए उपनिषदों में दो पथों का निर्देश मिलता है।

एक (पूर्णज्ञान के परिणाम स्वरूप) ब्रह्मा की ओर ले जाता है और दूसरा द्युलोक में, जहाँ से श्रेष्ठ कर्मों का फल समाप्त कर लेने के पश्चात् पुनर्जन्म के लिये आत्मा पुनः पृथ्वी पर लौट आती है। दूसरी ओर, 'ब्रह्म' से अपरिचित व्यक्ति या तो दुरात्माओं के अन्धकारमय लोक में जाते हैं अथवा दुष्टों के रूप में पृथ्वी पर पुनः जन्म लेते हैं।[६]

[१] औ० वे० ५२५ — [२] वैदिकोत्तर साहित्य में प्रचिलित 'प्राणवायु' से अथर्ववेद पहले से ही परिचित है : हॉ० इ० १५३ — [३] ब्री २३ — [४] तु० की० कुन : कु० त्सी० २, ३१८ — [५] वेबर : त्सी० गे० ९, २३७; इन्डिशे स्ट्रीफेन १, २०-१; मूइर : सं० टे० ५, ३१४-५; शर्मन : वि० लि० १२१ हॉ० इ० २०६ — [६] हॉ० इ० २२७।

§ ७३. *स्वर्गः*—वह आवास जहाँ पितृगण और यम रहते हैं, आकाश के मध्य में (१०, १५[१४]), उच्चतम आकाश में (१०, १४[८]), तृतीय आकाश में, चिरन्तन प्रकाश के लोक, आकाश के अन्तरतम स्थानों में (९, ११३[७.९]) स्थित है। अथर्ववेद में भी इसे उच्चतम (११, ४[११]), प्रकाशमान लोक (४, ३४[२]), अन्तरिक्ष का पृष्ठ (१८, २[४७]), तृतीय अन्तरिक्ष (९, ५[१.८]; १८, ४[३]), और तृतीय आकाश (१८, २[४८]) कहा गया है। मैत्रायणी संहिता (१, १०[१८]; २, ३[९]) में पितरों के आवास को तृतीय लोक[१] बताया गया है, जबकि इसे ही ऋग्वेद में सूर्य का उच्चतम स्थान कहा गया है (९, ११३[९])। पितृगण या तो सूर्य के साथ संयुक्त हैं अथवा सूर्य की रक्षा करते हैं (१०, १०७[२]. १५४[५]), अथवा सूर्य की रश्मियों से सम्बद्ध हैं (१, १०९[७]; तु० की० शतपथ ब्राह्मण १, ९ ३[१०])[२]। पितरों के लिये अनेक सूर्य द्युलोक में प्रकाशित होते हैं (१, १२५[६])। पितृगण, विष्णु के पद से सम्बद्ध हैं (१०, १५[३]), और यह कहा गया है कि पुण्यात्मा लोग विष्णु के उच्चतम पद के प्रिय आवास में आनन्द पूर्वक रहते हैं (१, १५४[५])। जिस प्रकार विष्णु अपने तीनों पगों को उस स्थान तक ले गये जहाँ देवों को प्रसन्नता प्राप्त होती है[३], उसी प्रकार सूर्य उन स्थानों तक उषस् का अनुगमन करता है जहाँ पुण्यात्मा लोग हवि समर्पित करते हैं।[४]

तारों को भी द्युलोक में जानेवाले पुण्यात्मा लोगों का (तैत्तिरीय संहिता ५, ४, १[३]; शतपथ ब्राह्मण ६, ५, ४[८]), और प्राचीन लोगों का प्रकाश कहा गया है। अत्रि और अगस्त्य के अतिरिक्त मुख्यतः सप्तर्षियों को तारों का पद प्राप्त कर लेनेवाला बताया गया है (तैत्तिरीय आरण्यक १, ११, १[२])।[५]

ऋग्वेद एक ऐसे वृक्ष का उल्लेख करता है जिसके पास बैठकर यम देवों के साथ पान करते हैं (१०, १३५[१])। अथर्ववेद (५, ४[३]) के अनुसार यह एक

अश्वत्थ वृक्ष है जो उस स्थान पर स्थित है जहाँ तृतीय आकाश में देवगण रहते हैं (यहाँ यम का कोई उल्लेख नहीं है)।

[१]पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २११ — [२]ज० अ० ओ० सो० १६, २७ — [३]तु० कों० मैकडौनेल : ज० ए० सो० २७, १७२ — [४]विन्डिश : फे० वौ० ११८ — [५]वेबर : नक्षत्र, २, २६९; के० ऋ० नोट २८६।

§ ७४. यद्यपि *परलोक जीवन* के सर्वाधिक स्पष्ट और प्रमुख सन्दर्भ ऋग्वेद के नवम और दशम मण्डल में मिलते हैं, तथापि कभी-कभी इसका प्रथम में भी उल्लेख है। जो कठिन तपस्या (तपस्) करते हैं, जो युद्ध में अपने जीवन का मोह त्याग देते हैं (१०, १५४[२-५]), अथवा इनसे भी अधिक, जो प्रचुर दक्षिणा देते हैं (वही[३]; १, १२५[५]; १०, १०७[२]) उन्हें ही पुरस्कार स्वरूप स्वर्ग प्राप्त होता है। अथर्ववेद, इस अन्तिम प्रकार के लोगों को प्राप्त होनेवाले पुण्य-फलों के विवरण से भरा है।

स्वर्ग में पहुंच कर मृत व्यक्ति ऐसा सुखकर जीवन व्यतीत करते हैं (१०, १४[८]. १५[१४]. १६[२-५]) जिसमें सभी कामनायें तृप्त रहती हैं (९, ११३[९-११]), और जो देवों के बीच (१०, १४[१४]), प्रमुखतः यम और वरुण, इन दो राजाओं की उपस्थिति में व्यतीत होता है (१०, १४[७])। यहाँ वह जरावस्था से सर्वथा मुक्त होते हैं (१०, २७[२१])। तेजस्वी शरीर से युक्त होकर वह देवों के प्रियपात्र बन जाते हैं (१०, १४[८]. १६[५]. ५६[१])। यहाँ वह पिता, माता, और पुत्रों को देखते हैं (अथर्ववेद ६, १२०[३]) और अपनी पत्नियों तथा सन्तान से पुनः मिल जाते हैं (अथर्ववेद १२, ३[१७])। यहाँ का जीवन अपूर्णताओं और शारीरिक कष्टों से सर्वथा मुक्त होता है (१०, १४[८]; अथर्ववेद ६, १२०[३]), व्याधियाँ पीछे छूट जाती हैं, और हाथ पैर लूले या लंगड़े नहीं होते (अथर्ववेद ३, २८[५])। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में अक्सर यह कहा गया है कि परलोक में मृत व्यक्ति शरीर तथा अन्य अवयवों की दृष्टि से सम्पूर्ण होता है।[१]

ऋग्वेद में मृतकों के आनन्दप्रद जीवन को 'मदन्ति' अथवा 'मादयन्ते' जैसे सामान्य आशय के शब्दों से व्यक्त किया गया है (१०, १४[१०]. १५[१४], इत्यादि)। स्वर्गलोक के आनन्दप्रद जीवन का सर्वाधिक विस्तृत विवरण ऋग्वेद ९, ११३[७-११] में मिलता है। वहाँ चिरन्तन प्रकाश और तीव्रगति से प्रवाहित होने वाले ऐसे जल हैं जिनकी गति निर्बाध होती है (तु० की० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १२, २[९]); वहाँ पुष्टिकर भोजन और तृप्ति है; वहाँ आनन्द, सुख, आह्लाद, और सभी कामनाओं की सन्तुष्टि है। वहाँ अनिश्चित रूप से वर्णित

आनन्द की, बाद में प्रेम के रूप में व्याख्या की गई है (तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ४, ६[६] तु० की० शतपथ ब्राह्मण १०, ४, ४[४]); और अथर्ववेद (४, ३४[२]) यह व्यक्त करता है कि स्वर्गलोक में लैंगिक सन्तुष्टि के प्रचुर साधन उपलब्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वहाँ पहुँचने वाले भाग्यशालियों को प्राप्त सुख पृथ्वी के श्रेष्ठतम व्यक्तियों की अपेक्षा सौ-गुने अधिक हैं (१४, ७, १[३२-३])। ऋग्वेद भी यह कहता है कि भाग्यशालियों के स्वर्ग में वीणा का स्वर और संगीत सुनाई पड़ता रहता है (१०, १३५[७])[२]; वहाँ के लोगों के लिये सोम, घृत, और मधु प्रवाहित होता रहता है (१०, १५४[१])। वहाँ घृत से भरे सरोवर तथा दुग्ध, मधु और मदिरा की नदियाँ बहती हैं (अथर्ववेद ४, ३४[५,६]; शतपथ ब्राह्मण ११, ५, ६[४])। वहाँ उज्ज्वल, विविध रंगों वाली गायें हैं जो सभी कामनाओं को पूर्ण करती हैं (कामदुघाः : अथर्ववेद ४, ३४[८])। वहाँ न तो निर्धन हैं और न धनवान्, न शक्तिशाली हैं न शोषित (अथर्ववेद ३, २९[३])। संहिताओं और ब्राह्मणों में वर्णित भाग्यशालियों के दिव्य जीवन के समान ही उपनिषदों के अनुसार देवों के स्वर्ग में उपलब्ध एक ऐसे अस्थायी आनन्दप्रद जीवन का उल्लेख है जिसके बाद व्यक्ति पुनः जन्म लेता है क्योंकि जिन्हें परम ज्ञान प्राप्त हो गया होता है केवल वही ब्रह्म-लीन होकर चिरन्तन शान्ति, आनन्दमय जीवन तथा अमरत्व प्राप्त कर पाते हैं।[३] इस प्रकार मृत पुण्यात्माओं के स्वर्गीय जीवन को स्पष्टतः उद्यम-हीन और भौतिक सुखों से पूर्ण माना गया है जिसमें सभी शारीरिक कष्टों से मुक्त होकर वह देवों के साथ संयुक्त, और संगीत, सुरापान, तथा ऐसे ऐन्द्रिक सुखों में लीन होता है जिनमें देवों को भी अक्सर रत बताया गया है (तु० की० ३, ५३[६])।

स्वर्ग एक वैभव-सम्पन्न और भौतिक सुखों से पूर्ण लोक है, जिसका योद्धाओं नहीं वरन् पुरोहितों की कल्पना ने चित्रण किया है।[४] यह पुण्यात्माओं का लोक है (१०, १६[४]), जहाँ संस्कारों (ऋत) से परिचित पुण्यात्मा तथा देवोपम व्यक्ति आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं।[५] यहाँ यह लोग उन समस्त वस्तुओं को पुनः प्राप्त कर लेते हैं जिनको हवि अथवा दक्षिणा में दे चुके होते हैं (इष्टापूर्त)।[६] मुख्यतः यह लोग पुरोहितों को दिये गये पवित्र उपहारों का पुरस्कार प्राप्त करते हैं (१०, १५४[३] इत्यादि)।[७] ब्राह्मणों में यह कहा गया है कि जो लोग विधिवत यज्ञ करते हैं वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सरलता से सूर्य (आदित्य) के, और अग्नि के, साथ ही वायु, इन्द्र, वरुण, बृहस्पति, और ब्रह्मा के, आवासों के साथ संयुक्त, और इन्हीं के समान आवास प्राप्त कर लेते हैं (शतपथ ब्राह्मण २, ६, ४[८]; ११, ४, ४[२१]. ६, २[२-३]; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १०, ११[६])। एक ऋषि

के सम्वन्ध में यह वर्णन किया गया है कि वह अपने ज्ञान से स्वर्ण-हंस बन कर स्वर्ग गया और सूर्य में लीन हो गया (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १०, ९[११])। तैत्तिरीय संहिता (६, ६, ९[२]) में यह धारणा मिलती है कि कुछ संस्कारों को सम्पन्न करने से मनुष्य जीवत (जीवन्) ही स्वर्ग पहुंच सकता है।[८]

जो व्यक्ति वेदों का एक विशेष रूप से पाठ करता है उसके सम्वन्ध में कहा गया है कि वह मृत्यु से मुक्त होकर ब्राह्मण के समान (सात्मता) हो जाता है (शतपथ ब्राह्मण १०, ५. ६[९])। एक रहस्य से परिचित हो जाने के पुरस्कार स्वरूप मनुष्य पुनः इस संसार में जन्म लेता है (शतपथ ब्राह्मण १, ५, ३[१४])। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण में हमें पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्त के आरम्भ का संकेत मिलता है। यह सिद्धान्त (तथा साथ ही साथ 'नरक' का सिद्धान्त भी) केवल प्राचीनतम सूत्रों[९] में ही नहीं मिलता, वरन् वाद के ब्राह्मण-काल, अर्थात प्राचीनतम उपनिषदों, जैसे छान्दोग्य, बृहदारण्यक और मुख्यतः कठ में भी पूरी तरह से विकसित रूप में उपलब्ध है।[१०] इस अन्तिम उपनिषद् में उस 'नचिकेतस्' की कथा का वर्णन है, जो यमलोक में जाता है और वहाँ उसे यम यह उपदेश देते हैं कि जिनमें स्वर्ग और अमरत्व प्राप्त करने की पर्याप्त योग्यता नहीं होती वह बार बार मृत्यु द्वारा ग्रसित होते हुये संसार में पुनः पुनः आते हैं और सशरीर अथवा जड़ पदार्थ के रूप में बार-बार जन्म लेते हैं। जो अपने को नियन्त्रित कर लेता है वह विष्णु के उच्चतम स्थान को प्राप्त करता है। दूसरी ओर जो अयोग्य होता है उसके लिये नरक भी नहीं होता।[११]

[१] मूइर : सं० टे० ५, ३१५ में उद्धृत सन्दर्भ; तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेबेन ४११; हॉ० इ० २०५ — [२] पितरों को समर्पित यज्ञ में संगीत का आयोजन और वीणावादन होता था (कौशिक सूत्र ८४, ८) — [३] हॉ० इ० २३९ — [४] औ० वे० ५३२ — [५] १, ११५[२], १५४[५]; १०, १५[१]. १७[४]. १५४.[२-५]; अथर्ववेद ६, ९[५१]. १२०[३]; वाजसनेयि संहिता १५, ५० — [६] त्रिण्डिश : फे० बौ० ११५-८ — [७] इसी विचार से सम्बन्धित अथर्ववेद के सन्दर्भों के लिये देखिये मूइर : सं० टे० ५, २९३, नोट ४३३; तु० की० इन्डिशे स्ट्रीफेन १, २० और वाद — [८] वेबर : त्सा० गे० ९, २३७ और बाद; मूइर : सं० टे० ५, ३१७; हॉ० इ० २०४ — [९] हॉ० इ० १७'१ — [१०] हॉ० इ० १४५, नोट ४; तु० की० फान श्रोडर : इन्डियन्स लिटरेचर उन्ट कल्चर २४५; इसी एनसाइक्लोपीडिया में, ३, ४, पृ० १५, में गार्बे — [११] ओरिजिन ऑफ दि मिथ, तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ११[८]; तु० की० शर्मन : वि० लि० १०, नोट १; ब्री ७८।

§ ७५. नरक :—ऋग्वेद के रचयिताओं के विचार से यदि पुण्यात्मा लोग परलोक में अपना पुरस्कार प्राप्त करते हैं, तो दुष्टों के लिये भी परलोक में दण्ड

मिलने का न सही, किन्तु कम से कम किसी न किसी प्रकार के आवास की कल्पना कर लेना भी, जैसा कि अवेस्ता[२] में है, स्वाभाविक ही है। जहाँ तक अथर्ववेद और कठ उपनिषद् का सम्बन्ध है, इनमें नरक की कल्पना निश्चित रूप से मिलती है। अथर्ववेद (२, १४[३]; ५, १९[३]) यम के क्षेत्र (१२, ४[३६]) 'स्वर्ग लोक' के विपरीत, 'नारक लोक'[३] नामक राक्षसियों और अभिचारिणीयों के आवास के रूप में एक अधो-गृह (पाताल लोक) की चर्चा करता है। हत्यारे लोग इसी नरक में भेजे जाते हैं (वाजसनेयि संहिता ३० ५)। इसे अथर्ववेद में अनेक बार 'अधम अन्धकार' (८, २[२४] इत्यादि), और साथ ही साथ, 'काला अन्धकार' (५, ३०[११]) और 'अन्ध अन्धकार' (१८, ३[३]) कहा गया है। नारकीय यातनाओं का भी एक बार ही अथर्ववेद (५, १९) में, और अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत रूप से शतपथ ब्राह्मण (११, ६, १)[४] में वर्णन किया गया है; क्योंकि परलोक के दण्ड की धारणा अपने स्पष्ट रूप में ब्राह्मणकाल और उसके बाद से ही विकसित हुई है।[५] आगे उक्त ब्राह्मण यह कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेता है और उस समय तराजू[६] पर तौलकर उसके पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार उसे दण्ड अथवा पुरस्कार प्राप्त होता है (शतपथ ब्राह्मण ११, २, ७[३३]; तु० कौ० १२, ९, १[१])। यही धारणा ईरान में भी मिलती है।[७] रौथ[८] इस विचार से सहमत हैं कि ऋग्वेद का धर्म 'नरक' से सर्वथा अपरिचित है और यही विश्वास करता है कि दुष्ट लोग मृत्यु के साथ समाप्त हो जाते हैं। फिर भी, किसी न किसी प्रकार के 'नरक' का विश्वास ऋग्वेद में सर्वथा अनुपस्थित नहीं हैं। इसीलिये यहाँ कहा गया है कि 'यह गहन स्थान' उन लोगों के लिये बना है जो दुष्ट, झूठे और असत्यवादी हैं (४, ५[५])। 'दुष्टों को गर्त (वव्रे) में, अतल अन्धकार में इस प्रकार ढकेल देने के लिये जिससे उनमें से एक भी बाहर न निकल सकें', इन्द्र-सोम का आवाहन किया गया है (७, १०४[३])। कवि इस बात की भी स्तुति करता है कि 'वह (राक्षसी) जो अपने शरीर को उलूक की भाँति छिपाकर कुटिलता पूर्वक इधर-उधर भ्रमण करती है, अनन्त गर्त में गिर पड़े' (वही [१७]), अथवा यह कि, शत्रु और मार्ग-तस्कर तीनो लोकों के भी नीचे गिर पड़ें (वही [११])। किन्तु ऐसे सन्दर्भ अत्यन्त कम हैं, और प्रमाण इस बात से अधिक कुछ नहीं व्यक्त करते कि भूतल के नीचे के अन्धकार के रूप में ही नरक की स्थिति का विश्वास रहा हो सकता है। इसी पृथ्वी पर सुख की इच्छा रखने वाले, ऋग्वेद के कवियों के विचारों में परलोक के सुखों की अत्यन्त दुर्लभ रूप से ही तथा उससे भी कम परलोक के दण्ड[९] की कल्पना की गई है। ब्राह्मणों की धारणा

यह है कि मृत्यु के पश्चात भले या बुरे सभी लोग परलोक में पुनः जन्म लेते हैं और वहाँ उनके कर्मों के अनुसार उनके साथ व्यवहार होता है (शतपथ ब्राह्मण ६, २, २[७]; १०, ६, ३[८]); किन्तु यहाँ पुरस्कार अथवा दण्ड के चिरस्थायी होने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।[१०] ब्राह्मणों में यह धारणा भी मिलती है कि जो लोग कर्मकाण्ड को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते और विधिवत यज्ञ नहीं करते वह अपने पार्थिव जीवन की अवधि के पूर्व ही परलोक चले जाते हैं (शतपथ ब्राह्मण ११, २, ७[३३])।

अन्ततोगत्वा सभी मृत व्यक्ति जिसके अधीन हों ऐसी किसी औपचारिक न्यायसत्ता की धारणा का वैदिक काल में कदाचित ही कोई संकेत मिलता है। ऋग्वेद के एक अथवा दो स्थल, जहाँ इसका सन्दर्भ देखा गया है[११], इस प्रकार की व्याख्या की उपयुक्तता सिद्ध करने के लिये अत्यन्त अनिश्चित हैं। तैत्तिरीय आरण्यक (६, ५[१३]) में यह कहा गया है कि सत्यवादियों और असत्यवादियों का यम के सामने विभेद होता है। किन्तु यहाँ यम एक न्यायाधीश की भाँति ही कार्य करते हैं ऐसा प्रकट नहीं होता।[१२]

'नरक' सम्बन्धी विश्वास भारोपीय-कालीन भी हो सकता है, ऐसा वेबर[१३] भृगु = φλεγυαι[१४] के समीकरण और इस तथ्य के आधार पर सिद्ध करते हैं कि इनमें से प्रथम को शतपथ ब्राह्मण के वर्णन के अनुसार दम्भ के कारण उसके पिता वरुण ने नरक की यातनाओं को देखने के लिये भेजा था, और द्वितीय स्वयं अपने दम्भ के कारण कठिन यातनायें सहन करने के लिये नरक में डाल दिया गया था। किन्तु इन दोनों कथाओं की समानता सम्भवतः केवल आकस्मिक ही है, क्योंकि नारकीय यातनाओं सम्बन्धी विश्वास भारत में एक बाद का ही विकास प्रतीत होता है।[१५]

[१]त्सिमर और शर्मन, किन्तु हॉपकिन्स इस निष्कर्ष को पाण्डित्य-प्रदर्शन मानते हैं — [२]रौथ : ज० अ० ओ० सो० ३, ३४५; गेल्डनर : फे० वे० २२ का विचार है कि ऋग्वेद १०, १०[६] में 'वीचि' शब्द द्वारा नरक का प्रत्यक्ष सन्दर्भ है — [३]अथर्ववेद और ब्राह्मणों में 'नरक' : ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० १३, civ — [४]वेबर : त्सी० गे० ९, २४० और बाद — [५]हॉ० इ० १७५ — [६]वेबर : त्सी० गे० ९, २३८; मूइर : सं० टे० ५, ३१४-५ — [७]जैक्सन : ट्रा० का० (१०), २, ६७-७३ — [८]रौथ : ज० अ० ओ० सो० ३, ३२९-४७; तु० की० वेबर : त्सी० गे० १, २३८ और बाद, भी — [९]तु० की० त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ४१८ और बाद; शर्मन : रो० फौ० ५, ५६९ और बाद; शर्मन : वि० लि० १२२ और बाद; के० ऋ० नोट २८७ (क); औ० वे० ५३८ और बाद; हॉ० इ० १४७ — [१०]वेबर : त्सी० गे० ९, २३७-४३ — [११]शर्मन : वि० लि० १५२-३ — [१२]औ० वे० ५४१-२ — [१३]त्सी० गे० ९, २४२ —

[१४]कुन : हे० गौ० २३; वे० वी०, १८९४, पृ० ३ — [१५]तु० की० बर्नेल द्वारा सम्पादित जैमिनीय ब्राह्मण १, ४२-४; ऑर्टेल : ज० अ० ओ० सो० १५, २३४-८; शर्मन : फि० लि० ५-८; स्पीगेल : ए० आ० १, ४५८; हॉ० इ० २०६।

§ ७६. *पितृ-गण* :—तृतीय स्वर्ग में रहने वाले भाग्यशाली मृतकों को पितृ-गण कहा गया है। इस शब्द से सामान्यतया ऐसे आरम्भिक अथवा प्रथम पूर्वजों से तात्पर्य है (१०, १५[८.१०]) जिन्होंने प्राचीन पथों का अनुगमन किया और जो ऐसे द्रष्टा थे जिन्होंने उन पथों का निर्माण किया जिनसे होकर ही बाद में मृत व्यक्ति जाकर उन लोगों में सम्मिलित हो जाते हैं (१०, १४[२.७.१५])। पितरों को विष्णु के तृतीय पग से सम्बद्ध किया गया है (१०, १५[३] तु० की० १, १५४[५])। ऋग्वेद के दो सूक्त इनकी प्रशस्ति में समर्पित हैं (१०,१५.५४)।

पितरों की विभिन्न जातियों का नवग्वों, विरूपों, अङ्गिरसों, अथर्वनों, भृगुओं और वसिष्ठों आदि नामों से उल्लेख किया गया है (१०, १४[४-६].१५[८]), जिनमें से अन्तिम चार उन पुरोहित परिवारों के नाम के ही समान हैं जिन्हें परम्परा ने अथर्ववेद[१] और ऋग्वेद के दूसरे तथा सातवें मण्डलों के सृजन का श्रेय दिया है। इनमें से अङ्गिरसों को यम के साथ विशेष रूप से सम्बद्ध किया गया है (१०, १४[३.५])। पितरों को निम्न, उच्च और मध्यम, अथवा प्राचीन और बाद का भी कहा गया है; और यद्यपि इनमें से सभी अपने वंशजों को ज्ञात नहीं हैं, तथापि अग्नि सभी को जानते हैं (१०, १५[१.२.१३])। अथर्ववेद में यह कथन है कि पितृ-गण अन्तरिक्ष, पृथ्वी, और स्वर्ग में रहते हैं (अथर्ववेद १८, २[४९] तु० की० ऋग्वेद १०, १५[२])।

स्वयं प्राचीन पितरों ने भी एक बार सोम की हवि समर्पित किया था (१०, १५[८])। पितृ-गण यम के साथ आनन्द (१०, १४[१०] तु० की० १३५[१]; अथर्ववेद १८, ४[१०]), और देवों के साथ भोजन करते हैं (७, ७६[४])। देवों के ही समान जीवन व्यतीत करते हुए यह भी प्रायः दिव्य आदर के भागी हैं। यह उसी रथ पर आते हैं जिस पर इन्द्र तथा अन्य देव-गण (१०, १५[१०])। यह सोम प्रेमी हैं (सोम्य : १०, १५[१.५] इत्यादि) और यज्ञीय कुशासन पर दक्षिण दिशा में बैठकर दबाये हुए इस पेय का पान करते हैं (वही [५.६])। पृथ्वी पर इनके लिये प्रस्तुत हवियों के लिये यह लोग तृषित रहते हैं, और इन्हें भी, यम, यम के पिता विवस्वत्, और अग्नि के साथ आकर हवि ग्रहण करने के लिये आहूत किया गया है (वही [८-११].१४[४.५])। सहस्रों की संख्या में आकर पितृगण यज्ञ स्थल पर क्रमानुसार आसीन होते हैं (१०, १५[१०.११])। जब पितृगण यज्ञ स्थल पर आते हैं, तब कभी कभी अथर्ववेद (१८, २[२८]) के अनुसार दुष्टात्मायें भी मित्रों के वेश में उनके समाज में सम्मिलित हो जाती हैं।

पितृ-गण भोजन के रूप में अपनी हवि प्राप्त करते हैं, जिसे एक स्थल पर (१०, १४[3]) देवों[2] के लिये प्रयुक्त 'स्वाहा' शब्द के विपरीत 'स्वधा' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार बाद के संस्कारों में भी दैनिक सोम-निर्माण के समय देवों के भाग का पितरों के भाग से विभेद किया गया है (शतपथ ब्राह्मण ४, ४, २२)। पितृ-गण पूज्य हैं; स्तुतियाँ सुनने के लिये उनका आवाहन किया गया है; वह अपने उपासकों की रक्षा करते हैं; और वंशजों द्वारा उनके विरुद्ध कोई मानवोचित अपराध कर बैठने पर भी इन वंशजों को क्षति न पहुँचाने के लिये उनकी स्तुति की गई है (१०, १५[२.५.६] तु० की० ३, ५५[२])। उषस्, नदियों, पर्वतों, आकाश और पृथ्वी, पूषन् तथा ऋभुओं के साथ-साथ पितरों की कृपा का भी आवाहन किया गया है (६, ५२[४] ७५[१०]; ७, ३५[१२]; १, १०६[३])। अपने उन पुत्रों को सम्पत्ति, सन्तान, और दीर्घजीवन प्रदान करने के लिये पितरों का स्तवन किया गया है (१०, १५[७.११]; अथर्ववेद १८, ३[१४४.४६२]), जो इनकी कृपापूर्ण दृष्टि के अन्तर्गत रहना चाहते हैं (१०, १४[६])। अपने वंशजों की रक्षा करने के लिये सामूहिक रूप से वसिष्ठों (७, ३३[१] तु० की० १०, १५[८]) का आवाहन किया गया है। इनके अतिरिक्त अलग अलग पूर्वज, जैसे 'तुर्वंश', 'यदु', और 'उग्रादेव' आदि का भी आवाहन मिलता है (१, ३६[१८])।

पितृगण अमर हैं (अथर्ववेद ६, ४१[३]), और इन्हें अक्सर देवता कहा गया है (१०, ५६[४])[3]। अङ्गिरसों तथा इसी प्रकार के अन्य समूहों के दिव्य चरित्र के साथ प्राचीन पुरोहितों का गुण भी संयुक्त कर दिया गया है। कभी-कभी सृष्टि विषयक देवोपम कार्य भी पितरों पर आरोपित किये गये हैं। इस प्रकार यह कहा गया है कि इन्होंने आकाश को तारों से अलंकृत किया, रात्रि में अन्धकार को तथा दिन में प्रकाश को स्थित किया (१०, ६८[११]); गुप्त प्रकाश को खोजा और उषस् को उत्पन्न किया (७, ७६[४] तु० की०, १०, १०७[१]), और सोम के साथ मिलकर आकाश तथा तथा पृथ्वी को विस्तृत किया (८, ४८[१३])।

जिस प्रकार शव-भक्षण करने वाले अग्निका, देवों के पास यज्ञ भाग ले जाने वाले अग्नि के साथ विभेद किया गया है (१०, १६[९]), उसी प्रकार पितरों के पथ का भी देवों के पथ के साथ विभेद है (१०, २[७]·१८[१] तु० की० ८८[१५])[४]। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में 'स्वर्ग लोक' का 'पितृ-लोक' के साथ विभेद मिलता है, और प्रथम का द्वार उत्तर-पूर्व में (शतपथ ब्राह्मण ६, ६, २[४]) तथा द्वितीय का दक्षिण-पूर्व (१३, ८, १[५])[५] में स्थित बताया गया है। पितरों

को मनुष्यों से भिन्न एक पृथक वर्ग हीं कहा गया है जिनकी अलग से सृष्टि हुई है (तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ३, ८[२])।

[१]अग्नि-पुरोहित अथर्वनों और अङ्गिरसों को अथर्ववेद की रचना का श्रेय देना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित है, क्योंकि महाकाव्य में भी अग्नि-पूजा अथर्ववेद से ही सम्बद्ध है : तु० की० वेबर : हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर १४८; हॉ० इ० १५९ — [२]हॉग : गौ० ऐ० १८७५, ९४; से० बु० ई० ४२, ६६०; औल्डेन-बर्ग : से० बु० ई० ४६, १६२ — [३]अन्यथा हॉ० इ० १४५, नोट १ — [४]तु० की० हिरण्यकेशि पितृमद्धसूत्र, कैलेण्ड का संस्करण, लीपज़िग, १८९६, पृ० ५५; हॉ० इ० १४५, नोट ४ — [५]सामान्य रूप से दक्षिण ही पितरों की दिशा है (शतपथ ब्राह्मण १, २, ५[१७]): यह धारणा भारतीय-ईरानी है, तु० की० कर्न : बुद्धिज़्म १, ३५९.; कैलेण्ड : आ० आ० पृ० १७८–१८०; ओ० वे० ३४२. नोट २; त्सी० गे० ४९, ४७१, नोट १; हॉ० इ० १९०।

§ ७७. *यम* :—भाग्यशाली मृतकों के प्रधान 'यम' हैं। ऋग्वेद के कवियों के विचारों में परलोक जीवन-सम्बन्धी धारणा के अत्यन्त क्षीण विकास के कारण ऋग्वेद के केवल तीन सूक्त (१०, १४·१३५·१५४) ही यम को सम्बोधित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त एक सूक्त (१०, १०) में यम तथा उनकी बहन यमी के बीच वार्तालाप मिलता है। ऋग्वेद में यम का नाम प्रायः ५० बार, किन्तु सदैव प्रथम और (अपेक्षाकृत अधिक बार) दशम मण्डलों में ही आता है।

यह देवों के साथ आनन्दपूर्वक रहते हैं (७, ७६[४]; १०, १३५[१])। जिन अलग-अलग देवों के साथ इनका उल्लेख है, वह वरुण (१०, १४[७]), बृहस्पति (१०, १३[४]·१४[३]), और मुख्यतः अग्नि हैं जो कि मृतकों को ले जाने वाले के रूप में स्वभावतः इनके साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो गये हैं। अग्नि, यम के मित्र (काम्य : १०, २१[५]) और पुरोहित (१०, ५२[३]) हैं। एक देवता (१०, ५१[१]) और यम (जो दोनों ही सम्बद्ध आशय की दृष्टि से समान हैं) ने गुप्त अग्नि को खोजा (वही [३])। अग्नि, यम, मतरिश्वन् का एक साथ एक ही व्यक्ति के नामों के रूप में उल्लेख है (१, १६४[४६])। अग्नि सहित देवों की गणना में यम का भी उल्लेख है (१०, ६४[३]·९२[११])।

अतः यह निश्चित है कि यम भी एक देवता ही हैं। फिर भी इन्हें स्पष्ट रूप से एक देवता नहीं वरन् केवल एक ऐसा राजा ही कहा गया है (९, ११३[८]; १०, १४) जो मृतकों पर शासन करते हैं (यमराज्ञ : १०, १६[९])। यम और वरुण ही वह दो राजा हैं जिन्हें स्वर्ग में पहुँच कर मृत व्यक्ति देखता है (१०, १४[७])। इनकी प्रशस्ति में समर्पित एक सम्पूर्ण सूक्त (१०, १४) में

इन्हें मृत पितरों और मुख्यतः अङ्गिरसों के साथ (मन्त्र [६.५]) सम्बद्ध किया गया है। यम इन्हीं पितरों के साथ यज्ञ-स्थल पर आते और आनन्दित होते हैं (मन्त्र [३.४.१५८])। बाद के ग्रन्थ (तैत्तिरीय आरण्यक ६, ५[२]; आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १६, ६) यम के अश्वों का उल्लेख करते हैं जिन्हें स्वर्ण-नेत्रों और लौह-खुरों वाला कहा गया है। यम व्यक्तियों को एकत्र करने वाले (१०, १४[१]); मृतकों को विश्राम-स्थान प्रदान करने वाले (१०, १४[९]; अथर्ववेद १८, २[३७]) और उनके लिए आवास निर्मित करने वाले हैं (१०, १८[१३])।

यम का आवास आकाश के दूरस्थ स्थानों में स्थित है (९, ११३[८])। तीन लोकों में से दो सवितृ के तथा एक यम[१] का है (१, ३५[६] तु० की० १०, १२३[६]) जो तृतीय और उच्चतम है (तु० की० § ७३)। वाजसनेयि संहिता (१२, ६३) में यम को यमी के साथ उच्चतम आकाश में रहने वाला कहा गया है। अपने आवास (सादन[२]) में, जो देवों (देवमान) का भी गृह है, यम संगीत तथा वीणा के स्वरों से घिरे रहते हैं (१०, १३५[७])।

यम के लिए सोम दबाया जाता है, इन्हें घृत समर्पित होता है (१०, १४[१३.१४]) और यज्ञ स्थल पर आकर कुशासन पर विराजमान होने के लिए इनका आवाहन किया गया है (१०, १४[५])। अपने स्तोताओं को देवों तक पहुँचाने और उनके जीवन को दीर्घ बनाने के लिये इनकी स्तुति की गई है (१०, १४[१४])।

इनके पिता विवस्वत् हैं (१०, १४[५]), जिनके साथ ही सरण्यू का इनकी माता के रूप में उल्लेख है (१०, १७[१])। इन्हें अनेक बार 'वैवस्वत' पैतृक नाम से भी सम्बोधित किया गया है (१०, १४[१], इत्यादि)। यह गुण भारतीय ईरानी है, क्योंकि अवेस्ता में सोम दबाने वाले प्रथम व्यक्ति के रूप में 'वीवन्ह्वन्त्' द्वारा पुरस्कार स्वरूप 'यम' को पुत्र[३] के रूप में प्राप्त करने का उल्लेख है। अथर्ववेद (१८, २[३२] तु० की० ३[६१-२]) में यम को विवस्वत् से श्रेष्ठ बताया गया है और स्वयं यम से श्रेष्ठ कोई नहीं है।

ऋग्वेद (१०, १०[४]) में अपने वार्तालाप के समय यम और यमी अपने को गन्धर्व और जलीय दिव्यांगना (अप्या योषा)[४] की सन्तान कहते हैं। आगे, यम को यमी 'एकमात्र मरणशील' (मन्त्र [३]) कहती है। एक अन्य सूक्त में यह कथन है कि यम ने मृत्यु का वरण और अपने शरीर का परित्याग किया (१०, १३[४])[५]। दूसरों के लिये पथ-प्रशस्त करते हुए यम उस परलोक में चले गये[६] जहाँ प्राचीन पितृगण भी गये हैं (१०, १४[१-२])। यम मरणशीलों में सर्वप्रथम मृत होने वाले व्यक्ति थे (अथर्ववेद १८, ३[१३])। यहाँ 'मरणशील' का अर्थ केवल 'मनुष्य' ही हो सकता है, यद्यपि बाद में देवों को भी मरणशील

कहा गया है।[७] मृतकों में सर्वप्रथम और प्राचीनतम होने के कारण यम को, उनके पीछे मृत होने वालों का प्रधान मान लेना अत्यन्त सरल है।[८] यम को 'बसनेवालों का अधिपति' (विश्पति)[९], 'हमारे पिता' (१०, १३५[१]) कहा गया है। बाद के ग्रन्थों में यम के माध्यम से ही मनुष्यों का, 'विवस्वान् आदित्यः'[१०] के वंशजों के रूप में वर्णन किया गया है (तैत्तिरीय संहिता ६, ५, ६[२] तु० की० शतपथ ब्राह्मण ३, १, ३[४]; ऋग्वेद १, १०५[९])। ऋग्वेद तक में यम, सूर्य के साथ सम्बद्ध प्रतीत होते हैं; क्योंकि 'यम द्वारा प्रदत्त' आकाश में भ्रमण करने वाले (सूर्य) का अर्थ सम्भवतः अमर हो गये लोगों को यम द्वारा प्रदत्त सौर-आवास है (१, १६३[२] तु० की० ८३[५])।

मृत्यु ही यम का पथ है (१, ३८[५]) और एक बार (१, १६५[४]; तु० की० मैत्रायणी संहिता २, ५[६]; अथर्ववेद ६, २८[३१]·९३[१]) इन्हें मृत्यु के साथ ही समीकृत किया गया प्रतीत होता है।[११] यम के पाद-पाश (पड्वीश) को वरुण के पाश[१२] के ही समानान्तर बताया गया है (१०, ९७[१६])। इस प्रकार की प्रवृत्तियों, तथा इनके दूतों के कारण भी, ऋग्वेद में यम बहुत कुछ एक भय की वस्तु रहे होंगे। किन्तु अथर्ववेद तथा बाद के पुराकथाशास्त्र में, मृत्यु के भय के साथ अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठरूप से सम्बद्ध होने के कारण यम मृत्यु के देवता बन गये हैं (यद्यपि महाकाव्यों तक में इनका क्षेत्र किसी भी प्रकार केवल नरक तक ही सीमित नहीं है)[१३]। बाद की संहिताओं में 'अन्तक', 'मृत्यु', (वाजसनेयि संहिता ३९, १३) और 'निर्ऋति' (अथर्ववेद ६, २९[३]; मैत्रायणी संहिता २, ५[६]) के साथ यम का उल्लेख है, और 'मृत्यु' इनका दूत है (अथर्ववेद ५, ३०[१२]; १८, २[२७], इत्यादि)। अथर्ववेद में मृत्यु को मनुष्यों का और यम को पितरों का (अथर्ववेद ५, २४[१३-४]) अधिपति कहा गया है, और 'निद्रा' यम के क्षेत्र से आती है (१९, ५६[१] इत्यादि)।

'यम' शब्द का एक अभिधात्मक आशय 'यमज'[१४] भी है, जिसमें यह अनेक बार ऋग्वेद में (सामान्यतया द्विवाचक पुलिङ्ग अथवा स्त्रीलिङ्ग में) आता है। साथ ही कुछ बार ऋग्वेद में 'वल्गा' अथवा 'निर्देशक' के अर्थ में भी 'यम' का व्यवहार हुआ है। ऋग्वेद में यम वास्तव में यमी के साथ का एक यमज है (१०, १०)[१५]। अवेस्ता (यस्न ३०, ३) में भी 'यिम' में 'यमज' का आशय निहित प्रतीत होता है। अवेस्ता में तो नहीं किन्तु केवल बाद के साहित्य[६] में ही 'यिमेह' के रूप में 'यिम' की एक बहन का उल्लेख है, जो अपने भ्राता के साथ प्रथम मानव दम्पत्ति का निर्माण करती है। भारतीय-साहित्य के एक बाद के स्तर पर, जब यम दुष्टों को दण्डित करनेवाले एक देवता बन गये हैं, इस नाम को 'यम्' (नियन्त्रित करना)[१७] से व्युत्पन्न

माना गया है, किन्तु यह व्युत्पत्ति वैदिककाल की विचारधारा के अनुकूल नहीं है।

या तो एक 'उलूक' अथवा एक 'कपोत' को प्रत्यक्षतः मृत्यु के साथ समीकृत करते हुये यम का दूत कहा गया है (१०, १६५[४] तु० कौ० १२३[६])[१८]। इस प्रकार यम और मृत्यु दोनों के ही दूत एक समान ही प्रतीत होते हैं (अथर्ववेद ८, ८[११])। फिर भी, यम के नियमित दूत, जिनका विस्तृत विवरण दिया गया है (१०, १४[१०-१२]) दो श्वान हैं। यह चार-नेत्रोंवाले, चौड़ी नासिकावाले, शबल, उदुम्बल (भूरे) तथा सरमा के पुत्र (सारमेय) हैं। यह ऐसे रक्षक हैं जो पथों की रक्षा करते हैं (१०. १४[११]) अथवा पथ पर बैठे रहते हैं (अथर्ववेद १८, २[१२])। मृत व्यक्ति से यह अनुनय की गई है कि वह इन श्वानों के पास से शीघ्र आगे बढ़ कर उन पितरों से जा मिले जो यम के साथ आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं (१०, १४[१०])। यम से भी यह स्तुति की गई है कि वह मृतक को पितरों के पास पहुंचा दें, उसे व्याधियों से मुक्ति और सुरक्षा प्रदान करें। जीवन में आनन्द लेते हुये (असुतृप्) यह श्वान मनुष्यों का निरीक्षण और उनके बीच यम के दूतों के रूप में भ्रमण करते हैं। सूर्य के प्रकाश का बहुत दिनों तक लगातार आनन्द लेते रहने का आशीर्वाद देने के लिये इन श्वानों का स्तवन किया गया है। इस प्रकार, मनुष्यों में से उनका पता लगाना जो मृत होनेवाले हैं, तथा यमलोक के पथ से होकर यम के क्षेत्र में प्रवेश करनेवाले लोगों पर दृष्टि रखना ही इनका प्रमुख कार्य प्रतीत होता है। अवेस्ता में एक चार नेत्रों और पीले कानोंवाला कुत्ता उस 'चिन्वट् पुल'[१९] पुल के किनारे पर दृष्टि रखता है जो इस लोक से परलोक को मिलाता है, और इसका भूँकना पवित्रात्माओं के वास से दानव को इसलिये दूर भगा देता है कि कहीं वह इन आत्माओं को नरक में न घसीट ले जांय।[२०] इस बात को स्वीकार कर लेने के लिये पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि यम के दोनों श्वानों को दुष्टों की आत्मा वहिष्कृत रखने वाला माना जाता था, यद्यपि उन्हें ऐसा माना गया होना सर्वथा सम्भव है।[२१] फिर भी, यदि आॅफरेख्त[२२] ने ऋग्वेद ७, ५५[२-५] की ठीक-ठीक व्याख्या की है, तो उनके अनुसार इन कुत्तों का उद्देश्य दुष्टों को बहिष्कृत करना ही था। अथर्ववेद में यम द्वारा मनुष्यों के बीच भेजे हुये दूतों को बहुवचन (अथर्ववेद ८, २[११]. ८[११]) तथा द्विवाचक (अथर्ववेद ५, ३०[६]) दोनों ही रूपों में व्यक्त किया गया है। इन दोनों कुत्तों में से एक को 'शबल' (चितकबरा) और दूसरे को 'श्याम' (काला) कहा गया है (अथर्ववेद ८, १[९])। 'शबल' शब्द को यूनानी Kerberos[२३] के साथ समीकृत किया गया है, किन्तु इस

समीकरण पर शंका की गई है।[२४] बर्गेन (१, ९३) का विचार है कि यह दोनों कुत्ते केवल यम (अग्नि के रूप में) और यमी के ही दूसरे रूप हैं; और बाद की पुराकथाशास्त्र के उस गुण को ही जो यय को स्वयं आकर मृतकों को ले जानेवाले के रूप में व्यक्त करता है, आप प्रमुख मानते हैं (१, ९२)। ब्लूमफील्ड[२५] यम के दोनों कुत्तों को सूर्य और चन्द्रमा के साथ समीकृत करते हैं।[२६]

सभी उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यही निष्कर्ष सर्वाधिक सम्भव प्रतीत होता है कि यम, सर्वथा अलग-अलग जातियों में भी मिलने वाला एक ऐसा पुराकथाशास्त्रीय रूप है जो मृत आत्माओं के प्रधान का प्रतिनिधित्व करता है। मानव जाति का प्रथम पौराणिक पिता होने, तथा मृत व्यक्तियों में प्रथम होने के रूप में इसकी धारणा से स्वभावतः यही निष्कर्ष निकलता है। मानव जाति को उत्पन्न करनेवाले प्रथम यमज यम और यमी = यिम और यिमेह[२७], भारतीय-ईरानी काल के ही प्रतीत होते हैं। ऋग्वेद १०, १० में यम को अनाचार के अपराध से मुक्त करने के प्रयास द्वारा यह व्यक्त होता है कि इस अनाचार सम्बन्धी विश्वास का भी अस्तित्व था।[२८] भारतीय-ईरानीकाल में स्वयं यम को ही एक स्वर्ण-युग का राजा माना गया हो सकता है, क्योंकि अवेस्ता में यह एक पार्थिव[२९] और ऋग्वेद में द्युलोक के शासक हैं। रौथ तथा अन्य विद्वानों[३०] का मत है कि यम की मूलतः एक मनुष्य के रूप में ही कल्पना की गई थी। यमी को इन्द्राणी तथा अन्य की भाँति एक बाद का सृजन मानते हुये मेयरं का यह विश्वास है कि यमज यम मूलतः 'परवर्ती अहं' के रूप में आत्मा का ही प्रतिनिधित्व करता था[३१]। अनेक अन्य विद्वानों का विश्वास है कि यम मूलतः किसी प्राकृतिक घटना का प्रतिनिधित्व करता था। कुछ का विचार है कि यह अग्नि,[३२] सूर्य,[३३] समाप्त होते हुये दिन[३४] अथवा अस्त होते हुये सूर्य का एक रूप, और इसलिये मृत्यु का देवता था[३५]। हिलेब्रान्ट[३६] के विचार से चन्द्रमा ही यम है जिसमें मृत होने की विशिष्टता है, और इस प्रकार यह सूर्य का मरणशील पुत्र तथा पितरों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। फिर भी, आपका विचार है कि यम केवल भारतीय-ईरानी काल में ही एक चन्द्र-देवता रहा होगा, किन्तु न तो अवेस्ता में ही ऐसा रह गया है और न वेद में, जहाँ यह केवल एक पार्थिव स्वर्ग अथवा भाग्यशाली मृतकों के लोक का शासक मात्र है।

[१] लुडविग : ऋग्वेद का अनुवाद ४, १३४, इसे 'नरक' मानते हैं—

[२] इस आवास को (अथर्ववेद २, १२[७]; १८, २[५६]. ३[७०] में भी) जिसका सदैव ही यम का लोक अथवा [illegible] का स्थान, अर्थ प्रतीत होता है (तैत्तिरीय

आरण्यक ६, ७, २[६] तु० की० ऋग्वेद १०, १८[१३]); पिशल : वेदिशे स्टूडियन १, २४२, में 'यम का देवालय' मानते हैं। अथर्ववेद १८, ४[५५] में वर्णित यम के एक 'हर्म्य' को यहाँ 'समाधि' के अर्थ में ग्रहण करते हैं (तु० की० शर्मन : वि० लि० १३८)। — [३]तु० की० रौथ : त्सी० गे० २, २१८ — [४]सायण के साथ सहमत होते हुये मैक्स मूलर इन दोनों को 'विवस्वत्' और सरण्यू' के साथ समीकृत मानते हैं — [५]यह व्याख्या सन्दिग्ध है, तु० की० शर्मन : वि० लि० १४६ — [६]तु० की० रौथ: निरुक्त, प्रस्तावना १३८; शर्मन : वि० लि० ११३ — [७]हॉ इ० १२८ — [८]कुन : हे० गौ० २१; शर्मन : वि० लि० १६७ — [९]अक्सर अग्नि को, तथा एक या दो बार इन्द्र तथा वरुण को भी 'विश्पति' कहा गया है — [१०]तु० की० रौथ : इण्डिशे स्टूडियन १४, ३९३ — [११]किन्तु इस स्थल का अर्थ 'यम (और) मृत्यु' हो सकता है — [१२]तु० की० ब्लूमफील्ड : अ० फा० ११, ३५४-५ — [१३]शर्मन : वि० लि० १५५ — [१४]उ० पु० १४२, नोट १ — [१५]यम और यमी का साथ-साथ स्वर्ग में रहने वालों के रूप में उल्लेख है : तैत्तिरीय संहिता ४, २, ५[३]; वाजसनेयि संहिता १२, ६[३]; शतपथ ब्राह्मण ७, २, १[१०]; तैत्तिरीय आरण्यक ६, ४[२] — [१६]स्पीगेल : ए० आ० १, ५२७ — [१७]ग्रासमैन : कु० त्सी० ११, १३; ल्यूमैन : कु० त्सी० ३२, ३०१, की भी यही व्याख्या है। — [१८]शर्मन : वि० लि० १३०, नोट ३ — [१९]ऋग्वेद ९, ४१[२] में ऐसे किसी पुल के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये कोई आधार नहीं है (तु० की० शर्मन : वि० लि० ११०), और न ऋग्वेद १०, ६३[१०] में (तु० की० शर्मन : वि० लि० १११) एक नदी (वेबर : इण्डिशे स्कीज़्ज़ेन १०) का ही आशय है। — [२०]से बु० ई० ४[२], lxxiv — [२१]त्सिमर : आल्टिण्डिशे लेबेन ४१९; शर्मन: वि० लि० १२७. १५२; औ० वे० ५३८ — [२२]इण्डिशे स्टूडियन ४, ३४१ और बाद; तु० की० त्सिमर: आल्टिण्डिशे लेबेन ४२१; के० ऋ०, नोट २७४ — [२३]वेनफे : वे० व० १४९.६४; कुन : कु० त्सी० २, ३१४; वेबर : इण्डिशे स्टूडियन २, २९८; मैक्स मूलर : ले० लैं० (१८९१), २, ५९५; के० ऋ० नोट २७४ (क) — [२४]तु० की० रोट : साइकी १, २८०, नोट १ — [२५]ज० अ० ओ० सो० १८९३, पृ० १६३-७२ — [२६]काठक ३७, १४ (मैत्रायणी संहिता, पृ० १०१, नोट २), कौषीतकि ब्राह्मण ११, ९ (= दिन और रात); शतपथ ब्राह्मण ११, १, ५[१] (चन्द्रमा, एक आकाशीय श्वान); यम के श्वानों के विषय पर तु० की० राजेन्द्रलाल मित्र : प्रो० रा० ए० सो०, मई १८८१, पृ० ९४. ९६, और इण्डो-एरियन्स, कलकत्ता, १८८१, २, १५६-६५; स्पीगेल : डी० पी० २३९-४०; हि० वें० ना० १, २२५. ५१०-१; केसरटेली : डॉग ऑफ डेथ, वे० रें०, ४,२६९ और बाद — [२७]स्पीगेल : डी० पी० २४६ — [२८]रौथ : ज० अ० ओ० सो० ३, ३३५; डर्मेस्टेटर : औ० आ० १०६ — [२९]रौथ : त्सी० गे० ४, ४२०; 'यिम' के अवेस्ता में प्रथम मनुष्य होने के चिह्न के लिये तु० की० शर्मन : वि० लि० १४८, नोट १ — [३०]रौथ : त्सी० गे० ४, ४२५ और बाद; इण्डिशे स्टूडियन १४, ३९२; हॉपकिन्स : प्रो० सो० मई १८८१ — [३१]इण्डोजर्मनिशे माइथेन

१, २२९. २३२ — [32]कुन : हे० गौ० २०८; वर्गेन : ल० रि० वे० १, ८९; तु० की० वेवर : राजसूय, १५, नोट १; यास्क : निरुक्त १२, १० (यम = विद्युत अग्नि, यमी = गर्जन की ध्वनि); शर्मन : त्रि० लि० १३२, नोट २ — [33]ब्री : २२-३ — [34]वें० वी० १८९४, पृ० १ (यमी = रात्रि) — [35]मैक्स मूलर : लै० लैं० २, ६३४-७; मैक्स मूलर : इण्डिया, २२४; मैक्स मूलर : ऐ० रि० २९७-८; बर्गेन : मैनुयेल वेद्रिके २८३ (सूर्य, जो अस्त हो चुका है) — [36]हि० वे० मा० १, ३९४ और बाद; इ० फौ० १, ७; हार्डी : वे० पी० ४३।

इस अध्याय के लिए निम्न स्थल भी देखिये : रौथ : त्सी० गे० ४, ४१७-३३; ज० अ० ओ० सो० ३४२-५; ह्विट्ने : ज० अ० ओ० सो० ३, ३२७-८; १३, cili-viii; हि० स्ट० १, ४६-६३; वेस्टरगार्ड : इन्डिशे स्टूडियन ३, ४०२-४०; मूइर : सं० टे० ५, २८४-३३५; डोन्नर : पिण्डपितृयज्ञ, १०-१४ २८; त्सिमर : आल्टिन्डिशे लेवेन ४०८-२२; वर्गेन : ल० रि० वे० १, ८५-९४; २, ९६; के० ऋ० ६९-७१; स्पीगेल : डी० पी० २४३-५६; लैनमैन : संस्कृत रीडर ३७७-८५; शर्मन : वि० लि० १२२-६; हि० वे० मा० १, ४८९-५१३; त्सी० गे० ४८, ४२१; एह्नी : ड० य०, और डी० य०; हॉपकिन्स : प्रो० सो०, १८९१, xciv-v; हॉ० इ० १२८-५०-२०४-७; मैक्स मूलर : सा० रि० १७७-२०७; औ० वे० ५२४-४३; से० बु० ई० ४६, २९; जैक्सन : ज० अ० ओ० सो० १७, १८५।

—ooXoo—

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५	१४–	प्रादिशः	प्रदिशः
१९	१०–	ब्रह्मा	ब्रह्म
२०	–६	त्वष्ट्र	त्वष्ट्र
२०	–७	'ऋभुस'	'ऋभुओं'
२१	४–		'शक्ति का पुत्र' के बाद इतना और जोड़िये : (§ ३५) कहा गया है। पूषन् 'मुक्त करने के पुत्र'[२] हैं। इन्द्र को सत्य का पुत्र'.........
२३	–१५	मार्तंड	मार्तण्ड
२४	९–	ब्रह्मा (दो बार)	ब्रह्म (दोनों स्थलों पर)
३४	–१६	वाषट्कार	वषट्कार
४७	१२–	'मही'	यही
५३	१४–	ब्रुवानः	ब्रुवाणः
५६	–८	हारितः	हरितः
७४	–७	(७, ९८$^{४.५}$)	(७, ९९$^{४.५}$)
८६	–८	(दक्षपितरो)	(दक्षपितरा)
८९	–३	उषस् का जन्म एक रथ पर हुआ है।	उषस् एक ऐसे रथ पर चलती है......
८९	४–	(जात्रि)	(जामि)
९८	१३–	पेड्डु	पेदु
१०४	–१०	इन्द्र का जन्म एक ऐसे रथ पर हुआ है	इन्द्र एक ऐसे रथ पर चलते हैं......
१०४	–१२	(हारी)	(हरो)
१०५	१६–	सौत्रायणी	सौत्रामणी

नोट :—जिस पंक्ति-संख्या के पहले डैश (–) चिह्न है उसे ऊपर से, और जिसके बाद डैश है उसे नीचे से गिनें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१११	५–	वर्षा	वर्ष
११८	–८	कौशिकों	कुशिकों
१२८	१–११–	एकट	एकत
१३०	–१	एकट	एकत
१३७	–१	विश्वेदेवस्	विश्वेदेवों
१३७	१०–	ऋभुक्षत्	ऋभुक्षन्
१३९	–९	के रूप व्याख्या	के रूप में व्याख्या
१४६	–४	रुद्र	रुद्
१५१	–९	मरुद्वृद्धा	मरुद्वृधा
१५५	१२–	विश्वेदेवस्	विश्वेदेवों
१६४	–७	'सारस्वत'	'सरस्वत'
१६७	–१३	(आर्जुनी)	(अर्जुनी)
१८०	–३	प्राणियों	पणियों
१८९	–७	(असुर)	(आसुर)
२०९	–१२	(रपि : ९, ४८³)	(रयि : ९, ४८³)
२२१	९–	मता	माता
२२३	–३	'त्वक्ष'	'त्वक्षु'
२३५	३–	'रात्रि'	'रात्री'
२३५	४–	'द्योस्'	द्यौस्
२३७	–२	माही	मही
२३७	–६	पुरूरवों	पुरूरवस्
२३७	–१२	विश्वेदेवस्	विश्वेदेवों
२४३	८–	हैं, जो	हैं। इन्द्र-सोम ऐसे युद्धोपम कार्य करते हैं जो···
२५०	१६–	सौपस	स्वपस्
२६९	१०–	सर्यणावत्	शर्यणावत्
२९२	११–	'संवर्ण'	संवरण
३०१	२–	(शानु)	(सानु)
३०७	–४ –६ –१३ –१४ –१६	रिजिश्वन्	ऋजिश्वन्

शब्दानुक्रमणिका

—०:०:०—